◆ **प्रकाशक**
हनुमद्धाम (श्री राम आध्यात्मिक प्रन्यास)
शुकतीर्थ मुजफ्फरनगर (उ.प्र.) 251316

◆ **संस्करण**
हनुमत् जयन्ती चैत्र पूर्णिमा सं० 2073 वि०
सन् 2016 ई०

◆ **आवरण एवं टाइपसैटिंग**
ड्रीम शेपर्स, मुजफ्फरनगर
मो०- 09897035745

◆ **मुद्रक**
एन०पी०पी०एल० (प्रेस यूनिट)
मेरठ

◆ **पत्र-पुष्प** ₹150

अनुक्रमणिका

हनुमद्धाम
श्रीराम आध्यात्मिक प्रन्यास
(संक्षिप्त परिचय)

श्री शुकतीर्थ

जिस प्रकार नदियों में गंगा देवताओं में विष्णु और वैष्णवों में भगवान शंकर सबसे उत्तम हैं, वैसे ही पुराणों में श्रीमद्भागवत पुराण सर्वश्रेष्ठ है। यह पुराण दोषरहित अत्यन्त निर्मल ग्रन्थ है। इसमें जीवनमुक्त परमहंसों के सर्वोत्तम, अद्वितीय एवं विशुद्ध ज्ञान का वर्णन किया गया है।

शुकतीर्थ वही पावन स्थान है जहाँ शुकदेव जी के श्री मुख से निःसृत श्रीमद्भागवत कथा मानव के तीन भव-तापों के शमन के लिए घोषणा कर रही है -

श्री शुक मुनि भागवत कहि लीनों जगत उबार।
नहि अब लौं भवसिंधु में, डूबि जात संसार॥

मुजफ्फरनगर जनपद मुख्यालय से २९ किमी. दूर माँ भागीरथी गंगा के तट पर स्थित शुकतीर्थ उत्तर भारत का अत्यंत पौराणिक धार्मिक तथा सुरम्य तीर्थ स्थल है। इसका अन्य पुराणों एवं श्रीमद्भागवत महापुराण में आनन्दवन नाम से भी वर्णन मिलता है इसको ही शुकतार अथवा शुकताल या शुक्रताल कहते हैं। मुजफ्फरनगर से यहाँ तक बस, टैम्पो इत्यादि द्वारा पहुँचा जा सकता है। श्री शुकदेव जी ने यहीं महाराज परीक्षित को श्रीमद्भागवत सुनाई थी। श्रीमद्भागवत की उद्गम-स्थली होने के कारण यह भूमि सदा से ही सन्त महात्माओं की साधना-स्थली रही है। यहाँ के तपोमय सात्विक वातावरण से मुग्ध होकर श्री 'चक्र' जी महाराज ने इसे श्रद्धालुओं का श्रद्धा केन्द्र जानकर इसी शुकतीर्थ को हनुमद्धाम के निर्माण के लिए चुना।

हनुमद्धाम में श्री हनुमान-विग्रह का स्वरूप

हनुमद्धाम में हनुमान-विग्रह सिद्धपीठ के रूप में प्रतिष्ठित है। सिद्धपीठ का अभिप्राय है – जीव को समस्त लौकिक परितापों से छुटकारा दिलाकर परम प्राप्तव्य भगवत्प्राप्ति के जाग्रत साधन का केन्द्र।

श्री हनुमान जी का यह विग्रह श्री चरणों से मुकुट तक ६६ फुट तथा सतह से मुकुट ७७ फीट ऊँचा, विशाल, चित्ताकर्षक, नयनाभिराम एवं प्रसन्न वरद्-मुद्रा में विराजित है। इस विग्रह के अन्दर भारत की विभिन्न लिपियों में लिखे ७०० करोड़ भगवन्नाम (विग्रह में समाहित भगवन्नाम जिस कागज पर अंकित है उसका वजन १४ टन तथा क्षेत्रफल १००५० घनफुट है) सुरक्षित करके स्थापित किये गये हैं। विग्रह के प्रत्येक अंग में नख से शिख पर्यन्त भगवन्नाम समाहित हैं। श्री हनुमान जी का यह चित्ताकर्षक, नयनाभिराम एवं प्रसन्न मुद्रा में स्थित विग्रह देखने से ऐसा लगता है कि अभी-अभी गगन-चुम्बी, कनक-भूधराकार विग्रह प्रकट हो गया है। इसके श्रीअंग-उपांग, वस्त्र-आभूषण, आयुध सभी में राम-नाम समाहित हैं। यह विग्रह वज्रांग है तथा 'वामहस्त गदायुक्तम्' है, अर्थात बाँया हाथ गदा से युक्त है जो इनका प्रमुख आयुध है। इसे कंधे के सहारे युद्ध की मुद्रा में नहीं अपितु बाँये चरण के सहारे टिकाये, कर-कमल से बड़ी सहजता से सँभाले हैं, मानों शरण में आये जीव को समस्त विघ्न बाधाओं और लौकिक परितापों से संरक्षण करने का वचन दे रहे हों। दाहिना हाथ आशीर्वाद की मुद्रा में है इस विग्रह के दर्शन से ही भक्त-साधक में अपूर्व आत्मबल, धैर्य, साहस, अभय एवं शक्ति का संचार होने लगता है।

हनुमान मंदिर

जिस पर विशाल श्री हनुमत-विग्रह है उसी पीठिका पर एक और श्री हनुमान जी का सुन्दर और आकर्षक, लघु-विग्रह-मंदिर है।

इस विग्रह के अंग-उपांग में भी राम-नाम समाहित हैं। दैनिक मंगलादर्शन, अभिषेक, पूजा-अर्चना, श्रृंगार-सेवा, राजभोग, नीराजन, उत्थापन, संध्या-आरती, शयन-आरती आदि अष्टायाम-सेवा इसी मंदिर में स्थित लघु विग्रह का होता है। मथुरा वृन्दावन में श्रीकृष्ण के श्रीविग्रह का जिस प्रकार श्रृंगार किया जाता है, उसी प्रकार इस विग्रह का प्रतिदिन अलग-अलग रंगों के अनुसार वस्त्र-आभूषण से श्रृंगार सज्जा होती है। इस प्रकार की आकर्षक सज्जा श्री अवध के अतिरिक्त अन्यत्र देखने को कम ही मिलती है।

सुदर्शन सिंह 'चक्र'

(परिचय)

हनुमद्धाम के संस्थापक, उन्नायक और निदेशक श्री सुदर्शन सिंह 'चक्र' का जन्म सकलडीहा रेलवे स्टेशन से ६ किमी० दूरी पर स्थित ग्राम भेहलटा तहसील चन्दौली जिला वाराणसी (उ०प्र०) में क्षत्रीय (रघुवंशीय) परिवार में दिनांक १४ नवम्बर सन् १९११ (कार्तिक शुक्ल गोपाष्टमी) को हुआ था। आपको हिन्दी, संस्कृत, गुजराती और बंगला भाषा का उत्कृष्ट ज्ञान था। जन्मजात अक्खड़ स्वभाव और फक्कड़ व्यक्तित्व ने इन्हें अनिकेत अपरिग्रही, एकान्तप्रिय एवं जगत से निरपेक्ष बना दिया। इन्हीं दिनों देश में गाँधी जी के नेतृत्व में स्वतंत्रता संग्राम की लहर चरमोत्कर्ष पर थी, देश प्रेम की पुनीत भावना से प्रभावित नवयुवक चक्रजी का मानस उद्वेलित हो उठा और स्वाधीनता के असहयोग आन्दोलन में खुलकर भाग लेने लगे। इस क्रम में कई बार जेल भी जाना पड़ा। १९३३ में गाँधी-इर्विन समझौते के समय जूनागढ़ शिविर में मंत्री रूप में जब आप पं० शान्तनुबिहारी द्विवेदी (सन्यास के बाद अनन्त श्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती) से अनन्य मित्रता की डोर में बंधे तो राष्ट्र भक्ति भगवद् भक्ति में परिवर्तित हो गई। १९३६ में आप वृन्दावन आकर भगवद्साधना करने लगे। १९३७ से १९४१ तक मेरठ की पत्रिका 'संकीर्तन' का सम्पादन किया। फिर 'मानसमणि' रामवन सतना (म०प्र०) के सम्पादक के साथ-साथ गीताप्रेस, गोरखपुरकी प्रमुख पत्रिका 'कल्याण' के यशस्वी सम्पादक श्री हनुमान प्रसाद पोद्दार ने कल्याण के कई विशेषांक के सम्पादन में श्री सुदर्शनसिंह का सहयोग लिया, जिनमें कुछ हैं – नारी अंक, सत्यकथा अंक, तीर्थांक, मानवता-अंक, भगवन्नाम-महिमा और प्रार्थना-अंक, धर्मांक, श्रीरामवचनामृतांक इत्यादि। कल्याण के मासिक अंकों में आपकी

लिखी कहानी नियमित छपती थी जिसमें लेखक के नाम में केवल 'चक्र' लिखा होता था। आप जीवन पर्यन्त आध्यात्मिक ग्रन्थों के लेखन में व्यस्त रहे। पौराणिक उपन्यास लेखन में आप सिद्धहस्त थे। जितनी अधिक संख्या में आपने हिन्दी पौराणिक उपन्यास लिखे हैं, इतनी संख्या में और किसी ने नहीं लिखा है। आप द्वारा लिखी गई पुस्तकों में प्रमुख हैं – जरठ जटायु, महात्मा बाली, श्रीरामचरितमानस में विवेकी विभीषण, श्रीरामचरितमानस में सुमंत्र, श्रीभगवन्नाम संकीर्तन, दिव्य दशमी, मानस-मंदाकिनी (तीन खण्डों में), विधाता विश्वामित्र, ब्रह्मर्षि वशिष्ट, श्री हनुमान चरित्र, देवर्षि नारद, शत्रुघ्न कुमार की आत्मकथा, माता सुमित्रा, रामवन, नव-निर्झरिणी, अष्टदल, नूतन-नवरत्न, जीवन निर्माण, प्रभु आवत, मानस के अनुष्ठान, राक्षस राज, साधन सोपान, मानस के मंगलाचरण, भगवान वासुदेव, श्री द्वारिकाधीश, पार्थसारथि, नन्दनन्दन, आञ्जनेय की आत्मकथा, हमारी संस्कृति, राम-श्याम की झाँकी (दो खण्डों में), सखाओं के कन्हैया, श्याम का स्वभाव, हमारे धर्मग्रन्थ, कर्म रहस्य, साध्य और साधन, कन्हाई, शिव चरित्र, मंजेदार कहानियाँ, कल्कि-अवतार या कलयुग का अन्त, भगवान वामन, गोलोक एक परिवार, श्री कृष्ण पंचशील सर्वरुप, उन्मादिनी यशोदा, शिव स्मरण, हमारे अवतार एवं देवी-देवता, हिन्दुओं के तीर्थ स्थान, ज्ञान गंगा भक्ति भागीरथी, नवधा भक्ति, दस महाव्रत, सांस्कृतिक कहानियाँ (१२ खण्डों में), प्रेरक प्रसंग मधु बिन्दु और ज्योति कण, पंचगीत, पुराण-विज्ञान और रहस्य, रामचरित मानस में पंचायती राज्य, वीणा के तार, पर्वोत्सव विवरण, अमृत पुत्र, पलक झपकते– वे मिलेंगे, श्री रामचरित (चार खण्डों में), स्वजनों की दृष्टि में बालकृष्ण और आपकी चर्या इत्यादि। आपने निम्न पुस्तकों का भी सम्पादन किया है – हरि लीला, भागवत परिचय, श्रीमद्भागवत महापुराण, (पदच्छेद, अन्वय एवं हिन्दी शब्दार्थ टीका सहित)।

निरन्तर साहित्य साधना में रत रहने वाले श्रीचक्र जी ने सर्वदा शास्त्रीय सिद्धातों को ही सर्वोच्च माना। आप अध्यात्म-ज्ञान के मणी के रूप में लब्धप्रतिष्ठित होते हुये भी होम्योपैथ, आयुर्वेद एवं प्राकृतिक चिकित्सा के अच्छे जानकार थे। आप ज्योतिष के भी अप्रतिम मर्मज्ञ थे।

बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी श्रीचक्र जी ने दिनांक २५ सितम्बर सन १९८९ ई० सोमवार, एकादशी तिथि को गोलोक धाम की ओर प्रयाण किया।

पांच भौतिक शरीर द्वारा हमसे परोक्ष होने पर भी उनकी कृपा प्रत्यक्ष रूप से हनुमद्धाम के विकास में सम्बल है। उनकी अन्तस्थ कल्पना से प्रकटित साहित्य सरिता निरन्तर इस महापुरुष (श्रीचक्र जी) का यशोगान करती हुई प्रवाहित होती रहेगी।

अपनों से अपनी बात

'आञ्जनेय' लिखा गया था सन १९३७ में। उस समय मैं मेरठ में 'संकीर्तन' मासिक का सम्पादक होकर आया था। 'आदेश' के सम्पादक भाई श्रीमदनगोपाल सिंह जी प्रायः 'संकीर्तन' कार्यालय में शाम को मेरे पास आ जाते थे। उनके साथ ही चर्चाओं में श्रीहनुमान–चरित की बात आयी तो उन्होंने आग्रह कर दिया– 'इसे पहिले लिख दीजिये।

उन दिनों लिखने की धुन थी। शरीर कुल २७ वर्ष का होने से उत्साह था। मुझे स्मरण है, एक अध्याय प्रतिदिन के क्रम से 'आञ्जनेय' शीघ्र ही पूरा हो गया था। नगर से बाहर सूर्यकुण्ड पर श्रीमनोहरनाथ के मन्दिर में रहता था। अब तो वहाँ तक नगर का विस्तार हो चुका है। प्रातःकाल अपने नित्यकर्म से निवृत्त होकर लिखने बैठ जाता था। अध्याय पूरा करके तब कार्यालय दस बजे के लगभग पहुँचता था।

लिखते समय पुस्तकें रखने–देखने का अभ्यास नहीं है। मनोहर नाथ में तो मेरे पाठ का ग्रन्थ श्रीमद्भागवत मात्र था। लेकिन मैं कुछ लिखता हूँ, यह बात तो सत्य नहीं है। लेखनी मैंने अपने कन्हाई से माँगी थी और इस प्रकार श्याम ने मुझे लेखक होने का सुयश दिया है। जब मुझे स्वयं लिखना–सोचना नहीं तो मैं ग्रन्थ पढ़ने के पचड़े में क्यों पड़ूँ। बिना कुछ पढ़े, बिना किसी तैयारी के लिखने बैठ गया था। आपको अद्भुत लग सकता है, लेकिन जो उत्तम कोटि के विद्वान हैं, वे अच्छा भ्रान्तिहीन लेखन–प्रवचन कर सकते हैं अथवा जो सर्वथा अपठित हैं, वह अपनी बात बिना हिचक कह सकता है। मैं लगभग अपठित हूँ यदि आप हिन्दी माध्यमिक शिक्षा (सातवीं कक्षा तक) को ही पठन मानते हों। मेरे कन्हाई को तो बाबा ने पढ़ाया ही नहीं। ब्रजराज कुमार ने तो पाँच वर्ष की आयु से ही बछड़े चराने प्रारम्भ कर दिये। ऐसों को लिखना था, अतः जो भी मन में आता गया,

लेखनी कागज काला करती गयी।

'आञ्जनेय' मेरी दूसरी पुस्तक थी– ठीक गणना करूँ तो चौथी; क्योंकि सबसे पहले मैंने गोस्वामी तुलसीदास जी की 'कृष्ण–गीतावली' की टीका की। यह पीछे 'मानसमणि' (रामवन–सतना) और 'परमानन्द' (कलकत्ता) में क्रमशः प्रकाशित हुई। वाराणसी के ग्राम महराई से झूसी (प्रयाग) श्रद्धेय श्रीप्रभुदत्त ब्रह्मचारीजी महाराज के अखण्ड–संकीर्तन अनुष्ठान यज्ञ के दूसरे सत्र में सम्मिलत होने पर सन १९३५ में 'शतदल' लिखा गया। यह सौ गीतों का संग्रह है। अभी प्रकाशित है, यद्यपि उसके बहुत से गीत 'कल्याण' संकीर्तन आदि पत्रों में समय समय पर छप चुके हैं। अभी तो वह तुलसी–संग्राहलय रामवन की चक्रपेटिका की शोभा है। सन १९३६ में वृन्दावन आने पर मैंने अपना पहला श्रीकृष्ण–चरित 'त्रिभुवन सुन्दर' के नाम से लिखा। यह 'संकीर्तन' के ही सन १९३९ के विशेषांक 'श्रीकृष्ण–चरितांक' के रूप में प्रकाशित हुआ। इसके अनन्तर 'आञ्जनेय' लिखा गया। इसको 'संकीर्तन' कार्यालय ने ही प्रकाशित किया।

'संकीर्तन' तो श्रीकृष्ण–चरितांक प्रकाशित करके बन्द हो गया। मैं 'मानसमणि' का सम्पादक होकर रामवन (सतना म०प्र०) आ गया। लेकिन 'आञ्जनेय' लोगों को इतना रूचा था कि उसका प्रथम संस्करण ड़ेढ़–दो वर्ष में समाप्त हो गया था। बहुतों ने उसे अपने नित्य पाठ का ग्रन्थ बना लिया था। मानससंघ, रामवन से उसका किंचित परिवर्धित संस्करण 'श्रीहनुमान–चरित' के नाम से प्रकाशित हुआ। अब अनेक वर्षों से वह भी अप्राप्य हो चुका है।

मैं चाहता था कि 'भगवान वासुदेव' श्री द्वारिकाधीश' 'पार्थ–सारथि' के पश्चात 'नन्दनन्दन' लिखने के साथ जब वह विशाल श्रीकृष्ण–चरित पूरा हो गया तो लेखनी रख दूँ, किन्तु लेखनी जिसने दी है, उसे यह जब स्वीकार हो तब यह हो। उसकी इच्छा पूर्ण हो। प्रिय श्रीविष्णुहरि

डालमिया का आग्रह है कि मुझे लिखना चाहिए। हाथ में उत्पन्न कम्पन को वे बाधा मानने को प्रस्तुत नहीं। उनका तर्क है– 'आप लिख नहीं सकते, पर बोल तो सकते हैं।'

शीघ्र लेखन की सुविधा ने मुझे उत्साहित किया। 'शिव चरित' लिखवा रहा हूँ। उसके पूर्ण होने से पहले ही यह 'आञ्जनेय की आत्मकथा' प्रारम्भ करने का अर्थ इतना ही है कि जो चार चरित लिख–लिखवा देने का संकल्प उठ गया है, वह पूरा हो जाय। श्रीकृष्ण–चरित तो 'श्रीकृष्ण–सन्देश' में क्रमशः प्रकाशित हो रहा है। 'शिव चरित' जैसा क्रम चल रहा है– उसके अनुसार शीघ्र पूर्ण हो जायेगा। अब यह आञ्जनेय की आत्मकथा और उसके पश्चात 'श्रीराम चरित।'

'कल्याण' के सन १९७५ के विशेषांक 'हनुमान अंक' में भाई श्रीविश्वनाथ जी दुबे द्वारा लिखा गया विस्तृत 'हनुमान चरित' प्रकाशित हो गया। अतः श्रीरामदूत के भक्तों को एक अच्छा चरित अपने आराध्य का प्राप्त हो गया है। अब उसी चरित शैली में फिर से 'हनुमान चरित' लिखने की आवश्यकता मुझे नहीं लगती। लेकिन भगवच्चरित और सर्वेश्वर के सर्वात्मना सेवकों–भक्तों का चरित दूसरों को दृष्टि में रखकर, पाठकों अथवा साहित्य की आवश्यकता देखकर नहीं लिखे जाने चाहिए। भगवच्चिन्तन, भक्तचिन्तन चिन्तक के हृदय को पवित्र करके भगवन्मय बनता है, यही सर्वोत्तम फल है इस चिन्तन का। इस पर परम लाभ से मैं क्यों वंचित रहूँ।

भगवच्चरित की अपेक्षा भक्त–चरित का लेखन अधिक कठिन है। भगवान तो सर्वरूप, सर्वात्मक है। वे सबके भावों को सार्थक करते हैं। उन पर सत्यस्वरूप के श्रीचरणों से लगकर समस्त कल्पनाएँ सत्य–सार्थक हो जाती हैं। उनके सम्बन्ध में कोई भी कुछ भी सोचे–कुछ असम्बद्ध नहीं है। वे तो घोषणा कर चुके हैं–

'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजयाम्यहम्।' गीता

लेकिन भक्तों की तो अपनी अपनी निष्ठा होती है। उनके अपने भाव हैं और वे अत्यन्त दृढ़ हैं। उसमें परिवर्तन के लिए स्थान नहीं है। फिर मैं तो 'आत्म चरित' लिखने चला हूँ। आशा इतनी ही है कि राघवेन्द्र के नाते– उनका वंशज होने के नाते श्रीपवनपुत्र का स्नेह मेरा स्वत्व है। वे मंगलमय हृदयारूढ़ होकर वाणी को, कर को बल वैभव देंगे और मेरा कन्हाई सम्हालता–सजाता चलेगा। इसी आस्था पर यह धृष्टता प्रारम्भ कर रहा हूँ।

जय जय श्रीरघुबीर समर्थ!

जय जय श्रीरामदूत– पवनसुत आञ्जनेय!

अतिथि–भवन
उड़िशा सिमेंट लि०
राजगंगपुर–७७००१७
शनिवार, भाद्र पूर्णिमा, संवत् २०३२ वि०

– सुदर्शन सिंह 'चक्र'

भाग -7

जीवन

'सावधान!' तानबाजी ने अपना तलवारवाला दाहिना हाथ ऊपर उठाया। तोपें यथास्थान लग चुकी थीं। बारुद और गोले ठूँस-ठूँसकर भरे जा चुके थे। स्वयं सेनापति तानबाजी ने अपने काले घोड़े को थिरकाते हुए सबका निरीक्षण कर लिया था। तोपचियों ने हाथों में पलीते दे दिये थे और मशालें उठ गयी थीं। एक क्षण की देर थी। सेनापति के मुख से निकलेगा 'मार!' और उनके उठे हाथ के नीचे गिरने से पहले आकाश लपटों और धुएँ से भर जायगा। 'धू-धड़ाम' की घनघोर ध्वनि मीलों तक सोये हुओं को चौंका देगी। पशु बन्धन तुड़ाकर भाग जायँगे और पक्षी आकाश में ढूँढ़कर भी बैठने को कहीं आवास नहीं प्राप्त कर सकेंगे। यह सम्मुख का विशाल महल? ईंट भी तो नहीं मिलेगी इसकी ढूँढ़े।

'ठहरो!' सेनापति ने देखा कि बड़े वेग के साथ कृष्णाश्व चट्टानों से छलाँगे भरता आ रहा है। 'पता नहीं क्या हो गया' धक् हो गया हृदय महाराष्ट्र केसरी को इस आतुरता से अपनी ओर आते देखकर। 'प्रभु मङ्गल करें!' सेनापति ने अपने महाराज को उसी उठें हाथ से अभिवादन किया। नवीन समाचार सुनने के लिए नवीन आपत्ति का सामना करने के लिए वह क्षण-भर में ही प्रस्तुत हो गया। अन्ततः आपत्तियों से क्रीड़ा करते हुए तो उसने अपने बाल सफेद किये हैं।

'हमें केवल यहाँ घेरा डाल देना चाहिए।' महाराज शिवाजी समीप आकर रुक गये। 'तब तक के लिए घेरा डाल देना चाहिए, जब तक शत्रु आत्मसपर्मण न कर दें।' उनका कण्ठस्वर गम्भीर था।

'जब आततायी शत्रु किसी उपासना-स्थान में जा छिपता है तो क्षन्तव्य हो जाता है, मैं जानता हूँ।' सेनापति ने समझा कि राष्ट्रनायक मस्जिद का सम्मान करना चाहते हैं। 'किन्तु जब वह उपासना-स्थान को आक्रमण का केन्द्र बना लेता है तो उपासना-स्थान सम्मान्य नहीं रह जाता। वह दुर्ग हो जाता है और उसी दृष्टि से उसके साथ व्यवहार करना चाहिये।'

सिंहगढ़ के कुछ दक्षिण-पूर्व एक विराट् मस्जिद थी। मस्जिद का तो नाम था, एक छोटा-मोटा दुर्ग ही था वह। यवन सेना ने सिंहगढ़ हस्तगत करने के अनन्तर आगे बढ़कर उसे केन्द्र बना लिया था और वहीं से आगे आक्रमण की योजना बनायी जा रही थी। महाराज शिवाजी के चरों ने सम्पूर्ण समाचार दे दिया था। रात्रि को जब घने अंधकार में शत्रु प्रहारी भी झपकियाँ ले रहे थे; तानबाजी की तोपें सघन वन में खिसक आयीं और शत्रु घेर लिया गया। सच्ची बात तो यह है कि यहाँ तीन महीने से पड़े रहने पर भी जब शिवाजी की ओर से प्रतिकार की कोई चेष्टा लक्षित न हुई तो शत्रु निश्चिन्त-सा हो गया। सैनिकों की सावधानी प्रमाद में परिवर्तित हो गयी।

'मैं तुम्हारी नीति से सहमत हूँ।' घोड़ा समीप खिसक आया और महाराज ने सेनापति के कन्धे पर हाथ रक्खा। 'यह भी जानता हूँ कि शत्रु प्रातः आक्रमण कर सकता है। हम इस समय सबल हैं और सिंह गढ़ से सहायता न पहुँच सके, इसका प्रबन्ध मैं करके आ रहा हूँ।'

'फिर भी परिणाम अनिश्चित हो जायेगा।' सेनापति समझ नहीं सके कि क्यों अभी एक क्षण में विजयश्री को स्वीकार करने से महाराज अस्वीकार कर रहे हैं। 'यदि हम यहाँ पैर न जमा सके तो सिंहगढ़ का स्वप्न सदा के लिये छोड़ देना होगा।'

'हो सकता है!' महाराज अत्यधिक गम्भीर हो गये। 'हमें एक बात स्मरण रखना चाहिये कि जीवन का मूल्य ईंट-पत्थर से बहुत अधिक है। हमें यथासम्भव एक भी जीवन को अनावश्यक नष्ट नहीं करना चाहिये।'

× × ×

(2)

'दस्युओं ने आक्रमण कर दिया जान पड़ता है इस निरीह ग्राम पर।' लपटें धू-धू करके सारे गगन को जला देने की धमकी दे रही थीं। कुण्डलियाँ लेकर उठती धूम्रराशि जैसे मानव के भाग्याकाश पर ही छा जायगी। बाँस चटाचट चटख रहे थे और बच्चों का रोदन, वृद्धों की पुकार और अबलाओं की क्रन्दनध्वनि किसी पाषाण को भी पिघला देने के लिये पर्याप्त थी। बीच-बीच में तरुणों की हुंकार और दस्युओं का अट्टहास, गाली-गलौज के शब्द सुनायी पड़ते थे। घोड़ों पर इधर-से-उधर दौड़ते, हाथों में तलवार, उठाये, भाला सम्हाले दस्यु अग्नि के प्रखर प्रकाश में स्पष्ट देखे जा सकते थे।

'दस्यु बहुत अधिक जान पड़ते हैं। कम-से-कम दो सौ।' महाराज शिवाजी को ग्राम की ओर घोड़ा बढ़ाते देखकर सहचर ने सावधान किया। महाराज दिल्ली से

औरङ्गजेब की कैद से अपने कौशल द्वारा निकल चुके थे। केवल एक विश्वस्त सेवक था उनके साथ। दोनों ने यवन सैनिकों का वेष धारण कर रक्खा था।

'तुम्हारा अनुमान ठीक है।' महाराज ने घोड़े की लगाम ढ़ीली करके दाँतों में पकड़ ली । घोड़ा कदम छोड़कर सरपट दौड़ पड़ा। कन्धे से धनुष उठाकर प्रत्यञ्चा चढ़ा दी गयी उस पर। 'हम अब भी निरीह प्राणियों की बहुत सेवा कर सकेंगे।' दाँतों में लगाम होने से शब्द स्पष्ट उच्चारित नहीं हो रहे थे।

'हम केवल दो है।' सहचर अब अनुगत न रहकर पार्श्व में पहुँच गया था। घोड़ा दौड़ाते हुए। उसकी गति स्पष्ट बतला रही थी कि यदि महाराज ने इस अग्नि में कूदने का निश्चय न छोड़ा तो उसका अश्व आगे चलेगा शिवाजी के। 'महाराष्ट्र बड़ी आकुलता से श्रीमान् की प्रतीक्षा कर रहा है। हिंदू संस्कृति इन्हीं भुजाओं की ओर आशा लगाये है।' स्वर में हृदय का सम्पूर्ण अनुरोध घनीभूत हो गया था।

'जब तक कोई साहस न दिखावे, सारा समूह निस्तेज पड़ा रहता है।' महाराज ने समझाया। धनुष पर बाण चढ़ चुका था और केवल इतनी प्रतीक्षा थी कि दस्यु मार के भीतर आ जावें। 'हमारे 'हर हर महादेव' के साथ ग्रामीण तरुणों में जीवन आ जायगा और तुम देखोगे कि हम पलक मारते-मारते दो से पाँच-सात सौ हो गये हैं। फिर दस्युओं में साहस ही कितना?'

'विजय सदा श्रीचरणों की अनुगामिनी रही है।' अनुचर को सन्तोष नहीं हुआ था। 'इतने पर भी निरापद निकल जाना सहज सम्भाव्य नहीं है। श्रीमान् इस समय यवन-वेश में हैं। वेश का भंड़ाफोड़ हो जायगा। इतनी बड़ी घटना छिपी न रहेगी। दिल्ली के चर एवं सैनिक पीछा करते हुए अन्वेषण कर रहे हैं।'

'शिवा आपत्तियों से नहीं डरता।' एक क्षण के लिए महाराज ने पार्श्वचर की ओर देखा। बड़ी कठोर थी वह दृष्टि। दूसरे ही क्षण धनुष से तीर छूट गया। चीख मारकर एक दस्यु धाराशायी हो गया। 'हर हर महादेव' का गम्भीर नाद महाराज के कण्ठ से निकला और अनुचर के कण्ठ ने मानो प्रतिध्वनि की।

'शिशुओं के प्राण, अबलाओं का सतीत्व और वृद्धों का आर्तक्रन्दन-जीवन क मूल्य इनके सम्मुख भी अधिक है? छिः !' बराबर भाथा खाली होता जा रहा था। दस्यु चेष्टा करके भी एकत्र होकर सामने नहीं हो पा रहे थे। उनकी संख्या प्रतिक्षण घट रही थी। उधर ग्राम के कोने-कोने में विद्युत् संचारित हो गयी। शत-शत तरुण कण्ठ पुकार उठे 'हर हर महादेव !'

'किन्तु श्रीमान् के जीवन का मूल्य-।' पार्श्वचर के हाथ महाराज से भी अधिक स्फूर्ति प्रदर्शित कर रहे थे। उसका अश्व आगे बढ़ चुका था। बिना गर्दन घुमाये उसने शङ्का की और उसके कानों ने सुन लिया-

'मेरे या किसी के भी – श्रीसमर्थ के भी जीवन का मूल्य इतना अधिक नहीं है।' दस्यु तब तक पलायन–परायण हो चुके थे।

× × ×

(3)

'महाराज!' बहुत धीरे से चर ने बिना अभिवादन किये ही कहा। भगवद्विग्रह के सम्मुख श्रीविग्रह के अतिरिक्त किसी को भी प्रणाम नहीं किया जा सकता। आतुरता में भी वह श्रीविग्रह साष्टांगाभिवादन भूल नहीं सका था। उसके सम्बोधन ने स्वयं उसी को संकुचित कर दिया। मौन खड़ा हो गया वह। हृदय में मची हुई हलचल बाहर आने में असमर्थ हो रही थी।

दक्षिण के प्रेममूर्ति श्रीतुकाराम दोनों हाथों में करताल उठाये, श्रीपाण्डुरंग के सम्मुख खड़े थे। दोनों नेत्र श्रीविग्रह पर एकाग्र हो गये थे और उनके अजस्रधारा कपोलों पर होकर वक्षःस्थल तक बह रही थी। अभङ्ग का भाव था "प्रभू, तू 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम्' समर्थ है। तेरी अघटन घटना पटीयसी माया का ऐश्वर्य अचिन्त्य है।"

कोई पहचान भी नहीं सकता था कि उन सहस्रों नर–नारियों में महाराज शिवाजी कहाँ महासंत के पीछे खड़े अश्रुविमोचन कर रहे हैं। भला सर्वेश विट्ठल के दरबार में राजकीय वेषभूषा का क्या काम। एक साधारण महाराष्ट्र सरदार ही समझा जा सकता था उन्हें। अवश्य ही उनकी भालश्री, भव्य मुखमण्डल उन्हें दूसरों की साधारणता से पृथक् किये दे रहा था।

शत्रु के चरों द्वारा समाचार प्राप्त कर लिया था कि शिवाजी बहुत थोड़े सरदारों के साथ पंढरपुर के प्रधान मन्दिर में उपस्थित हैं। वे इस समय अपने घोड़ों से भी बहुत दूर है। विशाल मुगलवाहिनी पूरी गति से पंढरपुर की ओर बढ़ चली। शिवाजी के चर असावधान नहीं थे। उनमें से एक दौड़ा महाराज को समाचार देने। अश्व मन्दिर से हटकर, भीमा एवं कृष्णा के सङ्गम के समीप वन में उपस्थित कर दिये गये। नगर के घिर जाने से पूर्व ही महाराज को निकल जाना चाहिये था।

चर बहुत आकुल हो रहा था। उसने बार–बार अपने स्थान बदले। अनेक प्रकार से महाराज का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने की चेष्टा की। महाराज तो किसी दूसरे लोक में थे। चर ने साहस करके भूर्जपत्र पर कुछ लिखा और हाथ में दे दिया। बिना देखे महाराज ने भूर्जपत्र वस्त्रों में रख लिया। उधर चर को संकेत मिल रहे थे। एक के बाद दूसरा चर उसके समीप आता और कान में कुछ कहकर फिर शीघ्रता से चला जाता।

'कोई गम्भीर बात है।' कुछ सरदारों का ध्यान बराबर चरों के आवागमन तथा कानाफूसी की ओर गया। धीरे-धीरे कीर्त्तन में तल्लीन जन तटस्थ होकर इधर आकर्षित होने लगे। महाराज अभी भी आत्मविस्मृत थे।

'शत्रु ने नगर घेर लिया है और वे अपना घेरा छोटा करते हुए मन्दिर की ओर बढ़ रहे है।' चर ने प्रधान सामन्त को बतलाया। सभी के चेहरे घबराहट व्यक्त करने लगे।

'क्या बात है महाराज? श्रीतुकाराम जी ने आरती समाप्त की। पट बन्द हो गये। अब प्राङ्गण में एकत्र भीड़ में से एक पुरुष की ओर उन्होंने मुख किया। 'आपके सरदार बहुत व्याकुल दिखायी देते हैं।'

'कोई बात तो नहीं !' चौंकने के बदले पुरुष ने नम्र प्रणाम किया संत को तब दृष्टि अपने समीप के लोगों की ओर की। एक श्वास में चरने सम्पूर्ण वृत्त निवेदन कर दिया।

'अब क्या होगा?' संत ने मुसकराते हुए प्रश्न किया। वे सम्भवतः छत्रपति के अनन्तर को तौल रहे थे।

'मृत्यु तो जीवन का एक अध्यायमात्र है।' बड़ी नम्रता से वह भव्य भाल झुक गया। 'यदि आराध्यचरणों की उपस्थिति में वह आ जाय- कृतकृत्य हो जायगा जीवन। यही तो जीवन की पूर्णता है।'

आज्ञा ली उन्होंने और तलवारें नग्न हो गयीं सरदारों की। वे निरापद चले गये शत्रु के घेरे से बाहर। किसी ने उन्हें छेड़ा तक नहीं। पता नहीं, शत्रु ने पहचाना नहीं, संत ने चमत्कार दिखाया या शिवाजी का शौर्य शत्रु को स्तब्ध कर गया।

× × ×

(4)

'जीवन कहते किसे है !' पूरा दरबार लगा था। कोई भी गम्भीर समस्या सम्मुख नहीं थी। शत्रु का कोई समाचार नहीं था और नवीन आक्रमण की योजना भी अभी न थी। ये सब हों भी तो शिवाजी का निश्चिन्त स्वभाव विश्राम के समय को कभी नीरस नहीं होने देता। सब सामन्त यथा स्थान बैठे थे। समीप के छोटे सिंहासन से तानबाजी ने प्रश्न कर दिया।

'जय जय श्रीरघुवीर समर्थ।' महाराज उत्तर देने ही जा रहे थे। किसी का मेघगम्भीर स्वर तोरणद्वार से गूँज उठा। महाराज अस्त-व्यस्त दौड़े। सभासदों ने अनुगमन किया और दूसरे क्षण महाराष्ट्र का राजमुकुट एक लम्ब-तड़ङ्ग, गौरवर्ण, जटाजूटधारी, कौपीन पहने, हाथ में लम्बा चिमटा लिये आये हुए एक साधु के चरणों पर लुढ़क गया था।

मुझे यो ही खड़ा रखेगा शिवा? महाराज को पैरों से उठते न देखकर समर्थ स्वामी श्रीरामदास हँस पड़े।

'प्रभु पधारे।'नेत्र भरे हुए थे। भाल एवं नसिकाग्र धूलधूसरित होकर नवीन ही छटा धारण कर चुका था। शिवाजी का कण्ठ स्वर गद्‌गद हो चुका था।।

'तानबाजी पूछते हैं, जीवन का क्या अर्थ है' सबने श्रीसमर्थ के चरणोंदक से अपने मस्तक एवं कण्ठ को पवित्र बना लिया था। संत के चरण चन्दनचर्चित हो चुके थे और कण्ठ भर गया था पुष्पमाल्य से। दोनों ओर धूपदानी से अगुरु का धूम्र सौरभ बिखर रहा था। अभी कुछ देर विश्राम करके तब फलाहार ग्रहण करने की आज्ञा महा-पुरुष ने दे दी थी। सभी आसन छोड़कर भूमि पर बिछे गलीचे पर ही बैठे थे और महाराज ने सिंहासनासीन संत के चरणों के लिये अपनी क्रोड़ी को ही पादपीठ का रूप दे दिया था।

'गति और शक्ति' संत ने उत्तर दिया। प्रश्न का 'इन दोनों से संयुक्त ही जीवन है और उसका अर्थ है- सतर्क जागरुकता।'

सबने मस्तक झुका दिये। अब भी सबके नेत्र उठकर संत के मुख पर इसी प्रकार लगे थे कि वे अभी भी तृप्त नहीं हुए। मूक नेत्रभाषा में उन्होंने कुछ और सुनने की प्रार्थना कर दी।

'जिज्ञासा, प्रयत्न, विचार और त्याग का अविरल प्रवाह ही जीवन है।' संत ने पुनः स्पष्ट किया। इनमें से किसी की भी मूर्छा का अर्थ है जीवन की रुग्णावस्था। इनकी निवृत्ति में मृत्यु है और पूर्णता में मोक्ष। तुम सबको मोक्ष की ओर बढ़ना है। पूर्ण होकर ये आनन्द में परिणत हो जाते हैं। आनन्द की अभीप्सा ही सच्चा जीवन है।

❑❑

हानि क्या?

'ईश्वर को न मानने से हानि क्या है?' अनिल का यह तर्क नवीन नहीं है; परन्तु इस समय वह इस तर्क को उठायेगा, ऐसी आशा नहीं थी। हमारा यान इस समय शब्द की गति से बहुत तीव्रगति से जा रहा है। पृथ्वी के कुल नौ प्राणी हैं यान में और उनमें भी मनुष्य चार ही हैं। किसी भी प्रश्न, किसी भी वाद-विवाद में उलझकर तनिक भी असावधान हो जायँ हम लोग तो क्या होगा- इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती।

'इस बात पर फिर चर्चा होगी। तुम तनिक ध्यान तो रक्खो कि हमारा यान चन्द्रमा और मंगल के मध्य से निकले।' हमारा यह यान न तो अणुचलित राकेट-यान है, न उड़नतश्तरी है। आकार की दृष्टि से कमलायान है। जैसे एक अष्टदल कमलबन्द हो रहा हो - ठीक ऐसी आकृति है। आठ कमरे हैं। कमल की पङ्खुड़ियों के ही आकार के, जिनकी भित्तियाँ बन्द कमल की पंखुड़ियों के समान एक-दूसरे पर चढ़ी हुई हैं। इन कमरों में यन्त्र हैं, भोजन-सामग्री है, जल है तथा दूसरी आवश्यक वस्तुएँ हैं। मध्य में सबसे बड़ा कमरा है और वही हमारे बैठने, रहने तथा विश्राम करने का भी स्थान है। कमलकोष के समान इनकी तलभूमि है और कमलकोष में जैसे कमल-गट्टे होते हैं, इसकी तलभूमि में भी पूरे छः परमाणु राकेट-यन्त्र हैं। तनिक खटका करते ही वे चलने लगेंगे। परन्तु हमारा यान शब्द-शक्ति से चालित है, आप ठेठ भारतीय भाषा में कहना चाहें तो यह मन्त्र चालित है। परमाणु-राकेट तथा दूसरे यन्त्र तो हमारे अस्त्र हैं जो आवश्यकता होने पर सुरक्षा के साधन बन सकते हैं।

'हमने मानव-उपग्रह को पार कर लिया। चन्द्रमा हमारे दाहिने छूट रहा है।' अनिल हमारे विशेष यन्त्र पर देख रहा है। पृथ्वी पर जो अब दो ही राष्ट्र हैं- श्वेत जातियों का राष्ट्र और रङ्गीन जातियों का महान् देश। रङ्गीन जातियों की जनसंख्या बढ़ती जा रही है। उनके अग्रणी भारत को उपनिवेश ढूँढ़ना है। ये बढ़ते हुए मनुष्य कहाँ बसाये जायँ।

श्वेतजातियों ने चन्द्रमा की यात्रा से पूर्व ही पृथ्वी के चारों ओर घूमनेवाला यह

कृत्रिम उपग्रह बना डाला जो अभी पीछे छूटा है। यहीं से उनके राकेट-यान चन्द्रमा पर जाते हैं। परन्तु चन्द्रमा पर निवास की उनकी योजना तो असफल हो गयी। उसे तो उन्होंने पृथ्वी पर चाँदमारी करने का केन्द्रमात्र बनाया है। चन्द्रमा पर पृथ्वी के प्राणियों के लिए स्थायी जीवन सम्भव नहीं है किंतु चन्द्र से हमें दूर रहना है। श्वेतजातियों ने उसे अपना सैनिक अभियान केन्द्र बनाया है और संघर्ष तो अनिवार्य है। रङ्गीन जातियाँ असावधान नहीं रहेंगी- किंतु हमें शान्ति चाहिये। श्वेत तथा रङ्गीन का यह अभिमान मिथ्या है। विश्व के बुद्धिमान् लोग यह समझने लगे हैं। वे पर्याप्त संख्या में हैं और सब जातियों में हैं। हमें कोई जासूसी चन्द्रमा के विषय में करनी नहीं है। हम इतना ही चाहते हैं कि वह अधिकार प्राप्त लोग व्यर्थ सन्देह करके हमारी यात्रा के बाधक न बनें।

मङ्गलवासी बुद्धिमान हैं; किन्तु कम क्रोधी है। वे स्वयं अपनी जनसंख्या को कहीं खपाने की चिन्ता में हैं। बुध की दशा भी कुछ चन्द्रमा-जैसी है और बृहस्पति तो देवगुरु हैं। उन पर उतरने का साहस मनुष्य करे- अभी कई सहस्राब्दियाँ इसमें लग सकती हैं। प्रतिक्षण वहाँ की भूमि पर जो तोप से गिरते गोलों की भाँति सहस्रशः उल्कापात होते रहते हैं, उसकी औषधि मनुष्य के पास अभी तो नहीं ही है।

'मङ्गल के कुछ वृत्तयान हम लोगों को मार्ग में मिल सकते हैं।' सुनील ने फिर सूचना दी। 'हम मङ्गल के मार्ग में तो नहीं, परन्तु उसके पास से ही जा रहे हैं।'

'मुनीन्द्र ! यान को इन मङ्गलवासियों से बचाये ही ले चलो।' मैंने अपने यान के चालक से प्रार्थना की। शब्द शक्ति के ज्ञाता हम चारों में मुनीन्द्र ही हैं। यान का नियन्त्रण उन्हीं के हाथ में है। 'मङ्गल के लोग क्रोधी हैं और झगड़ालू भी। किसी को कब क्या सन्देह हो जायगा, इसका ठिकाना तो है नहीं।'

'चिन्ता का कोई कारण नहीं है।' मुनीन्द्र ने आश्वासन दिया 'हम शुक्र तक निर्विघ्न पहुँचेंगे। मार्ग में हमें किसी से मिलना-मिलाना नहीं है।'

यान का मुख कब किधर घूम रहा है, यह उसके भीतर बैठे अनुमान करना अशक्य था। अनन्त आकाश में दिशाओं का भी कोई ठीक-ठिकाना नहीं है। किन्तु हमारे चालक समर्थ हैं, योग्य हैं, उन पर विश्वास करके निश्चिन्त रहा जा सकता है।

× × ×

(2)

'क्या हो गया?' हम सभी चौंक पड़ें। आज से सात दिन पहले हमने शुक्र को

स्पष्ट देख लिया था। सूर्य भगवान् के समीप आने में बड़ा भय है, यह अनुमान तो हम लोगों ने पृथ्वी पर ही लगा लिया था; किन्तु शुक्र तो सूर्य से केवल ६७,२००,००० मील दूर हैं। इस यात्रा में हमारा यान भस्म हो गया होता। हम लोगों ने यान को शीतल रखने के जितने यत्न कर रक्खे थे, कोई पर्याप्त नहीं था। परन्तु हमारे सुयोग्य चालक इस विपत्ति से सावधान थे। हमारा यान सूर्य और अपने मध्य में शुक्र को किये आ रहा है। किन्तु आज यह कौन-सी विपत्ति आयी? यान शुन्याकाश में सहसा गतिहीन क्यों हो गया?

'मैं कुछ समझ नहीं पाता हूँ। मेरी कोई शक्ति काम नहीं कर रही है।' मुनीन्द्र ने हताश होकर कहा। उनके उन्नत भाल पर स्वेद की बड़ी-बड़ी बूँदे झलमलाने लगीं। मनोनिग्रह के बलात् प्रयत्न से उनका मुख और नेत्र लाल हो गये थे।

'स्वागतम्!' हम सभी फिर चौंके। सुस्पष्ट देववाणी में बड़े ही कोमल सङ्गीतमय स्वर में किसी ने कहा। किसने कहा- यही चौंकाने का कारण था। बाहर का कोई शब्द यान में आ नहीं सकता था और हमारी समझ से स्वर बाहर से ही आया था।

'हमें प्रतीक्षा करनी चाहिये।' मुनीन्द्र रक्षात्मक अस्त्रों के प्रयोग की आवश्यकता नहीं समझते थे। 'यान चल रहा है - कहना चाहिये कि ले जाया जा रहा है। हम अपनी इच्छा से कहीं जाने को अब स्वतन्त्र नहीं हैं; किन्तु स्वागत का स्वर कहता हैं कि वे अज्ञात लोग शत्रु नहीं हैं।'

एक सङ्गीत-लहरी दो क्षण में गूँज उठी। पृथ्वी पर इतना मधुर इतना कोमल सङ्गीत कभी सुना जा सकेगा, इसकी कोई सम्भावना नहीं। शतशः कोमल-कण्ठ भाव-मुग्ध स्वागत-गान कर रहे थे। शुद्ध संस्कृतवाणी में। पृथ्वी- के हम प्रवासियों का शुक्र पर इस प्रकार स्वागत होगा- यह कल्पना स्वप्न में भी हमारे मन में नहीं आयी थी। वैसे हमारा यान कुहरे और बादलों के वाहन अन्धकार में से धीरे-धीरे उतर रहा था। यान की कोई अपनी शक्ति उसे चला नहीं रही थी। हमारे पास न तो यह जानने का कोई साधन था कि यान कैसे चल रहा है, न अन्धकार के कारण हमारे यन्त्रों पर कुछ दीखता ही था।

बहुत देर हमें चकित नहीं रहना पड़ा। शीघ्र ही शुक्र की भूमि पर हमारा यान उतर गया। द्वार खुल गये और बिना किसी हिचक के हम सब बाहर आ गये। बाहर आये और जो कुछ देखने को मिला- देखते मुग्ध खड़े रह गये। हममें किसी को अपने नेत्रों पर विश्वास नहीं हो रहा था।

'अतिथियों को आचार्य शुक्र के किङ्कर अभिवादन करते है।' गम्भीर मेघगर्जना-जैसा स्वर, सुस्पष्ट शरीर कुछ पुरुष सम्मुख आ गये- 'कोई कष्ट तो नहीं हुआ आप लोगों को यहाँ आने में। यान को अवरुद्ध करके हम लोगों ने जो अविनय किया, वह

अतिथियों की सुरक्षा के लिए था। हमारा अपराध अक्षम्य है।'

हम सबों में जैसे बोलने की शक्ति ही नहीं थी। आपको कोई सहसा स्वर्ग में उठाकर रख दे- क्या दशा होगी आपकी? जहाँ तक दृष्टि जाती थी, पर्वताकार वृक्ष, अद्‌भुत लताएँ और विचित्र प्रकार के तृण थे। पुष्पों से लदे थे सब-के-सब और उनकी सुरभि से दिशाएँ झूम रही थीं। उदुम्बर, चम्पा, आँवला, तमाल- थोड़े ही वृक्ष हमारी पहचान के थे। भ्रमरों की मण्डलियाँ गुंजार कर रही थीं, कोकिल कूक रहे थे, कपोत और पण्डुक गुटरगूँ करने में लगे थे।

हमारा स्वागत करने को जो गायिकाएँ आयी थीं- यदि वे शुक्रलोक की सामान्य गायिकाएँ ही हैं तो पता नहीं स्वर्ग की अप्सराएँ कैसी होती होंगी। स्त्री और पुरुषों में रङ्ग की दृष्टि से दो ही रङ्ग मिले हमें। स्त्रियों का वर्ण तनिक हरीतिम लिए उथले जल के समान उज्ज्वल और पुरुषों का रङ्ग गम्भीर समुद्र की भाँति नील। उसे काला तो किसी प्रकार नहीं कह सकते।

'आप लोग पधारें!' शुक्रवासियों का आतिथ्य हमें स्वीकार करना था। हमारे आवास की उन्होंने व्यवस्था की थी।

× × ×

(3)

मैं थोड़े में ही शुक्रलोक का वर्णन किये देता हूँ। हम लोगों को जो आवास मिला था, पृथ्वी के दस-पन्द्रह मंजिल ऊँचे भवन-जितना विशाल एक ही कक्ष था। यह हम लोग प्रारम्भ से देख रहे थे कि शुक्र के पशु, पक्षी, वृक्ष, लताएँ आदि सब पृथ्वी के अनुपात से कम-से-कम पचास गुने बड़े थे।

'क्षमा करेंगे।' आवास में आने के कुछ ही देर बाद एक शुक्रनिवासी दोनों हाथ जोड़े उपस्थित हुआ- 'हमें पता नहीं था कि आपके यान में पशु एवं पक्षी भी हैं।'

हम लोग भूल ही गये थे कि यान में कबूतरों का एक जोड़ा, एक मृग, एक तोता और एक बन्दर हम लोग छोड़ आये हैं। कबूतर हम लोगों के लिए थे इसलिए कि यह पक्षी अत्यन्त कम आहार पर जीवित रह सकता है। मृग नवीन धरा पर कितना उछल सकता है, इससे हम लोग अपनी गति नियन्त्रित कर लेंगे, यह अनुमान था। कपि आहार ढूँढ़ने में हमारी सहायता कर सकता था और तोता हमारी भाषा में हमसे बोल सकता था। परन्तु शुक्र के निवासियों के स्वागत-सत्कार तथा यहाँ के स्वर्गीय

वातावरण ने हम लोगों को अपने इन साथियों का स्मरण ही नहीं करने दिया।

'हम लोग आपके उन मित्रों की रक्षा नहीं कर सके!' बड़ा दुःख हुआ इस समाचार से। शुक्र निवासी के नेत्रों में भी अश्रु थे– 'यहाँ के पशु–पक्षियों के संघर्ष में वे बेचारे टिक नहीं सकते थे और यान खुला रह गया था।'

'आप लोग तो असाधारण–काय नहीं हैं?' मैंने उस शुक्रनिवासी से पूछा। जब यहाँ के मनुष्य हम लोगों के समान देहधारी हैं तो यहाँ के पशु–पक्षी–वृक्ष–लता दानवाकार क्यों? यहाँ इतने पर्वताकार भवन क्यों बनाये गये? ये प्रश्न हममें से सभी के मन को चञ्चल कर रहे थे।

'आप हमारे अतिथि हैं। अतिथि नारायण के स्वरूप होते हैं। हमें तो अतिथियों के अनुरूप बनकर उनकी सेवा करनी है।' शुक्रनिवासी ने नम्रता से कहा।

'मैं आपक़ी बात समझ नहीं सका।' अनिल बोला।

'क्षमा करें, यह आचार्य शुक्र का साधन–लोक है। हम सब उनके अनुचर हैं।' उसने समझाने का प्रयत्न किया– 'आपने सुना होगा कि जन्म से इच्छानुसार आकृति बना लेना हमारे लिए सरल है।'

'आपका वास्तविक आकार...।' मेरी बात पूरी होने से पहले हमारे सामने जो व्यक्ति खड़ा हो गया, यदि हमें विश्वास न होता कि वह हमारा मित्र है तो निश्चय हम मूर्च्छित हो जाते। ताल के दो–तीन वृक्षों–जितना ऊँचा, वज्रपुष्ट शरीर और ओज की वह मूर्ति। परन्तु दूसरे ही क्षण वह हमारे समान हो गया। हमारे भय को उसने लक्षित कर लिया।

'आप दैत्य हैं? मैंने पूछा।

'मैं दानव हूँ– लोकमाता दनु का वंशज; किन्तु यहाँ माता दिति के भी वंशज प्रायः आते हैं।' उसने आत्मगौरव के भाव से बताया– 'दैत्येन्द्र बलि भी यदा–कदा यहाँ आचार्य चरणों में प्रणाम करने पधारते हैं।'

'दैत्येन्द्र बलि'...... परन्तु मेरे पूछने के पूर्व ही उसने बतला दिया कि यह शुक्रलोक तो आचार्य शुक्र का तपोवन है। दैत्येन्द्र तथा दैत्य–दानव रहते तो सुतल लोक में ही हैं। अब मैं समझ सका कि क्यों एक वैज्ञानिक पृथ्वी पर दूरवीक्षण यन्त्र से देखकर कह सका– 'शुक्र में भूत–प्रेत रहते दीखते हैं।'

'आचार्य शुक्र इस समय तपोवन में हैं?' मुनीन्द्र ने पूछा।

'वे सुतल पधारे हैं। हम लोग खिन्न हो गये कि यहाँ आकर भी दैत्यगुरु महर्षि के दर्शन नहीं हो सकेंगे। हमारी निराशा देखकर कदाचित् उसे दया आयी। उसने कहा – 'आप लोग आचार्य पाद के परमाराध्य भगवान् महेश्वर का दर्शन कर सकते हैं।'

× × ×

(4)

हमने महेश्वर के दर्शन कर लिए हैं। मणिमय शिव लिङ्ग एक छोटे पर्वत के समान उच्च और उसकी प्रकाश किरणें- हम सभी ने नेत्र बन्द कर लिए थे। दर्शन करने में असमर्थ होकर और भूमि में- वहाँ की रत्न जटित काञ्जनभूमि में मस्तक रख दिया था। हमें दर्शन करने दिया गया, यही बड़ी कृपा थी। कोई मर्त्य उसे दिव्य विग्रह का स्पर्श कैसे कर सकता था।

वह मन्दिर-शुक्रलोक-वैभव का निवास है। यहाँ जिसे देखिये वही ऊपर से नीचे तक रत्नाभरणों से भूषित, पुष्पमाल्यों तथा सुगन्धित अङ्गरागों से सज्जित, निर्मल कौशेय वस्त्र पहने, पुष्प-सार (इत्र) में स्नातप्राय अपने विविध वाद्यों की स्वर-लहरी में निमग्न है। सौन्दर्य, सौकुमार्य, कला, सङ्गीत की यह भूमि और फिर यहाँ के आराध्य का मन्दिर- उसके वैभव तथा सौन्दर्य का वर्णन कैसे शक्य है। स्तुति, नृत्य, विविध लीलाभिनय-नित्य महोत्सव चलता है वहाँ। दैत्य एवं दानवों के शौर्य का वर्णन हमने पढ़ा था। उनकी कला के दर्शन हुए शुक्रलोक में। उनके गायक, उनके चित्रकार और उनके सुकवि पृथ्वी में उनकी परिकल्पना शक्य नहीं। वहाँ तो जो निकृष्ट हैं, च्युत हैं अपनी कला से भी मानवदुर्लभ नट हैं, व्यङ्गकार हैं, क्या पुष्पसज्जा-प्रवीण हैं या पुष्पसार के कुशल निर्माता हैं। कला वहाँ साकार नृत्य करती है।

'हमने सुना है......' अनिल तनिक हिचक गया।

'आपने ठीक सुना है कि 'दैत्य और दानव क्रूर हैं तथा महान् वैज्ञानिक भी हैं।' शुक्र निवासी जैसे अन्तर्यामी हो। 'भगवान् वामन हमारे द्वारपाल होकर विराजते हैं सुतल-लोक में, यह आप जानते हैं। उनकी नित्य संनिधि में क्रूरता या दूसरे दोष कब तक टिके रह सकते हैं? और हमारा विज्ञान- उसके आचार्य तो हमारे कुलपुरुष मय हैं। अभी मानव-विज्ञान इतना ही आगे जा सका है जितना हमारे आचार्य अपने शिष्यों के प्रारम्भ के तीन दिनों में बता देते है। सबसे बड़ी बात- आप क्षमा करेंगे मानव-विज्ञान नास्तिक-विज्ञान है।'

'विज्ञान भी आस्तिक होता है?' अनिल नेत्र फाड़े देख रहा था उस शुक्रवासी को।

'बिना आस्तिकता के, बिना भगवान् शशाङ्कशेखर की चरणछाया पाये विज्ञान केवल बच्चों के खिलौने बना सकता है।' हँसा वह दानव वीर- 'ऐसे खिलौने जिसे हमारा कोई दुर्बल बालक भी खेल में ही तोड़ फेंके।'

हम सबको इस दानव की वह आकृति स्मरण है, जिसको इसने पहले ही दिन

दिखला दिया था। हमें स्मरण है, वही इसकी वास्तविक आकृति है। इसका यह रूप तो केवल शालीनता है। हमें यह भी नहीं भूला है कि हमारे यान के यन्त्र, हमारे मुनीन्द्र की शब्द-शक्ति व्यर्थ हो गयी थी इस लोक में आते ही।

'आप रुष्ट न हों! आपको देखकर ही भगवान् वामन आपके सुतल लोक के द्वारपाल हैं, यह मुझे विश्वास हो गया। परन्तु यह आप लोगों की बात है।' सुनील अत्यन्त विनम्र होकर बोला- 'हम मनुष्यों ने भगवान् को देखा नहीं। हमारा काम हमारे विज्ञान से ही चलता है, चाहे वह जितना दुर्बल हो। यदि हम भगवान् को न मानें तो हानि क्या?'

'आपका यान यदि यहाँ से चलकर भटक जाय, हानि क्या?' दानव हँसा।

'भगवान् के लिये ऐसा मत कहिये?' सुनील डर गया। इस दानव के लिये यान को भटका देना कोई विशेष श्रम की बात नहीं है। 'हम नष्ट हो जायँगे। अनन्त आकाश में हमारा पता भी नहीं लगेगा।'

'यही हानि भगवान् को न मानने में है। वासनाओं के अनन्त अन्धकार में आपके आदर्शों का पता भी नहीं लगेगा।' दानव ने शान्ति से कहा- 'मनुष्य और उसकी मनुष्यता नष्ट हो जायेगी यदि उसने भगवान् को स्वीकार करके, उन्हीं को लक्ष्य बनाकर चलना नहीं प्रारम्भ किया।'

× × ×

हम विदा हुए, क्योंकि हमें विदा होना था। मार्ग निरापद बीत ही गया था; किन्तु पृथ्वी के पास आकर हमारे यान पर प्रहार हुआ मानव उपग्रह से। यान छिन्न-भिन्न हो गया। हम सभी छतरियों (पैराशूटों) के सहारे कूदे। वायुने सबको इतस्ततः कर दिया। मेरी छतरी भूमि से लगी। बड़े जोर का झटका लगा।

ओह! मैं अपनी शय्या पर ही पड़ा हूँ। निद्रा टूट गयी है। वह शुक्र लोक यहाँ नहीं है जहाँ तीन-तीन चन्द्रा आलोक करते हैं। जहाँ सूर्य के प्रचण्ड ताप से सदा छाये रहने वाले बादल रक्षा करते हैं। जहाँ की रात्रि यहाँ की पूर्णिमा की रात्रि से कई गुना अधिक प्रकाशित रहती है। जहाँ सौन्दर्य, सुरभि और श्री साकार है। मैं तो यहाँ अपने कमरे में सो रहा हूँ। परन्तु शुक्रवासी उस दानव के स्वर अब भी मेरे कान में गूँज रहे हैं- 'मानवता नष्ट हो जायगी यदि उसने भगवान् को स्वीकार करके उन्हीं को लक्ष्य बनाकर चलना नहीं प्रारम्भ किया।'

❑❑

एक ही सत्य

मि० रिचमार्ड रसल होम्स- आपने किसी समाचार-पत्र में यह नाम नहीं पढ़ा होगा, यह मैं जानता हूँ। किसी संस्था कि सदस्य-सूची में यह नाम नहीं मिलेगा। यह आवश्यक तो नहीं है कि संसार के सभी मनुष्य के नाम समाचारपत्रों या संस्थाओं की सदस्य-सूची में आ जायँ। होम्स महोदय वैज्ञानिक नहीं, दार्शनिक नहीं, लोक-नेता भी नहीं और सच पूछा जाय तो वे वैज्ञानिक, दार्शनिक आदि बहुत कुछ हैं। अनेक वैज्ञानिक अपनी उलझन में उनके पास आकर सुलझा जाते हैं। अनेक दार्शनिकों के दर्शनशास्त्रों की अधिकांश युक्तियाँ उनके मुख से निकली हैं। अनेक लोक-नेता उनकी सम्मति का सम्मान करते हैं।

'परमात्मा ने मनुष्य को ज्ञान दिया है दान करने के लिए।' होम्स साहब की मान्यता है 'ज्ञान को उपार्जन का साधन बनाना उसका दुरुपयोग है,भले वह 'यश' का ही उपार्जन हो।' इस मान्यता का यह परिणाम है कि उनकी बहुज्ञता का लाभ औरों को ही मिलता है। उन्होंने पुस्तकें लिखने, पत्रों में लेख देने का अनुरोध किसी का स्वीकार नहीं किया। भीड़-भाड़ से घबराने वाला उनके-जैसा सङ्कोची व्यक्ति भला भाषण तो क्या देगा। उनका मस्तिष्क उनकी प्रतिभा का प्रसाद न मिला होता तो कितने वैज्ञानिक, वैज्ञानिक ही न कहला पाते। कितने ही दार्शनिकों के ग्रन्थ अधूरे पड़े रहते उनकी कृपा के बिना। लेकिन उनकी प्रतिभा उनके लिए जैसे है ही नहीं। जिन्होंने उनसे लाभ उठाया- अपनी महत्ता को अस्वीकार करके दूसरे को सम्मुख ले आने की उदारता की आशा आज के जगत् में कितनों से की जा सकती है।

'मैं व्यक्तियों में विश्वास करता हूँ। गिरे-से-गिरे व्यक्ति में भी देवत्व होता है।' उनकी मान्यताओं की बात कहाँ तक आप सुनेंगे। सभी संस्थाओं के संयोजकों, प्रचारकों आदि को सदा उनसे निराश होना पड़ा है। संस्था पवित्र नहीं हुआ करती। संस्था का अर्थ दोषों के आमन्त्रण का माध्यम-ठीक यह नहीं, तो ऐसा ही कुछ कोई उन्हें

अपनी संस्था का निःशुल्क सम्मानित सदस्य तक बनने को प्रस्तुत नहीं कर सका।

'मैं एक समिति का सदस्य बनना चाहता हूँ।' ऐसे व्यक्ति ने जब एक दिन यह समाचार सुनाया तो श्रीमती होम्स आनन्द-विह्वल हो उठीं। उनके पति किसी भी संस्था में सम्मिलित हो जायँ, किसी भी प्रकार समाज के सम्मुख आयें- बड़ी भव्य कल्पना है उनकी और उस कल्पना को कोरी कल्पना कैसे कहा जाय। होम्स-जैसा विद्वान् समाज से छिपा कोने में पड़ा है; आश्चर्य की तो यही बात है। वह प्रकाश में एक बार आ भर जाय- रत्न जब रत्न के रूप में जान लिया जाता है, उसे प्रार्थना नहीं करनी पड़ती कि 'मुझे मुकुट में स्थान दीजिये।' होम्स का सम्मान होगा तो उसका भाग श्रीमती होम्स को सहज स्वाभाविक रूप में प्राप्त होगा ही।

'बधाई !' श्रीमती होम्स ने हाथ का काम ज्यों-का-त्यों छोड़ दिया।

'पहले पूरी बात सुन लो। उसके बाद चाहो तो आनन्द मना सकते हो।' होम्स ने गम्भीरता से कहा- 'तुममें बहुत उतावलापन है। पूरी बात जाने-समझे बिना कोई मत या भाव प्रकट करना बुद्धिमानी नहीं होती।'

'तुम डाकुओं की समिति के सदस्य तो बनोगे नहीं।' श्रीमती होम्स हँस रही थीं- 'उसके सदस्य बनो तो भी मैं मना नहीं करूँगी। किसी संस्था के सदस्य बनो तो सही।'

'तुमने समाचार-पत्रों में पढ़ा है कि एक समिति बनी है मङ्गल ग्रह की यात्रा करने के लिए।' पत्नी की प्रसन्नता पर होम्स ने ध्यान ही नहीं दिया- 'मैं सोच रहा हूँ कि कल उसका सदस्य बनने का आवदेन पत्र भेज दूँ।'

'तुम मङ्गल पर जाओगे?' श्रीमती होम्स को इतना बड़ा धक्का तब भी नहीं लगता, यदि हाथ में भरा रिवालवर लिए होम्स उनसे कहते कि 'मैं तुम्हें गोली मारने आया हूँ।' बेचारी निरीह महिला - उसकी सारी प्रसन्नता धूल में मिल गयी। उसका मुख श्वेत हो गया। फटे-फटे से नेत्रों से अपने पति को वह देखती रह गयी। बोलना तक कठिन हो गया उसके लिए।

'ओह ! तुम एकदम इतना क्यों घबरा गयीं?' होम्स ने पत्नी को सम्हाला। 'मैं अभी कहाँ मङ्गल पर जा रहा हूँ। अभी तो समिति की सदस्यता का आवेदन पत्र देने की बात है और इस विषय पर भी हम दोनों सलाह करेंगे।'

'ना, कोई आवेदनपत्र तुम्हें नहीं देना है।' श्रीमती होम्स को कुछ आश्वासन मिला। उनके नेत्रों से बहती आँसू की धारा कपोलों को भिगोने लगी। पति के कन्धे पर मस्तक रख दिया उन्होंने- 'तुम्हें मैं कहीं नहीं जाने दूँगी।'

× × ×

'सत्य क्या है? वह एक है या अनेक?' समस्या तब तक नहीं सुलझ सकती, जब तक विज्ञान और दर्शनशास्त्र एक ही आधार पर समन्वित न हों। मि० रिचार्ड रसल होम्स वैज्ञानिक भी हैं और दार्शनिक भी। यों कहना अच्छा है कि वे दार्शनिक वैज्ञानिक हैं। आज वे अपने अध्ययनकक्ष में पुस्तकों की ढेरियों में घिरे विचारमग्न बैठे हैं।

'विश्व की समस्त वस्तुएँ सापेक्ष हैं। आकृति, परिमाण और काल तक सापेक्ष है। इकहरा शरीर, उन्नत ललाट, बड़े-बड़े नीले नेत्र, पतली अँगुलियाँ-भालपर अधिक झुर्रियाँ पड़ गयी हैं और उस पर कुछ श्वेत हुए सुनहले बालों की कई लटें झुक आयी हैं। कुहनी मेज पर टेककर कुछ झुका हुआ सिर हाथ की हथेली पर रक्खा है। नेत्र बंद करके वे सोच रहे हैं- 'जो सापेक्ष है वह परिवर्तनशील है, जो परिवर्तनशील है वह नश्वर है। सत्य तो सापेक्ष, परिवर्तनशील एवं नश्वर नहीं हो सकता। जगत् में कुछ सत्य है भी?'

'परमात्मा-परमात्मा सत्य है। नित्य और निरपेक्ष है।' केवल दर्शनशास्त्र के ग्रन्थों को एक बार नेत्र खोलकर उन्होंने देख लिया। ग्रन्थ उठाने, खोलने की न आवश्यकता थी और न इस समय वैसी मनः स्थिति थी।

'परमात्मा सत्य है या भावना?' हृदय में जो विज्ञान के संस्कार जमे बैठे थे, उन्होंने एक तर्क उठा दिया- 'भावना के अतिरिक्त परमात्मा है ही, इसका तो कोई प्रमाण नहीं।'

'पृथ्वी के सभी देशों में अनादिकाल से मनुष्य इस भावना का सम्मान करता आया है।' दार्शनिक का ज्ञान केवल स्थूल प्रमाण नहीं मान सकता। 'मनुष्यता की भावना सर्वथा निराधार नहीं हुआ करती। इस भावना के पीछे जो विस्तृत इतिहास है- विश्व के सबसे अधिक निःस्वार्थ, सर्वाधिक त्यागी, सबसे अधिक विश्वसनीय समस्त संतों को एक ओर से मिथ्यावादी या मूर्ख कह देना मूर्खता नहीं है क्या?'

'परमात्मा की मान्यता के पीछे जो अनुभव का विपुल आधार है?' एक के बाद एक तर्क स्वतः उठते जा रहे थे- मनुष्य ने जो संकटों में बार-बार अद्भुत सहायता पायी और पा रहा है?'

'लेकिन यह भावना पृथ्वी के ही मनुष्यों की तो है? जो परिणाम होता है, वह मनोबल का चमत्कार क्यों नहीं है?' वैज्ञानिक बुद्धि ने नय तर्क किया- 'कोई एक ही सत्य है, यही क्यों? अनेक क्यों नहीं?' परमात्मा के अनेक नाम, अनेक रूप और उसके सम्बन्ध में परस्पर-विरोधी-सी मान्यताएँ क्या यह नहीं कहतीं कि किसी एक का वर्णन वह सब नहीं हो सकता? भले उसे एक के ही नाम पर कहा जाय।

'पृथ्वी से भिन्न पिण्डों में भी जीवन है।' सहसा होम्स-ने नेत्र पूरे खोल दिये। वे सीधे होकर बैठ गये। 'मङ्गल-में मनुष्यों के समान विचारशील प्राण भी हैं। वे क्या सोचते हैं सत्य के सम्बन्ध में?'

अभी दो सप्ताह पूर्व मङ्गलग्रह की यात्रा के सम्बन्ध में समाचारपत्रों में एक प्रचार पत्र छपा था। एक समिति संगठित हुई है वर्षों पहले से मंगल पर अभियान का अयोजन करने के लिये। समिति का विश्वास है कि परमाणुशक्ति से चालित होने वाला जो 'राकेट' उसके वैज्ञानिकों ने प्रस्तुत किया है, वह लगभग चार दिन-रात्रि में मङ्गल पर पहुँच जायगा। कोई अकल्पित दुर्घटना न हो तो सभी कल्पित दुर्घटनाओं की सुरक्षा की व्यवस्था कर ली गयी है। राकेट अधिक-से-अधिक एक महीने में पृथ्वी पर लौट आयेगा। समिति ने यात्रा के लिए उत्सुक वैज्ञानिक, चिकित्सक आदि विशेष वर्ग के लोगों के आवेदन-पत्र माँगे हैं।

'यह सुयोग तो है।' मि० होम्स के चित्त में एक विचार आया। वे अपने अध्ययन-कक्ष से सीधे पत्नी को सूचना देने चल पड़े।

× × ×

(3)

'कहीं कुछ गड़बड़ी हुई है।' राकेट में बैठे एक यात्री ने अपनी घड़ी देखी- 'नियमानुसार हमारे बैठने के पाँच मिनट बाद राकेट को चल देना था और आध घण्टा बीत चुका, हम अभी पृथ्वी पर ही हैं?'

सचमुच पाँच मिनट बीतते-न-बीतते राकेट में बैठा भूरा कुत्ता गुर्राने लगा। बत्तखें और मुर्गियाँ इस प्रकार इधर-उधर उड़ने लगीं जैसे हवा में कागज के टुकड़े उड़ रहे हों। उनका अपने शरीर और पंखों पर नियन्त्रण नहीं रह गया था।

'उठने का प्रयत्न मत कीजिये।' होम्स ने देखा कि एक साथी अपनी सीट से उठने की चेष्टा में गिरते-गिरते बचे हैं। 'अपने फीते बाँध लीजिये झटपट।'

सबने देखा कि होम्स अपने को पहले ही सीट से लगे फीते से बाँध चुके हैं। दूसरों ने भी अपने फीते बाँधे। एक ने पूछा- 'यह हो क्या रहा है?'

'हम पृथ्वी के आकर्षण से बाहर आ गये हैं।' होम्स ने बताया 'अब हमारे शरीर और कागज के टुकड़े के वजन में कोई अन्तर नहीं है।'

'लेकिन राकेट चलने का हमें पता क्यों नहीं लगा?' प्रश्न उचित ही था। बड़े भारी धड़ाके से राकेट फेंका गया होगा। वह धड़ाका जो मीलों तक सुनायी पड़ता, राकेट के

यात्रियों को क्यों नहीं सुनायी पड़ा!

'राकेट शब्द की गति से तीव्र जा रहा है।' होम्स के लिये कोई आश्चर्यजनक बात थी ही नहीं। 'धड़ाके का शब्द राकेट से बहुत पीछे छूट गया। लेकिन अब दम घुटने लगा है। हम लोग वायुरहित प्रदेश में पहुँचने ही वाले हैं। राकेट में ओषजन (ऑक्सीजन) का प्रवाह छोड़ देना चाहिये।'

'कब तक हमें इस प्रकार बँधे रहना होगा? इन पक्षियों का क्या किया जाय?' एक यात्री ने झुँझलाकर पूछा। पक्षी इधर-उधर उड़ रहे थे। वे बराबर यात्रियों से और राकेट की दीवारों, यन्त्रों तथा दूसरे पदार्थों से टकरा रहे थे। दो पक्षी घायल भी हो चुके थे। सब सामान अपने-अपने स्थान पर बँधा रक्खा था। कुत्ता भी बँधा था भली प्रकार। कोई वस्तु लुढ़क नहीं सकती थी। पता नहीं कैसे पक्षियों का पिंजड़ा खुल गया और वे बाहर निकल आये।

'जब तक हम किसी ग्रह के आकर्षण-क्षेत्र में न पहुँचे, हमें चुपचाप बैठे रहना चाहिये।' होम्स ने समझाया- 'हमें न प्यास लगेगी, न भूख लगेगी और न थकावट होगी। जब तक शरीर वजन न पा ले, हमें कोई असुविधा बैठे रहने में नहीं होगी। पक्षियों में से जो जिसके पास आवे, उसे वह पकड़कर अपनी गोद में ही बैठा ले, यही उपाय है।'

यद्यपि पक्षियों को पकड़कर बैठा लेना बहुत सरल नहीं था, परन्तु दो घण्टे के भीतर ही वे सब किसी-न-किसी की गोद में बन्दी हो चुके थे। उन्होंने भी समझ लिया था कि 'इस समय उड़ना ठीक नहीं है। मनुष्यों की गोद में चुपचाप बैठकर कभी मनुष्यों को और कभी राकेट के पदार्थों को देखते रहना अधिक समझदारी की बात है।'

अग्नि की लपटें फेंकती उल्काएँ पाससे निकल जाती थीं। आकाश कभी पीला, कभी बैंगनी, कभी हरा और कभी इन्द्रधनुष के रङ्ग का दीखता था। बड़े अद्‌भुत दृश्य थे। भूख-प्यास, थकान-निद्रा आदि से छुट्टी मिल गयी थी। सभी बाहर देख रहे थे। जो कुछ दीखता था- इतना अपरिचित था कि पृथ्वी पर उसकी कल्पना तक नहीं की जा सकती। कितनी देर यान चलता रहा- कुछ पता नहीं था। घड़ियाँ अपने-आप बन्द हो गयी थीं। वहाँ राकेट में न दिन था न रात्रि थी।

'हम लोग किसी ग्रह के आकर्षण-क्षेत्र में पहुँच रहे हैं।' होम्सने अनुभव कर लिया कि शरीर के अङ्ग अब बहुत कुछ अपने वश में आ गये हैं।

'हम चाय पियें।' सबसे पहले एक यात्री ने यह प्रस्ताव किया।

'यह मङ्गल है। परमात्मा को धन्यवाद।' होम्स चिल्लाया। सम्पूर्ण आकाश गहरी लालिमा में डूब रहा था। अरुणोदय के समय पृथ्वी पर हो लालिमा व्यक्त होती है, उससे कई गुनी गाढ़ी अरुणिमा।

वहाँ क्या है? राकेट से नीचे दूरवीक्षण से जो कुछ दिख रहा था, उसे देखकर यात्रियों का रक्त सूखने लगा। बड़े-बड़े दानवाकार यन्त्र नीचे शीघ्रता से इधर-उधर हो रहे थे। उन यन्त्रों के साथ सहस्र-सहस्र प्राणी थे। अद्‌भुत प्राणी। खूब बड़े घड़े को एक मोटे डंडे पर खड़ा कर दिया जाय- ठीक ऐसी आकृतियाँ थीं। क्षीणकाय, अत्यन्त भारी मस्तक, पैर दीखते ही नहीं थे और हाथों के स्थान पर गर्दन के पास छः या आठ लम्बी रस्सियों- जैसे अङ्ग लटक रहे थे। मस्तक में चारों ओर छिद्र थे- सम्भवतः नेत्र।

'ये मङ्गल के प्राणी हैं। इनका सिर बतलाता है, ये हमसे बहुत अधिक बुद्धिमान हैं।' होम्स दूरवीक्षण से दृष्टि लगाये एकटक नीचे देख रहे थे। अद्‌भूत दृश्य था वहाँ। भूमि, तृण, वक्ष, वहाँ के प्राणी और यन्त्र- जहाँ तक देखा जा सकता था, सब लाल रङ्ग का था। वहाँ किसी दूसरे रङ्ग का कहीं नाम नहीं था।

'वे हमारे राकेट को नष्ट कर देंगे या पकड़ लेंगे।' होम्स इस बार चिल्लाया। उसने शीघ्रता से राकेट के ध्वनि-प्रसार यन्त्र को उठा लिया और पुकारना प्रारम्भ किया। 'हम मित्र है ! शत्रु नहीं हैं !' वैसे राकेट की तोपों में परमाणु बम के गोले दे दिये गये और यात्रियों ने मिनट में सहस्रों गोलियों की झड़ी लगानेवाली मशीनगनें सम्हाल ली।

'अपने यन्त्र चुप रहने दो ! सीधे उतरो, अन्यथा हम इस मछली को भूनकर धर देंगे !' मङ्गलवासियों के यन्त्र ने शुद्ध संस्कृत भाषा में चेतावनी दी। मत्स्याकार राकेट को मछली ही कहा उन्होंने।

'वे संस्कृत बोल रहे हैं।' होम्स एकमात्र देववाणी का ज्ञाता था। आनन्द से वह एक बार उछल पड़ा। दूसरे ही क्षण संस्कृत में ही उसने यन्त्र पर पुकारा- 'हम आप लोगों के शत्रु नहीं हैं। हमारे यन्त्र कुछ नहीं करेंगे। कृपा करके हमें उतर जाने दीजिये !'

'आप लोग कहाँ से पधारे हैं?' मङ्गल के उन अद्‌भूत निवासियों का यन्त्र मधुरभाषी बन गया था। राकेट धीरे से उतर गया। उसमें ऐसी स्वतः चालित यन्त्रों की व्यवस्था थी कि मङ्गल के आकर्षण में आते ही उन्होंने अपना काम प्रारम्भ कर दिया। कोई धक्का राकेट को नहीं लगा। होम्स की सूचना के अनुसार राकेट के यात्रियों ने मशीनगनें रख दी थीं। मङ्गलनिवासी राकेट से थोड़ी दूर उसे देखने एकत्र होने जा रहे थे। उनका यन्त्र कह रहा था- 'अभी बाहर आने से बहुत सम्भव है, हमारे यहाँ की वायु आप सबके लिए सह्य न हो। आपका परिचय जानकर आप लोगों की सुविधा की व्यवस्था की जायगी।'

'हम पृथ्वी से आये हैं। हमारे साथ पृथ्वी के पशु एवं पक्षी भी हैं।' होम्स ने परिचय दिया- 'केवल आपके इस ग्रह को देखने ही हम आये हैं।'

'पृथ्वी से? आप लोग मर्त्यलोक से आये हैं?' यन्त्र ने बड़े आश्चर्य से पूछा-

'आप उसी मर्त्यधरा से आये हैं जहाँ परमात्मा की उपासना होती है? जहाँ जगन्नियन्ता बार-बार अवतार लेकर पधारते हैं? आप भारतवासी हैं?'

'हम भारतवासी तो नहीं है; किन्तु आये उसी पृथ्वी से हैं। भारत हमारा पड़ौसी और मित्र राष्ट्र है।' होम्स ने भारतीय दर्शन और पुराण पढ़े हैं। वह अवतारवाद से परिचित है। उसे इसमें आश्चर्य नहीं कि ये संस्कृतभाषी लोग भारतवर्ष का नाम जानते हैं। उसे तो एक ही आश्चर्य हैं – 'पृथ्वी से इतनी दूर संस्कृत कैसे जानते हैं ये लोग?'

'हम धन्य हुए! जगदीश्वर ने कृपा की हम पर!' मङ्गल का यन्त्र बड़े भावपूर्ण स्वर में बोल रहा था- 'पृथ्वी के मनुष्यों का दर्शन और उनका स्वागत करने का हमें सौभाग्य मिला। हम आपको प्रणिपात करते है।' सब-के-सब मङ्गलवासी भूमि में लेट गये राकेट के सामने।

'सहस्त्रशीर्षा पुरुषः.......' इतने मधुर स्वर में मङ्गलवासी वेदपाठ कर रहे थे कि होम्स से रहा नहीं गया। उसने भी उस स्तवन की आवृत्ति करने का प्रयत्न किया।

× × ×

'तुम यह क्या बड़बड़ा रहे हो?' श्रीमती होम्स ने घबराकर झकझोर दिया अपने पति को। ऐसी भाषा में होम्स कुछ बोल रहे थे जो बेचारी की समझ में ही नहीं आती थी।

'सत्य एक ही है और वह सर्वत्र है।' उठने के बाद मुँह-हाथ धोकर चाय पीने से पहले होम्स ने अपनी नोट-बुक में लिखना प्रारम्भ किया- 'जहाँ कहीं भी प्राणी होगा, वह पृथ्वी में हो या मङ्गल में- उसमें जीवन होगा तो भावना भी होगी। भावना मात्र का एक ही आधार है, एक ही आराध्य है। वह भावमय ही निरपेक्ष नित्यसत्य है। और उसी को परमात्मा कहते हैं।'

गौ-लोकमाता

गावो लोकस्य मातरः

सृष्टि के इतिहास में सजीव संसार पर एक साथ इतने सङ्कट कदाचित् ही आये हों। लगता था प्राणिसृष्टि सर्वथा लुप्त हो जायगी। सङ्कट सदा धर्म की उपेक्षा से आते हैं; किन्तु ऐसा सङ्कट जबकि मनु प्रजापति एवं जिन पर प्रजा की परम्परा बनाये रखने का दायित्व है- सभी संत्रस्त हो उठे थे। महाशक्ति चामुण्डा संसार को चाट लेने पर तुल गयी थीं।

क्या हुआ कि मनुष्य धर्मपराङ्मुख हो गया था। कलियुग में मनु की सन्तान प्रायः इन्द्रियलोलुप हो जाती है। तामस मन्वन्तर के इस पञ्चदश कलियुग में वह कुछ अधिक उच्छृङ्खल, अपने स्थूल ज्ञान पर अधिक आश्रित, अधिक गर्वोद्धत हो गयी। उसने प्रकृति के कुछ रहस्य क्या जान लिए, समझ लिया कि वही सृष्टिका कर्त्ता-धर्ता है। उसने रोगों को पराजित किया, एक सीमा तक शरीर को अमर कर लिया, कुछ नवीन प्राणी बना लिए और सौरमण्डल के दो-तीन ग्रहों में उसके उपनिवेश बन गये। ईश्वर, धर्म को उसने धता बता दिया। सदाचार उसके शब्द-कोष से दुर्बलता का पर्यायवाची बन गया और इस प्रमाद में उसका औद्धत्य बढ़ता गया- बढ़ता गया और लो अब महाविद्या चामुण्डा उद्दाम नृत्य करने लगी है। क्षुद्र मानव-मानव का क्षुद्र विज्ञान क्या अब चामुण्डा के चरणों की गति अवरुद्ध कर लेगा?

मानव की चर्चा व्यर्थ है। प्रजापति पथ नहीं पा रहे हैं। स्वयं सृष्टिकर्त्ता संत्रस्त है। यह शिव-वक्षविहारिणी किसी की स्तुति नहीं सुनती। कोई मर्यादा नहीं मानती। यह सहज प्रचण्डा और इसका खप्पर क्या कभी भरा है कि आज भर जायगा।

शाश्वत सरिताओं की धाराएँ शुष्क-प्राय हैं। पृथ्वी अनुदिन प्राणि-शून्य होती जा रही है और बढ़ता जा रहा है मरुस्थल। तृण, गुल्म, तरुओं से रहित धरित्री कङ्काल दीखने लगी है। यह अवर्षण है? ऐसा भी अवर्षण होता है, जिसका आदि-अन्त ही न जान पड़े?

मानव के प्रयत्न–मानव के अहङ्कार का मेरुदण्ड उसका विज्ञान आज भग्नपृष्ठ, असहाय पड़ा है। वैज्ञानिकों के यन्त्र कुछ नहीं बतलाते कि क्या हो रहा है। वायुमण्डल में वाष्प बने तो वे वर्षा कर लें: किन्तु यहाँ तो समुद्र का स्तर तीव्रता से गिरता जा रहा है, सागर सूखते जा रहे हैं और वायु में वाष्प का पता नहीं है।

पृथ्वी की चुम्बकीय शक्ति घट गयी है। चुम्बकीय गुठली किसी कारण क्षीण हो गयी हैं। वैज्ञानिकों ने अपने ढङ्ग से विवेचन किया– 'वायुहीन–जलहीन ग्रहों की स्थिति पृथ्वी प्राप्त करने जा रही है। इस प्रलय से बचने का कोई मार्ग नहीं है।

विज्ञान ने अपने सब हथियार डाल दिये। हथियार उसे डालने ही थे। कोई एक विपत्ति थी उसके सम्मुख। अचानक भूकम्प और ज्वालामुखी फटने प्रारम्भ हो गये थे। भूमण्डल की लगभग सभी मुख्य वेधशालाएँ, यन्त्रागार, अनुसंधान–केन्द्र उनके पेट में चले गये। मनुष्य ने जहाँ अपने यन्त्र एकत्र करने का प्रयत्न किया, धरा के गर्भ से वहीं ज्वालामुखी फट पड़ा। मानव के प्रयत्न ध्वस्त करने पर प्रकृति उतर आयी थी।

अमरत्व, रोगजय, नवीन प्राणि–सर्जन का अहङ्कार किसी काम नहीं आया। पता नहीं कहाँ से नवीन–नवीन रोगाणुओं की सेना उतरने लगी। तीव्र संक्रामक रोगाणु और वे भयङ्करतम विष भी पचा लेते थे। जनपदों को उन्होंने ऐसे समेटना प्रारम्भ किया जैसे कृषक नहीं, कृषि काटने वाली मशीन खेतों को समेटती है।

आस्थाहीन, आचारहीन, धर्महीन मानव–अपङ्ग विज्ञान को लेकर असहाय अब क्या करें? वह तो मृत्यु की अवश्य प्रतीक्षा करने लगा था।

× × ×

सृष्टि की एक मर्यादा है। हम उसे जानें न जानें, मानें न मानें, उलूक–समुदाय के जानने–मानने का प्रभाव दिवस की सत्ता पर पड़ा नहीं करता। सृष्टि की संचालक, नियामक, संरक्षक कुछ शक्तियाँ हैं। कलाप–ग्राम के कल्पान्त तापस, मनु, प्रजापति, पितृगण एवं देवता। अकाल–प्रलय हो जाय तो उनकी सत्ता बनी रहेगी? उनका दायित्व के प्रति प्रमाद वह क्षमा कर देगा, जो सबका परम नियन्ता है?

प्रजापति, पितृगण देवता क्या करें? चामुण्डा के सम्मुख उनका वश कहाँ चलता है। मनु और जन, तप, महलों को तापस, ऋषि मुनि उतर आये धरातल पर। उनके लोक कर्मलोक नहीं हैं। अपने लोकों में वे कुछ करते–कोई परिणाम नहीं आता था। कलापग्राम के कल्पान्तजीवियों को उन्होंने प्रत्यक्ष सहयोग दिया।

यज्ञ–लेकिन यज्ञ से तुष्ट होकर देवेन्द्र वर्षा तो तब करें, जब उन्हें ऐसा करने

दिया जाय। यज्ञ होते हैं- सविध, सम्यक् पूर्ण यज्ञ हिमगिरि की अधित्यका में वे विशुद्ध सत्त्व ऋषि करते हैं। मेघमाला उठती है और फुहारें छूटती हैं- श्रुति की मर्यादा रक्षामात्र के लिये फुहारें मात्र। चामुण्डा की हुंकार के सम्मुख सांवर्तक मेघ ही नहीं ठहर पाते तो सामान्य कादम्बिनी कैसे ठहरेगी?

'हम अवश हैं!' इन्द्र साक्षात् प्रकट हुए ऋषियों के सम्मुख। वे जानते हैं कि इन तापसों का अनुष्ठान अमोघ रखने का दायित्व उन पर है और इनका कोप-इनवदन देवेन्द्र ने अपनी असमर्थता प्रकट की। कोई ऋषि अवश पर क्रोध करके शाप कैसे दे सकता था?

'महाविद्या महाशक्ति चामुण्डा के रोष का उपशम?'

'वह उपशान्त होने को प्रस्तुत नहीं है।'

'उसे शान्त तो होना चाहिये।'

'उसे किसी का शाप स्पर्श नही करता।'

ऋषि-मुनियों एवं तापसों की सम्पूर्ण मण्डली कोई मार्ग नहीं पा रही थी और उनमें प्रत्येक को ज्ञात है कि जब प्राणी को कोई पथ प्राप्त न हो, उसे क्या करना चाहिए। उनके नेत्र बन्द हुए और परमप्रभु को उन्होंने साथ ही पुकारा- शब्दों में नहीं, अन्तर की वाणी में, जिसे वह अन्तर का वासी ठीक समझता है।

'हम लोकमाता का आवाहन करेंगे!' कोई उस अनन्त करुणार्णव को पुकारे और पथ न पावे? पथ प्राप्त हो गया था। एक साथ ऋषियों के स्वर में सुरभी-स्तवन नगाधिराज के शिखरों में गूँजने लगा। स्तवन के स्वर उच्च होते गये और उनमें भाव-विह्वलता आयी। सहज शुद्ध अन्तःकरण ऋषियों के कण्ठ से गूँजती वह परा वाणी, गगन परिपूत हो गया उस नाद से।

शत-शत चन्द्रज्योतसना-विनिन्दक ज्योति-ऋषियों के नेत्र एक बार ऊपर उठे और एक साथ उन्होंने भूमि पर मस्तक धर दिया।

'हुं' एक गम्भीर ध्वनि गूँजी। अनन्त वात्सल्य, अपार कारुण्य अतुलनीय आशीर्वाद-धारा जैसी धरित्री को धो गयी। उन करुणावरुणालया को स्तुति की अपेक्षा कहाँ और आशीर्वाद तो उनकी सहज हुंकृति है।

× × ×

'चामुण्डे!' इस प्रकार कोई उन महाशक्ति को पुकारेगा, सुर भी इसकी कल्पना नहीं कर सकते; किन्तु सहज झिड़की से भरा था वह स्वर - 'बहुत हो गया! शान्त हो अब।'

'तू जा चामुण्डा गो-बलि नहीं लेती।' अट्टहास करती वह कराली क्रोध से चिल्लायी। - 'मेरे खप्पर का व्याघात मत बन!'

'मेरी सन्तानों को अभय दे!' गम्भीर बना रहा स्वर - 'तू लोकमाता है। शान्त हो जा!'

'नहीं!' ब्रह्माण्ड फट जाय ऐसा गर्जन।

'नहीं!' कामधेनु के कर्ण खड़े हुए। नेत्रों में अरुणिमा आयी। सिर झुका लिया उन्होंने और हुङ्कार किया। वह हुंकृति- उन नथुनों से महाज्वाला लपकी और भागी चामुण्डा। उसके कपाल की महाग्नि पीली पड़ चुकी थी।

जो निखिल ब्रह्माण्डमयी हैं, उनको दौड़ने की अपेक्षा कहाँ थी। दौड़ रही थीं चामुण्डा- बिखरे केश, अस्त-व्यस्त चामुण्डा भाग रही थी। उसका खड्ग, उसका कर-कपाल, सब मलिन-कान्ति और वह महाप्रलय की अधिदेवी, त्रिलोकी को आर्त करने वाली स्वयं आर्त भाग रही थी। उसे भागने को भी स्थान नहीं मिल रहा था।

स्रष्टा की उपेक्षा कर चुकी वह और वे लोकपितामह चाहें तो भी उसकी सहायता नहीं कर सकते, यह चामुण्डा जानती हैं किन्तु आज क्या हो रहा है? उसे आज कैलास में भी क्या प्रवेश नहीं प्राप्त होगा? इतना उग्र, इतना प्रचण्ड तो उसने भगवान् शिव के वृषभ को कभी नहीं देखा। यह नित्य शान्त धर्म किंतु आज तो वह हुंकार में ज्वाल माला उगल रहा है। आवातोद्यत वृषभ- चामुण्डा आज उसके लिए अपरिचिता हो गयी हैं और वृषभ का प्रतिकार करने में भी अपने को समर्थ नहीं पाती।

'देवर्षि!' अचानक नारद जी दीख गये तो प्राणों को आश्वासन प्राप्त हुआ।

'देवि! उन वात्सल्यमयी में रोष कभी आता नहीं। माता कभी रुष्ट नहीं होतीं।' देवर्षि ने कहा- 'सर्वेश्वरेश्वर मयूरमुकुटी जिनकी पद-वन्दना करते हैं, उन गोलोक-महेश्वरी का प्रतिकार कहीं नहीं है।'

'मातः!' चामुण्डा को मार्ग मिल गया और लोकमाता को पुकारने कहीं जाने की आवश्यकता तो नहीं होती।

'चामुण्डे!' स्वर में अपार वात्सल्य गूँजा- 'प्रलय के अतिरिक्त तू उद्धत नहीं बनेगी। आवश्यक होने पर भी तेरा आघात सीमित एवं मर्यादित रहेगा।'

'आपके आदेश की मर्यादा मानेगी आपकी यह अशुभ पुत्री!' चामुण्डा ने स्वीकार किया- 'सकारण क्रोध भी चामुण्डा का शान्त हो जायगा यदि आपकी कोई सन्तान-कोई गौ का आश्रय ले लेगा। गो-पूजक से चामुण्डा दूर रहेगी।'

× × ×

धरा के उपद्रव सहसा शान्त हो गये। पृथ्वी शस्य-श्यामला हो गयी। वैज्ञानिकों ने कहा- 'पृथ्वी की गुठली स्वतः आकर्षण शक्ति सम्पन्न हो गयी है।'

काश, मानव में सद्बुद्धि आती ! वह गो-सेवा सीख लेता ! उधर कैलास में प्रश्न करने पर भगवान् शशाङ्क शेखर देवी उमा से कह रहे थे- 'देवि ! तुम महाविद्यारूप में दशधा हो। लोकमाता हो; किन्तु तुम जानती ही हो कि सर्वेश्वर श्रीकृष्णचन्द्र की आह्लादिनी शक्ति का ही अंश तुम में है। गोलेकेश्वरी कामधेनु ही सच्चे अर्थ में लोकमता हैं। वे उन परम पुरुष की मूर्त सङ्किनी शक्ति हैं। यह निखिल लोक-समस्त लोकों में जो स्थूल-सूक्ष्म अभिव्यक्ति है सब उन कामधेनु ही सङ्कल्पाभिव्यक्ति है। वे किसी को भी अपने में लय कर लेने में सहज समर्थ हैं। उनकी-उनकी मूर्त्तिभूता गौओं की सेवा ही लोकालय में श्रेयस्करी है।

❑ ❑

'गोषु पाप्मा न विद्यते'

'कृष्णा चरने ही नहीं जा रही है! उसे पशुओं के साथ दूर ले जाने को कहिये!' मैं पूरी बात करूँ, इससे पहले दौड़ती-कूदती कृष्णा भड़भड़ाकर मेरी कोठरी में घुस आयी। उसने जल्दी-जल्दी मुझे सिर, भुजा, पेट, पैर के समीप कई बार सूँघा और फिर शान्त खड़ी हो गयी।

कृष्णा आश्रम की गाय है। बड़े प्रयत्न से ढूँढ़कर लायी गयी है। उसके खुर, थन, जिह्वादि सब कृष्णवर्ण हैं। पूरे लक्षण हैं उसमें कृष्णा गौ के। मैं भोजन करके उठता हूँ तो हाथ धोकर उसे दो रोटी देता हूँ। वह दूर भी चरती हो तो मेरे पुकारने पर हिरन की भाँति छलाँग लगाती आती है।

मुझे इधर कल से ज्वर आने लगा है। साधारण मलेरिया है; किन्तु चारपाई पकड़ने को तो उसने मुझे विवश कर ही दिया है। परन्तु इस गाय से किसने कह दिया कि मैं रोगशय्या पर हूँ? कल प्रातः चरवाहे ने उसे खोला तो सीधे दौड़ती मेरी कोठरी में घुस आयी। तब से आज अब तक उसे जैसे चारा-पानी रुचता नहीं। चरवाहा बार-बार हाँक ले जाता है। बड़ी कठिनाई से मेरे बार-बार पुचकारने पर जाती है और पाँच-दस मिनट में फिर दौड़ती हुंकार करती कोठरी में आ खड़ी होती है। मुझे बार-बार सूँघती है और नेत्रों से अश्रु गिराती है। इसे चरने तो जाना ही चाहिये।

चरवाहा कृष्णा को फिर हाँक ले गया है और मुझे पड़े-पड़े स्मरण आ रहा है कि बचपन में घर पर आठ-दस गायें थीं- हृष्ट-पुष्ट सुन्दर गायें। छोटे चाचा ही उन्हें चराते और उनकी सेवा करते थे।

गायों में ही जैसे उनके प्राण बसते थे। एक बार किसी बात पर क्रोध में आकर पिताजी ने छोटे चाचा को थप्पड़ मार दिया। थप्पड़ लगा और तीन-चार गायों ने झटके देकर अपने रस्से तोड़ डाले। छोटे चाचा बड़े दृढ़ शरीर के और फुर्तीले थे। उन्होंने पिताजी को बिजली की तेजी से भुजाओं में उठा लिया और भूसा रखने वाली कोठरी में डालकर बाहर से द्वार बन्द कर दिया। गायों को बड़ी कठिनाई से वे फिर बाँध पाये।

कोठरी खोलकर उन्होंने पिताजी से कहा था– 'भैया! इनके सामने मुझे मत मारना! ये पशु तो कुछ समझते नहीं। आज अनर्थ होते–होते बच गया।'

'इतनी कृतज्ञता गाय में होती है!' मैं अधिक सोच सकता तब, जब कृष्णा फिर न आ खड़ी होती। वह फिर आ गयी है। मुझे सूँघने लगी है। मैं उसके मुख पर हाथ फेरकर उसे समझाने की चेष्टा में हूँ– 'मुझे कुछ नहीं हुआ। मैं ठीक हूँ। तुम चरने जाओ। तुम्हारा पेट गड्ढा बन गया है। तुम कल से भूखी हो।' काश, वह मेरी बात समझती होती।

'किंतु गाय कुछ पाने की कहाँ प्रतीक्षा करती है? वह तो केवल स्नेह देखती है!' कृष्णा को फिर चरवाहा ले गया है और मैं फिर सोचने लगा हूँ। रोगी मनुष्य खाट पर पड़े–पड़े दूसरा क्या करेगा। मैं सोच रहा हूँ उन दिनों की बात जब एक बड़े नगर के समीप रहता था, नगर से बाहर एक मन्दिर के घेर में प्रतिदिन नौ बजे के लगभग वहाँ से चलकर नगर में आता कार्यालय में, और सायङ्काल लौट जाता। एक मुसलमान घोसी अपनी गायें प्रातः चराने लाया करता था उधर। एक दिन मैंने समीप चरती एक बड़ी बछड़ी को पुचकार लिया। दो क्षण उस पर हाथ फेर दिये। दो गायें और पास आ खड़ी हुईं। उनकी गर्दन भी सहलाई। बस, उनसे जान–पहचान हो गयी। वे दूर भी चरती होती थीं और मैं नगर जाने के लिए निकलता था तो देखते ही दौड़ी आती थीं। मुसलमान घोसी युवक कहता था– 'ये मेरे पास भी इस तरह दौड़कर नहीं आती।'

वहाँ बन्दर बहुत थे। प्रायः सब लाल मुँह के ही थे। एक दिन एक मोटा लाल मुख का बन्दर मुझे डराने को झपटा; किन्तु उसे एक बछड़ी ने दौड़ा ही तो लिया। दूर तक दौड़कर जब वह पेड़ पर चढ़ गया, तब भी वह उस पेड़ के नीचे खड़ी रही क्रोध में भरी। उसके सामने यह बन्दर मुझ काटने दौड़ता है, यह बात बछड़ी से सहन नहीं हुई थी। मैं भला क्या देता हूँ इन सबको। मेरे पास देने को वहाँ धरा भी क्या था। भोजन तो मैं नगर में करने जाया करता था। किन्तु गाय को पदार्थ की उतनी अपेक्षा नहीं है, जितनी स्नेह की है। यह सर्वदेवमयी– देवता और भगवान् केवल भाव के भूखे होते हैं। गाय के सम्बन्ध में भी यही बात कहने में मुझे कोई हिचक नहीं है।

× × ×

'आप तनिक दूर ही रहिये! बहुत दुष्ट है यह बैल!' मुझे चेतावनी दी गयी। जिनकी गाय का यह बछड़ा है, वे तङ्ग आ चुके थे। नाथ में दो लम्बी रस्सियाँ बँधी थीं। दो व्यक्ति उन रस्सियों को दोनों ओर से पकड़कर तब उसे एक स्थान से दूसरे खूँटे पर करते थे। बाँस में लटकाकर दूर से उसे घास डाली जाती थी। अब वह बैल गाँव भेज देने को मेरे पास आया था। ऊँचा, असाधारण बलिष्ठ और क्रोधी बैल।

'गोजाति निर्दोष होती है। लगता है कि इसे बहुत तङ्ग किया गया है!' मेरे मन ने कहा। बच्चे प्रायः छोटे बछड़ों को छेड़-छेड़कर उन्हें मारना सिखा देते हैं। इस बैल के साथ भी यही हुआ था। मैंने थोड़ी हरी घास हाथ में ली और बैल की ओर वह मुट्ठी बढ़ा दी। बैल ने फुंकार की; किन्तु घास वह खाने लगा। दूसरी मुट्ठी मैंने कुछ निकट जाकर दी। फुंकार ढ़ीली पड़ गयी। उसी शाम मैं उसके पास खड़ा उस पर हाथ फेरने लगा था और वह मुझे सूँघ रहा था। एक सप्ताह में उसकी नाथ में रस्सी बाँधना अनावश्यक हो गया। कोई बच्चा उसे एक स्थान से दूसरे खूँटे पर निःशङ्क बाँध सकता था।

'कृष्णा!' उस दिन यह अपनी कृष्णा ही बिफर गयी थी। गर्मियों में इस ओर पशु बाँधे नहीं जाते। कृष्णा भी कई महीने बँधी नहीं थी। रात्रि में दूसरे पशुओं के साथ गोशाला में बन्द कर दी जाती थी। वर्षा के प्रारम्भ में खेत में पशु बाँधने की बात हुई। दूसरे पशु बँध गये किसी प्रकार; किन्तु कृष्णा को जब बहुत दौड़ाया- तङ्ग किया गया तो वह बिफर उठी। अन्त में मुझे पुकारा गया। मैंने जाकर तनिक रूखे स्वर में डाँटा- 'कृष्णा! तुम यह क्या कर रही हो? तुम माता होकर मारने दौड़ती हो! छिः!' गाय ने जैसे मेरी बात समझ ली। वह मेरे पास आकर चुपचाप खड़ी हो गयी। उस रात वह बाँधी नहीं गयी; किन्तु पूरी रात मेरे तख्ते के समीप बैठी रही।

गाय हो या बैल गोजाति मानधनी है। देवता सम्मानप्रिय होते हैं ही। कोई-कोई पशु अत्यधिक भावुक होता है। आप उसको छेड़ेंगे, उसके प्रति असम्मान दिखायेंगे तो उसमें क्रोध आयेगा। इस प्रकार वह सबसे सशङ्क सबको मारने वाला पशु बन जायगा। किन्तु उसमें हिंसा की वृत्ति नहीं है। वह स्वभाव से निष्पाप है। अपराध उसे स्पर्श नहीं करते।

यह गाय दूध भरपूर देती है; किन्तु इससे सावधान भी बहुत रहना पड़ता है! एक अच्छे गौ सेवक के यहाँ जब मैं गया तो उन्होंने अपनी एक गाय दिखलाते हुए बतलाया- 'इतना क्रोधी पशु मुझे कभी नहीं मिला है।'

'माँ! बात क्या है? तुम मारोगी मुझे!' वे गायों से प्रेम करते हैं। उन पर भी कोई गाय मारने झपटती है, यह बात मुझे अटपटी लगी। मैं उस गाय के पास ही चला गया। मारना ही हो तो वह मुझे पूरी चोट पहुँचावे, जिससे उसमें पश्चात्ताप तो जागे। किन्तु गाय ने सिर हिलाने के स्थान पर मेरा हाथ चाटना प्रारम्भ कर दिया।

'आप पर यह प्रसन्न है!' वे समीप आने लगे तो गाय सचमुच उन्हें मारने झपटी। बात प्रकट हो गयी, दुहते समय पैर बाँधकर उसे बहुत तङ्ग किया जाता था। अपना अपराध जब वे समझ गये, गोमाता को सानुकूल होने में कितने दिन लगने थे। केवल एक समय दूध नहीं मिला। दूसरे समय गाय ने स्वयं पैर में रस्सी लगा लेने दी। दूध थन में रहने से उसे भी तो कष्ट हो रहा था।

× × ×

गाय के सबसे बड़े प्रभाव का पता तो मुझे नहीं है; क्योंकि उसके अपार प्रभाव का अनुमान कर पाना ही सम्भव नहीं। वह कामधेनु है- श्रद्धा-सेवित होने पर प्रत्येक गाय कामधेनु है। किन्तु मुझे गाय ने एक अद्‌भुत महिमा जानने का अवसर अवश्य एक बार दिया है।

एक वृद्ध महात्मा के दर्शन करने गया था। अब वे कहाँ हैं- है भी उनका शरीर या नहीं, पता नहीं। उनके पास और भी कुछ लोग बैठे थे। मैं भी प्रणाम करके बैठ गया। इतने में एक रोगी को लेकर दो-तीन व्यक्ति आये। रोगी स्त्री थी, युवती थी और अत्यन्त पीड़ा में थी। उसके पूरे शरीर में भयङ्कर ऐंठन थी। हाथ, पैर, सिर सब अकड़े जाते थे। चीखती थी, छटपटाती थी। उसका क्रन्दन किसी का भी हृदय हिला देता।

'सब कर्म का भोग है!' महात्मा ने शान्त स्वर में कहा- 'अपने पापकर्म का फल अपने ही सिर तो आयेगा। किन्तु इसकी पीड़ा बहुत घट जायगी, यदि किसी निष्पाप की चरणरज इसके शरीर में लगा दी जाय!'

उस व्यक्ति ने, जो स्त्री के साथ आया था, महात्माजी की चरण रज उठायी तो वे बोले- 'नारायण! इस धूलि में क्या धरा है। यह तो पापों का पुतला है। वेश देखकर भ्रम में पड़ने से कोई लाभ तुम्हें नहीं होगा।'

स्वार्थ अन्धा होता है। उस व्यक्ति ने वह चरणरज उस स्त्री को लगायी; किन्तु कोई लाभ नहीं हुआ। अब वहाँ बैठे सभी लोगों ने महात्मा जी से पूछा - 'निष्पाप पुरुष कहाँ मिलेगा?'

'निष्पाप मनुष्य या निष्पाप प्राणी?' मैंने पूछ लिया; क्योंकि महात्मा जी निष्पाप मनुष्य का पता जानते होंगे, ऐसा कोई संकेत उन्होंने नहीं दिया।

'निष्पाप प्राणी हो तो भी ठीक है; किन्तु महात्मा- जी ने कहा- 'नारायण, मनुष्य ही निष्पाप नहीं होगा तो पशु-पक्षी कहाँ से निष्पाप होंगे, वे तो कर्मयोनि में हैं ही पाप भोग के लिए।

'अपने पाप वे भोगते हैं। किन्तु उनमें एक प्राणी का शरीर शास्त्र निष्पाप तथा परम पवित्र कहता है!' मैं उठ खड़ा हुआ था- 'यह गाय सर्वथा निष्पाप है।'

पास में एक बूढ़ी गाय चर रही थी। उसके खुरों के चिह्न की धूलि मैं उठा लाया और गाय की महिमा उसी समय मुझे देखने को मिली। उस स्त्री का चिल्लाना-रोना धूलि लगाते ही बन्द हो गया। महात्माजी उठकर उस बूढ़ी गाय को भूमि में पड़कर दण्डवत्-प्रणिपात कर रहे थे।

❑❑

कामधेनु

आसपास कोई करीर की लता भी नहीं है। हरिताभ तमाल दूर खड़े प्रहरी-से प्रतीत होते हैं। कदम्ब-पुष्पों का पराग यहाँ वायु यदा-कदा ही पहुँच पाता है। नालों ने चारों ओर प्राकृतिक खाई खोद दी है और दक्षिण पद- प्रान्त में सूर्यसुता उछलती-कूदती हँसती-सी इस एकाकी नीम के वृक्ष को देखती जाती हैं। खूब सघन है यह। खंडहर के बाहर यह अकेला इस प्रकार खड़ा है जैसे कह रहा हो 'मैं स्वयं पूर्ण हूँ। मुझे किसी की अपेक्षा नहीं।'

मैं अक्रूर से और आगे निकल आया हूँ। वृन्दावन की सीमा पीछे छूट चुकी है। पता नहीं क्यों आज दुपहरी में ही घूमने की धुन सवार हुई। बस्ती से एक बजे लौट आया। कुटिया में बैठा-बैठा करता क्या लिखने में जी नहीं लगा। इधर टहलने और मौलसिरी के पुष्प चुनने आकर दूर निकल आया हूँ।

खण्डहर कोई पुरानी धर्मशाला होगी। व्रज में इस प्रकार मार्ग से दूर जहाँ-तहाँ धर्मशालाओं का पाया जाना साधारण बात है। श्रद्धालुओं ने इस आशा से कभी इन्हें बनवाया होगा कि कभी इनमें एकान्तप्रिय हरिभक्त निवास करेंगे।

एक दुग्धोज्ज्वल हृष्ट-पुष्ट गौ उस नीम के नीचे बैठी पागुर कर रही थी। सुख से उसके नेत्र अधमुँदे हो रहे थे। कभी-कभी पूँछ थोड़ी हिल उठती थी। वैसे उसके शरीर पर एक भी मक्खी नहीं थी, जिसे वह उठाना चाहे।

मैं उस गौ को देखकर आकर्षित हुए बिना न रहा। समीप जाकर बैठ गया। उसने भी एक बार नेत्र खोले, मेरी और देखा और फिर मेरे कंधे पर मुख रखकर इस प्रकार नेत्र बंद कर लिये, मानो मुझे बहुत पहले से जानती हो। धीरे-धीरे मैं उसके गले के निचले भाग को सहलाने लगा था।

'खुदा के लिये....।' मैंने मुख फेरा। पीछे खण्डहर के द्वार पर लम्बी रजतवर्ण दाढ़ी तथा श्वेत दीर्घ केशवाले एक तेजस्वी वृद्ध चिथड़े लपेटे खडें थे। वे कुछ कहते-कहते रुक गये थे। मैंने गौ का मुख धीरे से कंधे से हटाया। वह इस प्रकार देखने लगी जैसे मेरा उठना उसे रुचिकर नहीं हुआ।

मैंने निकट जाकर वृद्ध को अभिवादन किया। उन्होंने मेरी ओर देखा। भीतर तक देख लेने वाली थी वह दृष्टि। मुझे विवशतः नेत्र झुका लेने पड़े।

संकेत पाकर उनके पीछे खण्डहर में गया। उस टूटे ढ़ेर का वर्णन करके समय नष्ट नहीं करूँगा। चहार-दीवारी के भीतर एक कमरे की आधी छत शेष थी। उसी के नीचे एक चीनी मिट्टी की कलई का टीन का प्याला ओर तसला पड़ा था। एक फटा-सा टाट का टुकड़ा था। मुझे वही टुकड़ा बैठने को उन्होंने दिया, लेकिन बैठे हम दोनों भूमि पर ही।

(2)

'वेल मि० ह्यू मैन, तुम्हें इन पुस्तकों से क्या कभी भी छुट्टी नहीं मिलती?'

'ओह, डाक्टर!' उठकर उस अमेरिकन ने महेन्द्रबाबू से हाथ मिलाया। 'मैं आज बड़ी उलझन में पड़ गया हूँ। अच्छा, पहले चाय तो पी लो। खानसामा, दो कप चाय!'

ढ़ेरों पुस्तकें बिखरी पड़ी थीं। कुछ अंग्रेजी की थीं, कुछ संस्कृत की तथा कुछ अन्य भाषाओं की। मेज के एक खाली कोने पर खानसामा ने चाय के प्याले रख दिये।

'आप तो प्रसिद्ध पशु-विशेषज्ञ हैं!' ह्यू मैन ने चाय पीते-पीते कहा 'भारतीय गौ की नस्ल तो बेहद गिर गयी है। यद्यपि वह यहीं का पशु है।'

'मैंने प्रारम्भ में ही कहा था' डाक्टर ने वैसे ही कहा 'आपको यहाँ कुछ नहीं मिलेगा। अमेरिकन गायों की यहाँ से तुलना नहीं की जा सकती।'

ह्यू मैन एक अमेरिकन पशु-विशेषज्ञ हैं और गायों की नस्ल सुधारने के सम्बन्ध में अनेक देशों में भ्रमण कर चुके हैं। उनका कहना है कि गाय भारतीय पशु है और किसी-न-किसी प्रकार यहीं से संसार में फैला हे। इसी विश्वास के आधार पर वे भारत में अन्वेषण करने आये हैं। एक भारतीय विशेषज्ञ से उन्होंने परिचय भी कर लिया है।

'लेकिन प्रारम्भ में यहाँ की नस्ल ऐसी नहीं थी।' ह्यू मैन गम्भीर हो गये 'अच्छा, तुम्हारी किताबों में यह कामधेनु शब्द बार-बार आया है। इसे तुम जानते हो?' उनके नेत्र डाक्टर के मुख पर स्थिर हो गये।

'ओह!' डाक्टर हँस पड़े 'तो यह है आपकी उलझन? आप पुरानी कहानियों के चक्कर में पड़ गये हैं। इनमें कोई तथ्य नहीं है।' आधुनिक विचारों के कारण महेन्द्र ऐसी बातों पर ध्यान देना व्यर्थ समझते थे।

'मैं इसे ऐसा नहीं समझता' वह अमेरिकन विशेषज्ञ डाक्टर की उपेक्षा से तनिक भी प्रभावित नहीं हुआ। उसका मुख और गम्भीर हो गया। चाय का प्याला मेज पर रखकर वह सीधा बैठ गया। 'कामधेनु का शब्दार्थ तो हुआ चाहे जब और जितनी बार इच्छा

हो उतनी बार दुही जा सकने वाली। लेकिन किताबों में तो दूसरा ही कुछ लिखा है।'

'आपका संस्कृत-ज्ञान प्रशंसनीय है।' डाक्टर को इस अमेरिकन पर हँसी आ रही थी। वह क्यों मूर्खतापूर्ण बातों पर विश्वास करने जा रहा है। 'फिर भी मैं आपको इन गपोड़ों में अपना अमूल्य समय नष्ट करने की सलाह नहीं दूँगा।'

'मैं प्रयोग करूँगा।' उसे पक्की धुन थी। 'मैं ठीक तरह से तुम्हारी किताबों का अक्षर-अक्षर पालन करके प्रयोग करूँगा। मुझे एक अच्छी गाय ला दो। ऐसी गाय जो चाहे जब दुही जा सके और देखो वह कपिला हो- बस!'

बिना उत्तर की प्रतीक्षा किये वह मेज से उठ खड़ा हुआ। डॉक्टर ने देख लिया कि कुछ कहना व्यर्थ होगा। ह्यू मैन के इच्छानुसार गाय ढूँढ़ने का वचन देकर उन्होंने हाथ मिलाया। उनके पीठ फेरते-फेरते वह अपनी पुस्तकों के ढ़ेर के बीच बैठ चुका था।

(3)

'आप तो मुसलमान हैं' मैंने वृद्ध महात्मा से पूछा 'आपके धर्म में तो कुर्बानी...।'

'उस पाक परवरदिगार के लिए माफ करो' बड़ी व्याकुलता से उन्होंने मुझे रोका। 'किसी को कोई हक नहीं कि कुरानशरीफ को बदनाम करे और हजरत साहब पर ऐसा दोष मढ़े।'

'मैं तो आम मुसलमानों की धारणा की बात कह रहा था।' मुझे खेद था कि मैंने एक वृद्ध फकीर को कष्ट पहुँचाया है। उनके नेत्र भर आये थे और मुख तमतमा-सा आया था 'मेरा इरादा कतई खराब नहीं था। मैंने क्षमा माँगी।

'तुम ठीक ही कहते थे' उनके स्वरों में ग्लानि थी। 'मैं किसी को गाली नहीं दूँगा। लोग गुमराह हो गये हैं। कह नहीं सकता कि वे कैसे ठीक रास्ते पर आवेंगे।' मस्तक झुकाकर वे सोचने लगे। किसी गम्भीर चिन्ता में पड़ गये दीखते थे।

'क्या आप कुरान की शिक्षा के सम्बन्ध में कुछ कहेंगे।' मैंने प्रसङ्ग बदलने के लिए ही कहा था। वैसे कोई उत्सुकता मुझमें थी नहीं।

'मैं तो एक अनपढ़ खानसामा हूँ।' उन्होंने कहा 'मैंने कुरानशरीफ पर श्रद्धा करना सीखा है। उसे पढ़ सकूँ ऐसी लियाकत नहीं। फिर भी मैं विश्वास करता हूँ कि वह एक खुदाई किताब है और उसमें कोई खराब बात नहीं।'

'आपने सुना तो होगा ही।' मुझे इस अनोखे श्रद्धालु के प्रति कुतूहल हो रहा था।

'उसके लिए मुझे वक्त कहाँ है।' वे सीधे शब्दों में कह रहे थे 'मैं इस अपनी कामधेनु से छुट्टी ही कब पाता हूँ।' उन्होंने नीम के नीचे की ओर संकेत किया।

'आपका मतलब शायद उस गाय से है।' मैं उसे अब तक भूल गया था। अब ध्यान में आया कि वह इन्हीं की गाय है और उसका शरीर इस बात का साक्षी है कि वृद्ध उसकी कितनी सेवा करते हैं।

'हाँ, उसी गाय से। जिसके पास तुम अभी बैठे थे।' उन्होंने उल्लास से कहा 'मैंने समझा था कि कोई उसे छेड़ रहा है, इसी से पुकारा था। लेकिन तुरन्त ही मुझे अपनी भूल मालूम भी हो गयी थी।' जैसे वे क्षमा माँग रहे हों।

'मैं हिंदू हूँ। गौ को हम देवस्वरूप तथा पूजनीय मानते हैं।' मैं यों ही कह चला था 'उसे छेड़ने या सताने की कल्पना हमारे सम्बन्ध में करना हमारे साथ अन्याय है।'

'तुम अपनी बात कर सकते हो' उन वृद्ध ने कहा 'यहीं घरों में बाँधकर गाय को चारा-पानी से तरसाने वाले हिन्दू कम नहीं हैं। दूध की आखिरी बूँद तक दुह के गाय के बच्चे को तड़प-तड़पकर मरने के लिए छोड़ने वाले ग्वाले भी हिंदू हैं और मंडी में अनाज की ओर मुख बढ़ाते ही यमराज की भाँति दण्ड़ा मारने वाले दूकानदार तो शायद पूरे अहिंसक हिंदू है।' उनके स्वर में घृणा थी।

'हम उसका दण्ड भी पा रहे हैं।' मैंने मस्तक झुकाकर स्वीकार किया 'गायों के मूक अश्रु अभिशाप बनकर हिंदू जाति को लग गये हैं और वह अपना कर्मफल भोग रही है।' मुझे गहरा धक्का लगा था।

'अरे नहीं' जैसे मेरे अन्तःकष्ट को उन्होंने देख लिया हो 'यह पाप तो आज दुनिया के कुल आदमी ही कर रहे हैं और दया को छोड़कर वे खूँखार बन गये हैं।' इस एकान्त में भी उन्हें सम्भवतः विश्व की परिस्थिति का कुछ आभास मिल जाता था।

'आपको यह गाय कहाँ मिल गयी।' इस खण्डहर निवासी के पास खरीदने के लिये मूल्य तो होने से रहा। प्रसङ्ग भी नीरस हो गया था। मैंने उसे बदलना ठीक समझा। यह मैं लक्षित कर चुका था कि अपनी गाय की चर्चा से बहुत उल्लासित हो उठते हैं।

'बड़ी लम्बी कहानी है।' एक दीर्घ श्वास लेकर वे चुप हो गये। पता नहीं क्यों उनके नेत्रों से अश्रु टपकने लगे थे।

(4)

ह्यू मैन को गाय मिल गयी और उसे पाते ही उन्होंने अपना प्रयोग प्रारम्भ किया। एक-दो दिन में ही उन्हें पता लग गया कि आगरे-जैसे बड़े शहर में रहकर वे प्रयोग नहीं कर सकते। पन्द्रह मील दूर यमुना किनारे उन्होंने एक ढाक का जङ्गल खरीद लिया। वहीं एक छोटा बँगला बनवा लिया और उस गाय को लेकर आ गये।

सिञ्चित जङ्गल घास से भर जाना ही था। चारों ओर काँटेदार तार लगा दिये गये थे। बङ्गले पर साहब 'खानसामा, गाय और उसकी बछड़ी को छोड़कर कोई प्राणी नहीं रहता था।

पहले ही दिन खानसामा को आश्चर्य हुआ जब साहब एक छोटी लकड़ी में रूमाल बाँधकर सवेरे गाय चराने निकले। 'यह मेज को झाड़ने के लिये तो ठीक था, पर गाय चराने के लिये...। फिर साहब एक चरवाहा क्यों नहीं रख लेते?' बेचारा खानसामा चुप रहा। वह जानता था कि उसका साहब झक्की है।

दो महीने से ह्यू मैंन अपने को तैयार कर रहे थे। अनेक उलट-फेर उन्होंने अपने भोजन तथा रहन-सहन में किये थे। चाय वे छोड़ चुके थे और धूप में टहलने का अभ्यास भी कर चले थे।

घिरे हुए जङ्गल में साहब अपने झाड़न से गाय के ऊपर बैठने वाले मक्खी-मच्छर उड़ाते हुए उसके पीछे-पीछे घूमते रहे। कहीं रोकने की आवश्यकता नहीं थी। बड़ी नालियों में स्वच्छ जल भरा था। दोपहर को खानसामा आदेश के अनुसार वहीं भोजन दे गया। पहले दिन भूमि पर बैठकर साहब ने भोजन किया।

पतलून छूट गयी। उससे पृथ्वी पर बैठने में अड़चन होती थी। हाफ पाइंट और हाफ कमीज बस! हैट धूप से बचाने को चाहिये ही। काँटा चम्मच छोड़कर उन्होंने हाथ से भोजन करना प्रारम्भ किया। खानसामा शहर जावे तो रोटी पहुँचावे कौन? केक, बिस्कुट के बदले टिक्कर ठोकें जाने लगे।

'साहब क्या पागल हो गया है।' खानसामा कभी-कभी सोचता था, वह सुबह गाय के पैर धोकर वह गन्दा पानी मुँह में डालता है। हिंदुओं की तरह फूल, रोली से उसकी पूजा करता है। शाम को गाय के पास घी का चिराग रातभर के लिये जलाता है। जैसे गाय कोई बच्चा है जो अँधेरे में डर जायगी। रात को चटाई डालकर वहीं जमीन-सो रहता था।' दिनभर अकेले रहते-रहते वह ऊब जाता था।

'साहब बहुत भला है। भले वह आधा पागल हो।' कभी-कभी खानसामा सोचता। 'मैं जैसी रोटी बनाता हूँ, वैसी खा लेता है। गाय के पास झाडू खुद देता है। कमरे में भी झाडू न दिया हो तो अपने आप देने लगता है। कभी डाँटता नहीं। तनख्वाह ठीक पहली को दे देता है। खुदा उसका पागलपन दूर करे।' खानासामा को निश्चय हो गया था कि साहब के दिमाग में जरूर कुछ खराबी है।

'आखिर यह गाय है किसलिये।' सच पूछिये तो गाय ने खानसामा को अच्छी उलझन में डाल दिया था। 'दूध उसकी बछड़ी पीती है। साहब कभी उसे दुहता नहीं और दुहकर करे भी क्या; उसने तो दूध पीना ही छोड़ दिया है। जरूर इस गाय पर कोई

जिंद सवार है और उसने ने साहब को पागल बना दिया है।' कई बार साहब की आँख बचाकर वह कलमा पढ़कर गाय पर फूँक मार चुका है।

'आज मैं देखूँगा कि जङ्गल में साहब दिन भर क्या करता है। लगभग छः महीने बाद उसने एक दिन निश्चय किया और उस दिन साहब को रोटी देकर बङ्गले नहीं लौटा। झाड़ियों में छिपा रहा वह।

'मदर, मैं क्या निराश ही होऊँगा।' खानसामा टूटी-फूटी अंग्रेजी समझ लेता था। गाय आराम से एक घने ढाक के नीचे बैठी थी। उसकी बछड़ी इधर-उधर फुदक रही थी और साहब उसके सामने घुटनों के बल बैठा हुआ था। उसने हाथ जोड़ रक्खे थे ओर बेतरह रो रहा था।

खानसामा चीख पड़ा। यह क्या? गाय आदमी-जैसी साफ अंग्रेजी बोल रही है। वह भय के मारे बेहोश हो गया। पता नहीं कब तक वैसे ही पड़ा रहा। जब उसकी आँखें खुलीं तो वह बँगले के पलङ्ग पर लिटाया हुआ था और उसका साहब सामने खड़ा मुस्कुरा रहा था।

(5)

'फिर कभी दर्शन करूँगा' मैं उठ खड़ा हुआ। चार बज गये थे और मैं कुटिया से डेढ़ मील दूर था। जाड़ों में अँधेरा भी तो जल्दी होता है।' दिन छिपने तक पहुँच जाने का विचार था। अन्ततः अपने गोपाल के पास दीपक भी तो जलाना है।

'दूध तो पीते जाओ!' वे वृद्ध उठ खड़े हुए। बाहर एक नन्हा-सा ढाक था। कुल पाँच-सात पत्ते होंगे उसमें। एक बड़ा-सा पत्ता उन्होंने तोड़ लिया और मेरे उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना। दोनों मेरे हाथ में धर दिया।

गाय नीम के नीचे खड़ी हो गयी थी। 'तुम थनों के पास बैठ भर जाओ।' वे गाय के सामने घुटने टेककर बैठ चुके थे। 'अम्मा, अपने घर ये मेहमान आये हैं।' मैं आश्चर्यचकित रह गया। गाय के चारों थनों से दूध की धारा बहने लगी थी।

'बस' एक दोना पीकर मैंने कहा।

'उहुँ, दूध खराब मत करो।' वे पीछे खड़े हँस रहे थे। 'अब यह तुम्हारे बस की बात नहीं। दूध गिरे, वहाँ तक चुपचाप पीते जाओ।'

मुझे कहने दीजिये कि सचमुच मैं ऊपर से 'ना' कह रहा था। उतना स्वादिष्ट दूध जीवन में फिर मिलेगा, ऐसी आशा नहीं। बराबर दोना भरता और पीता रहा। नीचे भूमि में दूध का कीचड़ हो गया। गले तक भरकर पीया होगा, तब कहीं थनों से उसकी धारा रूकी।

'सचमुच कामधेनु पायी है आपने।' उठकर मुख पोंछते हुए मैंने कहा। हाथ यमुनाजी में धोने का विचार कर लिया था।

'यह मेरे साहब की कामधेनु की बछड़ी है।' उन्होंने बताया 'इसने कभी कोई बच्चा नहीं दिया।'

'कामधेनु तो केवल दूध ही नहीं देती।' मैंने उत्सुकतावश पूछा।

'मुझे फकीर को इस पेट के गड्ढ़े को भरने के अलावा और चाहिये भी क्या।' वे गद्गद हो रहे थे। 'फिर मुझमें उतनी श्रद्धा कहाँ है? मैं वैसी सेवा कहाँ कर पाता हूँ।' उनके नेत्रों ने कपोलों को भिगो दिया था।

'वह तो साहब ही थे' थोड़ी देर रुककर वे बोले 'उन्हें कामधेनु ने खुदा का जलवा तक दिखाया और वह खुद उन्हें लेकर उस मालिक के दरबार में चली गयी।' बहुत पूछकर भी मैं इस अन्तिम वाक्य का मतलब नहीं समझ सका था। उन्होंने मुझे 'देर होती है, जाओ। कहकर विदा कर दिया।

× × ×

मैं जब कुटिया से बाहर प्रातः बैठता हूँ तो शाम को भिगोये चनों का जो मेरे गोपाल को भोग लग चुका होता है- भाग लेने मयूरों का झुण्ड आ जाता है। कई छोटे बछड़े आ जाते हैं और यदा-कदा एक दो गायें भी।

आज प्रातः मयूर आ गये हैं। वे तीनों पर फैलाकर नाच रहे हैं। ये पाँचों बछड़े प्रायः रोज आते हैं। बड़े नटखट हैं। सारा चबूतरा कूदकर खोद डालते हैं। आज तो कपिला आयी है और नीचे खड़ी हुंकार से चने माँगती है शायद।

सहसा कल शाम की बातें स्मरण हो आयीं। 'ये इतने रूपों में साक्षात् धर्म मुझे वेष्टित किये हैं और वे कामधेनु पुकार रही है।' मैंने सब चने गाय के सम्मुख चबूतरे पर डाल दिये और नीचे जाकर उसकी चरण-रज मस्तक से लगा ली।

साँड देवता

'साधु का दर्शन करना है तुझे?' - सहसा चलते-चलते वे खड़े हो गये और हाथ उठाकर एक झोपड़ी की ओर संकेत करके बोले- 'जा, वहाँ जा! वहाँ तुझे सच्चे साधु के दर्शन मिल जायँगे।'

काला कोयले-जैसे रंङ्ग का देह, लाल-लाल नेत्र, सिर पर चिड़ियों के घोंसले के समान उलझे केश। ये सर्वथा दिगम्बर रहते हैं। अङ्ग में धूलि, कीचड़ और केशों में तिनके लगे रहें- साधारण बात है। कहीं न डेरा है, न कुटिया। वृक्ष के नीचे खण्हर में या मार्ग के ही एक ओर पड़े रहते हैं। प्यास लगने पर अञ्जलि से जल पी लेंगे माँगकर; किन्तु भोजन माँगते नहीं। कोई कुछ दे और भूख हो तो ले लेंगे, नहीं तो सिर हिलाकर चल देंगे।

लोग कहते हैं कि पगला है। किंतु पागलपन की कोई बात देखी नहीं गयी इनमें। न किसी को मारते, न गाली देते। प्रायः नित्य गङ्गा में डुबकी लगाते देखा गया है। कोई पास आ बैठे या समीप खड़ा हो जाय तो 'भाग जा! भाग जा!' अवश्य चिल्लायँगे और उसके भागने से पहले स्वयं ही उठकर अन्यत्र चल देंगे।

मैं आज इनके पीछे चल पड़ा, जब ये 'भाग जा!' कहकर चल दिये। थोड़ी दूर जाकर मुड़े और मुझे झोपड़ी दिखाने लगे। चमारों के झोपड़ों से तनिक हटकर एक झोपड़ा और है। इस गन्दी बस्ती में (गन्दी मैं अनुमान से ही कहता हूँ; क्योंकि) मैं कभी भीतर नहीं गया। लेकिन ये सन्त (मैं सन्त ही समझता हूँ इन अवधूत को) कहते हैं तो मंगू के झोपड़े को आज देख लेना चाहिये। सम्भव है, कोई साधु आ टिके हों उसके यहाँ। इन साधुओं का ठिकाना क्या कि कहाँ आसन जमा दें।

चमरटोले में जाना मुझे पसन्द नहीं। उनका चक्कर काटकर गया, फिर भी पास के खेतों में जो गन्दगी है- लेकिन मंगू के झोपड़े के आसपास गन्दगी का नाम नहीं। झोपड़े के सम्मुख पर्याप्त दूर तक एक तिनका नहीं, गोबर से लिपी-पुती स्वच्छ भूमि!

इस झोपड़े और आसपास की स्वच्छता ने इधर आने की ग्लानि दूर कर दी। सामने तुलसी के कुछ पौधे हैं और गेंदा फूल रहा है। मंगू बाहर ही बैठा है झोपड़े के और जूता बनाने के लिये चमड़ा छीलने में लगा है!

मुझे देखते ही उसने राँपी हाथ से छोड़ दी और उठ खड़ा हुआ। दोनों हाथ जोड़कर सिर से लगाकर प्रणाम करके बोला– 'मालिक ने क्यों कष्ट किया? किसी से बुला भेजा होता!'

मंगू का झोपड़ा खुला पड़ा है। भीतर कोई नहीं। होगा भी कौन। मंगू का पुत्र परलोक चला गया चार वर्ष पहले। पुत्र की स्त्री पिछले साल दूसरे के बैठ गयी। बस, एक पाँच वर्ष का पौत्र है जो मंगू की पुत्रवधू साथ नहीं ले गयी। मंगू की टाँगों को दोनों हाथों में पकड़कर पीछे छिपा तनिक सिर टेढ़ा करके झाँक रहा है। वह बच्चा मेरी ओर।

'मालिक को हाथ जोड़।' मंगू ने बालक का हाथ पकड़ा तो वह और भी चिपट गया। उसकी घुटनों तक नङ्गी टाँगों से। खूब काला, नङ्ग–धड़ङ्ग; किन्तु बड़ी–बड़ी आँखों वाला सुन्दर सलोना बच्चा है। बड़ा प्यारा बच्चा– गले में एक छोटी ताबीज काले धागे में लटकती है और दूसरा कुछ नहीं देह पर।

'तुम्हारे यहाँ और कोई नहीं?' मैंने इधर–उधर देखा। कहीं कोई बाबाजी होंगे, यह मेरा अनुमान ठीक नहीं निकला।

'और कौन होगा मालिक?' मंगू ने हाथ जोड़े। उससे बैठने को कहना व्यर्थ है; क्योंकि मैं खड़ा रहूँगा, तब तक वह बैठेगा नहीं। लेकिन उसने समझ लिया कि मैं खड़े–खड़े चले जाने नहीं आया, इसलिये झोपड़े में खाट लेने जाते हुए कहा गया– 'और तो बस, ये साँड़ देवता है।'

'साँड़ देवता!' मंगू के झोपड़े के बाहर एक नाटा काले धब्बेवाला लाल साँड़ बैठा है। छोटा–सा, दुबला, कुरूप साँड, जिसके दोनों नेत्रों में मसे लटक रहे हैं। कूल्हे के पास बड़ा–सा घाव का दाग है। वह बैठा–बैठा 'पागुर' कर रहा है। कभी–कभी पूँछ हिलाकर मक्खी उड़ा देता है। मंगू की टाँगों से चिपका बालक अब चला गया है साँड़ देवता के पास। वह साँड़ का गोबर जो उसने अभी–अभी किया है, अपनी छोटी हथेली में उठाकर दूर ले जा रहा है।

'तो इसने अब यहाँ अड्डा जमाया है!' चारपाई पर बैठकर मैंने साँड़ की ओर संकेत किया।

'गङ्गा मैया ने कृपा की मालिक!' मंगू मेरे पास ही भूमि पर बैठ गया– 'मैंने उस दिन 'बड़े घर' जब कथा हो रही थी– वे पण्डित जी आये थे कथा बाँचने वाले, तब दूर

बैठकर उनकी कथा सुनी। बड़े विद्वान थे पण्डित जी। उन्होंने कहा था कि 'साँड साक्षात् धर्म हैं।' धर्म की जो रक्षा करता है, धर्म उनकी रक्षा करते हैं। भगवान् उस पर प्रसन्न होते हैं; क्योंकि धर्म के स्वामी स्वयं भगवान् हैं।'

'मैं ठहरा नीच जाति का मूर्ख गँवार। धर्म-कर्म क्या होता है, पता नहीं। भगवान् का भजन-पूजन तो ब्राह्मण-ठाकुर करते हैं।' बड़े भोलेपन से मंगू कह रहा था। 'गङ्गाजी नहा लेता हूँ और तुलसी मैया पर एक लोटा पानी डाल देता हूँ, लेकिन मालिक! दूसरे दिन गङ्गाजी से लौट रहा था तो ये साँड़ देवता मिल गये। पता नहीं कैसे इनका अगला दाहिना पैर टूट गया था। ऐसे डकरा रहे थे पीड़ा से कि सुना नहीं जाता था। चार भाइयों के हाथ-पैर जोड़कर इनको उठवा लाया। ये साक्षात् धर्म है। गङ्गा मैया की कृपा से इनकी सेवा मिल गयी। हल्दी-प्याज बाँधते-बाँधते इनके पैर का दर्द तो चला गया, लेकिन हड्डी जुड़ेगी नहीं।'

'इनके लिये चारा?' मुझे पता है कि मंगू का निर्वाह अपने बनाये जूते बेचकर होता है। उसके पास दूसरी कोई जीविका नहीं। यह बुड्ढा अब मजदूरी का परिश्रम नहीं कर पाता।

'गङ्गामैया ने शायद इनकी सेवा के लिये ही वह दो बिस्वा जमीन छोड़ दी है।' मंगू ने बताया- 'पिछले साल तो वह भी कट गयी थी। इस साल मैया ने छोड़ दी। उसमें बाजरा डाल दिया था। अब वह साँड़ देवता की सेवा में काम आ गया।'

'तुम्हारे पास खेत है मंगू?' मेरे लिए नयी सूचना थी यहाँ 'यह भी एक हँसी-जैसी बात है मालिक।' मंगू ने बताया- 'जब अंग्रेजी राज में गदर हुआ था, कोई साहब इस गाँव में आ निकला। उसका बूट टूट गया था। मेरे परदादा ने उसे एक अच्छा चमरौधा जूता पहिना दिया तो वह कछार की जमीन का पट्टा उन्हें दे गया। हर साल चौबीस रूपये लगान जरूर देता हूँ; लेकिन जमीन तो पता नहीं कब गङ्गामैया के पेट में चली गयी। कभी दो और कभी चार बिस्वा मैंने जिंदगी भर जोती है। इस साल कुल चार हाथ चौड़ी धरती मैया ने छोड़ी है।'

गङ्गाकिनारे जिसकी जमीन का जितना पट्टा हो, लगान उसे उतनी जमीन का देना पड़ता है। जमीन गङ्गा जी पूरी काट ले जायँ तो भी और उसके सामने मीलभर जमीन छोड़ दें तो भी। उसकी जमीन की सीध में जितने भूमि धारा छोड़ दे, सब उसकी। मंगू डेढ़ रुपये बीघे के हिसाब से लगान देता है। इसका अर्थ है कि उसके पास पूरे सोलह बीघे का पट्टा है। सोलह बीघे कछार की भूमि गङ्गा यदि छोड़ दें- मंगू एक वर्ष में लखपती हो जायगा।

'तुम्हारे इस पोते का भाग्य बलवान् दीखता है।' मैंने बच्चे की ओर देखकर कहा। गाँव के लोगों की दृढ़ मान्यता है कि गङ्गा दयामयी हैं। वे कोसी नदी की भाँति प्रलयङ्कारी नहीं है। वे भूमि काटती हैं, फसल बहाती है; किन्तु पूरे ब्याज के साथ लौटा भी देती हैं। वे जब भूमि छोड़ती हैं, तो उस भूमि में सोना उगता है। यदि गङ्गा ने अब तक मंगू की भूमि नहीं छोड़ी तो अवश्य उसे या उसके पौत्र को वे कई गुना देने ही वाली होंगी, यह मेरा मन कह रहा था।

'अब मैया की कृपा और इन साँड़ देवता की।' मंगू ने भूमि में मस्तक रक्खा। 'यही एक बच रहा है इस झोपड़े-का दीया। जीता जागता रहा तो अगले साल इसे पढ़ने बैठाऊँगा।'

मंगू की महत्त्वाकांक्षा पौत्र के लिये होना स्वाभाविक है। किन्तु उस गरीब की महत्त्वाकांक्षा भी कितनी? 'बच्चा चार अक्षर पढ़कर रामायण बाँचने लगे। चिट्ठी-पत्री करने योग्य हो जाय और पेट के लिये दो रोटी कमाना सीख जाय-बस!'

'आपने कोई हुकुम नहीं किया मालिक!' मैं उठकर चलने लगा तो मंगू ने पूछा। अब तक बातचीत में लगकर वह भूल ही गया था कि अकारण कोई उसके द्वार पर क्यों आयेगा?

'इधर घूमने आया था तो तुम्हारे सामने की सफाई देखकर चला आया।' मैंने बहाना बना दिया- 'कोई विशेष काम नहीं था।'

मंगू को मैं क्या बताऊँ कि मैं कैसे आया था। उस फक्कड़ ने सम्भवतः इस बूढ़े चमार को ही साधु बताया अथवा मुझसे पिण्ड छुड़ाने को जो मुँह में आया कह दिया। मंगू साधु है? यह सन्देह मन में लिए ही मैं लौट आया उस दिन। यह जूता गाँठने वाला बूढ़ा चमार साधु? लेकिन वे अवधूत झूठ क्यों बोलेंगे? यह साधु और उसका साँड़ देवता?

× × ×

'भगवन्! आप कृपा नहीं करेंगे? बात छः साल बाद की है। आज मैं फिर उन अवधूत के पीछे पड़ा हूँ। वे 'अपने लिए नहीं माँगता कुछ; किन्तु श्रावण बीतने वाला है, वर्षा की बूँद नहीं पड़ी। मेघ आते हैं और चले जाते हैं। सूखे खेत, भूखे पशु और ये निरीह गाँव के लोग आप इन पर कृपा नहीं करेंगे?'

'जा! भाग जा! मेरे पास क्या धरा है?' उन्होंने पैर छुड़ा लिए मेरे हाथ से और उठ खड़े हुए। जाते-जाते बोले- 'उस साधु के पास चला जा।'

'मंगू भगत!' मुझे अवधूत ने फिर वह झोपड़ा दिखाया था। वहाँ जाकर मैंने हाथ जोड़े तो मंगू हड़-बड़ाकर स्वयं भी हाथ जोड़कर खड़ा हो गया। लेकिन मैंने प्रार्थना के स्वर में कहा- 'अवधूत बाबा ने कहा है कि तुम चाहो तो वर्षा हो सकती है। वर्षा न हुई

तो क्या खायँगे तुम्हारे ये साँड़ देवता?'

'देवता! धर्म देवता!' मंगू दो क्षण गम्भीर रहा और फिर जाकर साँड़ के अगले पैर पर उसने सिर पटक दिया। इन वर्षो में साँड़ इधर-उधर भले घूम आता हो, रहा मंगू के झोपड़े पर ही है। उसे यद्यपि बाँधा नहीं जाता; किन्तु किसी के खेत में उसने मुँह मारा हो, यह मैंने किसी से नहीं सुना। मंगू केवल रो रहा था सिर रक्खे। मैं कई क्षण खड़ा रहा और फिर लौट आया।

उसी दिन मेरे लौटने के दो घड़ी बाद घटाएँ आयी और शाम तक तो खेत ही नहीं, नदी-नाले भी लहराकर बह उठे; किन्तु मंगू दूसरे दिन इस लोक से चला गया। मंगू के साँड देवता का क्या हुआ, किसी को पता नहीं। मंगू की भस्म गंगा में पहुँचाकर पड़ौसी लौटे तो उस लँगड़े साँड़ का पता नहीं था। ढूँढ़ने पर भी वह मिला नहीं।

मंगू का पौत्र यद्यपि अभी बच्चा है और पढ़ता है; किन्तु उसके शुभ-चिन्तकों का अभावनहीं है; क्योंकि गङ्गा ने इस वर्ष लगभग अड़तालीस बीघे कछार की भूमि उसे दे दी है। इतनी बड़ी सम्पत्ति के स्वामी को कहीं हितैषियों का अभाव हुआ है?

❑ ❑

भारतीय ईमानदारी

'हमें सम्राट् के दर्शन होंगे?' यात्री का प्रश्न उचित था। उसके अपने देश में सम्राट् का दर्शन अत्यन्त दुर्लभ है। सामान्य जन की तो बात ही दूर, मध्यवित्त पुरुष के लिये भी वे भेटें एकत्र कर लेना सरल नहीं जो सम्राट् के सम्मुख पहुँचने वाले प्रत्येक नवीन व्यक्ति को, जो सम्राट् से पहले-पहल मिल रहा हो, ले जानी आवश्यक हैं। 'मेरे पास केवल दो माणिक्य और एक पद्मराग है।'

'आप निश्चिन्त रहें! भारत के सम्राट् का दर्शन अलभ्य कभी नहीं रहा है।' जो मागदर्शक साथ था उसने बतलाया- 'वे प्रजा के पिता हैं और प्रत्येक प्रजाजन उनसे उसी सरलता से मिल सकता है जैसे पुत्र अपने पिता से। आप तो अतिथि हैं। आपने सुना नहीं कि अतिथि भारत में पूज्य होता है- सम्राट् के लिए भी पूज्य।'

'लेकिन मेरी भेंट...!' यात्री को विश्वास नहीं हो रहा था। उसके अविश्वास का कारण था। वह चीन का निवासी है; किन्तु अपने सम्राट् के दर्शन उसे अब हुए- केवल इसलिए हुए कि वह भारत की यात्रा करने जा रहा था। उसके सम्राट् ने उसका सम्मान किया इसलिए कि वह भारत के सम्राट् का दर्शन कर सकेगा। भारत का सम्राट्- जिसका नाम लेकर चीन का राजराजेश्वर सात बार घुटनों के बल झुक पड़ा- कितना महान् होगा वह।

'आप भेंट की बात क्यों सोचते है? भारत को अतिथि का सौहार्द अपेक्षित है, उपहार नहीं।' परन्तु सहसा मार्गदर्शक गम्भीर हो गया- 'हम भारत पहुँच पायेंगे या नहीं, प्रश्न इतना ही है।'

'क्यों?' यात्री ने भी पथ-प्रदर्शक के साथ आकाश की ओर देखा। उसने एक दीर्घ श्वास ली। आकाश एक कोने से कपोतकर्बुर मेघों से ढ़कता जा रहा था। इसका अर्थ था कि हिमपात प्रारम्भ होने वाला है।

'हम आशा नहीं कर सकते कि तीन दिन हिमपात नहीं होगा!' पथ-प्रदर्शक ने

हताश भाव से कहा– 'आगे बढ़ने का अर्थ आप समझ सकते हैं। यदि आप आज्ञा दें तो हमारे घोड़ों में अभी इतनी शक्ति है कि हम पिछले मठ तक लौट जायँ। मार्ग इतना देखा है कि हिमपात प्रारम्भ भी हो गया तो हम भटकेंगे नहीं। शीतकाल हमें अब इस प्रदेश में ही व्यतीत करना है।'

यात्री बिना कोई उत्तर दिये घोड़े से उतर पड़ा। उसने इधर–उधर देखा और समीप की एक पहाड़ी पर चढ़ गया। मार्गदर्शक ने केवल इतना देखा कि ऊपर जाकर वह घुटनों के बल झुक गया है और बार–बार भारत की ओर मुख किये अभिवादन कर रहा है।

'सर्वदर्शी तथागत साक्षी हैं, मैं भारत–सम्राट् का उपहार भारतीय सीमा में रख आया हूँ।' यात्री थोड़ी देर में लौट आया– 'अब हम लौट सकते हैं। भाग्य अनुकूल रहा तो मैं अवश्य भारत जाऊँगा; किन्तु सम्राट् के उपहार लेकर मैं लौटूँ और मठ में... नहीं, यह मुझसे नहीं हो सकता।'

'आपका अनुमान सत्य है। यह पहाड़ी भारतीय सीमा में है।' मार्गदर्शक ने बतलाया– 'हिम यदि अपने साथ न ले जाय तो कोई मनुष्य आपके उपहारों को स्पर्श भी नहीं करेगा। भारतीय सम्पत्ति छूने का साहस सुदूर मरुभूमि के दस्युओं में भी नहीं है।'

× × ×

'देव! मैं इस योग्य नहीं हूँ।' उत्तरापथ के वणिक्प्रधान उपस्थित हुए थे आज स्थाण्वीश्वर में। उन्होंने इस बार केवल कुछ शैलेय, कस्तूरिका और उत्तम मृगचर्म सम्राट् के सम्मुख उपहार में रक्खे, इससे सभासदों को आश्चर्य हुआ। ये मणियों का अम्बार लगा देने वाले उत्तरापथ–प्रधान– किन्तु उससे अधिक आश्चर्य तब सभासदों को हुआ जब सर्वथा अप्रत्यशित भाव से सम्राट् ने उठकर वह उपहार स्वयं स्वीकार किया और प्रधानमन्त्री को न देकर पार्श्वरक्षक को आदेश दे दिया कि ये वस्तुएँ उनके पूजा–कक्ष में रख दी जायँ। किसी का उपहार आराध्य की सेवा में अर्पित करें सम्राट्, इतना सम्मान पहिली बार दिया उन्होंने इनको और अब तो आश्चर्य की सीमा हो गयी सभासदों की। ये प्रधान महोदय सम्राट् के संकेत करने पर भी अपने सदा के निश्चित आसन को स्वीकार नहीं कर रहे हैं।

'आप मेरी भूल क्षमा करें। सचमुच आप उस हीन आसन के योग्य नहीं हैं।' सम्राट् खड़े हुए और उन्होंने हाथ पकड़कर उत्तरापथ के प्रधान को अपने सिंहासन के समीप–देश के गौरवभूत सम्मान्य जनों के लिए निश्चिन्त आसनों में से एक पर बैठा दिया।

'श्रीमान् मेरी प्रार्थना...!' प्रधान के नेत्रों से अश्रु झर रहे थे। वे गद्गद कण्ठ से बोलते उठने लगे आसन से।

'प्रार्थना पीछे सुनी जायगी। पहले आप इस अपने सम्राट् को क्षमा कर दें।' सम्राट् ने उन्हें न उठने दिया और न बोलने ही दिया। 'उत्तरापथ में भयानक हिमपात हुआ। वहाँ के प्रजाजन गृहहीन हो गये। उनके पशु आखेट हो गये हिम के। उनकी अपार क्षति हुई और अपने को क्षत्रिय कहलाने वाला, देश की रक्षा का उत्तरदायित्व लेनेवाला वहाँ पहुँच तक नहीं सका। क्या हो गया जो आरण्यदस्युओं का उसे प्रतिरोध करना था। देश की विस्तृत सीमा को वह एक साथ सम्हाल नहीं सकता तो उसे सिंहासन पर बैठने रहने का अधिकार क्या है? उत्तरापथ की प्रजा की उपेक्षा करनेवाला वहाँ का सम्राट् कैसे कहला सकता है।'

'श्रीमान् की प्रजा निरुपद्रव है। स्थाण्वीश्वर का प्रताप प्रकृति के कोप पर भी विजयी है।' प्रधान ने सम्राट् को हाथ जोड़कर मस्तक झुकाया- 'प्रजा का ऐसा कोई जन नहीं जिसकी क्षति-पूर्ति न कर दी गयी हो। सबके गृह पूर्ववत् आमोदपूर्ण हैं और उत्तरापथ का प्रत्येक जन पशुओं को वन में ले जाने से पूर्व श्रीमान् की मङ्गल कामना करता है।'

'यह सब जिसकी कृपा से हुआ जिसने सम्राट् के लिए अपना सर्वस्व लुटा दिया, वह आज कङ्गाल है।' सम्राट् का स्वर भरा हुआ था- 'वह महीनों से वन्य कन्दमूल पर अपने शिशुओं को और अपने को निर्भर रखता है। सम्राट् ने उसकी कोई सुधि नहीं ली और उसे विवश होकर निर्लज्ज सम्राट् के समीप स्थाण्वीश्वर उपस्थित होना पड़ा।'

'सम्राट्! सम्राट्! चिल्ला उठा उत्तरापथ का वह वृद्ध केसरी- 'मैं और नहीं सु सकूँगा!' उसके गौर ललाट पर पसीने की बूँदें चमकीं और नेत्रों की धारा तो चल ही रही थी।

'आप पहले मुझे क्षमा करें!' सम्मुख खड़े होकर सम्राट् ने हाथ जोड़े।

'किसी को- आपको भी अधिकार नहीं है कि स्थाण्वीश्वर के सिंहासन की मर्यादा नष्ट करें! आप विराजमान हों!' सुपुष्ट दीर्घदेह पर्वतीय प्रधान ने सम्राट् को सिंहासन पर बैठने के लिए बाध्य किया। 'मैंने ऐसा कुछ नहीं किया जो स्तुत्य हो। हिमपात से पशु मरे, गृह नष्ट हुए। प्रकृति के कोप को सह लेने के अतिरिक्त उपाय क्या था। मेरे पास जो कुछ था, वह मेरे भाइयों के पास से ही आया था। आकाश से तो मेरा घर स्वर्ण गिरता नहीं था। जिनका द्रव्य था, अवसर पर उनकी सेवा में लगा देने की सद्बुद्धि मुझमें आयी, यह हमारे पुण्यकीर्ति सम्राट् का प्रताप।'

'श्रीमान्! मुझे मेरी बात कह लेने दें!' सम्राट् कुछ कहते जा रहे थे, उन्हें प्रधान ने

रोक दिया। 'पर्वतीय जीवन ही कन्द-मूल पर व्यतीत करने का जीवन है, किन्तु मेरी जो आर्थिक स्थिति है, उसमें उत्तरापथ का वर्णिक् प्रधानपद स्थाण्वीश्वर के गौरव को देखते मेरे अनुरूप नहीं है। मेरे निश्चित आसन पर अब कौन बैठेगा, यह स्थाण्वीश्वर सम्मान्य सभासद् निर्णय करेंगे; किन्तु मैं एक प्रार्थना लेकर आया हूँ।'

'आपका आसन आपके कुमार घोषित करेंगे अबसे!' राज्य के महामात्यने तनिक हँसकर घोषणा कर दी। सभासदों का समर्थन मिल गया एक हर्षोन्मत्त जय ध्वनि से। 'आपको सम्राट् ने जो आसन दिया है, उस पर बैठकर प्रार्थना नहीं की जा सकती- आदेश दिया जा सकता है।'

'हिमपात प्रारम्भ हो गया था। मैं त्रिविष्टप सीमान्त देख नहीं सका। अब पता लगा है कि सीमान्त के अरुणा शिखर पर कोई यात्री अपने दो माणिक्य और दो पद्मराग छोड़ गया है।' प्रधान ने अपनी बात सुनायी- 'वह जीवित है या नहीं, पता नहीं है। रत्न वहाँ से हटा लेने पर वह आवे तो निराश लौट सकता है। वहाँ रहने दें तो गलते हुए हिम, वन्यपशु आदि उन्हें रक्षित रहने देंगे-संदिग्ध है।

'आप उन रत्नों की रक्षा के लिये अपने दो कुमार उस निर्जन, वनस्पतिशून्य प्रदेश में छोड़ आये हैं।' सम्राट् को अपने इतने विस्तृत देश के सुदूर प्रान्त की इस नन्हीं-सी बात का भी बता है, यह जानकर वृद्ध प्रधान भी चौक पड़े। किन्तु सम्राट ने कहा- 'आप उन रत्नों को स्थाण्वीश्वर भेज दें। वहाँ एक बड़ा पाषाणखण्ड गड़वा दें यह शिलालेख अङ्कित करके कि 'जिनके रत्न हैं, वे स्थाण्वीश्वर पधारने की कृपा करें। रत्न सुरक्षित हैं।'

'मैं मुक्त हुआ- श्रीमान् की कृपा!' पर्वतीय प्रधान ने हाथ जोड़े।

'आप स्थाण्वीश्वर से इच्छानुसार प्रस्थान करने के लिये भी मुक्त है।' सम्राट के अधरो तक स्मित आया- 'किन्तु स्थाण्वीश्वर के महामान्य सभासदों के गौरव-रक्षण की जो व्यवस्था राज्य करे, उसमें बाधा उपस्थित करने के लिये आपको कोई स्वतन्त्रता कभी नहीं रहेगी।'

इसके साथ सम्राट् ने महामन्त्री की ओर देखा। यह आदेश था- 'आज उत्तरापथ के वर्णिक्-प्रधान स्थाण्वीश्वर के महामान्य सभासद बना दिये गये हैं। उनके गौरव के उपयुक्त वस्त्र, आभरण, वाहन तथा उनके गृहपर भेजने के लिये उपयुक्त द्रव्य की व्यवस्था हो जानी चाहिए।' महामन्त्री ने भी केवल मस्तक झुकाकर मूक स्वीकृति सूचित कर दी थी।

× × ×

'ऊपर जाओ ऊपर!' चीनी यात्री ग्रीष्म के मध्य में लौटा। वह सीमान्त पर पहुँचकर रुका और मार्गदर्शक को नीचे छोड़कर पहाड़ी के ऊपर चढ़ गया, किन्तु ऊपर पहुँचकर वह पुकारने लगा मार्गदर्शक को।

'यह क्या है? क्या लिखा है इस पर? मैंने ठीक यहीं अपने तीनों रत्न छोड़े थे।' मार्गदर्शक को पुकारकर उसने बताया, यद्यपि मार्गदर्शक इतने पास आ गया था कि धीरे से बोलना ही पर्याप्त था।

'यह शिला-लेख है।' मार्गदर्शक ने पढ़ा शिलालेख- 'तुम्हारे रत्न-स्थाण्वीश्वर के कोष में सुरक्षित हैं। भारत के देवोपम सम्राट् ने इस शिलालेख में प्रार्थना की है कि तुम अवश्य अतिथि बनो।

'वे मुझे जानते हैं! सम्राट मुझे जानते हैं!' चीनीयात्री तो हक्का-बक्का हो रहा है।

'यह भारतभूमि है। इसमें तुम्हारे रत्न रह गये तो उन्हें सम्राट् तक पहुँचना था ही और अब यदि तुम सम्राट् से मिलना न भी चाहो तो वे तुमसे मिल लेंगे।' मार्गदर्शक ने श्रद्धा भरे स्वर में कहा- 'मैं नहीं जानता कि सम्राट् सर्वज्ञ हैं या नहीं; किन्तु तुम शीघ्र देख लोगे कि उन्हें ज्ञात हो जायगा कि उनकी भूमि में चुपचाप रत्न रख जानेवाला उनकी सीमा में आ गया है।'

मार्गदर्शक अत्युक्ति नहीं कर रहा था। प्रथम भारतीय जनपद में पहुँचने से पूर्व ही उत्तरापथ के वणिक्-प्रधान ने अपने कुछ साथियों के साथ आगे बढ़कर यात्री की अभ्यर्थना की- 'सम्भवतः आपने पहले वर्ष भी भारत पधारने का प्रयास किया था। यों तो आप भारत-भूमि में स्वच्छन्द यात्रा करने के लिये स्वतन्त्र हैं; किंतु सम्राट् कृतज्ञ होंगे यदि आप स्थाण्वीश्वर पधारें।'

यात्री अवाक् हो गया इस प्रथम स्वागत की भव्यता और विनम्रता से ही। उसका आश्चर्य उत्तरोत्तर बढ़ता गया। अनेक बार उसने मार्गदर्शक से कहा- 'मुझे पता नहीं था कि भारत में सचमुच आकाश के देवता रहते हैं। हमारे पुरोहित यह बात हमसे कहते हैं तो हम लोग मुख घुमाकर हँसते हैं। कितने मूर्ख है हम लोग।'

'आप निर्विघ्न पहुँच सके? कोई कष्ट तो नहीं हुआ आपको भारतीय सीमा में?' स्थाण्वीश्वर में स्वागत-सत्कार के पश्चात् स्वयं सम्राट् ने अतिथि के आवास पर पदार्पण किया।

'भगवान् तथागत!' चीनी अतिथि तो पृथ्वी पर लेट गया प्रणिपात करता हुआ। उसके कण्ठ से शब्द ही नहीं निकलता था।

'मैं भगवान् बुद्ध का एक तुच्छ श्रद्धालु जन हूँ।' सम्राट् ने अतिथि का भाव समझ

लिया– 'परन्तु यह ठीक है कि आप तथागत के पवित्र देश में हैं। यदि आपने विश्राम कर लिया है तो मेरे साथ पधारें।'

'ये आपके तीनों रत्न!' सम्राट् ने रत्नागार में ही ले जाकर अतिथि को खड़ा कर दिया। उसने तीनों रत्न उसके हाथ पर रख दिये। 'आपके रत्न हमारी सीमा में इतने काल तक पड़े रहे, हम आप तक सूचना भी नहीं पहुँचा सके– अतः हम पर अनुग्रह करके आप कोई तीन रत्न और स्वीकार कर लें।'

चीनी अतिथि देख रहा था कि रत्नागार के रत्नों के साथ रखने योग्य भी उसके रत्न नहीं हैं; परन्तु अब वह सावधान हो चुका था। उसे भारत भूमि के वायुमण्डल में पर्याप्त रहना पड़ा था। उसने कहा– 'ये रत्न आप तथागत के सिंहासन में जड़ित करने को अर्पित कर दें। मुझे तो केवल अनुमति चाहिये आपकी इस दिव्यधारा में अपने आराध्य के पदों से अङ्कित पावन तीर्थों के दर्शन की।'

'उस पर तो कभी प्रतिबन्ध नहीं था भद्र!' सम्राट् यात्री को लेकर लौटे– 'किसी तीर्थयात्री की यात्रा व्यवस्था का पुण्य हमें प्राप्त हो, यह हमारा सौभाग्य है।'

❑ ❑

अमृत का पुत्र

मृत्यु-हम-आपने मृत्यु नहीं देखी। हम लोगों ने मृतकों के इक्के-दुक्के शव देखे हो सकते हैं, उनको श्मशान पहुँचाने में सम्मिलित रहे हों, यह भी सम्भव है; किन्तु मृत्यु को ताण्डव करते देखा था उसने और उस महाताण्डव ने उसे लगभग पागल बना दिया था।

वह एक युवक ही था तब। युवक तो वह अब भी है; किन्तु उस पर- उसके तन से अधिक मन पर जो बीती है, उसके कारण उसके केश श्वेत हो गये हैं। अब वह एक प्रौढ़ व्यक्ति दिखलायी पड़ता है। यूरोप के द्वितीय महासमर के प्रारम्भ से पूर्व वह विश्वविद्यालय में विज्ञान का छात्र था। युद्ध प्रारम्भ हुआ और देश के कर्णधारों ने अनिवार्य सैनिक भर्ती का आदेश दिया। पुस्तकों से विदा लेकर उसे कन्धे पर राइफल उठानी पड़ी। शीघ्र ही एक जहाज उसके-जैसे ही अल्हड़ युवकों को लेकर इंग्लैंड के बन्दरगाह से चला और उन सबको यूरोप की मुख्य भूमि पर उतारा गया।

उत्तेजना प्राप्त करने का एक सहारा था- राष्ट्रीयगान। दिन-रात दौड़-धप, राइफल-मशीनगन की तड़तड़ाहट, बारुद की दुर्गन्ध और ऊपर आकाश में उड़ने वाले वायुयानों की घरघराहट। इन्हीं सबमें जैसे-तैसे कुछ पेट में भी डालते रहना और रात्रि में कभी खाई में, कभी कैम्प में कुछ समय नेत्र बन्द कर लेना। सैनिक के इस युद्धकालीन जीवन को भी यदि जीवन मानना हो- किन्तु वे सब इसके अभ्यस्त हो चले थे। उछलते-कूदते, हथियार साफ करते, बन्दूकें भरते या मार्च करते भी खुलकर हँसते, परस्पर हँसी-ठट्ठा करते। समय मिलने पर पत्र लिखते उनको जिन्हें उनके समाचार की स्वदेश में प्रतीक्षा थी।

एक से दूसरे और दूसरे से तीसरे शिविर में वह बदलता रहा। मोर्चे पर जाने को ही आया था, पहुँच गया। शत्रु कहाँ है, किधर है, कुछ पता नहीं। ऊँची-नीची झाड़ियों से भरी वनभूमि थी। गोले फटते थे, गोलियों की बौछार आती थीं और इधर से भी तोपें, मशीनगनें तथा राइफलें लगातार आग उगल रही थीं।

उसके एक साथी का बायाँ हाथ बम का एक विस्फोट उड़ा ले गया। दूसरे समीप के सैनिकों की कनपटी में गोली लगी ओर वह ढ़ेर हो गया। युद्धकाल में यह सब देखने का अवकाश नहीं होता। वे झाड़ियों की ओट लिए बढ़े जा रहे थे। कभी पेट के बल सरकते थे, कभी उठकर दौड़ पड़ते और कुछ दूर जाकर लेट जाते थे।

एक बार शत्रु को भागना पड़ा। कोई दीखा नहीं भागता; किन्तु जब सामने से गोले-गोली न आते हों, आगे बराबर बढ़ने को अवकाश मिले। शत्रु भाग ही रहा हो सकता है शत्रु?- जिन्हें कभी देखा नहीं, जिनसे कभी का कोई परिचय नहीं, जिन्होंने अपना कुछ बिगाड़ा नहीं, वे अब घोर घृणा के पात्र शत्रु हो गये! कैसे हो गये? यह सोचना भी उसके लिए राष्ट्रद्रोह था।

सहसा शत्रु ने 'कुमक' झोंक दी। अपनी ओर के नायकों में कुछ मन्त्रणा हुई। एक-दो ट्रक भरकर कुछ दूसरी प्रकार के सैनिक लाये गये। वे लोग दिनभर पता नहीं, पूरे मैदान में क्या करते रहे। भूमि में पतली नालियाँ उन्होंने खोदीं, कुछ तार बिछाये और भी कुछ करते रहे; किन्तु उसे सब जानने-देखने की न आज्ञा थी, न सुविधा और न जिज्ञासा ही। उसे तो गरम राइफल भी एक ओर रखने की आज्ञा नहीं थी। गोलियों का निरन्तर कानों के पर्दे फाड़ता शब्द तथा बारुद का धुआँ!

रात्रि का अन्धकार आया। खाइयों में घुटने-घुटने दल-दल में खड़े रहता था। मच्छरों ने दुर्गति कर रक्खी थी। एक बार निकलकर शत्रु पर टूट पड़ने का आदेश मिलता- वह प्रसन्न ही होता। जीवन की अपेक्षा मृत्यु अधिक वाञ्छनीय लगने लगी थी उसे।

शत्रु सम्भवतः उसके लोगों का पता पा गया था। विपक्ष से आते गोले-गोलियों की बौछार बढ़ती गयी। शत्रु सैनिकों के शब्द आने लगे। सम्भवतः अगली खाई पर आक्रमण हो गया था। कुछ मिनट गये और शत्रु की एक टुकड़ी उसकी खाई के समीप आ गयी। अन्धाधुन्ध गोली चलाये जा रहा था वह।

'पानी! हेनरी, दो घूँट पानी!' एक क्षीण स्वर ने समीप से उसे पुकारा। उसने झुककर पानी की बोतल खोली और नीचे देखा। गोली लगने से उसका साथी खाई की कीचड़ में गिर पड़ा था और तड़प रहा था।

सहसा लगा कि पूरी पृथ्वी फट गयी। चीत्कार से दिशाएँ गूँज उठीं। खाई के बाहर से लोथड़ों की वर्षा उसके सिर पर हुई। पूरी वर्दी गरम चिपचिपे पदार्थ से गीली हो गयी। जिसे वह पानी पिलाने झुका था, वह प्यास की सीमा के पार जा चुका था। खाई के दूसरे सैनिकों का उसे स्मरण नहीं। वह राइफल उठाये बाहर निकला और एक ओर दौड़ा।

अन्धकार में लाशों की ठोकरें, रक्त का कीचड़, कटे-फटे शवों पर जब पैर पड़ता था.... लेकिन रात्रि से दारुण निकला दिन का प्रकाश। उस प्रकाश में उसने जो कुछ देखा- मांस का ढ़ेर पड़ा था चारों ओर। जहाँ तक दृष्टि जाती थी, पृथ्वी पर रक्त जमा था और उसमें आँतें, लोथें बिछी थीं। राइफलें, मशीनगन ने जहाँ-तहाँ पड़ी थीं। कर्णभेदी क्रन्दन अब भी जहाँ-तहा से उठ रहा था।

वह पागल हो गया। जब तक उसके पास कारतूस रहे, वह उन क्रन्दन करते छटपटाते-तड़पते लोगों को मृत्यु की निर्मम पीड़ा से शान्ति की निद्रा में सुलाता चला गया। पूरा मैदान पटा पड़ा था। अपने-पराये का भेद कैसा, सबके शरीरों के चिथड़े थे वहाँ। लेकिन उसके कारतूस समाप्त हो गये। वह राइफल से ही कई की कपाल-क्रिया कर लेता; किन्तु ठोकर खाकर गिरा ओर मूर्च्छित हो गया।

× × ×

हैनरी पागल हो गया था। उसे युद्धभूमि से पीछे अस्पताल भेजा गया था और वहाँ से इंग्लैण्ड; किन्तु वहाँ भी उसे बन्दीगृह में रहना पड़ा। युद्धकाल में उस जैसे अर्धविक्षिप्त (चिकित्सा उसे पूरा स्वस्थ नहीं कर सकी थी) को देश में अटपटीं बातें फैलाने के लिए स्वतन्त्र नहीं छोड़ा जा सकता था। लेकिन महायुद्ध समाप्त होने के पश्चात् उसे घर लौट जाने की स्वतन्त्रता मिल गयी।

'मैं मरना नहीं चाहता। वे सबको मार देंगे ! मुझे बचाओ ! मुझे मृत्यु से बचने का मार्ग बताओ !' हैनरी का यही पागलपन है। उसे लगता है कि राष्ट्र के कर्णधार फिर युद्ध करेंगे और जो बीभत्स दृश्य उसने देखा है, वह नगरों में ही उपस्थित होगा। मृत्यु से वह अत्यन्त आतङ्कित हो गया है। अब अमरत्व उसे कौन दे दे !

'मुझे मृत्यु से बचने का मार्ग बताओ !' अनेक गिर्जाघरों में वह जा चुका है। लार्ड विशप तक से रोकर पूछ चुका है। कोई उसकी बात नहीं सुनता। पागल की बात कौन सुने। सुनकर भी कोई क्या कर सकता है। मृत्यु से बचने का उपाय किसके पास धरा है।

'मृत्यु से बचने का उपाय है !' उस दिन उस भारतीय गैरिकधारी ने चौका दिया सबको। वह साधु एक सभा में कुछ कहने खड़ा हुआ था। उसने जैसे ही सम्बोधन किया- 'अमृतो पुत्रो !' पागल हैनरी दौड़ता मंच पर जा चढ़ा और उसने साधु के हाथ पकड़ लिए। कातरवाणी थी। उसकी- 'मुझे मृत्यु से बचने का उपाय बताओ? तुम्हारे पास उपाय है?'

'तुम्हें भारत चलना पड़ेगा।' साधु ने सम्भवतः उस पागल से पिण्ड छुड़ाने के लिए युक्ति निकाली।

'मैं कहीं भी चलूँगा! जो कहो, करूँगा।' हैनरी दृढ़ था और साधु के आदेश पर वह मंच से नीचे आकर चुपचाप बैठ गया प्रवचन सुनने।

'अमृतपुत्रों!' साधु ने प्रवचन प्रारम्भ किया– 'मृत्यु का भय सबको ही है, किन्तु प्रमादवश उसे हम भूल जाते हैं। हमें इन महाभाग के समान उससे छूटने की उत्कण्ठा नहीं है। वह उत्कण्ठा हो तो अमरत्व हमारा स्वत्व है। वह हमारा स्वरूप है।'

हैनरी को इस सबसे कोई प्रयोजन नहीं था। उसे लोग पागल कहते हैं तो वह झगड़ता नहीं है। यह भारतीय साधु उसकी पता नहीं क्यों प्रशंसा करता है। इसमें भी उसे कोई प्रसन्नता नहीं। वह मृत्यु से छूटना चाहता है। मृत्यु, जिसका ताण्डव वह देख चुका है।

'तुम हो कौन?' हैनरी साधु के साथ लग गया था। अब वह इस साधु का पीछा छोड़ने को भला कैसे तैयार हो। निवासस्थान आकर साधु ने हैनरी से पूछा।

'मैं हेनरी विल्सन' सीधा उत्तर था।

'लेकिन हैनरी विल्सन कौन?' साधु समझाने के स्तर पर आ गये– 'तुम्हारी अँगुली मैं काट दूँ तो कटी अँगुली हैनरी विल्सन रहेगी क्या?

'वह केवल हैनरी विल्सन की अँगुली होगी!'

हैनरी विज्ञान का छात्र रह चुका थ। उसे बहुत शीघ्र यह बात समझ में आ गयी कि शरीर हैनरी विल्सन नहीं है। वह तो हैनरी विल्सन का शरीर मात्र है।

'यह शरीर हैनरी विल्सन का नहीं है!' साधु ने अब एक नयी बात उठायी। प्रतिभाशाली हैनरी चौका; किन्तु थोड़ी देर में उसने यह तथ्य भी समझ लिया। रोटी, चावल, मक्खन आदि से बना शरीर जो बचपन में कुछ था, अब कुछ है, उसका कैसे हो सकता है। कटे बाल, कटे नख आदि के समान ही तो शरीर है।

'प्लेट में रक्खा मक्खन मक्खन है और पेट में जाने पर वह हैनरी विल्सन?' साधु ने पूछा– फिर तुम जो गंदगी शौचालय में पेट से निकाल आते हो, वह भी हैनरी विल्सन है या नहीं?

'वाह! बड़ा मूर्ख निकला मैं!' खुलकर हँसा हैनरी। वह अर्धविक्षिप्त उठकर कूदने लगा।

'जो हेनरी नहीं है, जो हैनरी का नहीं, उसके मरने-जीने की चिन्ता हैनरी को क्यों? साधु फिर मूल प्रश्न पर आ गये 'वह तो मरेगा ही। उसे मृत्यु से बचाया नहीं जा

सकता। बचाने का कोई उपाय भी हो तो मुझे ज्ञात नहीं।'

'मरने दो उसे!' हैनरी उसी प्रसन्नता में कह गया। लेकिन उसकी प्रसन्नता क्षणिक नहीं थी। सचमुच मृत्यु के भय से वह अपने को मुक्त पाने लगा था।

'हैनरी विल्सन को मैंने मृत्यु से बचाने का वचन दिया है।' साधु का स्वर स्थिर था– 'मैं अपने वचन पर दृढ़ हूँ।'

'आप हैनरी को ही मृत्यु से बचने का मार्ग बताओ!' स्वस्थ स्वर था हैनरी का।

'हैनरी कभी मरता नहीं! उसे कोई मार नहीं सकता। वह तो अमृत का पुत्र है!' साधु ने कहा।

'अमृत का पुत्र!' हेनरी की समझ में बात नहीं आयी। इतनी सीधी सरल बात तो नहीं है कि झटपट समझ ली जाय।

'हैनरी कौन?' कुछ क्षण रूककर स्वयं हैनरी ने पूछा। वह अब गम्भीर हो गया था। चिन्तन करने लगा था और आप जानते हैं कि इस प्रकार का चिन्तन उसे अपने पागलपन से मुक्त कर देने के लिए पर्याप्त था।

'नहीं, आज मुझे सोचने दीजिए! मैं फिर आऊँगा आपके समीप!' साधु को हैनरी ने रोक दिया बोलने से। वह उठ खड़ा हुआ। विदा होते-होते उसने कहा– 'आप ठीक कहते थे कि मुझे भारत जाना पड़ेगा। अमरत्व का सन्देश जिस भूमि से उठा, वहीं उसे प्राप्त किया जा सकता है।'

× × ×

हैनरी भारत आया, इतना ही मुझे पता है। वह उन साधु से भी कदाचित् मिला नहीं। सुनते हैं कि वह उत्तराखण्ड की ओर एक बार साधारण भारतीय साधु के वेश में देखा गया था।

❑❑

विद्या-धर्म

सा विद्या या विमुक्तये।

आज तो वह एक अच्छा नगर है- पर्वतीय नगर होकर भी बहुत कुछ समतल; क्योंकि पर्वत के शिखर पर न होकर वह घाटी में बसा है। आज उसे सोलन कहते हैं। कालका-शिमला मुख्यमार्ग पर होने के कारण अच्छा बाजार, बसों के आवागमन का कोलाहल और हिमाचल प्रदेश का मुख्य नगर है यह। किंतु मैं आज की बात नहीं कह रहा हूँ। बात तबकी है, जब यह बहुत साधारण स्थान था। शिमला का तब पता नहीं था और न रेल और आज की सड़कें थीं। तब यह एक छोटे से पर्वतीय राज्य की राजधानी था। पर्वतीय प्रदेश का यह राज्य कुछ अधिक प्रख्यात था तो अपने शौर्य अथवा वैभव के लिये नहीं; इनमें तो बहुत उत्कृष्ट थे इसके अनेक पड़ौसी। प्रख्यात था यह अपने आतिथ्य के लिये और इस आतिथ्य ने अनेक तपस्वियों को इसके वनों, गिरि शिखरों में ला बसाया था। उनकी सुविधा का ध्यान रखना राज्य का कर्त्तव्य था।

नगर से लगभग कोस भर ही दूर है वह घाटी। दोनों ओर ऊँचा सिर उठाये चीड़ तथा अन्य वृक्षों के हरित परिधान से सुसज्जित शिखर और उनसे स्रावित होती जलधारा, जो घाटी को आर्द्र, हरित रखती है। लगता है, घाटी तीन ओर से शिखरों से बंद है; किन्तु वह उनके मध्य अपना टेढ़ा मार्ग बनाती चली ही जाती है।

उस दिन राज्य के युवक नरेश घाटी में घूमने आ गये थे। इधर महीनों से वे खिन्न रहते हैं। उनका गौर मुख पीताभ हो गया है। बड़े-बड़े नेत्रों की पलकों पर श्यामलता झलकने लगी है। सुगठित काया कृश बनती जा रही है। भोजन, आखेट, मनोरञ्जन, कथा-कीर्त्तन, राज्य-निरीक्षण-जैसे किसी में नरेश को कोई रस नहीं रह गया। वे कर्त्तव्य-पालन में प्रमाद नहीं करते, किन्तु कर्त्तव्य-पालन ही तो होता है। अन्तर का उल्लास जब सुप्त हो जाय, मनुष्य में कर्त्तव्य-पालन क्या जीवनी-शक्ति जगा पाता?

'श्रीमान्! आप ऐसे खिन्न क्यों हैं?' मन्त्री का प्रयत्न असफल रहा है। जब राजमाता और रानी ही कुछ नहीं जान सकीं, मन्त्री को क्या मिलना था प्रश्न करके।

'कोई विशेष बात नहीं है।' नरेश सबको टाल देते हैं। उनकी मनोव्यथा का पता नहीं लगता। आज मन्त्री उन्हें लेकर इस घाटी में आये हैं। कदाचित् यहाँ का सहज शान्त वातावरण थोड़ी देर के लिए नरेश को सुखी करे।

'महाराज ! हम वहाँ बैठेंगे।' अचानक शिला पर शान्त बैठे राजा के समीप आकर मन्त्री ने आग्रह किया।

'क्यों?' नरेश के सूने नेत्रों में कोई उत्सुकता नहीं आयी। वे जहाँ बैठे हैं, प्रशस्त शिला है वह। समीप की आर्द्र भूमि में नन्हें पुष्प खिले हैं कोमल तृणों पर और उसके आगे कलकल करती जलधारा दौड़ी जा रही है। इस स्थान को छोड़कर एक विषम स्थल पर, चीड़ के एक वृक्ष के नीचे क्यों बैठने का आग्रह मन्त्री का है- यह वे समझ नहीं सके थे।

'आप वह दक्षिणावर्त लता देखते हैं?' मन्त्री ने उस वृक्ष की ओर संकेत किया- 'वह विशिष्ट भूमि है। वहाँ कुछ काल बैठें तो उस स्थल का प्रभाव ज्ञात होगा।' चीड़ के एक वृक्ष पर खूब मोटी, सघन पत्रों से भरी एक लता चढ़ी थीं। लता उस वृक्ष के काष्ठ से एक हो गयी थी। पहिले दूर तक सीधी चढ़ गयी थीं वृक्ष पर और तब दाहिने से बायें मोड़ लिये थे उसने दो-तीन।

राजा में कोई उत्सुकता नहीं जागी। किन्तु मन्त्री ने इतने से हार नहीं मानी। वे अपने नरेश में उत्सुकता जगाना चाहते थे। उत्सुकता जागे तो यह उनके मन की उदासी दूर हो। वे समझाने लगे- 'पृथ्वी की गति के साथ ही सृष्टि की घूमने वाली वस्तुओं का घूमना होता है। जैसे शङ्ख सब वामावर्त होते हैं, लताएँ भी वाम से दाहिने वृक्षों को आलिङ्गत करती हैं। दक्षिणावर्त शङ्ख जैसे दुर्लभ है, वृक्ष को दाहिने से वाम जाकर आलिङ्गन देती लता भी कम मिलती है। पृथ्वी की गति के विपरीत यह आवर्त वहाँ वस्तु अथवा स्थल की विशेष शक्ति का सूचक है।'

सचमुच नरेश में उत्सुकता जागी। वे शिलातल से उठे। इससे पूर्व कि वे निर्दिष्ट स्थल पर बैठ जायँ, उन्होंने घाटी में कुछ दूर तक जाकर वृक्षों, क्षुपों तथा तृणों तक पर लिपटी बड़ी-छोटी लताओं को देखा। उन्हें आश्चर्य हुआ कि सर्वत्र, सब लताएँ एक ही ढङ्ग से लिपटने को घूमती हैं।

× × ×

'अब हम कुछ देर मौन रहेंगे।' मन्त्री ने अपना उत्तरीय बिछा दिया था। वहाँ वृक्ष के नीचे तृण थे। स्थल स्वच्छ नहीं था। नरेश ने भी उत्तरीय उठा लेने का आग्रह नहीं

किया। वे जानते थे कि यह आग्रह अनावश्यक बात ही बढ़ायेगा। वे इस समय बोलने के पक्ष में नहीं थे। बोलने का उत्साह उनमें नहीं था। फिर भी वृक्ष के नीचे बैठकर वे पूछना चाहते थे कि अब क्या करना है। लेकिन मन्त्री ने उन्हें पूछने का अवसर नहीं दिया।

जो साधुओं का, साधकों का सत्सङ्ग करता है, उनके सत्कार की जिनमें श्रद्धा है, उसे सदाचार, शिष्टाचार तथा साधन-सम्बन्धी अनेक छोटी-बड़ी बातें अपने आप ज्ञात हो जाती है ऐसी अनेक बातें, ऐसे अनेक छोटे विवरण जो पुस्तकों में नहीं मिलते और जिनकी ओर लोगों का ध्यान नहीं जाता। नरेश साधु-सत्कार-प्रिय थे। उन्हें बतलाने की आवश्यकता नहीं थी कि आसन कैसे सुस्थिर होता है। वे सिद्धासन से बैठे थे। उत्फुल्ल कमल के समान करतल गोद में पड़े थे। मेरुदण्ड सहज सीधा और बैठने के लिए दो क्षण पश्चात् वक्रानाड़ी जब सरला बनी, शरीर खिंचकर सर्वथा सीधा हो गया था। चिंबुक किंचित् झुक आया कण्ठकूप के समीप और नेत्र शाम्भवी मुद्रा में सुस्थिर बन गये।

मन्त्री ने कुछ नहीं किया था। वे अपने कर्त्तव्य के प्रति सावधान थे। वे घाटी में हैं- निर्जन घाटी में। सायंकाल हो चुका है। और गाये गृहों को लौट चुकी हैं। उनके नेत्रों की अपेक्षा कर्ण अधिक सावधान हैं और वे जानबूझकर ऐसे स्थल पर बैठे हैं, जहाँ से वायु सम्मुख से न आये। नरेश की ओर उनके नेत्र हैं; किन्तु यदि कोई वनपशु धृष्टता करने दबे पैर आना चाहे, पीछे से आता वायु उसकी गन्ध पहले पहुँचा देगा। निपुण शिकारी की नासिका वन में सबसे सक्रिय इन्द्रिय होती है। आधे क्षण में मन्त्री का खड्ग अपने कोश से बाहर आ जायगा।

'तुम ठीक कहते हो, स्थल बहुत शान्त है और मन को सहज अर्न्तमुख करता है।' पर्याप्त समय लगा था नरेश को। जब चन्द्रमा पर्वत से ऊपर उठ चुका था, घाटी उसकी ज्योत्स्ना में स्नान कर रही थी, उन्होंने नेत्र बहुत धीरे-धीरे खोले। उनका स्वर बहुत मन्द, किन्तु अद्भुत गम्भीर था। उन्होंने धीरे से गोद में पड़े हाथों को गति दी। लगता था, शरीर को सक्रिय करने में उन्हें प्रयास करना पड़ रहा है।

'मैं चरण दबा दूँगा!' नरेश ने पैरों को जिस प्रकार हाथों की सहायता से हटाया था, उससे स्पष्ट था कि उनमें रक्त की गति रुकने से सूनापन आया है। झनझनाहट होती होगी उनमें। अतः मन्त्री आगे आ गये। वैसे उन्हें पता था कि इस समय इस सेवा की अपेक्षा सजग प्रहरी बने रहना अधिक आवश्यक है।

'नहीं' नरेश ने रोका- 'ये अभी ठीक हो जायँगे। महत्त्व की बात यह है कि मुझे लगता है, मुझे किसी अच्छे विद्वान् की आवश्यकता है।'

'भारतवर्ष सदा भगवती सरस्वती के वरद पुत्रों की क्रीड़ास्थली रहा है।' मन्त्री ने सोल्लास कहा- 'अभी वसन्त ऋतु का आरम्भ हुआ है। आमन्त्रण पाकर ग्रीष्म में हिमशैल की शीतल-शान्त वनस्थली का आतिथ्य विद्वद्वर्ग को प्रिय होगा।'

सिद्ध पुरुष की शोध राजा करते तो स्वाभाविक होता। साधु नहीं, साधक नहीं, तपस्वी नहीं, मन्त्रज्ञ नहीं और ज्योतिषी भी नहीं; विद्वान् चाहिये उन्हें। यह किसी के लिए भी कम आश्चर्य की बात नहीं थी। मन्त्री ने चलते-चलते मार्ग में पूछा- 'किस शास्त्र के विद्वान् का आतिथ्य राजसदन करेगा, केवल यह आज्ञा अपेक्षित है।'

'विद्या धन है, इसे आप जानते हैं।' नरेश सहसा खड़े होकर मुड़ पड़े- 'मुझे धनी नहीं चाहिये। धन में मेरी रूचि नहीं है- भले वह विद्या-धन है। विद्या धर्म भी है न?'

'है श्रीमान!' मन्त्री ने स्वीकार किया!

'वह विद्या-धर्म हो जिसके पास, वह विद्वान्!' राजा फिर मुड़कर चलने लगे। मन्त्री को लग गया कि और पूछना अनावश्यक है। अब तो उसकी प्रतिभा और कुशलता कसौटी पर चढ़नेवाली है।

× × ×

'कश्मीर, काशी, मिथिला, नवद्वीप तक ही मन्त्री ने दूत नहीं भेजे। उसने तीव्रगामी आरब्य अश्वों की व्यवस्था की और निपुण चरों का शोधन किया पञ्चाल के सुदृढ़-काय-साहसी शूरों में से। सोलन-नरेश के संदेश सुदूर दक्षिण एवं महाराष्ट्र के विद्या-केन्द्रों की ओर भी चल चुके थे।

वेद, स्मृति, दर्शन, इतिहास, पुराण, नीति आदि के विद्वान् बहुत थे एक-एक विद्याकेन्द्र में। अनेक-अनेक शास्त्रों के उद्भट विद्वान् भी कम नहीं थे। सरलता, सादगी, सौम्यता तथा प्रतिभा की सचल मूर्ति के समान थे वे शारदा के सुपुत्र संस्कृत के विद्वान्; किन्तु चर निराश लौट रहे थे। उन्हें दिग्विजयी विद्वानों ने भी मस्तक झुकाकर एक ही उत्तर दिया था- 'विद्या-धन है हमारे समीप। शास्त्रार्थ करने में हम पीछे नहीं हटेंगे। शास्त्रों का हमने अध्ययन किया है। किसी को उनका सम्यक् अध्ययन करा सकते है; किन्तु विद्या-धर्म? वह हम नहीं जानते।'

'यत्किंचित् धर्माचरण यथाशक्ति करने का हम प्रयास करते हैं।' यह उत्तर भी अनेक विद्वानों ने दिया- 'किन्तु विद्या धर्म के रूप में जिनके पास हो, उनके चरण दर्शन का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ।'

तपस्वी, तितिक्षु, अपने वर्णाश्रम-धर्म का कठोरता से पालन करने वाले

हिमालय के अङ्क में ही दुर्लभ नहीं थे। उस समय आज के समान मनुष्य अर्थलोलुप, इन्द्रियाराम नहीं हुआ था। सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह, सेवा आदि धर्मों का आचरण करना सहज स्वाभाविक था व्यक्ति के लिये। इनकी उपेक्षा समाज-गर्हित थी। इनका आचरण कोई गौरव की बात नहीं बनी थी तब तक। ऐसे समाज में भी स्थान-स्थान पर लोकोत्तर धर्मात्मा थे। देवता भी जिनके चरणदर्शन करके पवित्र हों, ऐसा धर्मात्मा दुर्लभ नहीं थे भारत में; किन्तु विद्या-धर्म का धनी दूतों को कहीं मिल नहीं रहा था।

कुछ आये थे। उनमें से एक की ही चर्चा पर्याप्त है; क्योंकि प्रायः सभी इसी प्रकार के किसी-न-किसी कारण से ससम्मान विदा कर दिये गये। वे आये थे और अपनी समझ से ठीक आये थे। गौरवर्ण, स्थूलता की ओर चलती काया, चौड़ा ललाट, खल्वाटप्राय मस्तक, छोटे नेत्र, विरल भ्रूजाल-नरेश ने उनका बड़े उत्साह से सत्कार किया था। देखकर उनके प्रति मनुष्य की श्रद्धा का होना स्वाभाविक था। नियमनिष्ठ उष्णस्थानीय ब्राह्मण प्रायः सूचिकाविद्ध वस्त्र धारण नहीं करते; किन्तु उन्होंने इस पर्वतीय प्रदेश में भी सिले वस्त्र पहिनना स्वीकार नहीं किया था। वैसे मूल्यवान् उत्तरीय का आच्छादन उनको शीत से सुरक्षित रखने के लिए पर्याप्त था।

'मैं जानता हूँ। मैं कर सकता हूँ।' चर को स्मरण नहीं कि उन्होंने किसी ज्ञान को अथवा किसी उचित कार्य की क्रिया पद्धति को अपने लिये अज्ञात स्वीकार किया हो उन्हें पाकर चर कितना प्रसन्न हुआ था।

'मुझे विद्वान् चाहिये। प्रमाण-पण्डित की मुझे आवश्यकता नहीं है।' नरेश उस दिन खीझ उठे थे मन्त्री पर। 'उसने पढ़ा बहुत है, यह सत्य है; किन्तु उसने आचरण करना तो जाना ही नहीं है। प्रत्येक बात में प्रमाण-प्रमाण और प्रमाण! मनुष्य बुद्धि क्या विक्रय कर चुका है कि केवल प्रमाण पर निर्भर करें।'

'उन्होंने स्वीकार किया था कि ....' मन्त्री ने प्रार्थना के स्वर में कहा।

'कि विद्या-धर्म है उनका।' राजा क्षुब्ध थे- 'और तुमने इसे स्वीकार कर लिया। सत्य से सौ योजन दूर रहने का जिसका स्वभाव हो, असत्य जिसे असत्य जान ही न पड़े और प्रत्येक त्रुटि की सुरक्षा के लिए जिसे बौद्धिक ब्रह्मज्ञान सूझे, तुम उसे पहचाने में भी अक्षम रहे।'

मन्त्री ने मस्तक झुकाया। वे कहते क्या? उनसे त्रुटि हुई नहीं थी। कोई तिरस्कार व्यक्त किये बिना सादर विदा किया गया उनको; किन्तु मन्त्री सावधान हो गये। इस कोटि के जो विद्वान् आये, उनको नरेश का साक्षात्कार प्राप्त करने का अवसर उन्होंने नहीं दिया।

× × ×

नरेश को लगता था कि उनके भीतर की ऊष्मा ही प्रकृति में व्याप्त हो गयी हैं। वैसे अब इस हिमालय के अङ्क के अधिवासी भी उष्णता से व्याकुलता का अनुभव करने लगे थे। वर्षा में विलम्ब हो रहा था। ग्रीष्म ऋतु व्यतीत हो जाने पर ही उष्णता अपने यौवन पर थी। अनेक जलस्रोत शुष्क हो चुके थे। नगर के निवासियों को जल के लिये दूर-दूर के स्रोतों का आश्रय था।

'कोई विद्वान् नहीं मिला!' निराश नरेश प्रातः कृत्य से निवृत्त होकर एकाकी ही चल पड़े। सहज भाव से उनके पैर चलते गये। वे उस हरित घाटी में कब पहुँच गये, उन्हें पता ही नहीं चला। चौंककर मस्तक उन्होंने तब उठाया, जब छोटी जलधारा पार करने का अवसर आया।

'आप एकाकी? आइये!' एक कोई तरुण आज उस स्थान पर, उस वृक्ष के नीचे बैठे थे, जहाँ बैठने के विचार से नरेश आज इधर आये थे। उन्होंने नरेश को कल नगर में देखा था। इसलिये पहचाने में कठिनाई नहीं हुई।

'आप?' हाथ जोड़कर नरेश ने अभिवादन का उत्तर दिया। शिष्टाचार के कारण ही प्रश्न मुख से निकल गया था। बढ़े केश एवं श्मश्रु, मोटे वस्त्र की मैली धोती, पास रक्खा मैला कुर्त्ता, मोटा जनेऊ ही बताता था कि वे कोई यात्री हैं और यहाँ स्नान करके अपना पूजा-पाठ करने बैठे हैं।

'तीर्थयात्री हूँ। कल आया आपके नगर में। आज और विश्राम करके मणिकर्ण क्षेत्र की ओर चल देना है।' उन्होंने भी कोई बहुत औपचारिक ढ़ंग नहीं अपनाया। सीधे ही बोले- 'विराजिये! खिन्न-से क्यों दीखते हैं आप?'

'कोई विद्वान् नहीं मिला मुझे।' बैठते हुए नरेश ने बताया। आज एकाकी इस ग्रामीण-जैसे दीखते व्यक्ति के पास बैठने में उन्हें संङ्कोच नहीं हुआ।

'मैं कठिनाई से अक्षरों को पढ़ पाता हूँ।' वे अपनी बात कहने लगे- 'गीता का पाठ करना सीखा है किसी प्रकार। उसे भगवान् ने कहा है, यही मेरे लिये बहुत है। भगवान् की बात मनुष्य की समझ में न आये, इसमें कोई दोष तो है नहीं। उनकी बात दुहरा लेता हूँ, यही क्या कम सौभाग्य है।'

'सचमुच आप सौभाग्यशाली है।' राजा के हृदय से ये शब्द निकले। 'शान्ति और सन्तोष जिसे इतनी सरलता से प्राप्त हो जायँ, उसका भाग्य महान् है।'

'मनुष्य शरीर तो नाशवान है। लोगों को मरते देखकर मैंने यह समझ लिया है।' वे भोलेपन से कह रहे थे। 'जितना पढ़ो, जितना समझो, उतनी बुद्धि उलझती जायगी। भगवान् ने जैसा बनाया है, उसमें सन्तुष्ट रहो। हो सके तो दो मुट्ठी अन्न दो दूसरों को। दुखियों की सेवा करो। भगवान् का नाम लो और उस पर भरोसा करो। उसके सहारे के

बिना कोई माया से कभी पार हुआ है?'

'उसके सहारे के बिना कोई माया से कभी पार हुआ है?' राजा के मर्म में गूँज उठा यह प्रश्न। जैसे प्रकाश ने हृदय की चिन्ता, क्लेश, अन्धकार को एक साथ बुहार फेंका।

'जीवन नश्वर है। देह का मोह ही माया है। इस माया से पार होने का मार्ग?' जिस दिन जिज्ञासा जागी थी नरेश के मन में, वे रोग के कारण शय्या ग्रहण कर चुके थे। शरीर उठने में समर्थ हुआ तो आस-पास ही नहीं, दूर-दूर के सन्तों, साधकों, तपस्वियों का दर्शन करने गये वे। वे नरेश थे, यह उन्हें अपना दुर्भाग्य लगा। दुर्गम शिखरों पर निवास करने वाले वीतराग तापसों ने भी उनका स्वागत किया था और यह स्वागत उनके मन में अश्रद्धा जगाता था।

'कोई मेरी व्यथा समझ पाता!' जिज्ञासा सच्ची थी, अतः भोग उत्पीड़क बन गये थे। वैभव काटने दौड़ता था। किससे कहें अपनी पीड़ा? कौन समझेगा उसे? सबसे बड़ी कठिनाई यह कि तपस्या, योग, वेदान्त का मनन-इन सबमें मन का आकर्षण नहीं था। जो सन्त जो कुछ करते हैं, वही तो बतलायेंगे।

'**सा विद्या या विमुक्तये।**' उस दिन घाटी में इसी स्थान पर जब नरेश बैठे, भीतर से जैसे किसी ने यह वाक्य कहा था और वे विद्वान् की खोज में लग गये थे। आज सम्मुख बैठे, मलिन वस्त्र, अपठित-प्राय, ग्रामीण के सम्मुख भरे नेत्र नरेश ने भूमि पर मस्तक रख दिया। 'आज विद्वान् मिले मुझे और विद्या-धर्म का उपदेश भी।'

❑❑

जब वैष्णव यमलोक पधारे

उस दिन भगवान् के दिव्य पार्षद नन्द और सुनन्द बड़ी उलझन में पड़ गये थे। उन्हें उनके आराध्य ने भेजा था अपने एक परम प्रियजन को अपने धाम में ले आने के लिये। वे विमान लेकर भारतवर्ष की पवित्र धरा पर आये थे। श्रीहरिके उन परमप्रिय महाभागवत का इस मर्त्यलोक में रहने का समय समाप्त हो चुका था। नश्वर शरीर छोड़कर उन्हें चिन्मय विग्रहसे भगवद्धाम पधारना चाहिये। लेकिन धरा पर आकर जो बात हुई, उसकी कभी कल्पना तक नहीं की थी उन पार्षदों ने। उन महाभाग वैष्णव ने भगवान् के नित्यधाम में जाना ही अस्वीकार कर दिया।

'आप लोगों के प्रभु ने किसी दूसरे को लाने भेजा होगा।' वे पहले तो विश्वास ही नहीं कर सके कि विमान उनको ही लेने आया है और ऐसा करने में पार्षदों ने कोई भूल नहीं की है।

'प्रभु अपार करुणापारावार हैं। वे दम्भ से भी अपना नाम लेने वाले के पापों-अपराधों को नहीं देखते।' बड़ी कठिनाई से जब सुनन्द ने विश्वास दिला दिया कि सर्वज्ञ, सर्वसमर्थ भगवान् ने उन्हीं के पास पार्षदों को भेजा है, तब उनके नेत्रों से अजल अश्रुधारा चलने लगी और हिचकियाँ बँध गयीं। वे कह रहे थे- 'मैं तो अत्यन्त नीच हूँ। मेरे जैसा पापी नरक में भी ढूँढ़ने से नहीं मिलेगा। मैं अपने अपवित्र स्पर्श से अपने स्वामी के धाम को मलिन नहीं करूँगा। रात-दिन मैंने अपराध-ही-अपराध किये हैं; किन्तु यह महान् अपराध मुझसे सहा नहीं जायगा।'

'आपके इस शरीर का प्रारब्ध समाप्त हो चुका है।' नन्द ने एक समाधान निकाला- 'यदि आप अभी और इस लोक में रहना चाहते हैं तो...।'

'ना, ना मैं अब यहाँ एक पल भी नहीं रहना चाहता।' बीच में ही हड़बड़ाकर वे बोल उठे- मेरा, प्रारब्ध पूरा हो गया तो फिर तो क्या करना है मुझे यहाँ रहकर।' नन्द का समाधान निराधार था। ऐसे भगवद्भक्त को शरीर का मोह या जीवन की लालसा आकर्षित कर सकेगी, ऐसी आशा ही दुराशा है।

'तब आप पधारें।' दोनों पार्षदों ने एक साथ प्रार्थना की। वे प्रार्थना ही कर सकते

हैं। जो त्रिभुवन के स्वामी को अपना बना चुका, उसके साथ बल प्रयोग करना तो उन लीलामय के लिये भी अशक्य ही रहता है। वह तो अपने अपराध की ही भाँति सर्वतन्त्र स्वतन्त्र होता है। किसमें साहस है, किसमें शक्ति है कि उसकी इच्छा के विपरीत कुछ कर सके।

'आप लोग मुझे क्षमा करें!' दोनों हाथ जोड़कर उन्होंने भगवत्पार्षदों को मस्तक झुकाया। मैं तो पामर प्राणी हूँ। नरक का कीड़ा हूँ। कहाँ हैं यमराज जी के दूत। मैं तो नरक जाऊँगा। आप लोग पधारें।'

'आज धर्मराज को भी पता लगेगा कि उनके निर्णय का मापदण्ड कितना छोटा है। नन्द ने सुनन्द की ओर देखा। वे बड़े असमञ्जस में पड़ गये थे। प्रभु की आज्ञा है इन महाभाग को वैकुण्ठ ले आने की और ये हैं कि चलने के नाम से थर-थर काँपते हैं। प्रारब्ध समाप्त होने का अन्तिम क्षण आ गया; किन्तु उसे बढ़ाने भी नहीं देते। किसका सिर फिरा है कि इनकी इच्छा में बाधा डालने का साहस करे। अन्त में वे दोनों अपने भक्त भयहारी आराध्य का ध्यान करने लगे। उन श्रीहरि के चरणों का चिन्तन ही तो जीव के लिये सदा से अन्धकार में शाश्वत प्रकाश का दाता रहा है।

'आप लोग पधारे।' इस बार यह स्वर वीणा की झंकार के साथ आया था। पार्षदों ने सामने कुछ मुस्कराते हुए देवर्षि को देखा। उन्होंने अञ्जलि बाँधकर देवर्षि को प्रणाम किया। अब उन्हें कुछ नहीं करना था। उनके स्वामी बड़े लीलामय हैं। अपने निजजनों से वे पता नहीं कैसे-कैसे विनोद करते रहते हैं। देवर्षि ने आज्ञा दे दी यहाँ से चले जाने की। बस, वे दोनों वहाँ से झटपट अन्तर्हित हो गये, उनको इससे क्या कि प्रारब्ध समाप्त हुए प्राणी को धरा पर नहीं रहना चाहिए। इसकी चिन्ता करें संयमनीपति धर्मराज या लोकप्रजापति ब्रह्माजी। देवर्षि क्या करेंगे, यह भी सोचना किसी काम का नहीं था। उनका काम तो हो गया था। श्रीबैकुण्ठनाथ से वे कह सकेंगे- 'देवर्षि ने हमें लौट जाने की आज्ञा दे दी।'

× × ×

[2]

'आपको कोई कष्ट तो नहीं हुआ मार्ग में? मेरे दूतों ने कोई अशिष्टता तो नहीं की?' धर्मराज ने आज संयमनी के सिंहासन पर बैठकर एक परमभागवत का पूजन किया था। यमपुरी के द्वार तक आकर वे इस संत को ले गये थे। कभी-कभी महर्लोक, तपोलोक, जनलोक या सत्यलोक के ऋषिगण तो धर्मराज के यहाँ पधारते हैं, देवता

भी आते-जाते ही रहते हैं; किन्तु आज तो जीवों के दण्डदाता को कर्मभूमि से कृपा करके यमपुरी पधारे एक भगवद्भक्त के सत्कार का सौभाग्य मिला था। 'आप मुझे अतिथि पूजन रूप धर्म से वञ्चित न करें।' इस प्रकार आग्रह करने पर किसी प्रकार उन संत ने अर्घ्य, पुष्प आदि स्वीकार कर लिया था। चरण तो नहीं ही धोने दिये। जब पूजन किसी प्रकार हो चुका, तब हाथ जोड़कर सदा दण्डपाणि रहने वाले उन धर्माधिष्ठाता ने नम्रतापूर्वक पूछी मार्ग के कष्ट की बात।

'आप मुझे हाथ क्यों जोड़ते हैं? मैं तो बड़ा ही नीच हूँ।' संत हड़बड़ाकर उठ खड़े हुए और धर्मराज का हाथ पकड़ लिया उन्होंने- 'आप विराजें।'

'यमदूत बड़े भयङ्कर होते हैं। यमलोक का मार्ग बहुत ही क्लेशदायक है। विकराल वेशधारी यमदूत जीव को मार्ग में नाना प्रकार के कष्ट देते हैं। मयपुरी की भीषणता बुद्धि से परे है। स्वयं यमराज इतने भीषण रूप वाले हैं कि उनको देखते ही जीव थर-थर काँपने लगता है।' पता नहीं ऐसी कितनी बातें उन्होंने सुनी थीं। लेकिन पहले ही आश्चर्य हुआ, जब बड़े ही विनम्र, बड़े सुन्दर स्वरूप वाले दो दूतों ने हाथ जोड़कर उनसे धर्मपुरी पधारने की प्रार्थना की और अपने को धर्मराज का किङ्कर बताया। देवर्षि नारदजी की प्रेरणा से वे आये थे। क्या हुआ जो उनके शरीर का वर्ण काला था, थे वे सुन्दर और विनयी। संत ने सोचा- 'धर्मराज प्रधान वैष्णवाचार्य हैं। उनके सेवक भला उद्धत और कटुभाषी हो कैसे सकते हैं। उनमें तो नम्रता, दया, क्षमा, कृपा आदि गुण स्वभाव से ही रहेंगे।'

'कहाँ है मार्ग की भयङ्करता? तप्तशाल्मली और व्रजकण्टक वन किधर पड़ते हैं? इस मार्ग में न तो हिंसक पशु दीखते हैं, न मरुस्थल ही आया।' पथ पुष्पों के मृदुल दलों से पूर्ण हो रहा था। वायु की मन्द गति में निर्झरों की शीतलता आ बसी थी और वह पराग बिखेरता अपना उल्लास प्रकट कर रहा था। कोकिल की कूक भ्रमरों की गुंजार और मयूरों के नृत्य ने पूरे मार्ग को एक स्वागत समारोह का रूप दे दिया था।

इसी को लोग यमपुरी कहते हैं? वैतरणी की चर्चा करना ही व्यर्थ है। सर्वेश्वर के सेवकों की दृष्टि जहाँ जाती है, वहाँ वैतरणी को भी मन्दाकिनी बनकर दर्शन देना पड़ता है। यमपुरी के जो वर्णन मर्त्यलोक में सुने या पढ़े हैं, उनकी कोई गन्ध ही नहीं थी वहाँ। वह तो कोई ऐसी पुरी थी, जिसका वर्णन धरा पर किया ही नहीं जा सकता। स्वर्ग का सौन्दर्य एवं वैभव उसके सम्मुख बहुत ही तुच्छ है। उसमें इतनी विशेषता और दिखलायी पड़ी कि वहाँ के लोग भोगरत नहीं थे, वे नम्रता एवं सेवा की मूर्ति जान पड़ते थे।

'पता नहीं क्यों मर्त्यलोक के लोग धर्मराज से रुष्ट हैं!' उन महापुरुष को कोई आश्चर्य नहीं हुआ। उन्हें खेद ही था कि एक ऐसे विनम्र, उदार, सेवापरायण को धरा

पर पता नहीं क्या-क्या बताकर दोष दिया जाता है। अन्यथा धर्मराज-जैसे वैष्णवाचार्य के लिए तो यह सौम्यता, यह नम्रता, यह उदारता सहज-स्वाभाविक है।

'देवर्षि दयामय हैं। आज उनकी अपार कृपा के कारण आपके श्रीचरणों का मुझे दर्शन हुआ। मेरा संयमनी में रहना आज सफल हो गया।' धर्मराज का कण्ठ गद्गद हो रहा था। उनके पूरे शरीर के रोम खड़े थे।

जहाँ दो भगवद्भक्त एकत्र हो जायँ, वहाँ अपने हृदय सर्वस्व की चर्चा के अतिरिक्त फिर क्या कोई दूसरी बात हो सकती है? श्रीहरि के गुणानुवाद को छोड़कर सुनने और कहने की और क्या वस्तु है त्रिलोकी में कि कोई उसके लिए आधा क्षण भी नष्ट करें।

× × ×

[3]

'आओ भाई ! इतने डरे हुए क्यों हो? इस प्रकार रोते और काँपते क्यों हो? आओ ! भगवान् का गुणानुवाद सुनो।' यमपुरी तो अब सत्सङ्ग-भवन हो गया है। यमदूत पृथ्वी से जीवों को उनके कर्मों के अनुसार घसीटते, पीटते ले आते हैं; किन्तु ठिकाने पहुँचकर उनकी भी समझ में नहीं आता कि आगे वे क्या करें। पृथ्वी से ये जो बाबा जी आ गये हैं, वे यमराज जी के कुछ बोलने से पहले ही सब पापी-पुण्यात्माओं का समान रूप से स्वागत करने लगे हैं।

'मुझे छोड़ दीजिए। मुझे क्षमा कीजिये।' ये पृथ्वी के जीव भी विचित्र हैं। जो मनुष्य-शरीर पाकर भगवान् के भजन, स्मरण, कीर्तन एवं उन उत्तम श्लोक के मङ्गलचरित-श्रवण में नहीं लगा सका, वह शरीर छूट जाने पर क्या भगवान् का गुणानुवाद सुनेगा। इन अभागे जीवों की तो इधर रूचि ही नहीं होती। ये तो केवल रोना-कल्पना और मिथ्या प्रतिज्ञाएँ करना जानते हैं। इनकी प्रतिज्ञा छि। कितनी बार गर्भ में रहते समय प्रतिज्ञा की इन्होंने? जीवन में एक बार भी उस प्रतिज्ञा का स्मरण किया होता....।

'ये महाभाग बैकुण्ठ जाने वाले हैं या ब्रह्मलोक?' वे उदार सन्त सोचते हैं कि जब धर्मराज मुझ-जैसे पापी को इतने सत्कार से भगवत्कथा सुना रहे हैं, तब दूसरे जीवों-को कम-से-कम ब्रह्मलोक तो भेजेंगे ही।

'वैकुण्ठनाथ के जो प्रियजन हैं, वे स्वयं ही कृपा करें तो मैं उनका दर्शन कर पाता हूँ।' बड़ी नम्रता से धर्मराज ने अपनी स्थिति बतायी- 'ब्रह्मलोक का भी मार्ग मेरे लोक

से नहीं जाता। देवयानपथ की तो चर्चा ही क्या, पितृयानसे जो लोग पितामह के लोक में पहुँचते हैं, मैं उनका भी दूर से ही दर्शन कर सकता हूँ।'

'तब आप इन्हें स्वर्ग ही भेज दें।' महात्मा का हृदय इतने से सन्तुष्ट तो नहीं होता; किन्तु जब धर्मराज इतने से अधिक कुछ कर ही नहीं सकते, तब विवश होना पड़ता है।

'मैं तो केवल कर्मों का निर्णय कर सकता हूँ।' यमराज मस्तक झुकाकर, हाथ जोड़कर कहते हैं- 'किन्तु आपकी आज्ञा का पालन होगा। आपकी इच्छा ही किसी जीव को दीर्घकाल तक स्वर्ग का निवास देने के लिए पर्याप्त है।'

अब जैसे यमपुरी मर्त्यलोग एवं स्वर्ग के मध्य का एक पड़ाव हो गई है। जीव पहुँचते हैं और स्वर्ग भेज दिये जाते हैं। धर्मराज ने पूछना-ताछना छोड़ दिया है। अमरावती में अवाञ्छनीय भीड़ बढ़ती है तो कोई क्या करे? यमराज कर भी क्या सकते हैं और क्या कर सकते हैं स्वयं देवराज भी। एक भगवद्भक्त के सङ्कल्प से जो जीव स्वर्ग पहुँचे हैं, उन्हें स्वर्ग से निकाल देने का साहस कहाँ है महेन्द्र में। वे न तो ययाति हैं और न नहुष हैं। उनको जिसने भेजा है, उसके अपमान की बात मन में आने पर कदाचित् महेन्द्र को ही मर्त्यलोक में गिर जाना पड़े।

'आप आज्ञा करें तो मैं भगवान् ब्रह्माजी के समीप जाऊँ।' चित्रगुप्त जी ने धर्मराज से प्रार्थना की। उनको काम करने का व्यसन है। उत्पन्न होते ही लोकस्रष्टा से उन्होंने अपने लिए काम पूछा था। लेकिन अब यहाँ यमपुरी में उनका काम ही समाप्त हो गया था। ब्रह्माजी ने उन्हें जीवों के कर्मों का विवरण रखने और जब जीव धर्मराज के सम्मुख पहुँचे, तब उसके कर्म का विवरण दण्डदाता के सम्मुख उपस्थित करने के काम पर नियुक्त किया था। अब उनकी लेखनी, जिसे वे लिए हुए ही उत्पन्न हुए थे, व्यर्थ हो रही थी। जब सभी को एक ही गति देनी है, तब कर्म-विवरण रखने से लाभ? वे ऊब चुके थे। उन्होंने कुछ झुँझलाहट के स्वर में कहा- 'अपने लिए दूसरे कार्य की प्रार्थना करूँ उनसे।'

'स्वामी! हम लोगों को भी अब आज्ञा हो!' एक पूरा समाज हाथ जोड़े खड़ा था। जब किसी प्राणी को नरक में जाना ही नहीं है, तब नरक के व्यवस्थापक वहाँ रहकर क्या करें।

'आप लोग विराजें! यहाँ श्रीहरि के परमपावन चरित्रों का श्रवण करें।' सन्त ने समझा कि धर्मराज ने अपने इन सेवकों को डाँटा होगा, इसी से क्षुब्ध हो रहे हैं। अतः वे आश्वासन देते हुए बोले- 'आपके स्वामी अत्यन्त उदार हैं। परम कृपालु हैं, ये भक्ताग्रगण्य। मुझ जैसे अधम पर भी जब इतनी कृपा करते हैं, तब आप सब तो इनके स्वजन हैं। आपको ये अवश्य क्षमा कर देंगे। आप भगवान् के गुणानुवाद सुनें।'

'आपकी कृपा है हम पर और हमारे नायक भी हम पर सदा सन्तुष्ट ही रहते हैं।' चित्रगुप्त जी के स्वर में सन्तोष नहीं था। वे इस सारे समाज को प्रेरित करके इसलिए साथ नहीं लाये थे कि सब लोग बैठकर सत्सङ्ग करें। सत्सङ्ग बड़ा उत्तम है, भगवच्चरित्र एवं भगवद्गुणावाद-श्रवण सर्वश्रेष्ठ कर्त्तव्य है; किन्तु सब कामों का स्थान होता है। यह कर्त्तव्यलोक तो है नहीं। कोई संयमनीपुरी को ही सत्सङ्ग-भवन मान बैठे- क्या किया जाय उसका? चित्रगुप्त जी के पास कोई समाधान होता तो इतनी भीड़ एकत्र करके वे यहाँ आते ही क्यों। उन्होंने उसी स्वर में कहा- 'हम काम किये बिना नहीं रह सकते। भगवान् ब्रह्मा ने हमारा स्वभाव ही ऐसा बना दिया है कि हमसे बिना काम किये बैठा ही नहीं जाता।'

'इसमें दुःखी होने की क्या बात है? काम करना तो भगवान् की सेवा करना है। आप सब अपना-अपना काम करें।' महापुरुष ने धर्मराज की ओर इस प्रकार देखा जैसे अनुरोध कर रहे हों कि इन लोगों को निकालिये मत। इन्हें इनके काम पर लग जाने दीजिये।

'मैं कर्मों का विवरण रखता हूँ। ये प्राणियों को दण्ड देनेवाले लोग हैं। जब सभी जीवों को स्वर्ग ही जाना है, तब हम लोग यहाँ क्या करें? नरक तो अब कुछ काल में खँडहर हो जाने वाले हैं।' चित्रगुप्तजी ने नीचे सिर करके बात स्पष्ट कर दी।

'नरक- कहाँ हैं आपके नरक?' वे वैष्णव चौंककर उठ खड़े हुए। 'मैं तो संसार का सबसे बड़ा पापी, सबसे अधम जीव हूँ। मुझे आप सबसे निकृष्ट नरक में पटक दीजिये। मैं यहाँ आकर भूल ही गया था- चलिये ले चलिये मुझे नरक में।' जिस जीवन में कुटिया या मठिया से मोह नहीं रहा, जो धरती पर ही किसी यात्रा के लिये लँगोटी-कमण्डलु सम्हालने की प्रतीक्षा नहीं करता था, उसे शरीर छूट जाने पर यात्रा के लिये तैयारी ही क्या करनी थी। वे ऐसे उद्यत खड़े थे, जैसे नरक भी कोई दर्शनीय स्थान हो।

'आप.......आप......नरक......।' चित्रगुप्त जी के मुख से पूरे शब्द भी नहीं निकल पा रहे थे। उनको सूझता ही नहीं था कि अब क्या कहें या क्या करें। धर्मराज को उलाहना देने में इतनी बड़ी विपत्ति आयेगी, यह बात तो कल्पना में भी नहीं आ सकती थी। ये महाभागवत- ये कहीं नरक की ओर चल पड़े तो हो चुकी संयमनी की व्यवस्था। नरकों का क्या प्रलयकाल आज ही आ गया है।

'आप सोचते क्या हैं? आप क्यों चिन्ता करते हैं? आपका तो कोई दोष नहीं। पापी तो मैं हूँ। अपने पाप से ही मुझे नरक जाना चाहिए। किधर हैं नरक?' अब कौन कहे इन महापुरुष से कि 'देवता दया करो। यमपुरी को मिटा देने से क्या लाभ होगा तुम्हें?'

चित्रगुप्त जी ने देख लिया है कि धर्मराज इस समय उनकी कोई सहायता नहीं कर सकते। उनकी तो दृष्टि में उलाहना ही है। एक भगवद्भक्त की इच्छा के विपरीत कुछ करना या सोचना इसी प्रकार विपरीत फल देता है। देवर्षि नारद पर मन-ही-मन खीझ रहे थे वे। क्यों देवर्षि ने संयमनी के साथ यह परिहास किया?

'आप एक सत्सङ्ग में चलना पसंद करेंगे? भगवान् की कथा वहाँ सदा ही चलती रहती है। आप चलें तो मार्ग में मुझे एक साथ मिल जाय।' देवर्षि नारद ठहरे सर्वात्मा के मन, चित्रगुप्त जी ने उन्हें स्मरण किया और वे आ पहुँचे। आते ही उन्होंने उन संत से यह प्रस्ताव कर दिया।

'कहाँ सत्सङ्ग हो रहा है?' संत के लिये इससे शुभ और क्या संवाद होगा। जैसे भूख से मरणासन्न व्यक्ति भोजन के लिये दौड़ जाना चाहता है, जैसे प्यास से व्याकुल हाथी वन में सीधे पानी की गन्ध सूँघता दौड़ता जाता है, जैसे कंगाल लूट का धन ले झपटता है, वैसे ही वे उतावले हो उठे उस सत्सङ्ग होने वाले स्थान तक पहुँचने के लिए।

× × ×

[4]

'मधुसूदन मुरारे सच्चिदानन्द। कृष्ण माधव मुकुन्द हरि गोविन्द।।'

परवाणी में गूँजती वीणा की त्रिभुवन-पावन झंकृति, स्निग्ध ज्योति का एक मञ्जुल पुञ्ज और जब तक धर्मराज अपने अनुचरों के साथ अभ्युत्थान के लिए उठें, उठें कि देवर्षि उनके सम्मुख उतर आये। साष्टाङ्ग प्रणिपात किया धर्मराज ने और देवर्षि ने देख लिया कि चित्रगुप्तजी में आज जितनी श्रद्धा प्रणिपात के समय व्यक्त हुई, उतनी कदाचित् ही कभी व्यक्त हुई हो।

'वे महाभाग किस लोक को पवित्र कर रहे हैं?' धर्मराज की पूजा स्वीकार करके जब देवर्षि उनके सिंहासन पर बैठ गये, तब चित्रगुप्त जी ने पूछा।

'आपकी उनमें बहुत श्रद्धा हो गयी दीखती है। आप उनके दर्शन करना चाहते हैं?' देवर्षि के अधरों पर मन्दस्मित आ गया।

'मेरे ऐसे भाग्य कहाँ कि भगवद्भक्तों के श्रीचरणों में मेरी श्रद्धा हो।' चित्रगुप्तजी अञ्जलि बाँधे सम्मुख खड़े कह रहे थे- 'आपके पावन पदों के दर्शन से ही मैं तो कृतार्थ हूँ। मुझ-जैसे अनधिकारी पर भी अहैतुकी कृपा करते हैं। इससे अधिक का लोभ मुझे नहीं है।'

'आप डरें नहीं, वे अब पुनः आपको सङ्कोच में डालने नहीं आवेंगे। वे अब श्रीहरि के समीप उनकी सेवा में स्वीकृत हो चुके हैं।' नारदजी ने हँसते हुए बताया।

'वे तो बैकुण्ठ जाना ही नहीं चाहते थे?' चित्रगुप्त जी को यही तो कुतूहल है।

'वे जाना नहीं चाहते थे और जाते भी नहीं; किन्तु श्यामसुन्दर ही कहाँ उन्हें छोड़ने वाले थे।' देवर्षि का स्वर भावपूर्ण हो गया- मैं उन्हें यहाँ से लेकर कैलाश जा रहा था। मार्ग में ही भगवान् आशुतोष मिल गये। उन वृषभध्वज को हरिगुण-गान के अतिरिक्त दूसरा कोई व्यसन ही नहीं है। उन्होंने चलते-चलते ही भगवान् के अवतारचरित सुनाने प्रारम्भ किये और फिर कब बैकुण्ठ पहुँचना वे अनन्तशायी अपने भक्तों से मिलने के लिये कितने उत्कण्ठित रहते हैं। उनसे मिलकर क्या कोई फिर लौट सकता है?'

यमराज ने हाथ जोड़कर मस्तक झुकाया- पता नहीं करुणावरुणालय प्रभु के प्रति या उनके उन परम-प्रिय भक्त के प्रति; किन्तु चित्रगुप्त जी ने भक्तश्रेष्ठ के प्रति ही प्रणाम किया उस समय। यह निश्चित है।

❑❑

पञ्चम पुरुषार्थ

'हरि नारायण गोविन्द। माधव मोहन मुकुन्द।' देवर्षि की वीणा-झंकार आयी और गन्धर्वों के वाद्य मूक हो गये। अप्सराओं के नृत्यचपल पद रुद्ध हुए। महेन्द्र शीघ्रता से उठे अपने आसन से और उन्होंने पारिजात के सुमनों की अञ्जलि ली।

देवर्षि ऐसे तो नहीं हैं कि किसी को अर्चा का पूरा अवकाश दें। उन्हें इसकी अपेक्षा तो क्या रहेगी, दृष्टि भी इधर नहीं देते कि किसने कब उनके पदों में प्रणिपात किया। सुरपति एक सुमनाञ्जलि उनके श्रीचरणों में अर्पित कर लें, इतना ही सौभाग्य कम नहीं है।

'देखता हूँ शतक्रतु अब भी सावधान नहीं हैं, जबकि अमरावती का ऐश्वर्य किसी क्षण उनसे छीन लिया जा सकता है।' पुष्पपराग के मृदुल आस्तरण पर प्रणति के पश्चात् सुर एवं सभासद. बैठें, इसके पूर्व ही देवर्षि की वाणी ने सबको आतङ्कित कर दिया। 'इतना प्रमाद देवधानी के अधीश्वर को शोभा नहीं देता।'

'क्या हुआ? कोई असुर आ रहा है? दैत्येन्द्र बलि तो रसातल में हैं और अभी तो यह केवल अट्ठाईसवीं चतुर्युगी है। उनके इन्द्रासन पर आने का समय तो इस मन्वन्तर के पश्चात होगा। उनका कोई आश्रित! कोई अन्य दानव, राक्षस! मय ने तो कोई नवीन त्रिपुर नहीं बना डाला? उसके लिये कुछ असम्भव नहीं है।'

'कोई तपस्वी? धरापर तो कलियुग चल रहा है। अन्नगत-प्राण हैं आजकल मर्त्यलोक के निवासी। वहाँ न आज दीर्घकालीन तप सम्भव है और न अश्वमेघ-यज्ञों की अविच्छन्न परम्परा।'

देवता, गन्धर्व, किन्नर, अप्सराएँ कोई बोल नहीं रहा था; किन्तु देवता संकल्प की भाषा में बोलते हैं। वाणी के मूक रहते भी वहाँ एक व्याकुल कोलाहल उनके अंदर व्याप्त हो रहा था।

'भारत की पुण्य धरा के प्रति सुरपति सावधान नहीं रहेंगे तो किसी क्षण अमरावती से निष्कासित कर दिये जा सकते हैं।' आसन पर बैठते-बैठते देवर्षि ने चेतावनी दी। 'जहाँ नारायण को बार-बार आने को विवश कर दिया जाता है, वहाँ सुरपति का सेव्य कब, कौन, कहाँ है- इस सम्बन्ध में सावधानी रखनी चाहिये। अधिकारी की उचित सेवा नहीं होगी तो क्या सर्वेश्वर इन्द्र को लोकपालाधिप बने रहने देंगे?'

'कौन हैं वे महाभाग?' सहस्राक्ष तो प्रयत्न करके भी धरा पर-भारतीय धरा पर भी ऐसा कोई नवीन तपस्वी, कोई त्यागी अथवा अग्निहोत्री नहीं देख पाते। कलापग्राम के महायोगियों अथवा भगवान् दत्तात्रेय के आश्रितों से उन्हें कोई भय नहीं है। जो थोड़े-से अमर पुरुष-ऋषि आदि हैं, उनसे वे परिचित हैं। उनका आशीर्वाद प्राप्त है पाक शासन को। अब यह नवीन विपत्ति किधर से आयी है, वे कुछ समझ नहीं पाते।

'देवेन्द्र केवल योग, तप, यज्ञ और त्याग ही देख पाते हैं।' देवर्षि ने आक्षेप किया। 'जगदीश्वर भावाधीन हैं, यह वे प्रायः भूल जाते हैं। भगवती भक्तिदेवी के वरद पुत्रों की अचिन्तनीय शक्ति पर देवराज की दृष्टि जाती ही नहीं।'

'वे तो स्रष्टा के भी वन्दनीय हैं।' इन्द्र ने हाथ जोड़कर मस्तक झुकाया। 'किन्तु वे नित्यनिष्काम एवं अहैतुक कृपालु-उनकी सेवा शतक्रतु क्या करेगा और उनसे किसी को भी क्या भय हो सकता है।'

'वे कब क्या करेंगे, यह भी कैसे कहा जा सकता है।' देवर्षि ने कहा- 'अब इस जगद्धात्री के साधक ताराकान्त को ही ले लो। कब उसके मन में क्या इच्छा होगी, किस कामना को वह झिड़क देगा और किसे पकड़ लेगा- देवी वीणापाणि भी बता सकती हैं क्या?'

भगवती सरस्वती कुछ क्षण पूर्व ही सुरसभा में पधारी थीं और देवराज ने उनकी अर्चा की थी। देवर्षि ने इस बार उनकी ओर संकेत किया।

'वह पराशक्ति का स्नेहलालित शिशु।' वाणी की अधीश्वरी का स्वर भी वात्सल्यविभोर हो उठा- 'उसे तो प्यास लगे तो भी मचलकर पुकार सकता है निखिलेश्वरी को उसका रोष, उसका मचलना- वह कहाँ निष्काम है। किन्तु उसकी कामना ने जो आश्रय लिया है- किसकी शक्ति है जो उस हृदय की छाया का स्पर्श कर सके।'

'वह सकाम है तो सुरों के लिये आतङ्क बन नहीं सकता।' महेन्द्र की दृष्टि मन्मथ की ओर उठी।

'मुझे आशा करनी चाहिये कि इस कुसुम-कलेवर देवता को उधर भेजने की अज्ञता देवाधीश नहीं करेंगे।' उठते-उठते देवर्षि ने चेतावनी दी। 'वह कोई योगी, तपस्वी नहीं है कि वासना के उत्थान से उसकी अर्जित साधना-सम्पत्ति क्षीण होगी।

कहीं अप्सराओं को देखकर उसके मन में स्वर्ग भोग लेने की इच्छा आ गयी- कल छिनती अमरावती अभी छिन जायगी। वह 'माँ!' कहकर मचलेगा तो महेश्वरी सौ अश्वमेध की मर्यादा भूल जायँगी। उसमें कामना का उत्थान न हो, देवधानी वहीं तक निश्चिन्त रह सकती है।'

देवर्षि तो परिव्राजक हैं। वे कहीं जमकर बैठना जानते नहीं। वे चले गये; किन्तु कितनी बड़ी आशङ्का दे गये। सृष्टि में एक ऐसा साधक हो गया है, जो इच्छा करते ही इन्द्रपद पर आ धमकेगा उसे अवरुद्ध करने का कोई उपाय सुरों के समीप नहीं है। केवल उसकी सद्भावना पर निर्भर रहना है। कितनी असहाय स्थिति है यह।

'मैं कोई सहायता सुरपति की नहीं कर सकती।' देवराज कुछ कहें, इससे पूर्व ही भगवती सरस्वती ने उन्हें निराश कर दिया। 'कोई माता अपने शिशु का किंचित् अहित सोच भी नहीं सकती। सुरेश जानते हैं कि महाशक्ति ही ज्योति रमा, उमा और मुझमें प्रतिफलित है और जहाँ उनका वात्सल्य सक्रिय होता है, हमारा स्नेह वहाँ सहज प्रवाहित होता है।'

× × ×

'वे सुरपति के सेव्य हैं।' देवेन्द्र को एक मार्ग मिल गया देवर्षि के कहे वचनों में से। जहाँ दण्ड और भेद की नीति न चल सकती हो, साम और दान वहाँ दुर्बल के आश्रय हैं। महेन्द्र को यह उचित लगा कि उन महाभाग से परिचय कर लिया जाय। उन्हें यदि किसी प्रकार कृतज्ञ बनाया जा सके, अमरावती निःशङ्क हो जायगी उनकी ओर से।

'वरं ब्रूहि! सुप्रसन्नोऽस्मि!' ताराकान्त अपनी आह्निक अर्चा समाप्त करके आसन से उठनेवाले ही थे कि उनका उपासना-कक्ष प्रकाश से पूर्ण हो गया। उनके सम्मुख दिव्याम्बरधारी, रत्नकिरीटी, वज्रधर इन्द्र प्रकट हो गये थे।

'आपके आयुध के कारण मैं समझता हूँ कि आप देवराज हैं। इस मानव का अभिवादन स्वीकार करें।' ताराकान्त ने दण्डवत प्रणिपात तो नहीं किया, किन्तु हाथ जोड़कर मस्तक झुका लिया। 'आप आ ही गये हैं तो अतिथि के समान मेरी अर्चा स्वीकार करें।'

अर्घ्य, पाद्य आदि देवराज ने स्वीकार कर लिया; किन्तु आसन पर वे आसीन नहीं हुए। देवता भूमिका स्पर्श कहाँ करते हैं। अर्पित नैवेद्य भी रक्खा रहा; क्योंकि देवता तो गन्धमात्र ग्रहण करते हैं। नर के साथ आकर उसके उपहार का उपभोग तो नर के नित्य सखा नारायण ही करते हैं।

'वरं ब्रूहि !' देवराज ने अर्चा के उपरान्त पुनः आग्रह किया।

'आप जानते ही हैं कि मैंने आपका आवाहन नहीं किया था। मैं आपका आराधक नहीं हूँ।' ताराकान्त के स्वर में अतिशय नम्रता के साथ अद्भुत दृढ़ता थी- मैं कंगाल नहीं हूँ कि याचना करूँगा। भिक्षाजीवी मैं नहीं हूँ।'

'आप स्वतः पधारे, आपने मुझ मानव को कृपा करके दर्शन दिया- आपके औदार्य से, आपकी कृपा से मैं अनुगृहीत हुआ।' ताराकान्त ने देवराज को बोलने का अवकाश ही नहीं दिया। वे कह रहे थे- 'मैं उन जगद्धात्री का पुत्र हूँ, जिनके भ्रूभङ्ग से कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड बनते और मिटते रहते हैं। महाकाल जिनके भय से कम्पित होता रहा है, रमा जिनकी कृपा की कामना दूर करबद्ध खड़ी होकर करती है, उनके शिशु को आप वरदान देंगे?'

देवराज की अङ्गकान्ति म्लान हो उठी। उन्हें लगा, कहीं यह अद्भुत व्यक्ति मेरे इस प्रयत्न को अपना अपमान मानकर रुष्ट न हो जाय, कोई भिक्षुक यदि सम्राट् से कहे कि मुझसे कुछ माँग लो तो भिक्षु का अहंकार क्या सम्राट् का अपमान नहीं है। सम्राट् असंतुष्ट हो उठें- उन्हें दोष कैसे दिया जा सकेगा।

'आप मुझे वरदान देने पधारे, इस आपके भोलेपन से मुझे प्रसन्नता हुई है।' ताराकान्त की वाणी ने इन्द्र को प्रसन्न करने का प्रयत्न किया, वे कृपामयी आपको पुरस्कृत करेंगी।'

पुरस्कार तो महेन्द्र को मिल चुका। वे यह आश्वासन लेकर अमरावती लौट रहे हैं कि इस महामानव से उन्हें कोई भय नहीं है। इन्द्र-जैसे देवता के तुच्छपद की कामना उसके अन्तर में कभी उठेगी, इसकी कोई सम्भावना नहीं है।

× × ×

'भगवन् ! मैं अभय लेकर आया धरा से; किन्तु उन महाप्राण को समझ नहीं पाता हूँ।' देवराज ने बृहस्पति के समीप पहुँचकर प्रार्थना की। 'वे नितान्त निष्काम भी नहीं लगे मुझे और उनकी सकामता भी मेरी प्रज्ञा ग्रहण नहीं करती।'

मनुष्य के पुरुषार्थ चार ही हैं- अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष। अर्थ और काम की उपलब्धि संसार में जिस सीमा तक सम्भव है, लोकपालाधिप महेन्द्र की कृपा उसे सहज दे सकती है। और धर्म से, यज्ञ-यागादि से, तप-त्याग से जिस स्वर्ग की उपलब्धि होती है, उसके वे स्वामी ही हैं। वे स्वयं वरदान देने पहुँचे और उपेक्षित कर दिये गये। त्रिवर्ग ही तो ठुकराया उस महाभाग ने।

अपवर्ग की बात भी इन्द्र नहीं समझ पाते। अपवर्ग के लिये चित्त में कामना का लेश भी नहीं होना चाहिए। ताराकान्त का चित्त निष्काम नहीं है, यह देवराज देख सकते हैं। कामनाएँ मिटें, घटें- निष्काम उपासना ही महाशक्ति की की जाय, ऐसा भी कोई प्रयत्न उस साधक में नहीं है। कैसा है यह साधक? क्या होना है उसका?

'उनकी कामनाएँ कामनाएँ नहीं है शक्र!' देवगुरु ने समझाया। 'भुने बीज उगा नहीं करते। परात्परत्त्व से युक्त होकर कामना कामना नहीं रह जाती।'

'किन्तु लौकिक कामनाएँ चित्त में उठती हैं.....।' इन्द्र अपनी बात को स्पष्ट नहीं कर पाते, यह वे अनुभव कर रहे हैं।

'पतिव्रता पत्नी पति से कुछ न चाहे, ऐसा तो कोई नियम नहीं है।' देवगुरु कह रहे थे। 'वह अपना परम कल्याण भी पति से चाहती है और अन्न-वस्त्र-आभूषण भी। उसकी लौकिक कामना भी उपासना है। उसकी लौकिक इच्छा भी अपने प्रिय को संतुष्ट करने, उनकी सेवा के लिए है। उसकी इच्छापूर्ति करके उसके प्रिय को आह्लाद होता है। कामना ही हो उसकी - वह उस कामना को लेकर भटकती कहाँ हैं। वह कामना भी तो उसे सेव्य के समीप ही ले जाती है।'

'जब कोई परात्पर परमतत्त्व को अपना मान लेता है, वह माता-पिता, भाई-स्वामी कुछ भी उसे स्वीकार करके सर्वथा उसी पर निर्भर हो जाता है, तो वह पूर्णतत्व उसका हो जाता है।' देवगुरु ने अत्यन्त स्नेहपूर्वक समझाया। 'पूर्णतत्त्व से युक्त होकर तो द्वेष, काम, भय आदि की वृत्तियाँ भी मुक्तिदायनी हुई हैं। कंस, शिशुपालादि की मुक्ति का रहस्य तुम जानते हो वत्स! चित्त उस आनन्दघन में लगा हो, यही तो अपेक्षित है।'

इन्द्र ने मस्तक झुका लिया। उनका यही क्या कम सौभाग्य है कि वे ऐसे महापुरुष के साथ प्रत्यक्ष के कुछ क्षण व्यतीत कर आये हैं। असुर भी मुक्त होते हैं जिनसे द्वेष करके, उनसे प्रेम करने वाले की सकामता का परीक्षण करने की आवश्यकता भला, सुरेन्द्र को क्या हो सकती है।

'तुम चतुर्वर्ग की सीमा में सोच रहे थे, यही भ्रम का कारण था।' देवगुरु ने स्नेहपूर्वक दृष्टि उठायी। 'भक्ति मानव का पञ्चम पुरुषार्थ है- ऐसा सार्वभौम पुरुषार्थ कि उसके अङ्क में केवल शेष पुरुषार्थ ही नहीं, पुरुषोत्तम स्वयं समा जाता है।'

लक्ष्यवेध

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्।।

आज चरणाद्रि (चुनार) के राजकुमार ऋतक्रथु का समावर्तन-संस्कार था। राजकुमार पूरे बारह वर्ष महर्षि भरद्वाज के आश्रम में रहे हैं। शास्त्र एवं शस्त्र दोनों विद्याओं के पारङ्गत महर्षि के चरणों में रहकर राजकुमार ने जहाँ धनुर्वेद में निपुणता प्राप्त की है, वहीं नीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र तथा श्रुति का भी उन्होंने पर्याप्त अच्छा अध्ययन किया है।

बारह वर्ष जटा-वल्कल एवं मौञ्जी-मेखलाधारी ब्रह्मचारी राजकुमार के शरीर पर आज कौशेयवस्त्र तथा रत्नाभरण आये हैं। आज उसके केश सुलझे हैं और उनमें सुगन्धित तैल पड़ा है। राजकीय रथ आज अपने राजकुमार को लेने आया है।

अधीतविद्य राजकुमार ने महर्षि को आग्रहपूर्वक गुरु दक्षिणा दी है। आश्रम से विदा होते समय सहाध्यायियों को अङ्कमाल देकर जब राजकुमार ने रथारूढ़ होने से पूर्व महर्षि के चरणों में मस्तक रक्खा, महर्षि का दक्षिण हस्त राजकुमार के मस्तक पर आ गया और उनकी आशीर्वादवाणी गूँजी 'लक्ष्यवेध प्राप्त करो वत्स!'

'लक्ष्यवेध प्राप्त करो?' राजकुमार किंचित् चौंके थे। महर्षि की सेवा में रहते हुए, अपनी शिक्षा के मध्य उनका बाण कभी लक्ष्यच्युत हुआ हो, यह उन्हें स्मरण नहीं। अपने सहाध्यायियों में अकेले वे शब्दवेध कर सकते थे। महर्षि ने स्वयं उनके हस्तलाघव की तथा लक्ष्यवेध की प्रशंसा की है अनेक बार। ऐसी दशा में महर्षि का यह आशीर्वाद?

राजकुमार विनयशील हैं। वे जानते हैं कि देवता परोक्षप्रिय होते हैं। महर्षि सर्वज्ञ हैं। अपने शिष्य-की दैहिक एवं बौद्धिक शक्ति उनसे अज्ञात नहीं है। चलते-चलते उन्होंने यह आशीर्वाद दिया है, इसका अर्थ ही है कि वे नहीं चाहते कि उनसे उनका शिष्य आशीर्वाद का स्पष्टीकरण पूछे। अवश्य इसका कुछ गम्भीर तात्पर्य है और जब महर्षि समझते हैं कि उनका अन्तेवासी अपने चिन्तन से उस तात्पर्य तक पहुँचने में सक्षम है, चिन्तन ही करना चाहिए।

आज समावर्तन का दिन है। चरणाद्रिका उत्तरदायित्व अब आनेवाला है राजकुमार के कन्धों पर। अतः उन्होंने सोचना प्रारम्भ कर दिया कि उनके राज्य का, उनके कुल का लक्ष्य क्या है। ऐसी कौन-सी महत्त्वकांक्षा है, जिसे चरणाद्रि के उनके पूर्व-पुरुष अब तक प्राप्त नहीं कर सके हैं। राज्य की सीमा का विस्तार? शत्रु का प्रतिशोध? कोई अपूर्ण कृति? किसी मित्र के उपकार का प्रत्युपकार? अनेक बातें ध्यान में आयीं। राजकुमार अभी अपने राज्य के विषय में अधिक जानते भी कहाँ हैं। वे जब केवल सात वर्ष के थे, महर्षि के आश्रम में आये थे। चरणाद्रि समीप है प्रयाग से। आश्रम में अनेक बार राजपुरुष महर्षि के दर्शन करने आते थे; किन्तु इस प्रकार प्राप्त विवरण पूर्ण तो नहीं हैं।

राजसदन लौटने पर जो समारोह होता था, पूरे उत्साह से हुआ। नीतिनिपुण राजकुमार ने राज्य के कार्य सम्हालने प्रारम्भ कर दिये। महाराज का, महामन्त्री का और प्रजा का सहयोग एवं स्नेह अर्जित करने में उन्हें अधिक समय नहीं लगा। वृद्ध महाराज ने जब वानप्रस्थ ग्रहण का निश्चय किया, राजकुमार चरणाद्रि के सिंहासन पर अभिषिक्त हुए।

× × ×

समय किसी की प्रतीक्षा कहाँ करता है। फल लगता है, बढ़ता है और टपक पड़ता है। भगवान् काल प्रत्येक परिपक्व फल को खा लेते हैं। जो राजकुमार थे, नरेश हुए, विवाह किया, सन्तानें हुई और श्वेतकेश हो गये। चरणाद्रि-नरेश ऋतक्रथु को श्वेत केशों ने काल भगवान् का सन्देश दिया- 'अब यह देहरूपी फल उनका ग्रास बनने के समीप है।'

जिसने बाल्यकाल में संयम का अभ्यास किया हो, यौवन उसे प्रमत्त नहीं कर पाता। उसके भोग धर्म के नियन्त्रण में रहते हैं और जब यौवन में भोग उच्छृङ्खल न बना सकें, वार्धक्य देह की चिन्ता नहीं दे पाता। जो भोग में संयत रहा है, क्षीयमाण देह की आसक्ति उसे अपनी शृङ्खला में घेरने में असमर्थ रहती है।

चरणाद्रि-नरेश ने अपने शासनकाल में राज्य की कोई महत्त्वाकाक्षा अपूर्ण नहीं रहने दी। अब देह का, भोग का मोह उन्हें किसलिए हो सकता था। पुत्र को सिंहासन पर बैठाया, पत्नी का भार पुत्र पर छोड़ा और एकाकी, निराभरण, नंगे पैर राजसदन से निकले वे।

नरेश ने चित्रकूट के दिव्य क्षेत्र में वानप्रस्थ का काल व्यतीत करने का निश्चय किया था। चरणाद्रि से चलते हुए वे प्रयाग आये और त्रिवेणी-स्नान करके गुरुदेव के आशीर्वाद की आकांक्षा उन्हें महर्षि भरद्वाज के आश्रम में ले आयी।

कितनी स्मृतियाँ साथ हैं इस आश्रम की। यह जाह्नवी एवं कालिन्दी की धराओं से धौत प्रयाग की परमपावन अन्तर्वेदभूमि। यहाँ बाल्यकाल का वह गुरुकुलवास, वे समिधाहरण, हवन, अध्ययन के पुनीत दिवस। आज फिर देह निराभरण है। मस्तक मुण्डित है। कटि में कौपीन है और हाथ में कमण्डलु है। कुछ अधिक उपकरण हैं, अग्नि साथ है। अन्ततः वे अब वानप्रस्थ हैं। किन्तु बार-बार लगता है- जैसे वह दिन फिर आ गया है, जब उपनयन-संस्कार के पश्चात् वे इस आश्रम में आये थे।

'आज हमारा आतिथ्य स्वीकार करो वत्स!' महर्षि भरद्वाज ने आशीर्वाद के अनन्तर अर्घ्यपात्र जब उठाया, बड़ा सङ्कोच-बड़ा विचित्र लगा ऋतक्रथु को। किन्तु महर्षि कह रहे थे- 'अब न तुम यहाँ के अन्तेवासी हो और न चरणाद्रि के नरेश। तपोवन को जाते गृहत्यागी वानप्रस्थ का आतिथ्य करना चाहिये मुझे-जैसे आश्रमस्थ को। अतिथि व्यक्ति नहीं होता। वह भगवान् नारायण का साक्षात् स्वरूप होता है। तुम्हारे लिए सङ्कोच का कोई कारण नहीं है।'

महर्षि का आदेश टाला नहीं जा सकता था। यह अनुग्रह किया उन्होंने कि अतिथि-अर्चन का कार्य आपने छात्रों पर छोड़ दिया। महर्षि की अग्निशाला में रात्रि-विश्राम किया ऋतक्रथु ने और प्रातः त्रिवेणी-स्नान करके, आह्निक कृत्यों की समाप्ति के पश्चात् प्रस्थान से पूर्व जब उन्होंने महर्षि के श्रीचरणों में मस्तक रक्खा, महर्षि का दक्षिण हस्त मस्तक पर आ गया। उनकी वही आशीर्वादवाणी गूँजी- 'लक्ष्यवेध प्राप्त करो वत्स!'

ऋतक्रथु फिर चौके, जैसे वर्षों पूर्व समावर्तन-संस्कार के दिन वे चौंके थे। महर्षि ने आज भी प्रस्थान के समय यह आशीर्वाद दिया है। अपने शिष्य की प्रज्ञा में उन्हें आज भी उतनी ही आस्था है। उनके आशीर्वाद का तात्पर्य पूरी शासनकाल में भले उनका शिष्य समझ नहीं सका; किन्तु सर्वज्ञ महर्षि जब उसे इसे समझने योग्य मानते हैं, समझना ही होगा उसे।

उस समय अधिक अवकाश नहीं था। आज कोई राजरथ ऋतक्रथु को लेने नहीं आने वाला था। उन्हें पैदल यात्रा करनी थी, अपने अग्नि तथा अग्निहोत्र के उपकरण स्वयं उन्हें ले जाने थे और त्रिकाल-सन्ध्या, स्नान, हवनादि करते ही चलना था उनको।

× × ×

चित्रकूट क्षेत्र में ऋतक्रथु ने गुप्त गोदावरी की गुफा को अपना अग्निगृह बनाया। आसपास उस समय न कोई वन-पशु और बीहड़ प्रदेश। लेकिन गुफा के मध्य से निकलती कलकल करती जलधारा-वानप्रस्थ तपस्वी को अग्निरक्षामात्र के लिए छाया तथा अह्निक-निर्वाह के लिए जल का सामीप्य-बस, इतनी सुविधा ही तो चाहिए।

वन में बिल्व, आमलकी तथा कुछ कन्द मिल जाते हैं। उनका संग्रह गुफा में सुरक्षित रहता है। मुन्यन्न घास के बीजों की अपेक्षा ऋतक्रथु को नहीं थी। अग्निहोत्र के अतिरिक्त वे गुफा में जाते नहीं थे। शीतकाल के दिन जलधारा गिरने वाले कुण्ड में वे ध्यानस्थ रहते और ग्रीष्म की लू तथा वर्षा की झड़ियाँ शिलातल पर बैठे उस तापस का सत्कार करती थीं।

'लक्ष्यवेध प्राप्त हो!' महर्षि भारद्वाज का आशीर्वाद ऋतक्रथु के मनन का सूत्र बन गया था। शस्त्र का न्यास करके वन को प्रस्थान करने वाले तपस्वी को दिया गया यह आशीर्वाद - कोई भौतिक लक्ष्यवेध उसका तात्पर्य नहीं हो सकता, यह बहुत स्पष्ट बात थी। ऋतक्रथु को कोई विलम्ब नहीं हुआ था यह समझने में कि महर्षि का तात्पर्य क्या है।

'प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।'

यह श्रुति शीघ्र स्मृति में आ गयी और उन्होंने यह समझ लिया कि महर्षि ने आशीर्वाद के रूप में उन्हें प्रणव की साधना का आदेश दिया है।

'तज्जपस्तदर्थभावनम्

ऋतक्रथु प्रणव के अर्थ के निदिध्यासन में ही आजकल लगे रहते हैं।

× × ×

बड़ा कठोर है वानप्रस्थाश्रम। ठीक ही इसका निषेध स्मृति ने कलि में किया है। दुर्बल देह, क्षीणप्राण, हीनसत्त्व कलि के मानव वानप्रस्थ के कठोर तप का कैसे आचरण कर सकते हैं? पूर्वयुगों में भी यह अत्यन्त दुस्सह था। द्वादश वर्ष तो अधिक-से-अधिक अवधि है, अन्यथा पाँच, तीन या एक-जितनी अपने में शक्ति लगे, केवल उतने समय का सङ्कल्प करके यह आश्रम त्रेतादि में भी स्वीकार किया जाता था।

कोई अपवाद नहीं। शरीर रोगी है, देह में तप की, त्रिकाल स्नान की शक्ति नहीं; किन्तु वानप्रस्थ आश्रम में तो नियम-त्याग की विधि नहीं है। नियम पालन करो, और न कर सके तो अनशन करके या अग्नि में देह की आहुति देकर प्राण त्याग करो। विश्राम, औषधि तपविरति के लिय कोई स्थान नहीं यहाँ!'

ऋतुक्रथु ने पूरे द्वादश वर्ष का नियम लिया था। नियम पूरा हो जाता; किन्तु प्रारब्ध जब अनुकूल न हो, प्राणी कर क्या सकता है। केवल कुछ दिन शेष रहे थे सङ्कल्पित अवधि पूर्ण होने के और देह को ज्वर ने अपना आखेट बना लिया।

'लक्ष्यवेध प्राप्त नहीं हुआ। प्राण का मोह तपस्वी को नहीं होता। जीवन रखना वह चाहे, जो देह को भोग दे रहा हो। किन्तु ऋतक्रथु को क्लेश यह था कि जीवन का

लक्ष्य प्राप्त नहीं हुआ।

'महर्षि की वाणी असत्य का स्पर्श नहीं करती, उनका आशीर्वाद व्यर्थ नहीं जा सकता।' ऋतक्रथु अभी तक ज्वराक्रान्त रहते भी नियम पालन में शिथिल नहीं हुए हैं। आज लगता है कि अब आसन से उठना कदाचित् सम्भव न हो और इसी से वे विशेष चिन्तित हैं। आज मनोमन्थन प्रबल हो उठा है- 'कहीं त्रुटि है। कहीं प्रमाद हो रहा है गुरुदेव!'

आर्त प्राणी की पुकार यदि व्यर्थ जाने लगे, विश्वात्मा को कौन सर्वज्ञ और सकरुण कहे? सहसा ज्योति आ गयी तपस्वी ऋतक्रथु के मुख पर। वे स्वयं बोल उठे- 'तू क्षत्रिय है। धनुर्धर रहा है और ज्या बढ़ाये बिना शिथिल धनुष से तू लक्ष्यवेध करने का प्रयत्न कर रहा है? इतनी सीधी बात तेरी समझ में नहीं आती कि ज्या पहिले चढ़नी चाहिये।'

प्रणव का धनुष। अकार, उकार मकार इनका एकीभाव 'प्रणव' अकार और मकार इस धनुष की दो कोटि (नोकें) और उकार इसकी प्रत्यञ्चा। अकार से उठकर मकार तक पहुँचने में उकार को खींचकर उठाये चलती प्राणों की प्रत्यञ्चा यदि शिथिल हो, प्रणव की साधना सम्यक् पूर्ण कहाँ हुई।

ऋतक्रथु तपस्वी, त्यागी, वासना-वर्जित शम-दम, उपरति-तितिक्षा-सम्पन्न श्रेष्ठतम अधिकारी हैं। उनके चित्त में मल तो तब भी नहीं था, जब वे तपोवन आये थे। पूरे बारह वर्ष होने को जा रहे हैं। विक्षेप क्या होता है- उनका मन यह बात भी भूल चुका है। अब ऐसे अधिकारी-का आवरण कब तक टिका रह सकता था।

बात ध्यान में आयी नहीं, विलम्ब इतना ही था शरीर कुछ और सीधा हो गया। मूलाधार से उठकर मूर्धा तक गूँजता दीर्घ घण्टानाद के समान प्रणव का नाद प्राणों ने उठाया उसे प्रथम यह ठीक है; किन्तु आवृत्ति दस तक पहुँचे उससे पूर्व ही वह अनाहत के मेघगर्जन से एक हो गया।

नाद-केवल नाद! त्रिमात्रा नाद में लीन हो गयीं और चन्द्राकार अमृतोज्ज्वल दिव्यनाद चलता रहा- चलता रहा नाद और कब बिन्दु में वह लय हुआ, कोई साक्षी पृथक् रह गया हो तो यह बतावे।

स्थिर, निष्कम्प, प्रकाशपुञ्ज देह ऋतक्रथु। जिसका बिन्दुवेध-लक्ष्यवेध हो चुका, उससे कौन कहेगा कि अब स्नान-संध्या का समय हो गया। उसके लिये तो श्रुति ने भी घोषणा कर रक्खी है-

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते।

❑❑

जाको राखै साइयाँ

'आपकी माता अब शय्या से उठी नहीं पातीं!' बड़ी उत्कण्ठा थी, कोई समाचार मिले घर का और समाचार मिला तो यह- 'उनकी बड़ी इच्छा है, आते समय आँखों में आँसू भरकर उन्होंने कहा- 'बलवन्त का मुँह देख पाती मरने से पहले।' वैद्यों की जो राय है, वह अच्छी नहीं है उनके सम्बन्ध में।'

'माँ अभी हैं तो?' बलवन्त सिंह के नेत्र भर आये।

'होना तो चाहिये!' संदेश देने वाले ने उलटे घबराहट अधिक बढ़ा दी- 'मैं झूठ नहीं बोलूँगा। जब मैं चला, उनको तीव्र ज्वर था और दुर्बलता तो बढ़ती ही जा रही थी। वृद्ध शरीर है और पूरे डेढ़ महीने से चारपाई पकड़ रक्खी हैं। मुझे किशनगढ़ छोड़े पन्द्रह दिन हो रहे हैं।'

'हे प्रभु!' बलवन्त सिंह ने दोनों हाथ जोड़कर किसी अदृश्य को मस्तक झुकाया। माता डेढ़-दो महीने से रुग्ण हैं और उन्हें अब समाचार मिल रहा है; लेकिन इसमें दोष किसका है? किसे पता है कि यहाँ हैं? यदि बीकानेर से वे कोलायत मेले के समय न आये होते- यह पता भी उन्हें नहीं लगता।

'घर पर किससे झगड़ा नहीं होता? बड़े भाई ने कुछ कह दिया तो हो क्या गया था? अन्ततः स्नेहवंश तो उन्होंने डाँटा था।' आज बलवन्त सिंह को ढ़ाई वर्ष पुरानी बातें अभी सामने हुई जान पड़ती हैं। चार भाइयों में सबसे छोटे होने के कारण सबके स्नेहपात्र हैं वे। राजपूत सरदारों के कुमार जैसे होते हैं- किन्तु बड़ा पवित्र घर है उनका। उनके पिता की कीर्ति न्याय, सदाचार और पीड़ितों की रक्षा के लिए किशनगढ़ (रैनिवाल) में अब तक गायी जाती है। बड़े भाई ने पिता के स्वर्गवासी होते ही उनका उत्तराधिकार - उनके सद्गुण भी अपना लिए। गुण-दोष सङ्ग से आते हैं। राजपूत कुमारों का साथ लेकिन छोटा भाई प्रजा पर कुदृष्टि करे, जिनकी रक्षा कर्त्तव्य है उनकी बहू-बेटियों पर व्यङ्ग कसे, यह वे कैसे सह सकते थे।

'तू कलङ्क उत्पन्न हुआ इस कुल में।' बड़े भाई ने सामने आते ही आग्नेय नेत्रों से देखा और तड़प उठे थे। किसी ने उनसे कह दिया होगा- झूठ तो कहा नहीं था। वे ठीक डाँट रहे थे- 'यह किसका घर है, यह तुझे पता नहीं? पिता की कीर्ति को कलङ्कित करके यहाँ आते तुझे लज्जा नहीं आयी?'

'बात कुछ नहीं थी। पिता के समान स्नेह करनेवाले बड़े भाई थे वे। क्षमा माँग लेने से ही काम चल जाता। क्षमा न भी माँगी जाती तो भी दो घण्टे में स्वयं स्नेहपूर्वक समझाते; किन्तु बलवन्त का राजपूत रक्त उबल पड़ा था- 'मैं तब तक इस घर में पैर नहीं रक्खूँगा, जब तक मेरे आने से मेरे पिता की कीर्ति उज्ज्वल न होती हो।' वह उलटे पैरों लौट पड़ा था।

बड़े भाई ने सोचा था कि वह थोड़ी देर में लौट आयेगा या घूमकर सीधे माता के पास चला जायगा। जब दोपहरी में भी वह घर नहीं पहुँचा- सब लोग व्याकुल हो गये। लेकिन घर की सबसे अच्छी साँड़नी (ऊँटनी) घर नहीं थी। भाइयों ने, मित्रों ने सप्ताह और महीने बिता दिये पता लगाने में, माता ने रो-रोकर आँखों की ज्योति खो दी; किन्तु बलवन्त का पता नहीं लगा सो नहीं लगा।

'तुम कोलायत जा रहे हो?' उस रुग्णा देवी ने कितनी उत्कण्ठा से कहा था रामप्रसाद से- 'सम्भव है मेरा बलवन्त वहाँ आवे। उससे कहना कि तेरी वद्धा माँ मर रही है। अब तो उसे क्षमा कर दे।'

बलवन्त रो पड़ा फूटकर- 'माँ! माँ! क्षमा करो मुझे।'

भाई की बात लग गयी थी उस समय और जब मनुष्य को बात लग जाती है, यदि वह मनुष्य है तो देवता हो जाता है। बात लगने पर जो पिशाच हो जाते हैं, वे तो मनुष्य पहले भी नहीं थे। बीकानेर में लोग कहते हैं- 'सरदार बलवन्त सिंह तो देवता है। ढ़ाई वर्ष पूर्व साँड़नी की पीठ पर चढ़ा अकेला बलवन्त बीकानेर पहुँचा था। उसके पास सामान के नाम पर केवल राजपूत की नित्य सङ्गिनी तलवार थी। सेना में स्थान मिलना कठिन नहीं था तब राजपूत के लिए और ढाई वर्ष में ही बलवन्त सिंह सरदार हो गया है। उसकी तत्परता, परिश्रम, राजभक्ति और इन सब बातों से बढ़कर यह कि एकमात्र वही सेना में ऐसा है जो समय पाते ही नगर में यह ढूँढ़ने निकलता है- 'कौन बीमार है? कौन दुःखी है? किसकी क्या सेवा की जा सकती है?'

बीकानेर और वहाँ का गोस्वामी चौक- काँकरोली के महाराज का यह आत्मीय परिवार, इसकी सेवा, श्रद्धा ने बलवन्त सिंह को श्रीनाथजी की भक्ति प्रसाद दे दिया है। वह वैष्णव हो गया है। मन्दिर में दर्शन किये बिना जल पी लेना उसके लिए अकल्पनीय बात हो गयी है।

'माँ!' आज यहाँ कोलायत में उसे माता का समाचार मिला है। परम प्रभु श्रीनाथजी ने ही प्रेरणा की थी कि वह यहाँ आया।

सेना की सेवा ऐसी नहीं होती कि कोई बिना सूचना दिये चाहे जहाँ चल दे और कम-से-कम बलवन्त सिंह से यह आशा नहीं की जा सकती। एक बात और- ढाई वर्ष में तो जो कुछ उसे मिला, दुःखियों की सेवा के लिए के लिए अर्पित हो गया। खाली हाथ घर जाय? इसकी चिन्ता करने का कारण नहीं है। अन्नदाता महाराज बीकानेर-प्रभु उन्हें चिरायु करें। वह उनसे घर जाने की अनुमति माँगेगा। उन परम उदार से कुछ और माँगने की आवश्यकता पड़ेगी ही नहीं।

उसी समय सरदार बलवन्त सिंह की साँड़नी बीकानेर की ओर उड़ चली।

× × ×

[2]

सरदार बलवन्त सिंह किशनगढ़ के हैं, यह किसी ने नहीं सोचा था। ढ़ाई वर्ष में अपना परिचय उन्होंने किसी को नहीं दिया। 'मैं एक दुःख का मारा राजपूत हूँ।' स्वयं महाराज तक को परिचय नहीं दिया उन्होंने। राजपूत - यह इतना ही परिचय विश्वस्त होने के लिए पर्याप्त हुआ करता है। राजपूत को भी क्या विश्वासपात्र बनने के लिए परिचय की आवश्यकता होती है? लेकिन आज अवकाश प्राप्ति की प्रार्थना के साथ जो परिचय दिया बलवन्तसिंह ने, वह परिचय होकर भी परिचय नहीं था। यदि महाराज ने अनुमान किया होता कि उनका यह युवक सरदार जैसलमेर से आगे किशनगढ़ (रैनिवाल) जा रहा है- अकेले नहीं जाने देते। जैसलमेर लुटेरों का प्रान्त है और जाना है उस प्रान्त के मध्य से। लेकिन किशनगढ़- सबने समझा यह पास का किशनगढ़ और वहाँ जाने में कोई बाधा थी ही नहीं।

कोई जान भी लेता कि बलवन्त सिंह किस किशनगढ़ जा रहे हैं तो क्या होना था। इस तपते ज्येष्ठ में कोई भी वहाँ जाना चाहेगा तो कोलायत, मोहनगढ़, जैसलमेर के मार्ग से ही जायगा। 'कोलायत से सीधे किशनगढ़-केवल 76 कोस ही तो है। दो सवा दो सौ कोस का चक्कर क्यों किया जाय? दो दिन लगेंगे और साँड़नी द्वार पर खड़ी होगी। माँ पता नहीं- हैं या नहीं......।' कोई विक्षिप्त होने पर ही ऐसी बात सोच सकता है। छिहत्तर मील-मध्य में एक गाँव नहीं, एक झोपड़ा नहीं, शमी या करीर की झाड़ी भी है या नहीं- पता नहीं। जिस मार्ग की ओर बढ़ते डाकुओं के पैर भी काँपें, वह मार्ग! महाराज बीकानेर कोई सैनिक सहायक देते भी तो क्या वे इस मार्ग से बढ़ने का साहस करते?

'माँ शय्या से उठ भी नहीं पाती। पता नहीं वह है भी या नहीं।' बलवन्त सिंह को

दूसरा कुछ नहीं सूझता था। जहाँ एक घड़ी एक वर्ष जान पड़ती हो– सात दिन से पहुँचने का भी मार्ग है, वही एक मार्ग ही है। लेकिन मार्ग हो या न हो– दो दिन में भी पहुँचा जा सकता है। उसी दो दिन के मार्ग पर, जो मार्ग था ही नहीं, साँड़नी उड़ी जा रही थी।

'बड़ी धीमी है यह साँड़िनी!' बलवन्त सिंह बार-बार झुँझलाते थे। साँडनी को उत्साह देते थे– 'मरुकी रानी! बढ़! बढ़ी चल तो।' साँड़नी अपने सवार के मनोभाव समझती थी। कदाचित् वह समझती थी आज की यात्रा मृत्युयात्रा है। जब मरना ही है– सवार ने जब मरने का ही निश्चय किया है, ऐसा ही सही। वह मूक प्राणी पूरे वेग से उड़ा जा रहा था। सेना के उत्तम ऊँटों में से वह था उस पर भरोसा किया जा सकता था, किन्तु बलवन्त के मन में जो उतावली है– कोई मन की गति का साथ कैसे दे सकता है?

कोलायत से आगे बढ़ते ही सूर्योदय हो गया। दिन के साथ वायु का वेग भी चढ़ने लगा। साँड़नी ने एक बार सिर उठाया, कुछ सूँघने का प्रयत्न किया। खड़ी हो गयी और लौटने के लिए मचलने लगी।

'बढ़ो! आगे बढ़ो रानी!' बलवन्त ने पुचकारा– 'लौटना नहीं है। मेरी देह भी माता के पास तुम पहुँचा सको तो मेरा जीवन सफल हो जायगा।'

ऊँट ने जैसे बात समझ ली। बस चलना ही है तो वह चलेगा। सेना का ऊँट कायर नहीं होता। लेकिन उसने अपनी ओर से सूचित कर दिया कि आगे बढ़ने का क्या अर्थ है।

मरुस्थल में जब अन्धड़ चलता है– कोई मनुष्य बैठ जाय तो उसके ऊपर रेत का पहाड़ खड़ा हो जायगा और अन्धड़ ज्येष्ठ में न चले तो चलेगा कब। बड़े-बड़े टीबे (रेत के टीले) उड़ते हैं और मील दो मील दूर एक नवीन पर्वताकार टीबा बनता है। यह सब क्षणों में होता है– होता ही रहता है पूरे ग्रीष्म को दोपहरियों में। ऐसे ग्रीष्म में शरणहीन, ग्रामहीन, छायाहीन, मार्गरहित, मरुस्थल में जो बढ़ पड़े– क्या कहेंगे आप उसे?

बहुत थोड़ी देर में बलवन्त को अपने सिर के साफे का ढङ्ग बदलना पड़ा। उसने दोनों कान बन्द कर लिए। अनेक बार दोनों नेत्र बन्द कर लेने पड़ते थे उसे।

'क्यों? चौंकने का क्या कारण है!' सहसा ऊँट चौंका। बलवन्त ने अपने पीछे की ओर से रेत उड़ती देखी। भाले को उसने ठीक सम्हाल लिया। चार-पाँच ऊँट, उसके पीछे आ रहे हैं– दौड़े आ रहे हैं। 'आने दो उन्हें।' राजपूत स्वभाव से निर्भय होता है और बलवन्त के पास तो सेना का ऊँट है। पाँच डाकुओं के लिए वह अकेला भी भारी ही पड़ेगा।

'आप कहाँ जायँगे?' पीछा करनेवाले पास आये। वेश से डाकू नहीं लगते थे वे। कोई भले नागरिक-जैसे ही थे। आक्रमण करने की कोई चेष्टा उन्होंने प्रकट नहीं की। बड़े प्रेम से पास आकर उनमें से एक पूछा।

'किशनगढ़!' बलवन्त सिंह ने भी पूछा– 'आप लोग?'

'हम लोगों को भी वहीं जाना है। हमारे साथी जैसलमेर से वहाँ कल ही पहुँच गये होंगे। हम लोग बीकानेर रह गये कुछ आवश्यक वस्तुएँ लेने के लिये।' आगन्तुकों में से एक ने पूरा परिचय दिया अपना। कोई बारात गयी है किशनगढ़। ये लोग पीछे रह गये हैं। अब पहुँचने की शीघ्रता है, इससे सीधा मार्ग पकड़ा है। 'मार्ग में डाकुओं का भय रहता है। आपका साथ हो गया, यह बड़ा अच्छा हुआ। सेना के एक सरदार का साथ मार्ग में भाग्य से ही मिलता है।'

बलवन्त सिंह अपने सैनिक वेश में ही थे। यात्रा के लिये उन्हें यह वेश इसलिये भी सुविधाजनक लगा कि इस वेश के कारण लुटेरों को आक्रमण करते समय दो बार सोचना पड़ेगा।

'आपके साथ तो पानी नहीं है।' आगन्तुकों को आश्चर्य तो हुआ पर उन्होंने उसे प्रकट नहीं किया। 'कोई बात नहीं हमारी बखाल (मशक) भरी है और कल तो हम किशनगढ़ पहुँच ही जायँगे।'

'मैं बखाल का जल नहीं पीता!' बलवन्त सिंह ने जब से श्रीनाथ जी की कृपा प्राप्त की, वे वैष्णव हो गये हैं। दो दिन मार्ग में लगेंगे और मरुस्थल का जलहीन मार्ग; परंतु बखाल में साथ जल लेने की बात उन्होंने नहीं सोची।

'कोई बात नहीं! बीच में थोड़ा पानी मिल सकता है। एक देवी-स्थान है मार्ग में!' आगन्तुकों ने आश्वासन दिया- 'मार्ग हमारा जाना-बूझा है। आवश्यकता होने पर ऊँट रेत में दबे मतीरे ढूँढ़ लेगा।'

इस निर्जन मरु में मतीरे (तरबूज) मिलेंगे, यह आशा बलवन्त सिंह को नहीं है। लेकिन कुछ मार्ग जानने वाले साथी मिल गये हैं। मरुभूमि का ज्ञान उन्हें अधिक है। स्वयं उसने भी बचपन में सुना है कि इस दुर्गम मरुस्थल में कहीं देवी-स्थान है। मरुभूमि की वे अधिष्ठात्री देवी भूले-भटके यात्रियों की रक्षा करती है। यह किंवदन्तियाँ भी उसने सुनी हैं। 'देवी-स्थान के पास एक छोटा कुण्ड है। उस कुण्ड में सदा मीठा जल भरा रहता है।' बहुत-सी बातें उसे स्मरण आ रही हैं जो उसने कभी लोगों से सुनी हैं। उसे इस दुर्गम मार्ग के साथी मिल गये हैं, इसलिये वह बहुत निश्चिन्त हो गया है।

× × ×

[3]

'क्या?' चौंका बलवन्तसिंह। वह निश्चिन्त चला जा रहा था। आँधी का वेग बढ़ गया था। रेत के झोंकों के कारण प्रायः नेत्र बंद रखने पड़ते थे। ऊँट अपने अनुमान पर

स्वतः बढ़े जा रहे थे। सहसा एक भाला खटाक से उसकी काठी में आकर लगा।

'अच्छा!' दूसरा भाला फिर फेंका गया; किन्तु वह सिर के पास से होता नीचे गिर गया। बलवन्त सिंह की साँढ़नी सावधान हो गयी थी। स्वयं बलवन्त ने अपना भाला सम्हाल लिया था।

'मूर्ख!' चिल्लाया एक लुटेरा। बलवन्त सिंह जिन्हें साथी मानकर निश्चिन्त हो गया था, वे वस्तुतः लुटेरे थे। यह तो अंधड़ की कृपा थी कि उनके भाले लक्ष्यच्युत हो रहे थे। अन्यथा अच्छे-से-अच्छे सैनिक भी इन लुटेरों से दो-दो हाथ नहीं कर सकता।

'अच्छा रह!' बलवन्त सिंह ने क्रोध में एक की ओर ऊँट झुकाया और भाले का भरपूर हाथ धर दिया। लेकिन चूक गया उसका भी लक्ष्य! मनुष्य का रक्त गिरने के स्थान पर ऊँट पर बँधी बखाल में भरा जल भल-भल करके गिर रहा था और कोई सम्हाले, इससे पहले बखाल खाली हो गयी।

'ठहरो!' लुटेरों के सरदार ने हाथ उठा दिये। उसके साथी भी ठिठक गये। कितना बहुमूल्य था वह खाल में भरा पानी! किसी मनुष्य के रक्त से इस समय वह कहीं मूल्यवान् था और अब तो रेत उसे पी चुकी थी।

'अब तो मरना है।' लुटेरों के सरदार ने कहा- 'तुम्हें भी मरना है और हम सबको भी मरना है। लड़ने से अब कोई लाभ नहीं। जब जीवन की आशा ही नहीं है तो धन का महत्त्व क्या। हम सब साथ रहेंगे तो तुम्हें कुछ सुविधा ही होगी।'

'मुझे लुटेरों की दया नहीं चाहिये।' बलवन्त सिंह ने भाला उठा रक्खा था।

'तुम्हें न सही, हमें तो चाहिये!' सरदार ने हाथ जोड़ दिये। 'हम छः साथ रहेंगे तो किसी भी प्रकार कहीं पानी ढूँढ़ने का प्रयत्न कर भी सकेंगे। तुम्हें हम लोगों पर विश्वास न हो तो हम अपने शस्त्र फेंक देते हैं।' लुटेरों ने कमर की तलवारें भी रेत में नीचे फेंक दीं।

'देवी के स्थान पर जल नहीं है क्या?' बलवन्त सिंह चौंका। लुटेरे सहसा इतने दीन बन जायँ, यह कोई छोटी बात नहीं थी। पानी न मिला तो इस मरुभूमि में समाधि बनेगी, इसमें सन्देह करने का कोई कारण ही नहीं है।

'आप समझते हैं कि ऊँट अभी दो घण्टे और चल सकते हैं?' लुटेरों के सरदार ने कहा- देवी का स्थान मरुस्थल के केन्द्र में है। वहाँ सन्ध्या से पहले नहीं पहुँचा जा सकता और जल वहाँ है या नहीं, यह कोई नहीं जानता। आपने सुना नहीं कि गर्मियों में वहाँ देवी प्रत्यक्ष निवास करती है। मनुष्य वहाँ जा नहीं सकता और पहुँच जाय तो लौटता नहीं।'

'श्रीनाथ जी जानते हैं क्या होगा?' बलवन्त सिंह को अब एक क्षण व्यर्थ नष्ट

करना भयङ्कर दीखता था। लुटेरे निःशस्त्र थे। उनसे कोई भय नहीं था। लेकिन महाभय मुँह फाड़े सामने खड़ा था। आकाश धूलि से भर गया था। पश्चिम दिशा अन्धकारमयी हो रही थी। अन्धड़ आ रहा था और अन्धड़ का सीधा अर्थ था मृत्यु।

रेत भड़भूजे की भट्ठी में भी इतनी कदाचित् तपती हो। ऊपर सूर्य अग्नि की वर्षा कर रहा था। दिशाओं में लपटें आ रही थीं। शरीर झुलसा जा रहा था। कण्ठ सूख गया था। इस पर अन्धड़ आ रहा था। बैठ जायँ तो रेत ऊपर पहाड़-सी समाधि बना देगी और खड़े ऊँट पर बैठे रहें तो पता नहीं कितनी दूर जाकर हड्डियाँ रेती में गड़ेंगी। ऊँट तक निराशा से क्रन्दन-जैसी ध्वनि करने लगे।

'हम सब एक-दूसरे को आपस में बाँधकर बैठ जायँ।' लुटेरों के सरदार ने सलाह दी।

'मैं तुम लोगों के साथ मृत्यु में भी बँटवारा नहीं करूँगा।' बलवन्त सिंह ने साथ नहीं दिया। लेकिन पाँचो लुटेरे एक-दूसरे को परस्पर बाँधकर बैठ गये रेत में सिमटकर और अपने ऊँट उन्होंने अपने चारों ओर खड़े कर लिए।

अन्धड़ को आना था- आया। बलवन्त सिंह को फिर पता नहीं क्या हुआ। अवश्य अन्धड़ ने उसे उठाकर फेंका, इतना स्मरण है। फिर तो मूर्च्छा आते-आते उसके मुख से निकला था- 'श्री...नाथ जी...।'

× × ×

[4]

'महर्षि उत्तङ्क प्यासे हैं। समाधि से जग गये हैं। महातापस।' देवराज इन्द्र के यहाँ बड़ी त्वरा थी। द्वापर में त्रिभुवन के स्वामी द्वारिकेश ने महर्षि को वरदान दे दिया है और वह वरदान सार्थक न हो- देवराज, देवराज रह कैसे सकते हैं।

मरुभूमि में एक छोटा मेघ-खण्ड प्रकट हुआ। तपती दोपहरी में, भयङ्कर अंधड़ के मध्य, कहीं और कभी राजस्थान के वासी जानते हैं कि उत्तङ्क मेघ कब कहाँ प्रकट होगा, कुछ कहा नहीं जा सकता। वह तो ग्रीष्म की दोपहरी में ही प्रायः निकट होता है। अदृश्य रहने वाले महातापस उत्तङ्क की समाधि कब भङ्ग होगी, कब उन्हें प्यास लगेगी, इस बात का तो देवराज को भी पहले से पता नहीं होता।

बड़ी-बड़ी बूँदें पड़ रही थीं। धरा और आकाश चारों ओर आग उगल रहे थे और उस अग्निवर्षा के मध्य कुछ गज भूमि में बड़े जोर से वर्षा हो रही थी। राजस्थान में उत्तङ्क मेघ सदा ऐसे ही तो वृष्टि करता है।

बलवन्त सिंह के नेत्र खुले। वह भूमि पर पड़ा था। उसके वस्त्र भींगकर रेट से लथपथ हो गये थे। उसने अपने को सम्हाला। उसकी दृष्टि सबसे पहले ऊँट पर पड़ी। उसकी साँड़नी वर्षा में भीगी उसके पास खड़ी थी।

'धन्य प्रभु!' बलवन्त सिंह ने हाथ जोड़कर मस्तक झुकाया। अब उसमें पर्याप्त स्फूर्ति थी। ऊँट पर चढ़ने के बाद उसे स्वयं पता नहीं कि किधर जा रहा है। मार्ग जानने का कोई उपाय नहीं था। लेकिन सायङ्काल की अरुणिमा ने जब मरुस्थल पर गुलाल बिखेरना प्रारम्भ किया, बलवन्त सिंह का ऊँट देवी स्थान के कुण्ड में जल पी रहा था और बलवन्त सिंह टेकरी पर खेजड़ी के नीचे देवी के चबूतरे के सामने साष्टाङ्ग प्रणिपात करते लेट गया था।

× × ×

'तू आ गया बेटा!' दूसरे ही दिन रोगशय्या पर पड़ी माता के कर अपने बिछुड़े पुत्र की पीठ सहला रहे थे।

'मैं आ गया माँ!' बलवन्त के कण्ठ भरे थे। 'सीधे मरुस्थल के मार्ग से आया हूँ।'

'मरुस्थल के मार्ग से?' पीछे खड़े बड़े भाई के स्वर में आश्चर्य था।

'हाँ भैया!' बलवन्त ने उनके चरणों में मस्तक रक्खा। 'श्रीनाथजी की भुजाएँ बहुत लम्बी हैं। वे मरूभूमि में भी अपने जनों को बचा ही लेती हैं।'

❑❑

सद्भाव

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः।।

'तू इस मल-मूत्र के पात्र से इतना मोह क्यों करता है?' स्वामी निरञ्जनानन्द ने अपनी शुश्रूषा में लगे सेवाराम को स्नेहपूर्वक झिड़की दी- 'शरीर को महत्त्व देना छोड़। यह तो आज या कल नष्ट होने वाला ही है। साधु तू किसलिये हुआ, इस पर विचार कर।'

'महाराज! मैं अपने आप तो साधु हुआ नहीं। आपने मुझे ये गैरिक वस्त्र दिये हैं। आप जानों कि क्यों दिये ये वस्त्र आपने मुझे।' सेवाराम गुरु के सम्मुख पर्याप्त धृष्ट हो गया है। कोई भी बात कहने में उसे संकोच नहीं होता। उसे तब बहुत बुरा लगता है, जब गुरुदेव उसे अपनी सेवा से रोकना चाहते हैं। इस समय भी वह झुँझलाये स्वर में कह रहा है- 'आपके लिए आपका यह शरीर कैसा है, यह आप जानो। मैं आत्मा-परमात्मा तो कुछ समझता नहीं। मुझे मेरे नारकीय जीवन से आपने अपने इसी शरीर से उद्धार किया है। इसलिए मैं इसकी थोड़ी बहुत सेवा कर लूँ, इतना ही मेरे लिए बहुत है।'

'सेवाराम' यह नाम भी उसका स्वामी निरञ्जनानन्द ने रक्खा है। माता-पिता का रक्खा नाम उसका क्या है, पता नहीं; किन्तु लोगों में वह दारुणसिंह के नाम से प्रख्यात रहा है। इस कस्बे का सबसे भयङ्कर गुण्डा था दारुण सिंह। जुए का अड्डा चलाता था वह। थाने के दारोगा-सिपाही जैसे उसकी जेब में रहते हों। चोरी, मारपीट, शराब और दूसरे अनेक उपद्रव-क्या-क्या नहीं किया दारुण सिंह ने। कस्बा ही नहीं, आसपास के अनेक ग्राम के लोग उसके नाम से काँपते थे।

प्रचण्ड शरीर, उद्धत स्वभाव दारुण सिंह रोगशय्या पर पड़ा। अनियन्त्रित भोग का परिणाम ही असाध्य रोग है। उसके पीछे लगे रहनेवाले, उसकी हुंकार पर प्राण देने को प्रस्तुत उसके अनुगामी पट्ठे आँख चुरा गये। उसके पास कोई पानी देने को फटकने वाला नहीं था, जब उसकी देह में दुर्गन्धि भरे घाव फूट निकले।

स्वामी निरञ्जनानन्द कस्बे से बाहर रहते हैं। फूस की कुटिया उनके लिए

स्थानीय लोगों ने बना दी है। बहुत वृद्ध शरीर है। अब पर्यटन नहीं कर पाते। घूमते हुए कई वर्ष पूर्व यहाँ आ गये थे। स्थानीय श्रद्धालुओं के आग्रह ने रोक लिया। कुछ औषध जानते हैं और अत्यन्त अपरिग्रही पर-दुःखकातर महात्मा हैं।

'गुण्डा दारुण सिंह अपना कर्मफल भोग रहा है। सड़सड़कर कुत्ते की मौत मरने वाला है।' स्वाभाविक था कि कस्बे के उत्पीड़ित जन दारुण सिंह की इस यन्त्रणा से प्रसन्नता का अनुभव करते। वे स्थान-स्थान पर इसी प्रकार की चर्चा करते थे।

यह चर्चा स्वामी निरञ्जनानन्द के कानों में पड़ी तो उनका सन्त हृदय द्रवित हो गया। वे उसी समय दारुण सिंह के समीप चल पड़े थे। स्वामी जी के सङ्कोचवश लोगों ने उस दुर्गन्धित रोगी को किसी प्रकार उठाकर स्वामी जी की कुटिया पर पहुँचा दिया। इसके बाद रात-दिन एक करके स्वामी जी ने जो सेवा-शुश्रूषा उसकी की, वह सेवा, वह तत्परता किसी स्नेहमयी अत्यन्त स्नेहवत्सला माता में पुत्र के प्रति देखी जाती है।

दारुण सिंह स्वस्थ हो गया। धीरे-धीरे सबल भी हो गया; किन्तु वह फिर दारुण सिंह नहीं हुआ। स्वामी जी ने उसका नाम सेवाराम रख दिया। उसे गैरिक वस्त्र दे दिये। वह कुटिया तथा उसके आसपास की भूमि की स्वच्छता तथा स्वामीजी की सेवा में लग गया। स्वामी जी के लिए जो भिक्षा आती है, उसी में उसका भी निर्वाह हो जाता है। रात-दिन में कठिनाई से तीन-चार घण्टे चटाई पर पीठ टेकता है। खड़े पैर निरन्तर सेवा-दूसरा कुछ काम न हो तो स्वामी जी के शरीर पर बैठनेवाली मक्खियों को ही रूमाल लेकर उड़ाता रहेगा।

सेवाराम का स्वभाव अब भी रूक्ष है। अनेक बार वह स्वामी जी से भी झगड़ पड़ता है। विशेषतः तब वह रुष्ट होता है, जब उसे लगता है कि स्वामी जी अपने स्वास्थ्य का ध्यान न रखकर श्रद्धालुओं की सन्तुष्टि के लिए, बहुत अधिक देर तक बैठे रहे हैं और बोलते रहे हैं। आगतों को भी वह अनेक बार झिड़क देता है।

स्वामी जी बहुत चाहते हैं कि सेवाराम कुछ साधना भजन करे। कम-से-कम सत्सङ्ग के समय शान्त बैठकर श्रवण तो करें; किन्तु सेवाराम कहता है- 'यह सब उपदेश, ज्ञान-भक्ति की बातें मेरी समझ में नहीं आती हैं। इनमें माथा कूटने के बदले कुटिया के आसपास की घास छीलकर स्थान को स्वच्छ कर लेना मुझे अधिक आवश्यक प्रतीत होता है।'

लेकिन स्वामी जी अत्यन्त वृद्ध थे। उनका कहना ठीक था कि उनका वृद्ध शरीर आज नहीं तो कल जाने ही वाला है। सेवाराम को उनकी सेवा का अवसर केवल सात महीने ही मिल सका था कि स्वामी जी का निर्वाण हो गया।

× × ×

'भगवान् मनुष्य का ऐसा कौन-सा पुण्यकर्म है, जिसके फलस्वरूप संयमनी के स्वामी अपनी प्रणति से उसे सम्मानित करते हैं।' चित्रगुपत ने धर्मराज से नम्रतापूर्वक प्रार्थना की।

स्वामी निरञ्जनानन्द का देह धरा पर छूटा तो उनकी सेवा में रहनेवाले सेवाराम के हृदय की धड़कन शोक के अतिशय आवेग से बन्द हो गयी। वह जीवनभर का असत्कर्मा- यमराज के दूत उसे संयमनी पकड़ ले आये।

चित्रगुप्त ने ही उसके लिये अनेक नरकों का विधान किया है। इतने पर भी उसके जीव को यमराज ने आसन से उठकर अभिवादन किया तो चित्रगुप्त चौंके। कहीं उनका विधान त्रुटिपूर्ण तो नहीं है?

'इन महानुभाव का कर्म-विवरण दिखायेंगे आप!' धर्मराज ने प्रश्न का उत्तर देने के स्थान पर वह विवरण ले लिया अपने हाथ में। चित्रगुप्त को तब और भी आश्चर्य हुआ, जब आगत जीव के लिए नारकीय यन्त्रणा का जो विधान किया गया था, उसे यमराज ने कुछ और बढ़ा दिया।

'ये पुण्यकर्म अन्य सेवको तथा प्रशंसकों के विवरण में सम्मिलित होंगे। धर्मराज ने कर्म-विवरण चित्रगुप्त को लौटाते हुए एक और चौकानेवाला आदेश दे दिया। स्वामी निरञ्जनानन्द जी तत्त्वज्ञ पुरुष थे। संचित उनका ज्ञानसमकाल दग्ध हो चुका था। प्रारब्ध प्रसन्नतापूर्वक उन्होंने भोगा था; किन्तु ज्ञानोत्तरकाल में उनके शरीर से जो कर्म हुए थे, उनमें से शुभकर्म उनके सेवक-प्रशंसकों को तथा अशुभ कर्मनिन्दक उत्पीड़कों को नियमानुसार प्राप्त होते थे। असङ्गकर्ता का स्पर्श तो ये कर्म कर नहीं सकते थे। स्वामीजी की सच्चे मन से सेवा की थी सेवाराम ने और अब यमराज कह रहे थे कि स्वामीजी के जो शुभकर्म सेवाराम के कर्म-विवरण में सम्मिलित किये गये हैं, उन्हें अन्य लोगों के विवरण में मिला दिया जाय। चित्रगुप्त इस आज्ञा से अतिशय चकित हुए थे।

'ये महानुभाव यहाँ से ही निर्वाण प्राप्त करेंगे।' चित्रगुप्त को चकित, स्तब्ध खड़े देखकर धर्मराज ने कहा- 'इसीलिए मैंने इन्हें अभ्युत्थान तथा अभिवादन से सत्कृत किया है।'

'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' श्रुति कहती है कि ज्ञान के बिना मोक्ष नहीं होता और इस सेवाराम ने तो कभी श्रवण तक नहीं किया। चित्रगुप्त ने पूछ लिया- 'इनकी मुक्ति सम्भव है क्या?'

'असम्भव हो तो अपने लोक के यन्त्रणा-भोग के पश्चात् आप इन्हें किस देह को देने की स्थिति में हैं?' यमराज ने प्रश्न के उत्तर में प्रश्न ही कर लिया।

चित्रगुप्त ने कर्म-विवरण सावधानी से देखना प्रारम्भ किया। जब कोई प्राणी नरकगामी हुआ, तब नरक यातना के पश्चात् उसे कौन सा पार्थिव देह प्राप्त होगा, यह निर्णय अभी हो जाना ही चाहिए था। यदि यमराज इस प्राणी को अभ्युत्थान देकर चित्रगुप्त को चौंका न देते तो अब तक उसके आगामी जन्मों का निश्चय अपने-आप हो चुका होता।

मनुष्य अपने जीवन के एक दिन, एक मुहूर्त में ऐसे अशुभ या शुभ कर्म कर सकता है कि उनका फल उसे लाखों-लाखों जन्मों में भोगना पड़े। पृथ्वी पर के सभी प्राणियों के शरीर अत्यन्त दुर्बल हैं। यहाँ एक छोटी सीमा तक ही सुख या दुःख भोगा जा सकता है। यह मनुष्य लाखों प्राणियों को परमाणु बम गिराकर भस्म कर सकता है; किन्तु उसे तो केवल एक बार ही प्राणदण्ड दिया जा सकता है। इसी प्रकार ऐन्द्रियिक सुख भी पार्थिक देह में थोड़ा ही भोगा जा सकता है। कोई रसना को तृप्त करने के पीछे ही पड़ेगा तो कहाँ तक? पेट भरने तक। अधिक दिन ऐसा करे तो रोगी हो जायगा। भोजन ही छूट जायगा उसका।

जब मनुष्य के अशुभ कर्म इतने अधिक होते हैं कि संसार के किसी देह में उसका फल भोगना सम्भव न हो तो वह नरक जाता है। नरक में उसे मिलता है- 'यातना देह'। लाख-लाख बार काटने, जलाने, पीसने पर भी वह देह न कटता, न जलता और न पिसता है। केवल उस देह के अभिमानी को कटने, जलने अथवा पिसने की दारुण यन्त्रणा का अनुभव होता रहता है। इस प्रकार जब उसके कर्म-भोग इस सीमा तक रह जायें कि पृथ्वी के पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग आदि के देहों में उसका फल भोगना शक्य हो, तब वह पृथ्वी पर जन्म पाता है।

यही बात अत्यन्त शुभ कर्मों के सम्बन्ध में है। वे इतने अधिक हों कि उनका सुखभोग किसी पार्थिव देह में मिलना सम्भव न हो तो वह स्वर्ग जाता है। स्वर्ग में उसे 'भोगदेह' मिलता है। इस देह में तृप्ति तथा रोग नहीं है। निरन्तर भोग का आनन्द मिलता रहेगा और जब भोग इतने अल्प रह जायँ कि पार्थिव देह में भी उन्हें भोग लेना सम्भव हो, तब पृथ्वी पर जन्म होता है।

यह सब तो है; किन्तु एक विशेष नियम मनुष्य के लिए है। मनुष्य मरते समय जो चिन्तन करता है, पृथ्वी पर उसे प्रथम जन्म उस चिन्तन के अनुसार ही देने के लिए कर्म-नियन्ता विवश है। इसीलिए पितृलोक बना है। मान लीजिये कि एक व्यक्ति किसी का चिन्तन करते मरता है। मृत्यु के उपरान्त वह अपने स्वर्ग या नरक के भोग प्राप्त करके उन्हें पूर्ण कर लेता है। अब उसे पृथ्वी पर उसके संसर्ग में जन्म लेना चाहिये, जिसका चिन्तन करते वह मरा है, वह जीव अभी स्वर्ग या नरक में है। तब इस दूसरे जीव को पितृलोक में प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। एक प्रकार का प्रतीक्षालय है पितृलोक।

'यह जीव नरक आया है। अतः नरक के दुःख भोगकर इसे किसी अशुभ योनि में

जाना चाहिये।' चित्रगुप्त ने कर्म-विवरण देखते हुए सहजभाव से कहा। नरक-भोग समाप्त करने पर भी जीव के पास अशुभ कर्म ही तो अवशेष रहेंगे। अतः धरा पर कीट-पतङ्ग पशु-पक्षी तथा अन्य यन्त्रणा भोगते प्राणी नरक से आये जीव हैं, यह अनुमान सरल है। यहाँ यश, ऐश्वर्य तथा आनन्द भोग तो स्वर्ग से आगतों का भाग है। इसलिए चित्रगुप्त का चिन्तन ठीक दिशा में ही था।

'आप इन महानुभाव के अन्तिम चिन्तन पर ध्यान नहीं दे रहे हैं।' धर्मराज ने चित्रगुप्त को दिशा-संकेत दिया।

'ऐं!' चित्रगुप्त चौंके- 'स्वामी निरञ्जनानन्दजी तो निर्वाण प्राप्त कर चुके, जिनका चिन्तन करते इन्होंने शरीर छोड़ा।

'अब विधानतः हम बाध्य हैं कि हम इनको वह प्रदान करें, जो इनका अन्तिम चिन्त्य था।' धर्मराज ने सूत्र सुना दिया।

'जो प्रकृति के क्षेत्र से परे पहुँच गये, उन्हें या उनका सान्निध्य हम किसी को कैसे दे सकते हैं?' चित्रगुप्त ने मस्तक झुका लिया।

'जब अन्तिम चिन्तन के अनुसार जन्म हम नहीं दे सकते, विवश होकर हमें इन्हें मुक्त करना पड़ेगा।' धर्मराज ने बात स्पष्ट की- 'जो किसी मुक्तात्मा का चिन्तन करता महात्मा में आसक्त प्राणी प्राणत्याग करता है, उसका स्वत्व बन गया मोक्ष।'

'किन्तु इन्हें ज्ञान तो...।' चित्रगुप्त ने शङ्का की।

'ज्ञान तो श्रवण-सापेक्ष है और मैं यहाँ इसीलिये नियुक्त हूँ कि कोई अधिकारी उपस्थित होने पर उसे उपदेश करूँ।' यमराज महाभागवत हैं, चित्रगुप्त से यह अज्ञात नहीं है। अतः ज्ञानोपदेश यदि वे करना चाहेंगे, सहज समर्थ हैं इसमें।

'यदि वे महानुभाव यहाँ न आकर अमरावती गये होते?' चित्रगुप्त के प्रश्न का अर्थ है कि यदि सेवाराम अपने जीवन में शुभकर्मा होते और इसी प्रकार स्वामी निरञ्जनानन्द का चिन्तन करते देहत्याग करते तो यमलोक तो आते नहीं। शुभकर्म का फल भोगने स्वर्ग जाते। स्वर्गसुख भोगने के पश्चात् उनका क्या होता?

'जीव अपने शुभाशुभ कर्मों के फलस्वरूप नरक, स्वर्ग अथवा ब्रह्मलोक तक जाता है। ऊपर के अन्य लोकों में अथवा नीचे के रसातल, पातालादि में भी जा सकता है।' धर्मराज का स्वर गम्भीर हो गया- 'इन लोकों में मैं, देवराज इन्द्र, भगवान् ब्रह्मा, ऋषिगण अथवा अधोलोकों में भक्तश्रेष्ठ प्रह्लाद, दानवेन्द्र मय, नागराज वासुकि, भगवान शेष प्रभृति कारक पुरुष इसीलिए तो हैं कि यदि कोई किञ्चित् कर्मशेष अथवा महापुरुष में आसक्त प्राणी वहाँ आ जाय तो उसे तत्त्वोपदेश वहाँ प्राप्त हो सके। उसे संसार में भेजना तो विधान के ही विपरीत है।'

❑❑

घर्मो धारयति प्रजाः

आज की बात नहीं है। बात है उस समय की, जब पृथ्वी की केन्द्रच्युति हुई, अर्थात् आज से कई लाख वर्ष पूर्व की। केन्द्रच्युत से पूर्व उत्तर तथा दक्षिण के दोनों प्रदेशों में मनुष्य सुखपूर्वक रहते थे। आज के समान वहाँ हिमका साम्राज्य नहीं था, यह बात अब भौतिक विज्ञान के भू-तत्त्वज्ञ तथा प्राणिशास्त्र के ज्ञाताओं ने स्वीकार कर ली है।

पृथ्वी के दक्षिणी ध्रुवप्रदेश में बहुत बड़ा महाद्वीप था अन्तःकारिक। महाद्वीप तो वह आज भी है। उसे अब आप अण्टार्कटिका के नाम से जानते हैं। उसके एक महानगर की चर्चा है यह। उस महानगर को अन्तःलासिक कहते थे उस समय।

पृथ्वी का यह दक्षिण-ध्रुवीय प्रदेश अब भी अनेक अद्भुत रहस्य रखता है। उसकी अनेक प्राकृतिक विशेषताएँ उस समय भी वैसी ही थीं, जैसी आज हैं। वहाँ जब इस युग के अन्वेषकों का प्रथम दल गया तो उसने पाया कि प्रत्येक वस्तु में वहाँ दाहिने घूमने की विचित्र प्रवृत्ति है। आँधी दक्षिणावर्त चलती है। वहाँ के पक्षी बायें से दाहिने मण्डलाकार चलते हैं। मनुष्य प्रयत्न करता और समझता है कि वह सीधे या बायें मुड़ रहा है, किन्तु अन्त में पाता है कि वह दाहिने मण्डलाकार घूमता हुआ वहीं पहुँच गया जहाँ से चला था। अब तो दिशादर्शक यन्त्र पर निर्भर करके ही वहाँ चलना होता है।

प्रकृति में जो यह सजह प्रवृत्ति वहाँ है, उसका परिणाम यह हुआ था कि पूरे अन्तःकारिक महाद्वीप में नगर गोलाकार बसे थे। उनके मार्ग मण्डलाकार थे। भवन अर्धगोलाकार गुम्बद के समान बनते थे और उनका बाहरी घेरा ही नहीं, मुख्य कक्ष भी गोल होते थे। यदि बहुत ही थोड़ी दूर न जाना हो तो व्यक्ति अपने गन्तव्य तक दक्षिण से चलकर मण्डलाकार घूमते हुए ही जाते थे। इसके लिये उन्हें कितना अधिक चलना पड़ता है, इस बात पर ध्यान देने की किसी को भी आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई।

प्रकृति में यह जो दाहिने घुमाने की शक्ति है वहाँ, वह सीधे मन को प्रभावित करती है। इसीलिये मनुष्य न चाहते हुए भी दाहिने अनजान में घूमता रहता है। यह

शक्ति मन पर अनेक और प्रभाव डालती है। मन बहुत कम बाहरी दृश्यों तथा कार्यों में रस ले पाता है। स्वभाव से चुपचाप बैंठने, अन्तर्मुख होने की प्रवृत्ति वहाँ है। यह बात दूसरी है कि आज का अत्यन्त बहिर्मुख मनुष्य बाह्यशोध का उद्देश्य लेकर जब वहाँ पहुँचता है, तब वह इस अन्तर्मुख करने वाली शक्ति का अनुभव केवल इस रूप में कर पाता है कि 'प्रकृति वहाँ शीघ्र थका देती है। व्यक्ति वहाँ बहुत कम सक्रिय रह पाता है।'

उस समय पूरी पृथ्वी में एक ही धर्म था- 'सनातन धर्म।' दूसरे किसी सम्प्रदाय ने तब तक जन्म ही नहीं लिया था। सनातन धर्म तो सार्वभौम एवं नित्य शाश्वतधर्म है। अत: उसमें सब देशों के लिये, सब युगों के लिये, सब प्रकार की रूचि तथा शक्ति-सामर्थ्य के लोगों के लिये साधन हैं। उस युग में उस अन्त:कारिक महाद्वीप के लोग भी अपनी-अपनी रूचि के साधन करते थे।

जहाँ प्रकृति स्वयं अन्तर्मुख होने में सहायक है, मनुष्य एकाग्रता प्राप्त करने के अनेक साधनों को जीवन में उतार ले- इसमें आश्चर्य की बात नहीं है। महाद्वीप में बहुत कम कोलाहल प्रत्येक नगर में था। पथों पर अत्यावश्यक होने पर ही कोई निकलता था। जीवन बहुत सादा, बहुत परिग्रह रहित। जीवनधारण के लिये आवश्यक क्रियामात्र ही मनुष्य की कर्मशीलता रह गयी थी।

कोई श्रवण बंद किये, दोनों कानों में गुटिका लगाये बैठा है। अनहद नाद के माधुर्य के सम्मुख जगत् का सब रस उसे नीरस लगता है। किसी ने जिह्वा का दोहन-छेदन युवावस्था के प्रारम्भ में ही सम्पन्न कर लिया। वह रसना को कण्ठछिद्रों में दबाये गगनगुफा से झरते रस का ही आस्वादन करता है। किसी को स्पर्शयोग सिद्ध है और किसी को गन्धयोग। इच्छानुसार मन में ही अभीष्ट रुप-दर्शन की सामर्थ्य भी अनेकों ने प्राप्त कर ली थी।

कोई-न कोई साधना अन्तकारिक महाद्वीप का बालक माता की गोद से ही सीखना प्रारम्भ कर लेता था। एकाग्रता, अन्तर्लीनता और मौन- ये वहाँ के स्वभाव में आ गये थे।

इस स्वभाव का एक विचित्र परिणाम भी हुआ था। लोगों में बोलने की प्रवृत्ति नहीं थी तो सुनने की भी प्राय: नहीं रह गयी थी। वेदज्ञ ब्राह्मण भारत से बाहर जाते नहीं थे। साधना और आराधना को शास्त्रीय आधार कम ही प्राप्त था। केवल प्रकृतिदत्त अन्तर्मुखता का एक प्रकार का आलस्य भी था किसी क्रिया को कम करने में।

पूरे महाद्वीप के अन्त:लासिका नगर में एक व्यक्ति इस सबका अपवाद था। वह था अविनीत वर्मा। पता नहीं क्या बात थी कि वहाँ की प्रकृति का प्रभाव उसे स्पर्श नहीं कर पाता था। वह मार्गों को छोड़कर सीधे चल देता था। वाम दिशा में मार्ग पर चल देना भी उसे अस्वाभाविक नहीं लगता था। पथ पर उसे प्राय: इधर-उधर दौड़ते-

भागते देखा जा सकता था। बहुत कम वह कहीं स्थिर बैठ पाता था। अन्तर्मुख होकर ध्यान करने का प्रयत्न करते भी उसे पाया नहीं गया।

'मेरा पशु पङ्क में फंस गया है। मैं एकाकी उसका उद्धार नहीं कर पाऊँगा, सहायता की अपेक्षा है।' ऐसे अवसर पर व्यक्ति दूसरे से प्रार्थना करने को विवश हो ही जाता है।

'मेरे संध्याकालीन कृत्य का समय है। नियम को भङ्ग करने में असमर्थ हूँ। आप अविनीत वर्मा को ढूंढ़ लें। आप इसे नियमनिष्ठा भले न मानें, किन्तु आलस्य मत कहिये। वहाँ कोई आलस्य का आदर नहीं करता। किन्तु अपने नियम को तोड़कर कुछ करने का उत्साह भी किसी में नहीं था।

'मैं स्वयं अस्वस्थ हूँ। बच्चा बहुत कष्ट में है। चिकित्सक को बुला देने का कष्ट करेंगे आप?' एक रुग्णव्यक्ति पड़ोसी से प्रार्थना करने के अतिरिक्त और क्या करे?

'मैं अर्चन में बैठने ही जा रहा हूँ। आराधना में व्यतिक्रम अभीष्ट नहीं है। आप पथपर दृष्टि रक्खें। अविनीत वर्मा आता ही होगा इधर से।' उत्तर अवश्य अप्रिय है; किन्तु प्रार्थना करने वाला जानता है कि इस परिस्थिति में वह स्वयं होता तो यही उत्तर वह भी देता।

अविनीत वर्मा ही आश्रय है ऐसी विपत्ति में पड़े लोगों का। वह किसी के लिये औषधि लाने दौड़ रहा है और किसी के लिये चिकित्सक बुलाने। किसी का खोया पशु ढूँढ़ने उसे जाना है अथवा किसी के प्रियजनतक संदेश पहुँचा देना है। उसे किसी की सहायता में आपत्ति नहीं है, यदि उसके पास अवकाश हो।

'मेरे लिये आप शाल्यन्न ला देंगे?' कोई भी कह सकता है अविनीत वर्मा से।

'नहीं! तुम अपने लिये यह उद्योग स्वयं करो। मुझे दूसरा आवश्यक कार्य है।' यह उत्तर मिलने की सम्भावना सदा रहती है। वह अविनीत वर्मा नाम से ही नहीं है। विनम्रता, बनावट, किसी का संकोच उसमें नाम को नहीं है। नगर के प्रशासक अथवा कर्मनियामक को भी किसी भी नन्हें कार्य तक के लिये यह अस्वीकार कर दे सकता है। वह कार्य सबके कर देता है, अत्यन्त उपेक्षणीय पशु तक की सेवा करने बैठ जाता है; किन्तु करेगा वही कार्य, जो उसे ठीक लगेगा। उसको जो कार्य जब महत्त्वपूर्ण लगे, तब वही महत्त्वपूर्ण है।

'धन्यवाद!' कभी कोई कह तो देखे अविनीत वर्मा को। ऐसी झिड़की सुननी पड़ेगी उसे जो, वर्षों स्मरण रहे। उसे किसी कार्य के उपलक्ष में दो घूँट जल भी भेंट नहीं किया जा सकता। अपने श्रम से उपार्जित वस्तु के अतिरिक्त वह किसी से कुछ लेता नहीं। कोई उपकृत करने का साहस करें, यह उसका अपमान करने का प्रयास ही तो है।

सबके कार्य करके, सबकी सहायता करके, सबसे भिन्न रीति से रहनेवाला यह

अविनीत वर्मा बड़ा रुक्ष पुरुष है। उसके नेत्रों में अश्रु नहीं आते किसी की मृत्यु देखकर; और सब कहते हैं कि वह सांसारिक पुरुष हैं। कोई अन्तर्मुख होने का साधन उसने नहीं अपनाया। उससे सेवा चाहे जितने लोग ले लें, समाज में तिरस्कृत-उपेक्षणीय ही है वह। कौन जाने उसकी रूक्षता इस उपेक्षा से ही उत्पन्न हुई हो।

यही अविनीत वर्मा एक रात्रि अचानक चौंककर उठा। वह बहुत प्रयत्न करके, दीर्घकाल के श्रम के पश्चात् अपने गोल भवन का द्वार खोलने में समर्थ हुआ था। बाहर उसने जो कुछ देखा, उसे देखकर फूट-फूटकर रोया; किन्तु उस दिन उसके अश्रु कपोलों पर आने से पूर्व ही जम जाते थे। कोई उसका रुदन देखने वाला नहीं था उस दिन।

अविनीत वर्मा को अपने आसपास कुछ नहीं दीखता था। कोई भवन, कोई मार्ग अथवा कोई जीवन-चिन्ह कहीं नहीं था। पृथ्वी की केन्द्रच्युत हुई है, इसे कौन बतलाता। सम्पूर्ण सृष्टि पर श्वेत अन्धकार छाया दीखता था। आपने जो घोर कृष्ण अन्धकार जाना-देखा है, उससे अकल्पनीय भयानक था वह श्वेत अन्धकार।

पता नहीं आपने कभी हिमपात देखा है या नहीं। वह ध्रुवीय प्रदेश का हिमपात, उसमें अपना फैलाया हाथ तक हवा में घुल गया जान पड़ता है। व्यक्ति अपने को नहीं देख सकता तो आस-पास क्या है, इसे कैसे देखेगा। चारों ओर हिमराशि-जहाँ दृष्टि जाय, केवल श्वेत हिम।

जादू का प्रदेश लगता है वह हिम-प्रदेश। गगन में भरे हिमकणों पर सूर्य की किरणों का वक्रीभवन अद्भुत दृश्य दिखलाता है। आप खड़े हैं भूमि पर और साथ का व्यक्ति आपको गगन में उलटा लटका दीखता है। आपके देखते-देखते वह वायु में घुलकर अदृश्य हो जाता है, जबकि उसका हाथ आपके हाथ में है। आपको अपने से थोड़ी दूरी पर एक नगर दीखता है। उसके वृक्ष, भवन, मार्ग तथा उस मार्ग पर चलते वाहन, दौड़ते लोग- सब दीखते हैं। लगता है कि आप घंटेभर में कम से कम वहाँ पहुँच सकते हैं। लेकिन सत्य यह है कि वह नगर वहाँ से कई सहस्त्र मील दूर जापान या आस्ट्रेलिया में है। यह भी सम्भव है कि वह नगर सामने भूमि पर न दीखकर आपको अपने मस्तक पर आकाश में उलटा लटकता दीखे।

एक रात्रि में वह पूरा अन्तःकारिक महाद्वीप आज के अण्टार्कटिका जादू भरे हिम प्रदेश में बदल गया था। पूरी रात्रि में कितना हिमपात हुआ, जानने का कोई साधन नहीं था। अविनीत वर्मा ने पद बढ़ाये तो वह कटि तक कोमल हिम में डूब गयाा कठिनाई से निकला; किन्तु अब वह भवन का द्वार भी हिम के गर्भ में अदृश्य हो चुका था, जिसमें से अवनीत वर्मा अभी से बाहर आया था।

वह सिर पकड़कर बैठ गया और रोता रहा। रुदन रुका; कोई कब तक अकेले रोता रह सकता है। कुछ समझ में नहीं आता था कि क्या हुआ है। कुछ भी कर पाने का

उपाय नहीं था। जहाँ पद बढ़ाते ही हिम-समाधि मिल जाने की आशंका हो, कोई कर भी क्या सकता है। इतना सब था, किन्तु अविनीत वर्मा को अपने शरीर की सुधि नहीं थी। उन्हें न शीत लगने का बोध था और न अपने रहने, भोजन-जल पीने की चिन्ता ने स्पर्श किया था।

'यह पूरा महादेश धार्मिक था। धर्म को जो धारण करता है, धर्म उसका धारण करता है।' किसी समय माता से सुने वचन स्मृति में आये और मन में प्रश्न जागा- 'धर्म ने यहाँ के लोगों का धारण-रक्षण क्यों नहीं किया? कौन है इस धर्म-व्यवस्था का नियामक-संचालक?'

संकल्प मन में उठा और लगा कि शरीर को कुछ हो गया है। बहुत ही हलका लगा देह, जैसे वह गगन में ऊपर उठ रहा हो। अविनीत वर्मा ने नेत्र बंद कर लिये। उन्होंने अल्प क्षणों में ही उस श्वेत अन्धकार के प्रदेश में जो कुछ देखा था, उसके कारण कुछ भी होना उन्हें आश्चर्यजनक नहीं लग सकता था।

'पधारों, महानुभाव!' किसी का गम्भीर स्वर सुनायी पड़ा तो अविनीत वर्मा ने नेत्र खोल दिये। वे आश्चर्य से चारों ओर देखने लगे। कभी न तो उन्होंने वैसा स्थान देखा था, न वैसे लोगों का वर्णन सुना था, जैसे उन्हें वहाँ दीख रहे थे।

'यह धरा नहीं है। आप इस समय यमलोक में हैं। आपने मनुष्य के धर्माधर्म के विधायक धर्मराज का साक्षात्कार करने की इच्छा की थी।' चित्रगुप्त ने उन्हें चकित देखकर तथ्य से अवगत किया।

'तो मैं मर चुका हूँ।' अविनीत वर्मा ने कोई व्याकुलता प्रकट नहीं की। 'उस हिम प्रदेश में जीवित एकाकी भटक में से यह अधिक उत्तम है।'

'आप अब भी अपने भौतिक देह में ही हैं।' चित्रगुप्त ने फिर बतलाया। 'केवल आपकी जिज्ञासा ने आपको यहाँ पहुँचा दिया है। आपका पार्थिव देह तो पृथ्वी पर जो केन्द्रच्युति की घटना हुई, उसके संयोग में पड़कर तथा आपके शुभाचरण की शक्ति से सिद्ध-देह हो गया है। आप अब अमर रहेंगे मर्त्यभूमि में रहकर भी। लेकिन आपको तो अभी धर्मराज के दर्शन करने हैं।'

'अन्त:कारिक महाद्वीप के लोग धर्मात्मा थे।' अविनीत वर्मा ने धर्मराज को भी केवल हाथ जोड़कर शिष्टाचारमात्र के लिये प्रणाम किया और अपने प्रश्न पर आ गये- 'आप धर्म के निर्णायक हैं। आप बतायेंगे कि धर्म ने उनका धारण क्यों नहीं किया? वह पूरा महादेश ध्वस्त क्यों हो गया?'

'स्वेच्छाचरण का नाम धर्म नहीं है, भद्र! भले वह आचरण अन्तर्मुखता के साधन के रूप में ही क्यों न किया जाय।' धर्मराज ने गम्भीर बनकर उत्तर दिया। 'धर्म वह है, जो वेद-शास्त्रविहित है।'

'चोद्रनालक्षणों धर्मः' अविनीत वर्मा को यह स्मरण आ गया। लेकिन वे यह नहीं समझ पा रहे थे कि अन्तर्मुखता ही जिनका जीवन-लक्ष्य था, वे धार्मिक क्यों नहीं माने जाने चाहिये। उनके चित्त की स्थिति धर्मराज से अज्ञात तो थी नहीं। अतः वे बोले- 'जो गृहस्थ हैं, वर्णाश्रमविहित कर्म का सम्यक् निर्वाह उनका कर्त्तव्य है। विरक्त योगी के लिए उपदिष्ट केवल अन्तर्मुखता के साधन उनके लिए परधर्म तथा विधर्म बन गये, जब उनके कारण कर्तव्य निर्वाह में प्रमाद होने लगा। परधर्म और विधर्म अधर्म के ही रूप हैं, यह आपको ज्ञात है।'

'लेकिन वे इन्द्रि या राम तो नहीं थे। अविनीत वर्मा ने कहा।

'वे साधक थे, यह कौन अस्वीकार करता है?' धर्मराज बोले। 'उनका साधन निष्फल नहीं हो सकता और जीव अमर है। उन्होंने अपने स्थूल देह के कर्त्तव्य तथा उसके धर्म-निर्वाह की उपेक्षा की साधना को उपलक्ष बनाकर, अतः स्थूल देह उनसे छीन लिये गये।'

अब अविनीत वर्मा के पास कहने को कुछ था ही नहीं। आत्मा अमर है और साधन जन्मान्तर में भी चलते हैं, यह वे जानते थे।

सुना है कि अब अविनीत वर्मा अपने सिद्ध-देह से हिमालय के अदृश्य रहनेवाले कारक पुरुषों के साथ रहते हैं। सिद्धों के समाज में उनका नाम अब अविनीतपाद अथवा अविनीतप्पा लिया जाता है।

❑❑

ग्रह-शान्ति

'मनुष्य अपने कर्म का फल तो भोगेगा ही। हम केवल निमित्त हैं उसके कर्म-भोग के और उसमें हमारे लिये खिन्न होने की कोई बात नहीं है।' आकाश में नहीं, देवलोक में ग्रहों के अधिदेवता एकत्र हुए थे। आकाश में केवल आठ ग्रह एकत्र हो सकते हैं। राहु और केतु एक शरीर के ही दो भाग हैं और दोनों अमर हैं। वे एकत्र होकर पुनः एक न हो जायँ, इसलिये सृष्टिकर्ता ने उन्हें समानान्तर स्थापित करके समान गति दे दी है। आधिदैवत जगत् में भी ग्रह आठ ही एकत्र होते हैं। सिर रहित कबन्ध केतुकी वाणी अपने मुख राहुसे ही व्यक्त होती है।

'मनुष्य प्रमत्त हो गया है इन दिनों। अतः उसे अपने अपकर्मों का फल भोगना चाहिये।' शनिदेव कुपित हैं, भूतल पर मनु की संतति जब उनके पिता भगवान् भास्कर की उपेक्षा करने लगती है, मनुष्य जब संध्या तथा सूर्योपस्थान से विमुख होकर नारायण से पराङ्मुख होता है, शनि कुपित होते हैं। यह उनका स्वभाव है। सूर्य भगवान् के अतिरिक्त वे केवल देवगुरु का ही किञ्चित संकोच करते हैं।

'कलिका कुप्रभाव मनुष्यों को श्रद्धा-विमुख बनाता है।' बृहस्पति स्वभाव से दयालु हैं। उन्हें यह सोचकर ही खेद होता है कि धरा जो रत्नगर्भा है, अब अकालपीड़िता, संघर्षसंत्रस्ता, रोग-पीड़िता होकर उत्तरोत्तर अभावग्रस्त होती जायेगी। विश्वस्रष्टा की महत्तम कृति मानव अब क्षुत्क्षाम, कंकाल-कलेवर, अशान्त भटकता फिरेगा।

'हम कर क्या सकते हैं?' बुध जो बुद्धि के प्रेरक हैं, प्रसन्न नहीं थे। उनके स्वर में भी खेद था- 'हम शक्ति और प्रेरणा दे सकते हैं, किन्तु मनुष्य आजकल ऐसी समस्त प्रेरणाओं को विकृत बना रहा है। वह अपनी सम्पूर्ण शक्तियों के दुरुपयोग पर उतर आया है।'

'देवताओं का मनुष्य अर्चन करे। उन्हें अपने यज्ञीय भाग से पुष्ट करे और देवता मनुष्यों को सुसम्पन्न, स्वस्थ, सुमङ्गलयोजित रक्खें, यह विधान ब्रह्माजी ने बनाया था।' अकस्मात् ही देवराज इन्द्र आ गये थे उस सभा में। वे वज्रपाणि रुष्ट थे- 'मनुष्य

ने यज्ञ का त्याग कर दिया। पितृतर्पण से उसने मुख मोड़ लिया। अब वह कुछ हवन-श्राद्ध करता भी है तो स्वार्थ-कलुषित होता है वह। सम्यक् विधि न सही, अल्पप्राण, अल्पशिक्षित नर का अज्ञान क्षमा किया जा सकता है; किन्तु जब उसमें सम्यक् श्रद्धा भी न हो, जब वह दान तथा पूजन के नाम पर भी स्वजन, सेवक तथा अपने स्वार्थ के पूर्तिकर्ताओं का ही सत्कार करना चाहे, उसके कर्म सत्कर्म कहाँ बनते हैं?'

'देवता और पितर हव्य-कव्य की अप्राप्ति से स्वतः दुर्बल हो रहे हैं।' देवराज ने दो क्षण रुककर कहा। 'हमारे आशीर्वाद की मनुष्य को अपेक्षा नहीं रही है। वह अपने बुद्धिबल से ही सब कुछ प्राप्त कर लेना चाहता है। अतः आप सबका यह योग यदि धरा पर आपत्तियों का क्रम प्रारम्भ करता है तो इसमें न आपका दोष है और न देवताओं का।'

'युद्ध, अकाल, महामारी- बहुत दीर्घकाल तक चलेगा यह प्रभाव।' सुरगुरु ने दयापूर्वक कहा। 'अल्पप्राण आज का अबोध मनुष्य आपकी कृपा का अधिकारी है। कलि के कल्मष से दलित प्राणी आपके कोप के योग्य नहीं।'

'मैं कोई आदेश देने नहीं आया। आप सब यदि आपकी अर्चना धरापर हो अथवा आप कृपा करना चाहें, अपने कुप्रभाव को सीमित कर सकते हैं।' देवराज ने कहा। 'वैसे विपत्ति विश्वनियन्ता का वरदान है मनुष्य के लिये। उसे वह प्रमाद से सावधान करके श्री हरि के सम्मुख करती है। मनुष्य भगवान् के अभिमुख हो, यही उसकी सबसे बड़ी सेवा है।'

'आप चाहते हैं कि मनुष्य भोगविवर्जित रहे? संगीत, कला, विनोद तथा विलास केवल सुरों का स्वत्व बना रहे?' शुक्राचार्य ने व्यंग किया।

'मैं आचार्य से विवाद नहीं करूँगा। वैसे वैभव देकर मनुष्य को विषयोन्मुख कर देना उसका अहित करना है, यह मैं मानता हूँ।' मनुष्य तो आज वैसे ही बहिर्मुख हो रहा है।' देवराज ने अपनी बात समाप्त कर दी। 'मैं केवल एक प्रार्थना करने आया था। ब्रह्मावर्त के उस तरुण की चर्चा अनेक बार आपने देवसभा में सुनी है। देवताओं, पितरों की ही नहीं, आप सबकी (ग्रहों की) वह सत्ता मानता है, शक्ति मानता है और फिर भी सबकी उपेक्षा करता है। उसे विशेष रूप से आप ध्यान में रक्खेंगे।'

'जो आस्थाहीन हैं, उन पर दया की जा सकती हैं। वे यज्ञ अभी समझते ही नहीं; किन्तु जो जानता है, आस्था रखता है, वह उपेक्षा करे- मैं देख लूंगा उसे।' क्रूर ग्रह मङ्गल के सहज अरुण नेत्र अंगार बन गये।

'वह आश्रम-वर्णविवर्जित एकाकी मानव लगता है कि देवराज के लिये आतंक बन गया है।' शुक्राचार्य ने फिर व्यंग किया। 'किन्तु वह न तपस्वी है और न शतक्रतु बनने की सामर्थ्य है उसमें। धर्माचरण के कठोर नियमों की उपेक्षा के समान ही वह अपने स्खलनों को भी महत्त्व तो देता नहीं। ऐसी अवस्था में उसका देवराज बिगाड़ भी क्या सकते हैं? कुसुमधन्वा की वहाँ विजय का कोई अर्थ नहीं है। वह इच्छा करे तो

आज अमरावती उसकी होगी, यह आशंका हो गयी लगती है। अतः उसे संत्रस्त करने को अब हम सब ग्रहगण इन्द्र की आशा के आधार बने हैं।'

× × ×

'वत्स! तुम्हें विशेष सावधान रहना है इन आगे आने-वाले महीनों में। अमल ने ब्रह्मावर्त में गङ्गा-स्नान करके नित्यार्चन किया और जाकर जब ब्रह्माजी के मन्दिर में ठहरे उन साधु को प्रणाम करके बैठ गया तो वे बोले- 'अष्टग्रही का योग तुम्हारे व्यवस्थान में पड़ता है। वैसे भी शनि, मङ्गल तथा सूर्य तुम्हारे लिये अनिष्ट कर रहे हैं और राहु-केतु किसी को कदाचित् ही शुभद होते हैं। तुम ग्रह-शान्ति का कुछ उपाय कर लो तो अच्छा।'

'आप जैसी आज्ञा करें।' अमलने प्रतिवाद नहीं किया। ये साधु वृद्ध हैं, विरक्त हैं, पर्यटनशील हैं। ज्योतिष के उत्कृष्ट ज्ञाता लोग इन्हें कहते हैं। बिना पूछे अकारण कृपालु हुए हैं अमल पर, अतः इनके वचन काटकर इन्हें दुःखी करना वह चाहता नहीं। वैसे कोई जप-तप, अनुष्ठान-पाठ करना अमल के स्वभाव में नहीं है। सकाम अनुष्ठान के नाम से ही चिढ़ है उसे।

'जिसे रुष्ट होकर जो कुछ बिगाड़ना हो, बिना रुष्ट हुए ही वह उसे ले ले।' अमल अनेक बार हँसी में कहता है। परिवार में कोई है नहीं। न घर है, न सम्पत्ति सम्मान अवश्य है समाज में; किन्तु वह उससे सर्वथा उदासीन है। बच रहा शरीर। वह कहता है- 'यह कुत्ते, शृगाल, पक्षियों, कछुओं अथवा कीड़ों का आहार- इसे अग्नि लेगी या कोई और लेगा, इसकी चिन्ता मूर्खता है। कल जाना हो इसे तो आज चला जाय।'

'मृत्यु उतनी दारुण नहीं है, जितने दारुण हैं रोग। शरीर देखने, सुनने, चलने की शक्ति से रहित, वेदनाव्याकुल खाट पर पड़ा सड़ता रहे....।' एक दिन एक मित्र ने कहा था।

'कन्हाई न असमर्थ होता कभी, न निष्करुण। उसके स्वभाव में नटखटपन तो है; किन्तु कृपणता नहीं है।' अमल हँसा था। 'ये सारे अभाव, सारे कष्ट तब तक, जबतक इनको प्रसन्नता से सहा जाय। ये असह्य बनेंगे तो श्रीकृष्ण डाँट खायेगा। इनको विवश सहना पड़े उसे, जो नन्द के लाल का कोई न होता हो।

'मैंने सुना है कि तुम अनुष्ठान में अरुचि रखते हो। ग्रहों में सबसे उत्पीड़क शनि ही हैं। तुम नीलमणि धारण करो। उससे राहु-केतु की भी शान्ति हो जायगी। शनि अनुकूल हों तो शेष सबके अरिष्ट अधिक अनर्थ नहीं करते।' साधु ने समझाकर कहा।

'जैसी आपकी आज्ञा।' आश्चर्य ही है कि अमल ने कोई आपत्ति नहीं उठायी। वैसे उसे कोई जप-तप बतावे तो कह बैठता है- 'व्यायाम मेरे वश का नहीं।

बाजीगरों-नटों और मल्लों के लिये मैंने उसे छोड़ दिया है।'

× × ×

अष्टग्रही का योग आ रहा था। गङ्गातट अनुष्ठानों, यज्ञों के मण्डपों में सजा था। शतचण्डी, सहस्रचण्डी तथा श्रीमद्भागवत् के सप्ताह चल रहे थे स्थान-स्थान पर। अष्टोत्तरशत सप्ताह भी हुए। अखण्ड कीर्तन, अखण्ड रामायणपाठ के पवित्र स्वर दिशाओं को उन दिनों गुञ्जित करते रहते थे। कलि में जैसे सत्युग उत्तर आया था। आतङ्क स्वयं तामस सही, उसमें मनुष्य को कितनी सत्त्वोन्मुख करने की शक्ति है, उस समय यह प्रत्यक्ष हो गया था।

'गं गणपतये नमः।' सर्वविघ्नविनाशक भगवान् गणपति की पूजा तो प्रत्येक पूजन, यज्ञ, अनुष्ठान के प्रारम्भ में होनी ही थी। सभी पाठ-पारायण मण्डपों में पार्वती-नन्दन प्रतिष्ठा, पूजा हुई- हो रही थी।

'मं मङ्गलायभौमाय भूमिसुताय नमः' युद्धप्रिय, रक्त-विकारकारी, रक्तोद्गारी अंगार की शान्ति के लिये रक्त वस्त्र, रक्त चन्दन, लाल पुष्प का सम्भार तो था ही, लाल गाय, ताम्र तथा मसूर का दान भी अनेक लोगों ने किया। अनेक ग्रह-शन्ति समारोहों में अपराजिता के पुष्प अर्चन में प्रयुक्त हुए। हाथी-दान किसी ने किया या नहीं, पता नहीं; किन्तु भैंस का दान सुनने में आया। जौहरियों के यहाँ उन दिनों नीलम के ग्राहक भी पर्याप्त आये।

राहु-केतु की शान्ति के लिये भी मन्त्र जप हुए। काली वस्तुओं का दान हुआ वैदूर्य (लहसनियाँ) की अंगूठियाँ पहनीं लोगों ने। इसके अतिरिक्त भगवान् सूर्य की भी अर्चा हुई। **'ओम् आदित्याय नमः'** पर्याप्त सुन पड़ा। सूर्य को रक्त कर्णिकार पुष्प तथा रक्त चन्दन, रक्त वस्त्र अर्पित हुए। रविवार को लवणहीन एकाहार व्रत भी बहुतों ने किया कम-से-कम एक स्थानपर लाल रंग के वृषभ (साँड़) को छोड़ा गया, यह मुझे पता है। लाल मणि तो मिलती नहीं। माणिक उन लोगों ने अँगूठियों में लगाया, जिन्हें सूर्य प्रतिकूल पड़ते थे।

'भले भले कहि छोड़िये, खोटे ग्रह जप-दान।'

यह बात उन दिनों सर्वथा सार्थक हुई। जहाँ नवग्रह-पूजन हुआ, उन स्थानों को छोड़ दें तो चन्द्रमा, बुध, गुरु और शुक्र की अकेले-अकेले अर्चना प्रायः नहीं हुई। एक जौहरी ने बतलाया था- 'सामान्य समय में अनेक लोग चन्द्रमा की संतुष्टि के लिये मोती, बुध के लिये पन्ना, गुरु के लिखे पुखराज और शुक्र के लिये हीरा लेने आते थे; किन्तु इस काल में इन रत्नों का विक्रय अत्यल्प हुआ। लोग जैसे इनका उपयोग ही भूल गये।'

ब्राह्मणों को भी श्वेत, पीत, हरित, धान्य, वस्त्रादि केवल नवग्रह-पूजन-जैसे अवसरों पर ही प्राप्त हुए।

'तुम्हें नीलम नहीं मिला कानपुर में?' ऐसे समय में अमल को अँगूठी रहित देखकर उन साधू ने एक दिन पूछ लिया। वैसे भी उत्तम नीलम कठिनाई से मिलता है और अष्टग्रही के दिनों में कानपुर-जैसे महानगर में भी उसका न मिलना कोई आश्चर्य की बात नहीं थी।

'नीलम? आपने तो मुझे नीलमणि धारण करने को कहा था। मैं कानपुर तो गया ही नहीं।; अमल ने सहज भाव से कहा। 'नीलम तो रत्न है- पत्थर है। वह मणि तो है नहीं। विश्व में आज मणि-स्वतःप्रकाश रत्न कहीं मिलता नहीं। केवल रत्न हैं जो दूसरे प्रकाश में चमकते हैं। वैसे भी मै पत्थरों में नहीं, प्रकाशपुञ्ज में आस्था रखता हुँ। इस नश्वर शरीर को सज्जित करने की अपेक्षा मैंने हृदय को यशोदा मैया के लाड़ले नीलमणि से अलंकृत करना अच्छा माना। आपका तात्पर्य समझने में मैंने भूल तो नहीं की?'

'भूल तो मैं कर रहा था।' - साधु ने अमल को दोनों भुजाओं में भर लिया। 'तुम्हारा उपाय तो भव-महाग्रह को शान्त कर देने में समर्थ है। क्षुद्र ग्रहों की शान्ति का अर्थ तब क्या रह जाता है !

× × ×

'आप सब एक क्षुद्र मनुष्य का भी कुछ नहीं कर सके?' अष्टग्रही को बीते पृथ्वी पर पूरे छः महीने हो चुके थे। देवलोक में वे पुनः एकत्र हुए थे देवराज के आमन्त्रण पर। देवराज को कोई आक्रोश इस पर नहीं था कि पृथ्वीपर कोई महाविनाश नहीं हुआ। जो यज्ञ, अनुष्ठान, दान मनुष्यों ने किये थे, उसे प्राप्त कर देवाधिप संतुष्ट हुए थे। उन्हें क्षोभ केवल यह था कि उन्होंने जिस व्यक्ति विशेष को लक्ष्य बनाया था, वह अप्रभावित ही रह गया था।

'किसी का अमङ्गल करना मेरा स्वभाव नहीं है। वक्र होने पर भी मैं केवल व्यय कराता हूँ और बृहस्पति अशुभ कर्मों में अर्थ-व्यय तो करायेगा नहीं।' देवगुरु ने इन्द्र को झिड़क दिया। 'वक्री होकर भी जो मैं नहीं करता, व्यय-स्थान में स्थित होकर मैंने वह किया है। अमल ने अपने छोटे से संग्रह का प्रायः सब कुछ दुखियों, दीनों, अभावग्रस्तों को दिया है।'

'व्यय स्थान पर स्थित बुध जब गुरु के साथ हो, केवल सुरगुरु की सहायता कर सकता है।' आकार से कुछ ठिगने, गठीले और गोल मुखवाले बुध ने कहा- 'देवराज

सहस्राक्ष है। उन्होंने देखा है कि इसमें मैंने कोई प्रमाद नहीं किया है।'

'आप दोनों से पहले भी अधिक आशा नहीं थी।' देवेन्द्र ने उलाहना दिया। 'आपने तो उस प्रतिपक्ष को प्रबल ही बनाया। दान और धर्म व्यक्तियों को दुर्बल तो बनाया नहीं करते। संसार में कोई कंगाल हो जाय, इससे हम देवताओं का क्या लाभ?'

सुरेन्द्र भूलते हैं कि 'अम्भोधिसम्भवा बुध की भी कुछ होती है।' आचार्य शुक्र व्यंगप्रवीण है। उनका स्वभाव सुरों पर कटाक्ष करना है– 'बुध उसके प्रतिकूल हो कैसे सकते हैं, जो श्री के परम श्रेय का आश्रित हो।'

'आपने भी तो कुछ किया नहीं।' इन्द्र के मुख से सहज निकल गया।

'शुक्र से सुर स्वहित की आशा कब से करने लगे?' दैत्याचार्य ने फिर कटाक्ष किया। 'द्वादश भवन में स्थित शुक्र शुभ होता है शक्र! सूर्य के साथ मेरा प्रभाव अस्त न हो गया होता, श्रीकृष्ण के उस आश्रित को अमित ओज आता। मैंने उसकी श्रद्धा और संयम को शक्ति नहीं दी, उसे आनन्दोपलब्धि का शुभ मार्ग नहीं दिखलाया, यह आक्षेप मेरे प्रतिस्पर्धी बृहस्पति भी मुझ पर नहीं कर सकते।'

'श्रीकृष्ण ने मेरे वंश को कृतकृत्य किया, धन्य किया मुझे।' नित्य सौम्य अत्रितनय चन्द्रमा उठ खड़े हुए। 'वैसे भी रमा के नाते वे मेरे पूजनीय स्वजन हैं। उनका कोई आश्रय लेता हो– 'मेरी अनुकूलता-प्राप्ति के लिये उसे क्या और कुछ करना आवश्यक रह जाता है? उसके लिये यह विचार व्यर्थ है कि चन्द्र अष्टम है अथवा द्वादश। उसे तो मेरा सदा आशीर्वाद प्राप्त है।'

'हम दोनों तुम्हारे मित्र हैं।' राहु ने रुक्ष स्वर में बिना संकेत पाये ही बोलना प्रारम्भ किया। 'वैसे भी हमारे साहस की सीमा है। जिसके चक्र का आतङ्क अब भी हमें विह्वल करता है, उसके आश्रित पर हमारी छाया अनिष्ट बनकर नहीं उतर सकती। हम उसका रोष नहीं– कम-से-कम उदासीनता तो पा सकते हैं अनुकूल बनकर। उसकी श्रद्धा-पूजा का स्वप्न हम नहीं देखते।'

'मैंने सुरेन्द्र की आज्ञा का सम्मान किया है।' युद्ध के अधिष्ठाता मंगल उठे। रक्तारुण वस्त्र, विद्रुममाल उन ताम्रकेशी के अंगार नेत्र इस समय शान्त थे– "अमल को ज्वर आया, थोड़ी चोट लगी और रोष आया। अब मैं इसका क्या करूँ कि वह अपना क्रोध श्रीकृष्ण पर ही व्यक्त करता है। वे मेरे पूज्य पिता हैं। अपनी माता भूदेवी के उन आराध्य जब उनका कोई स्नेह-भाजन रुष्ट होता है, भौम इतना अशिष्ट नहीं है कि वहाँ उपद्रव करता रहे। फलतः विजय का नीरव वरदान तो मुझे अपनी धृष्टता का मार्जन करने के लिए देना पड़ा। अमल ने उसे मनोजय में प्रयुक्त किया, शत्रुजय में भी कर सकता था और सुरेन्द्र! इस समय आप उसके शत्रु हैं, यह आप भूले नहीं होंगे।'

'श्रीकृष्ण मेरे स्नेहभाजन हैं।' भगवान् सूर्य ने बड़े मृदुल स्वर में कहा। 'महेन्द्र उनके किसी जनका अनिष्ट चाहेंगे तो यह चिन्तन स्वयं उन्हें भारी पड़ेगा। स्वर्ग का सम्मान मुझे अपनी पुत्री कालिन्दी से अधिक प्रिय नहीं है।'

'न मुझे है।' इस बार कृष्णवर्ण, निम्ननेत्र, भयानकाकृति शनैश्चर खड़े हुए। 'यम से मेरा इस विषय में सर्वथा मतैक्य है। यमुना मुझे यम से कम प्रिय नहीं है। कालिन्दीकान्त जिसके स्वजन हैं, उसका अपकार न यम करेंगे और न शनैश्चर। मैंने स्वर्ग की ओर दृष्टि नहीं उठायी– यही मेरा कम अनुग्रह नहीं है।'

'सुरेन्द्र! तुमसे मेरे शिष्य दैत्य-दानव अधिक बुद्धिमान हैं।' शुक्राचार्य फिर बोले। 'श्रीकृष्ण को जो भूल से भी अपना कहता है, उसकी ओर ये देखते ही नहीं और तुम आशा करते हो कि ग्रह उसे उत्पीड़ित करेंगे? सम्यक् ग्रह-शान्ति- सबकी सर्वानुकूलता श्रीकृष्णके श्रीचरणों में रहती है देवाधिप!'

इन्द्र ने मस्तक झुका लिया था।

❑❑

अकुतोभय

हिरण्यरोमा दैत्यपुत्र है, अतः कहना तो उसे दैत्य ही होगा। उसका पर्वताकार देह दैत्यों में भी कम को प्राप्त है; किन्तु स्वभाव से उसका वर्णन करना हो तो एक ही शब्द पर्याप्त है उसके वर्णन के लिये– 'भोला !'

वह दैत्य है, अतः दैत्यों को जो जन्मजात सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, उसमें भी है। बहुत कम वह उनका उपयोग करता है। केवल तब जब उसे कहीं जाने की इच्छा हो– गगनचर बन जाता है वह। अपना रूप भी वह परिवर्तित कर सकता है, जैसे यह बात उसे स्मरण ही न हो।

वह दैत्य है; किन्तु दैत्यों का कोई अवगुण उसमें है तो यही कि उसे बहुत भोजन चाहिये। क्षुधा वह सहन नहीं कर पाता। भूखा होने पर यह नहीं देखता कि भोज्य पदार्थ पर उसका स्वत्व भी है या नहीं। कोई डाँटे तो कहेगा– 'आप क्यों अप्रसन्न होते हैं? मुझे जठराग्नि जला रही है, अतः उसे आहुति दे रहा हूँ।'

वह दैत्य है; किन्तु न सुरापी है और न मांसाहारी। उसे अन्न और फल चाहिये और बहुत चाहिये। भूख लगने पर भोजन को वह अपना स्वत्व मानता है और यह कोई कैसे कहेगा कि भोजन पर क्षुधातुर का स्वत्व नहीं है। कोई डाँट दे, पीट भी दे तो वह प्रतिकार करने के स्थान पर चुपचाप आहार को उदरस्थ करने में लगे रहना अधिक अच्छा मानता है। बहुत हुआ तो दृष्टि उठाकर बड़े निरीह भाव से देख लेगा। उसके चित्त पर जैसे किसी के अपशब्द का प्रभाव नहीं पड़ता, उसकी पर्वताकार कायापर किसी का आघात भी कुछ जान नहीं पड़ता।

वह दैत्य है– है तो दैत्यपुत्र ही; किन्तु किसी को उत्पीड़ित करना तो दूर, दूसरों की पीड़ा उससे देखी नहीं जाती। एक बार मर्त्यलोग गया था और वहाँ किसी को व्याधिग्रस्त देखकर क्रन्दन करता सीधे सुतल आया। भगवान् वामन के चरण उसने तब छोड़े, जब उस प्राणी के व्याधिमुक्त होने का वचन उसे मिल गया।

'वत्स! तुम धरापर मत जाया करो? वामन ने उस दिन उसके लिये एक मर्यादा बनायी। सुतल में तथा दूसरे दिव्य लोकों में तो आधि व्याधि होती नहीं। वहाँ वह घूम लिया करे तो कोई हानि नहीं थी।

'क्यों तात?' वह भगवान् वामन को पिता ही मानता है। उसके पिता उसी दिन, उसी क्षण मारे गये, जब वह उत्पन्न हुआ। उन्होंने दैत्यराज बलि की अवज्ञा करने का दु:साहस कर लिया और सुतल में तो भगवान् नारायण का महाचक्र दैत्यराज के प्रतिपक्षी को एक क्षण भी जीवित रहने नहीं देता। माता ने उससे कह दिया है कि दैत्यराज के द्वार पर गदापाणि उपस्थित रहने वाले त्रिभुवनेश्वर ही उसके पिता हैं और उसने इसे सहज भाव से स्वीकार कर लिया है। उसे अटपटा लगा कि त्रिभुवन के स्वामी उसके ये पिता हैं तो वह त्रिलोकी में कहीं भी क्यों नहीं जा सकता।

'धरा के लोग अल्पकाय, अल्पप्राण हैं।' भगवान् वामन ने उसे समझाया। 'उनका साहस भी अल्प है और संग्रह भी। तुम्हारे देह को देखकर वे भयभीत होंगे। तुम्हें वहाँ क्षुधा लग गयी तो उनमें से बहुत अधिक लोगों का आहार तुम्हें आवश्यक होगा, वे भूखे रह जायँगे।'

'मैं वहाँ नहीं जाऊँगा।' उसे किसी को भी आतंकित करना प्रिय नहीं है। कोई उसके कारण भूखा रह जाय, यह तो बहुत बुरी बात होगी। उसे भूख का अनुभव है और किसी को भी भूख लगने पर आहार न मिले, यह वह सोचना भी नहीं चाहेगा।

सुतल में जो ऐश्वर्य है, स्वर्ग के देवता उसकी केवल स्पृहा कर सकते हैं। इच्छा करते ही पदार्थ उपस्थित होता है वहाँ और देवताओं के समान दैत्य घ्राणग्राही नहीं हैं। उनके उपभोग में धरा की स्थूलता भले न हो, देवों-जैसी सूक्ष्मता भी नहीं है लेकिन वह तो इच्छा भी नहीं करता। आहार दीखने पर उसे क्षुधा लगती है और तब यह देखने की क्या आवश्यकता है कि वह किसके लिये प्रस्तुत हुआ है।

जहाँ पदार्थ-बाहुल्य होता है, स्वत्व का प्रश्न प्राय: विवाद नहीं खड़ा करता। वह अन्न और फल ही तो खाता है। उसके आहार को लेकर किसी में वहाँ ईर्ष्या नहीं जागती। कहीं वह भोजन करने बैठ जाय, दूसरा हँसकर उसको भोजन कराना अपने विनोद का साधन बना लेता है। असुविधा तब होती है, जब वह कहीं भी पड़कर खर्राटें लेने लगता है। किसी का घर, किसी अन्त:पुर, किसी की शय्या हो- निद्रा आने लगे तो वह उसे अपनी ही शय्या समझ लेता है।

'अरे उठो!' उस दिन वह दैत्यराज के पुत्र बाणासुर के अन्त:पुर में उसकी शय्या पर सो गया था। बाण पत्नी ने उसे जगाना आवश्यक माना; क्योंकि उनके पतिदेव के आने का समय हो गया था।

'माँ! सोने दे मुझे।' उसने करवट बदल ली।

'मैं तुम्हारी माँ नहीं भाभी हूं।' बाणपत्नी को क्रोध नहीं आया। वे हँसी। उन्हें पता है कि हिरण्यरोमा प्रत्येक स्त्री को माँ कह लेता है। उसे तो सम्बन्ध समझाना पड़ता है।

'तो क्या हुआ? भाभी माँ!' वह बहुत हिलाने-डुलाने पर उठकर बैठा भी तो लेटते हुए बोला- 'मुझे निद्रा आ रही है।'

'अपने घर जाकर सोओ! तुम्हारे भाई आने वाले हैं।' बाणपत्नी ने उसके मुख पर पानी के छींटे दिये- अब तुम विवाह कर लो!'

'विवाह? क्यों?' बस, वह विवाह के नाम से ही झल्लाता है- 'तुम कर लो विवाह!'

'मैंने तो तुम्हारे भाई से विवाह कर लिया है!' बाणपत्नी हँस रही थीं।

'तब हो तो गया, अब क्या पूरा संसार विवाह ही करेगा।' वह उठ खड़ा हुआ- 'एक काम था, किसी ने कर लिया; हो गया। मैं कहूंगा कि मुझे लोग सोने भी नहीं देते।'

'तुम्हें कौन सोने नहीं देती।' हिरण्यरोमा अब भी निद्रालस स्वर में बोल रहा था। 'सो जाओ!' बाण ने अनुमति दे दी। पत्नी से वे बोले- 'इनके भोजन-शयन में व्याघात मत करो। तुम जानती तो हो कि केवल ये हैं जो दैत्येश्वर के सिंहासन पर भी इसी प्रकार सो सकते है शान्तं पापम् पत्नी ने पति के मुख पर हाथ रख दिया दहैत्येश्वर का अपमान करने वाले के साथ वह श्री हरिका ज्योतिर्मय चक्र क्या करता है, जानते तो हो।'

'मैं भला क्यों पिताजी का अपमान करूँगा।' बाण खुलकर हँसा। 'सचमचु यह हिरण्यरोमा एक दिन सो गया था सिंहासन पर। मुझे भी तुम्हारे समान ही आशंका हुई थी। पता नहीं क्यों, यह मुझे बहुत प्रिय हैं।'

'वत्स! वह भगवान् वामन का बहुत स्नेहभाजन शिशु है।' माता पार्वती ने पूछने पर मुझे समझाया था- 'उसके मन में निखिल लोक उसके पिता के-श्रीहरि के हैं। सत्य ही तो है उसकी भावना। वह कहीं सोता है, कहीं आहार करता है तो अपने पिता की शय्या और सामग्री का ही उपयोग करता है। उसकी किसी क्रिया से किसी का कोई अपमान नहीं होता।'

'ये मुझे भी माँ कहते हैं।' सलज्जाभाव से बाण- पत्नी ने कहा।

'मेरा छोटा भाई ही तो है।' बाण ने हँसकर कह दिया। 'वह तो तुम्हारी कन्या को भी देखेगा तो माँ! कहकर ही पुकारेगा। ऊषा बहुत चिढ़ती है; किन्तु इसको तो प्रत्येक बार समझाना पड़ता है कि वह इसकी भ्रातृ-पुत्री है।'

× × ×

'तुम लोग इस प्रकार क्यों भागते हो? मैं थोड़े फल खाऊँगा।' वह हिरण्यरोमा एक दिन घूमता हुआ अमरोद्यान नन्दन-कानन जा पहुँचा। उसके अकल्पित विराट वपु को देखकर रक्षक क्रन्दन करते भागे तो उसे आश्चर्य हुआ। उसने उन्हें आश्वासन देने का यत्न किया।

'कोई दैत्य अमरावती में आ गया है!' रक्षकों को कहाँ धैर्य था, प्राणी का अपना भय ही तो उसे आतंकित करता है। निर्विष सर्प को भी देखकर अधिकांश मनुष्यों के प्राण सूख जाते हैं। हिरण्यरोमा दैत्य था- दैत्य देवताओं के सहज शत्रु और जो एकाकी शत्रुपुरी में हो सकता है उद्यान-रक्षकों ने सुधर्मा सभा में पहुँचकर देवराज से पुकार की- 'वृत्र से-किञ्चित् ही अल्पकाय है वह! कौन जाने, अपनी काया का विस्तार वह अब करने लगा हो। नन्दन-कानन के समस्त फल अवश्य उसके उदर में आ जायँगे!'

'कौन है वह!' देवराज ने देखा कि सुरों के सेनापति इस समय सुधर्मा सभा में नहीं हैं। उन शिवसुत की संरक्षा देवताओं को प्राप्त है, इतनी ही कृपा उनकी। अन्यथा कार्तिकेय कोई देवेन्द्र के आज्ञानुवर्ती तो हैं नहीं कि मल्लिकार्जुन जाने के लिये शक्र को सूचना देना आवश्यक मानें।

'हम केवल धरा के लोगों को प्रभावित करते हैं!' सुरेन्द्र की दृष्टि ग्रहगणों की ओर गयी तो उनमें भौम ने सूचित कर दिया- 'दैत्य देवताओं के अग्रज हैं। यदि वे कभी आतिथ्य-ग्रहण करने आ ही जायँ, उनसे युद्ध करना तो आवश्यक नहीं होना चाहिये।'

युद्ध-प्रिय मंगल का वह दृष्टिकोण अकारण नहीं था। जो योद्धा है, वही बलाबल का ठीक विचार भी कर सकता है। वृत्र के साथ संग्राम में सुर अपने समस्त शस्त्र खो चुके थे। वृत्र ने शान्तभाव से उन्हें उदरस्थ कर लिया था। यह दैत्य भी एकाकी आया है और क्षुधित है। नन्दन-कानन से आहार ही प्रारम्भ किया है इसने। शान्त भी है और निर्भय भी। पता नहीं किस तपःप्रभाव से वह इतना साहस कर सका है।

'आप उसे देख लें!' इन्द्र स्वयं भी आशंकित हैं। वज्र लेकर उठ दौड़ने का साहस वे अपने में भी नहीं पाते हैं। किञ्चित अवकाश चाहिये उन्हें। देवगुरु तक जाने का अवसर मिल जाय तो जैसी गुरुदेव अनुमति देंगे, वैसा करना है; किन्तु दैत्य नन्ददनवन में आ गया है। वह किसी क्षण आ सकता है यहाँ। देवराज को आशा है कि दण्डधर यम उसे कुछ काल तो रोक ही सकते हैं।

'दैत्यराज बलि मेरे आराध्य के अनुग्रह'भाजन हैं।' महाभागवत यमराज ने उठते हुए सूचित किया। 'यदि ये महानुभाव उनके स्नेहपात्र हैं तो मुझे इनका स्वागत करके प्रसन्नता होगी!'

'संयमनी के शास्ता किसका स्वागत करना चाहता हैं?' सहसा देवर्षि नारद पधारे। समस्त सुर उनके स्वागत में खड़े हुए।

'भगवान्! कोई दैत्य आ गया है आज अमरपुर में।' शक्र ने ही सूचना दी। 'हम नहीं जानते, वह किस शक्ति से अकुतोभय है? हमें क्या करना चाहिये?'

'आहे! तो सुरपति हिरण्यरोमा से आतंकित हैं!' देवर्षि खुलकर हँसे। 'सावधानी अवश्य अपेक्षित है; क्योंकि भगवान् उपेन्द्र का पुत्र है वह, और कोई उसका अहित करने उठे तो वे भक्तवत्सल भूल सकते हैं कि देवमाता अदिति के कारण सहस्राक्ष उनके अग्रज होते हैं।'

'उपेन्द्र-पुत्र!' इन्द्र को आश्चर्य होना स्वाभाविक था। ऐसा कौन-सा पुत्र उपेन्द्र का है, जिसे स्वय देवराज जानते नहीं है। 'वह तो दैत्य है।'

'दैत्य तो प्रह्लाद भी थे।' देवर्षि ने व्यंग के स्वर में कहा। 'उन अजन्मा को देवमाता अपना पुत्र कह सकती हैं, देवराज अपना अनुज कह सकते हैं; किन्तु कोई दैत्य उन्हें अपना पिता नहीं कह सकता?'

'वे महानुभाव कौन हैं?' इन्द्र ने इस बार सीधे ही पूछा।

'हिरण्यरोमा दैत्य-पुत्र ही है; किन्तु भगवान उपेन्द्र भावगम्य हैं। वह उन्हें पिता कहता है तो वे उसके पिता हैं, इतनी बात सुरपति समझ सकते हैं!' देवर्षि ने समझाया। 'जब देवशक्ति उसका परिचय जानने में असमर्थ है, जब देवेन्द्र का व्यापक बोध उसका तेज समझ नहीं पाता, इतना तो सिद्ध है कि वह पुरुषोत्तम का पदाश्रित है।'

इन्द्र को लगा कि उनसे प्रमाद हुआ है। देवता-स्वयं देवेश को भी जिसके सम्बन्ध में अधिक नहीं जान पाते, उसकी अगम्यता तो भगवान् की कृपा ही सूचित करती है। अन्यथा पृथ्वी पर अधोलोकों में जो प्राणी हैं, उनके अन्तः बाह्य के साक्षी तो देवता ही हैं। नम्रतापूर्वक इन्द्र ने जानना चाहा- 'हमारा कर्त्तव्य?'

'कुछ नहीं।' देवर्षि ने आशंका दूर की। 'हिरण्यरोमा से किसी को कोई भय नहीं है। अवश्य ही उसको क्षति पहुँचाने की इच्छा करने वाले को भय है और वह तो अच्युत की कौमोदकी से भय है। हिरण्यरोमा तो आया है दैत्यों की आदि मातृष्वसा की पद-वन्दना करने। देवमाता की वन्दना करके उसे चले जाना है। बहुत हुआ तो कुछ फल खायेगा और देवधानी में कहीं भी एक नींद ले लेगा।'

'वे देवधानी में हम सबके उपस्थित रहते सो सकेंगे?' इन्द्र का प्रश्न उचित है। देवराज जब दैत्यधानी में नहीं सो सकते, हिरण्यरोमा के रहते देवधानी में निश्चिन्त नहीं सो सकते, हिरण्यरोमा के रहते देवधानी में निश्चिन्त नहीं हो सकते, एक दैत्य को शत्रुओं के मध्य निंद्रा आयेगी?

'उसे किसका भय है।' देवर्षि खुलकर हँसे। 'वह देवेन्द्र के सदन में या देवसभा में निद्रा लेने लगे तो किसी को व्याघात डालने का साहस नहीं करना चाहिये। समस्त लोक उसके पिता के, और अपने पिता के घर में उसे निद्रा क्यों नहीं आयेगी! लेकिन देवराज! पिता के घर में पुत्र की निद्रा में बाधा देने वाला क्षमा नहीं किया जाता वह तो सो सकता है यमराज के किसी नरक में भी।'

'प्रभो! मुझ पर तो कृपा ही रहे।' धर्मराज ने आतुरतापूर्वक हाथ जोड़े। देवर्षि विनोदी हैं। कहीं इन्होंने उन महानुभाव को उभाड़ दिया किसी दिन नरक में निद्रा लेने के लिये तो नरक सदा को ही नष्ट हुए धरे हैं।

'भय होता है प्राणी को तब जब वह नारायण से विमुख होता है।' देवर्षि जाने को उद्यत होकर बोले- 'श्रीहरि के पदाश्रित ही अकुतोभय होते हैं। देवाधीश को यह बात स्मरण रखनी चाहिये।'

❑❑

कर्म

'कुछ कर्मों के करने से पुण्य होता है, और कुछ के न करने से। कुछ कर्मों के करने से पाप होता है और कुछ के न करने से।' धर्मराज अपने अनुचरों को समझा रहे थे। 'कर्म संस्कार का रूप धारण करके फलोत्पादन करते हैं। संस्कार होता है आसक्ति और आसक्ति क्रिया एवं क्रियात्याग, दोनों में होती है। यदि आसक्ति न हो तो संस्कार न बनेंगे। अनासक्त भाव से किया हुआ कर्म या कर्मत्याग, न पुण्य का कारण होता है और न पाप का।'

बड़ी विकट समस्या थी। कर्म के निर्णय के लिए जो सूर्य, अग्नि, आकाश, वायु, दिशाएँ, सन्ध्या, दिन-रात्रि, चन्द्रमा, गौएँ, मन, बुद्धि, एवं काल- ये द्वादश साक्षी नियत किये गये थे, उनमें से केवल मन और बुद्धि ही आसक्ति अनासक्ति साक्षी हो सकते थे। वे तो उसी जीव के हैं यदि उन्होंने कही पक्षपात किया तो !

'एक बात और' धर्मराज ने अपनी बात आगे बढ़ायी। 'बहुधा अधर्म भी धर्म बनकर धोखा देता है और परिस्थिति भेद से धर्म भी अधर्म हो जाता है। दूसरे के वर्णाश्रमधर्म अपने लिए परधर्म हैं। धर्म का केवल बाह्यनाटक तो दम्भ हैं। शास्त्रों के शब्दों का जान-बूझकर अन्यथा अर्थ करना छल है। जो अपने धर्म में बाधा डाले, वह किसी के लिए धर्म होने पर भी विधर्म है। अपने धर्म से भिन्न किसी भी धर्म की स्वेच्छा स्वीकृति धर्माभास है। ये पाँचों अधर्म अथच त्याज्य कर्म हैं।'

'बेचारे यमदूत- सिर पकड़ लिया उन्होंने। यह अटपट परिभाषा समझ लेना सरल नहीं था और समझे बिना उनका कल्याण नहीं। यदि तनिक भी चूके, किसी भी जीव को भ्रान्तिवश कष्ट मिला तो धर्मराज क्षमा करना जानते ही नहीं। उन्होंने जब कभी बूढ़े ब्रह्माजी से पढ़ा होगा- पितामह बहुत व्यस्त रहे होंगे सृष्टि कार्य में। धर्मराज को क्षमा का पाठ पढ़ाना ही वे भूल गये।

विवश होकर किया गया त्याग, कष्ट-सहन, ये सब पुण्य नहीं है और इसी प्रकार

किसी विशेष परिस्थिति में या किसी के द्वारा बलपूर्वक कराया गया, अनिच्छा पाप भी पाप नहीं है।' यही एक सीधी बात कही थी संयमनी पति ने। दूतों ने बड़े आनन्द से सिर हिलाकर सूचित कर दिया कि वे यह अन्तिम वाक्य समझ गये।

'अब तुम जा सकते हो।' उन्होंने देख लिया था कि दूतों के हाथों में पाश और दण्ड उपस्थित हैं। उनके दूत कभी प्रमाद नहीं करते। भूलें भी यदा-कदा ही उनसे होती हैं। कार्य-क्षेत्र में ही वास्तविक ज्ञान प्राप्त होता है। ज्ञानोद्गम का सर्वश्रेष्ठ स्थान अनुभूति का क्षेत्र है।' उन्हें उपदेश के लिये अवकाश भी कहाँ मिलता है। अहर्निश अविराम न्यायाधीश का स्वरूप उन्हें दूसरी ओर कहाँ ध्यान देने देता है।

'अनुभूति के क्षेत्र में भ्रान्ति की सम्भावना तो रहती है। डरते-डरते वक्रतुण्ड ने जो सबसे अधिक धृष्ट हो गया था, बहुत ही नम्र शब्दों में निवेदन किया। 'और उसका परिणाम होता है दण्ड.................।'

'भ्रान्ति ही तो चेतनता का लक्षण है। भूलें या तो पूर्णापुरुष परमात्मा से नहीं होती या जड़ से। पितामह भी कभी-कभी दो सिर, तीन पैर या किसी नेत्रादि गोलक से सर्वथा हीन प्राणों की सृष्टि कर डालते हैं और यही भूलें बतलाती हैं सृष्टिकर्त्ता कोई चेतन है- जड़ नहीं।' कुछ रुष्ट होकर धर्मराज ने डाँटा। 'तुम मनुष्यकृत जड़ यन्त्र बनना चाहते हो या तुमने अपने को पूर्ण पुरुष मान लिया है !'

'पर दण्ड.....।' दूत भयाक्रान्त होने पर भी इतना कह ही गया।

'दण्ड?' यमराज ने फटकारा 'मूर्ख हो तुम! दण्ड ही शिक्षा है। वही भ्रान्ति से सावधान करता है और प्रमाद को दूर रखता है।'

कोई फिर बोलने का साहस कर नहीं सकता था। मस्तक झुकाकर अभिवादन किया और चुपचाप वहाँ से खिसक गया।

× × ×

[2]

'दान, सत्य, सेवादि करने से पुण्यप्रद होते हैं।' यमदूतों ने अपनी एक बैठक कर ली थी। 'व्रत, उपवास, संयम प्रभृति कर्मों के न करने में पुण्य है।' वक्रतुण्ड ने धर्मराज के प्रथम वाक्यांश का भाष्य किया।

'हिंसा, चोरी, अनाचारादि करने से पाप होता है।' बड़ी सीधी बात कह दी भीमदर्शन ने और सन्ध्यादि नित्यकर्म न करने से।' नैमितिक एवं काम्य कर्मों की फलोत्पादकता पर उन्हें कुछ समझना नहीं था। सभी सकाम कर्म विधिपूर्ण होने पर

कामनारूप एवं विधिभंग होने पर तो निष्फल होते हैं या विपरीत फल देते हैं। लेकिन इस झमेले से यमदूतों को कुछ लेना-देना नहीं था। ये कर्म इसी लोक में फलाफल देने के लिए थे।

'शूद्र यदि वेदाध्ययन या यज्ञ कराने लगे तो यह परधर्म होगा।' वज्रनख ने भी चुप रहना ठीक नहीं समझा। 'विषयचिन्तन करते हुए दिखावटी इन्द्रिय-निग्रह दम्भ है।' धूम्रपान को भी यज्ञ कहने-जैसी व्याख्या छल है। गृहस्थ जीवनाश के भय से हवन भी छोड़ दे तो ऐसे कर्म विधर्म होंगे। संन्यासी संग्रह करके अतिथिसत्कार में लगे तो यह धर्माभास ही होगा। लगे हाथ उन्होंने पाँचों अधर्म-शाखाओं का भाष्य कर दिया।

'अन्न न मिले तो उपवास पुण्यप्रद न होगा।' ह्रस्वाङ्ग ने अपने लिए सीधा स्थान ही चुना। 'किसी के मुख में बलात् मांस डाल देने से वह मांसाहार का अपराधी भी नहीं बनेगा।'

'पागल, पशु और शिशु किसी कर्म से युक्त नहीं होते।' यही सबसे कठिन स्थल था। 'किन्तु बुद्धिमान् पुरुष भी आसक्ति न रखकर कर्म करेगा और उसके फल का भागी न होगा- बड़ा टेढ़ा प्रश्न है। ऐसे पुरुष का निर्णय कैसे होगा?' सबसे वृद्ध बृहदोदर ने मुख्य प्रश्न उठाया। इसी के निर्णयार्थ तो यह गोष्ठी बैठी थी। शेषांश तो निर्णीत ही थे। उन पर कुछ न कहा गया होता तो क्या हानि थी।

'म्याँऊँ का ठौर' कौन पकड़े। सभी निस्तब्ध हो गये। किसी के पास कोई उत्तर नहीं था।

'चलो अनुभूति के क्षेत्र में!' वक्रतुण्ड अपने व्यंग पर स्वयं दुखित हो गया।

'वहाँ भ्रान्ति हो तो दण्ड तो धरा ही है।' ह्रस्वकाय ही दण्ड से सबसे अधिक डरा करता था।

'दण्ड ही शिक्षा है!' महाहनु ने धर्मराज के शब्द दुहरा दिये। 'सच्ची बात तो यह है कि अनुभव की अपेक्षा अपने नायक का मोटा दण्ड ही हमें अधिक ज्ञान देता है।' जब बुद्धि कोई मार्ग नहीं पाती तो अन्तर या तो झुँझला उठता है या शून्य अट्टहास में परिस्थिति की गम्भीरता को उड़ा देने का व्यर्थ यत्न करता है।

'महाराजधिराज श्रीधर्मराज........।' अग्रचर का उच्च स्वर कानों में पड़ा। सम्भवतः आज धर्मराज स्वयं किसी विशिष्ट पुरुष को अपनी पुरी दिखलाने उठ पड़े थे। 'महाराज इधर ही आ रहे हैं।' दूतों ने शीघ्रतापूर्वक अपने पाश एवं दण्ड उठाये और अस्त-व्यस्त मर्त्यलोक की ओर चल पड़े।

× × ×

[3]

'इनका क्या होगा?' एक संड-मुसंड दिगम्बर पड़े थे एक छोटी-सी नदी के किनारे यों ही घास पर। खूब परिपुष्ट शरीर था और इतना मैल उस पर जम गया था कि मानो वर्षों से स्नान न किया हो। सिर के बढ़े बाल उलझ गये थे। श्मश्रुजाल में तिनके एवं धूलि भरी थी। हाथ-पैर के नख खूब बढ़ गये थे। उनके मुख पर एक ज्योति थी और नेत्र अधमुँदे हो रहे थे।

'इसने तो एक ओर से सभी कर्मों का त्याग कर दिया है।' वक्रतुण्ड ने महाहनु के उत्तर में कहा। 'भोजनादि छोड़ा तो है नहीं, कोई लाकर खिला दे तो चाहे जो भी खा लेता है। खाद्याखाद्य का कोई विचार नहीं। विधिनिषेध का तनिक भी ध्यान नहीं। पकड़ ले चलो! इस प्रकार के कर्महीन तमोलोक के अतिरिक्त और कहाँ जायँगे।'

'मुझे तो रंग-ढंग और ही दिखायी पड़ते हैं। यह आनन्द, यह मस्ती और मुख का यह तेज!' महाहनु ने प्रतिवाद किया। 'मुझे तो अजामिल के समय की मार अब भी कँपा देती है। दुष्कर्मियों के लक्षण तो इनमें हैं नहीं। मैं तो साहस नहीं करता आगे बढ़ने का।'

'पुण्यात्मा सही। ले चलो फिर भव्यरूप रखकर।' झल्ला पड़ा वक्रतुण्ड। 'अन्ततः समय तो इनका हो ही गया है और ले चलना ही होगा किसी रूप में।'

'पुण्य भी कहाँ है इनके पास!' बृहदोदर ने खिन्न होकर कहा। 'आज अपने सब-के-सब साक्षी मूक हो गये है। इनके मन और बुद्धि का तो कोष ही रिक्त पड़ा है।' आश्चर्य था स्वर में।'

'राजा के कर्म का षष्ठांश, गुरु के कर्मों का दशमांश और शिष्य के कर्मका दशमांश, माता-पिता के कर्मों का भी कुछ भाग।' महाहनु विस्मित हो रहे थे। मान लिया कि ये गृहस्थ नहीं। पत्नी और पुत्र के कर्मांश इन्हें आबद्ध नहीं करते। सम्भव है गुरु न किया हो और न किया हो कोई शिष्य। माता-पिता के बिना आकाश से टपके न होंगे। किसी न किसी राजा का ही राज्य होगा यह इनके कर्मों का अंश भी यहाँ क्यों उपलब्ध नहीं होता?'

'समस्या सीधी नहीं है।' वृहदोदर ने गम्भीरता से कहा। तीन ही यमदूत इधर आये थे। साक्षी मौन हैं। मन और बुद्धि को छोड़ दें तो संस्कारात्मक चित्त ही ढूँढ़े नहीं मिलता। अब इन्हें ले भी चले तो किस रूप में?' यमदूतों की दृष्टि दूर से ही प्रत्येक के अन्तःप्रदेश को साक्षात् कर लिया करती है।

'एक उपाय है' वक्रतुण्ड ने सबको किञ्चित आश्वस्त होने का आश्वासन दिया।

'हम इनके सम्मुख प्रत्यक्ष हो जायँ। अपने आप निर्णय हो जायगा कि हम इन्हें ले चलें या यहाँ से नौ-दो ग्यारह हों।' बात यह है कि धर्मराज ने उन्हें बता रक्खा था कि तुम्हे देखकर भी यदि कोई भयभीत न हो तो समझ लेना कि यह तुम्हारे अधिकार क्षेत्र से परे का जीव है। उनके सम्बन्ध में मुझे सूचना दे देना। जो तुम्हें देखकर भयभीत हो जाय- बस, उसी के सम्बन्ध में तुम्हें विचार करना है।

'यदि कोई समर्थ हुआ' चौंककर महाहनु ने सुझाया 'कहीं दुर्वासा की भाँति क्रोधी भी हो साथ ही? लेने-के-देने पड़ जायँगे केवल सम्मुख प्रत्क्षक्ष होने में।'

'अन्ततः इनके कर्म हो क्या गये?' कर्म छूमन्तर तो हुआ नहीं करते और सृष्टि में आकर कोई निष्कर्म रह नहीं सकता। ये अनासक्तकर्मी होंगे। जो थोड़ा बहुत भोजनादि कर्म करते भी हैं, उसमें इनकी आसक्ति नहीं है।' वक्रतुण्ड सम्मान करने लगा था महापुरुष का।

'अनासक्ति फलोत्पादन नहीं करती, ऐसी बात तो है नहीं।' बृहदोदर ने धर्मराज के उपदेश पर ही शङ्का उठायी। 'कर्म होगा तो उसका परिणाम भी होगा। विश्व में कुछ नष्ट तो होता नहीं। यह परिणाम कर्ता को स्पर्श नहीं करते तो होते क्या हैं?'

'उँह, पशुओं एवं उन्मत्तों के कर्मफल क्या होते हैं?' महाहनु हँस पड़ा सहचर के अर्थशून्य तर्क पर। प्रश्न तो यहाँ है कि अनासक्त भाव से किया कर्म फल भले न उत्पन्न करे; किन्तु अनन्त अपार सञ्चित, रागादि के कर्मांश का वह नाश तो नहीं करता। इनके सञ्चित और इनके भाग के इतरजनों के कर्मांश का क्या हुआ?'

यह विवेचन चल ही रहा था। एक क्षण के लिए दृष्टि हट गई थी तीनों की महापुरुष पर से। दूसरे क्षण उधर उन्होंने देखा और हक्के बक्के हो रहे। अधखुले नेत्र पूरे बंद हो गये थे। केवल स्थूल शरीर घास पर पड़ा था। इधर-उधर, ऊपर-नीचे, सब कहीं देख डाला- सूक्ष्म शरीर या कारण शरीर का पता नहीं था। इनसे पृथक् जीव की कल्पना उन्होंने कभी नहीं की।

'महाराज से शीघ्र निवेदन कर देना चाहिये। भागे वे संयमनी की ओर। उन्हें कौन बतावे- 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति।' वे किसी की सुनने को रुक भी कहाँ सकते थे।

× × ×

'जिनके अन्तःकरण के किसी कर्म-संस्कार की उपलब्धि न हो, उनसे तुम्हें मतलब भी क्या है।' वही संयमनी, वही धर्मराज और वही यमदूत। विवश धर्मराज आज फिर अपने दूतों को समझा रहे थे। झल्ला भी रहे थे इन अज्ञ दूतों पर।

'हमने कान पकड़ा। झाँकेंगे भी नहीं ऐसे महापुरुषो की ओर।' बड़ी दीनता थी महाहनु के स्वरों में। 'एक जिज्ञासामात्र की हमने। यदि प्रभु अधिकारी समझें........।'

'स्फटिक या कमलपत्र को देखा है?' धर्मराज ने कुछ शान्त होकर पूछा।

'उस पर कीचड़ या जल लिप्त नहीं होता।' वक्रतुण्ड ने आशय समझ लिया था। 'स्पर्श करके भी गिर जाता है।'

'ठीक इसी प्रकार ज्ञानादि साधनों से विशुद्ध चित्त पर कोई संस्कार ठहरता नहीं।' धर्मराज ने उपदेश को यथा सम्भव संक्षिप्त करने का प्रयत्न किया।

'तब उस संस्कार का होता क्या है?' वृहदोदर ने शङ्का का उत्तरार्ध उत्थित किया 'क्या उसका नाश हो जाता है?' वह जानता है कि विश्वात्मा की सृष्टि में विनाश-जैसा कोई शब्द है ही नहीं। वहाँ केवल रूपान्तर मात्र होता है।

'शुभांश सेवक एवं शुभचिन्तकों में तथा अशुभांश उत्पीड़क एवं निन्दकों में वितरित हो जाता है।' धर्मराज ने बड़े मजे से कह सुनाया। उनके प्रेमाकर्षण या द्वेषाकर्षण की तीव्रता या लघुता के अनुसार।'

'अजामिल के पास से तो गये नहीं थे।' कहीं से आकर ह्रसवकाय भी पीछे खड़ा हो गया था। सुनन्द के गदाघात का चिन्ह अभी भी उसके भाल पर बना हुआ था। उसका समाधान उस दिन के धर्मराज के उपदेशों से हुआ नहीं था।

'तू तो पूरा बच्चा है।' धर्मराज मुसकरा पडा। न्यायाधीश के कठोर मुख पर हास्य भी भयभीत होकर आता है। 'तुझे बता तो दिया कि मेरे नियम मेरी अधिकार सीमा तक ही हैं। जो मेरे और सम्पूर्ण जगत् के स्वामी हैं, उनके जनों के सम्बन्ध में नियम निर्धारण करना मेरी शक्ति से बाहर है। वहाँ नियमक और न देखकर तुम्हें केवल इतना ही देखना है कि जीव किस प्रकार प्रभु के नाम, रूप, गुण, लीला, धमादि से तनिक भी सम्बन्धित तो नहीं है? ऐसा होने पर उधर का मार्ग ही छोड़ दो।'

'जी हमने उधर का मार्ग ही छोड़ दिया आज।' पता नहीं कहाँ से हँसते हुए देवर्षि नारद खड़ाऊँ खटकाते, वीणा लिये, खड़ी चुटिया फहराते आ धमके। 'सोचा कि भक्तराज को 'जय गोविन्द' करते चलें। नहीं तो जाना तो था कैलाश।'

दूत एक ओर खिसककर दण्डवत् करने लगे। धर्मराज हड़बड़ाकर उठे और उन्होंने भी पृथ्वी में लेटकर मस्तक देवर्षि के पद्मरूण पदों पर रक्खा।

जीवन का चौराहा

'आप कुछ व्यस्त दीखते हैं!' देवर्षि ने चित्रगुप्त की ओर देखा।

'भगवन्!' आतुरतापूर्वक अपनी लेखनी एवं अनन्त कर्मपत्र एक ओर रखकर उठे वे जीवों के कर्मों का विवरण रखने वाले यमराज के महाकार्यालयाध्यक्ष। अपनी व्यस्तता में उन्होंने देखा नहीं था कि देवर्षि कब संयमनीपुरी के द्वारदेश से भीतर आ गये हैं। झटपट साष्टाङ्ग प्रणिपात किया उन्होंने।

चित्रगुप्त की व्यस्तता- कोई ठिकाना है उनके कार्यालय के कार्य-विस्तार का। अनन्त कोटि प्राणी और कौन कहाँ है, किसका कौन-सा प्रारब्ध भोग चल रहा है, कौन-सा भाग देना है? किस जीव को कब वर्तमान देह छोड़ना है तथा कौन-सा दूसरा देह धारण करना है। यह सब विवरण-क्षण-क्षण का विवरण रखना ठहरा उन्हें।

जीवों का- भोगयोनि के जीवों का विवरण जो सरल है; किन्तु मनुष्यों का कर्म-विवरण-धरा के अरबों मनुष्य, किन्तु मनुष्य कब क्या करेगा, कहाँ ठिकाना है। वह कर्म स्वतन्त्र प्राणी- उसके आधे पल के कर्म अनन्त-अनन्त जीवन के हेतु बन जाते हैं और कभी-कभी क्षणार्ध में वह चित्रगुप्त के अपने पूरे खाते को समाप्त कर डालता है। मानव का कर्म-विवरण-चित्रगुप्त की व्यस्तता का अनुमान कोई कैसे कर सकता है।

'आपका लोक भरा-पूरा तो है?' देवर्षि किञ्चित् हँसे। चित्रगुप्त को आश्वासन मिला कि उनको तत्काल अभ्युत्थान न देने के अपराध की क्षमा प्राप्त हो गयी।

'संयमिनी में स्थानाभाव नहीं होगा- स्रष्टा की अपार, अनुकम्पा ने यह व्यवस्था प्रारम्भ में न कर दी होती।' चित्रगुप्त ने विनम्र स्वर में निवेदन किया। आज यहाँ अवकाश नहीं होता कि मैं भी बैठ सकूँ।'

पल-पल चले आते धरा के जीव- सबके कर्म-विवरण देखे बिना ही कहा जा सकता था, वे कहाँ जायँगे। यमराज के दूत उन्हें पुरी के दक्षिण द्वार से ले आते हैं और दक्षिण द्वार से प्रविष्ट प्राणी तो नरक में ही जाया करते हैं।

इस व्यस्तता में भी आप कुछ प्रतीक्षा करने लगते हैं? देवर्षि ने देख लिया था कि

चित्रगुप्त जी के नेत्र बार-बार उत्तर एवं पूर्व के द्वारों की ओर उठ जाते हैं।

'देवराज कहते हैं, अमरावती में पुण्यात्माओं की जनसंख्या घटती जा रही है।' खिन्न स्वर में बोले चित्रगुप्त, 'जो पहुँच चुके हैं, उनके पुण्य-भोग समाप्त होने ही ठहरे और धरा की स्थिति मुझसे अधिक श्रीचरणों को ज्ञात है। हम क्या कर सकते है। हमारे उत्तर एवं पूर्व के द्वार पुण्यात्माओं का प्रवेश यदा-कदा ही प्राप्त कर पाते हैं।

'नारायण! माधव! गोविन्द!' देवर्षि को इतना अवकाश कहाँ कि वे किसी की विस्तृत वार्ता सुनें। कहीं दो क्षण रुके- अनुग्रह उनका। उनकी वीणा के तार झंकृत हो उठे। अभी धर्मराज का साक्षात्कार करना है उन्हें। चित्रगुप्त को पुनः अपना लेख-विवरण सँभालने में आधा क्षण भी नहीं लगा।

× × ×

'देवाधिराज को कलि ने सर्वथा निश्चिन्त कर दिया है।' 'देवर्षि अमरावती पहुँच गये थे। महेन्द्र की अभ्यर्थना स्वीकार कर ली थी उन्होंने। देवसभा के पाटलपराग आस्तरण पर सुराङ्गनाओं के सुकुमार पद स्थिर हो चुके थे। नतग्रीव, बद्धाञ्जलि सुरसमूह-देवर्षि की उपस्थिति ने संगीत एवं नृत्य को विराम दे दिया था; किन्तु देवर्षि का ध्यान इधर नहीं था। वे कह रहे थे- अल्पप्राण मानव अब अपने तप से सुरों को सशङ्क नहीं कर सकता और उसे अपने निर्वाह के लिये ही जब शुद्ध द्रव्य प्राप्त नहीं- शतक्रतु की यज्ञद्वारा स्पर्धा- अतीत की कथा हो गयी वह।'

'देवलोक में अनाहार चल रहा है!' शिथिल स्वर था देवराज का- सुरों का संबल मानव की श्रद्धा। हम अमर न होते-धरा में हविष्य की सुरभि का अभाव कब का हो चुका था, अमरावती जनहीन, हो गयी होती।'

'मानव आज सुरों की सहायता में आस्था नहीं करता।' देवर्षि सहजभाव से कह गये।

'हम संतोष कर लेते, यदि अपने श्रम पर उसकी आस्था सात्त्विक होती।' महेन्द्र ने उसी हताश स्वर में उत्तर दिया- देवधानी उसके शुद्ध स्वेद से भी सुपुष्ट रह सकती है और विशुद्धश्रम - उसकी समता कर सकें, ऐसा तो कोई पुण्य नहीं।'

'स्वार्थ कलुषित करता है श्रम को' देवर्षि ने इन्द्र की बात ही स्पष्ट की- 'और आज मानव का- आराध्य श्रम नहीं, स्वार्थ हो गया है।'

'देवधानी जनहीन होती जा रही है।' देवराज ने देवसभा पर एक दृष्टि डाली- 'पुण्यकर्मा मानव यहाँ पधारें और हम उनका स्वागत करें- समस्त सुरों की आज उत्कण्ठा है।' मानव के तप और यज्ञ की स्पर्धा, न अपेक्षा। उसके श्रम का सत्कार करेगा देवलोक, किन्तु वह श्रम मानवता का श्रम तो हो!'

'सुर सहायता कर सकते हैं।' देवर्षि के वचन इस बार गूढ़ार्थ लिये थे- 'सात्त्विक प्रेरणाओं का संचार जिनका कार्य है वे हताश क्यों हों।'

'सुर केवल प्रेरणा दे सकते हैं और प्रत्येक प्रेरणा अस्वीकृत कर दी जा सकती है, विकृत कर दी जा सकती है।' देवेन्द्र ने इस बार प्रार्थना की- सुरों की सत्प्रेरणा आज असमर्थ हो गयी है, किन्तु सर्वेश सर्वसमर्थ हैं और आप....। मानव को कर्म-स्वातन्त्र्य प्रदान किया है उन परम प्रभु ने।,

'देवराज की प्रार्थना भगवान् रमाकान्त के श्रीचरणों तक पहुँचाने में मुझे प्रसन्नता होगी।' देवर्षि ने स्वीकृति दी और उनके पादुकाद्वय मण्डित चरण मुड़ पड़े। देवताओं के साथ देवराज अभिवादन कर रहे हैं, यह देखना उनके स्वभाव में कहाँ है।

× × ×

'देव! आप जीवों के परमाश्रय हैं।' क्षीरसिन्धु की उत्ताल तरङ्गों ने देवर्षि की पादुका का स्थिर भाव से मस्तक पर धारण कर ली थी। भगवान् नारायण ने उनका स्वागत किया और अब दुग्धोज्ज्वल आसन स्वीकार करके देवर्षि प्रार्थना कर रहे थे- 'प्राणियों की पीड़ा अपार है और आपकी अनुकम्पा उसे तत्काल दूर कर सकती है।'

'मैं स्वयं आतुर प्रतीक्षा करता रहता हूँ देवर्षि! कि कोई हाथ उठे और मैं उसे उठा लूँ।' जलद-गम्भीर स्वर करुणापूर्ण- 'आप जानते हैं, मेरी उत्कण्ठा। जीव को अपनाकर मेरा आनन्द उल्लसित होता है; किन्तु जीवों को अनुकम्पा अभीष्ट है केवल सिन्धुसुता की।'

'माता की कृपा अपनी संतति के लिये कृपण होगी!'

देवर्षि ने इस बार आदिपुरुष के पदों को अङ्क में लिये स्थिर शान्त श्री के चरणों की ओर दृष्टि की और उनके चित्त ने कहा- 'चञ्चलित प्राणी इन्हें 'चञ्चला' कहते हैं।'

'कृपा कृपण हो जाती है देवर्षि, पाद-संवाहन चलता रहा और देवी का स्वर आया- 'संतान जब अपने संकट सबल करने की कृपा-कामना करती है- माता के समीप कृपण बन जाने के कारण अतिरिक्त कोई और पथ है?

'अज्ञ जीव!' देवर्षि नारद की अनुकम्पा हताश होना नहीं जानती। वे पुनः परम पुरुष से प्रार्थना करने लगे थे- 'अन्तर्यामीरूप से जो जन-जन के हृदय में निवास करते हैं, उनके अतिरिक्त ज्ञान का आलोक देने में कौन समर्थ है।'

'अन्तर्यामी ने आलोक देने में कभी प्रमाद किया है?' परमप्रभु के अधरों पर स्मित आया- 'उसका स्वर जब मानव न सुने-देवर्षि! एकमात्र मानव कर्म-स्वतन्त्र प्राणी है। लक्ष-लक्ष योनियों में एक स्वतन्त्र योनि-उसे भी पराधीन कर देना उपयुक्त होगा?;

'मानव आज पथभ्रष्ट !' खिन्नचित्त देवर्षि जैसे अपने आपसे कह रहे हों- मानव की च्युति-सम्पूर्ण भुवनों में, समस्त प्राणियों में अव्यवस्था एवं क्लेश का सृजन करता मानव !'

'कर्मस्वातन्त्र्य मिला मनुष्य को।' परम पुरुष जैसे कुछ सूचित करना चाहते हो- नाना गतियों के पथों का चौराहा-जीवन-चौराहे पर खड़ा मानव। वह स्वर्ग जा सकता है, नरक जा सकता है, असुर बन सकता है, पशु-पक्षी या कीट-पतंगों की योनि के द्वार खुले हैं, पुनः मानव बन सकता है और अपवर्ग- मेरा यह धाम उसी का स्वत्व है। सब पथ प्रशस्त हैं उसके सम्मुख और उसके पद स्वतन्त्र !'

'आपकी माया उसे प्रवञ्चित करती है।' देवर्षि ने उलाहना दिया- 'वह उसे भ्रान्तपथ की ओर आकृष्ट करती है।'

'आपकी वाणी सावधान कर सकती हैं।' परमपुरुष ने सूत्र सुनाया- मानव को माया आकृष्ट करे- जीव को नित्यसेविका माया जीव के चरमोत्कर्ष की स्थिति में वह प्रस्तुत करती है अपने को सेवा में। सेवा को अस्वीकार करने में मानव सहज समर्थ है और उसे सावधान किया जा सकता है। सावधान किया गया है देवर्षि !'

'आपकी शाश्वत वाणी-श्रुतिगिरा वह सुन नहीं पाता आज; किन्तु - देवर्षि ने जैसे कुछ निश्चय कर लिया हो- 'इस बार अनुमति दें दास को !'

'शुभं भूयात् !' अनुमति ही नहीं, आशीर्वाद भी प्राप्त हो गया और प्रणिपात करके उठ खड़े हुए देवर्षि।

× × ×

'गेह गेह जने जने' भक्ति की स्थापना की प्रतिज्ञा करके परिव्राट्-व्रतधारी वे स्राष्टा के सम्मान्य कुमार नित्य विचरण कर रहे हैं। आपने उनकी वाणी सुनी? सम्भव है, न सुनी हो। उनका उद्घोष है-

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा।।

मानव-योनि जीवन के चौराहे पर खड़ा मानव प्राणी चारों ओर पथ-पथों के भिन्न-भिन्न गन्तव्य। पद आगे बढ़ाने से पूर्व देवर्षि के उद्घोष को सुन लेना लाभदायक होगा बन्धु !

❑❑

पूर्णकाम

'तृष्णाक्षये स्वर्गपदं किमस्ति'

'देवाधिप की मुखश्री आज म्लान दीखती है !' सुरगुरु ने अमरों की अर्चा स्वीकार कर ली थी और महेन्द्र से अभिवादित होकर वे सिंहासन पर बैठ चुके थे। इन्द्र एवं अन्य देवताओं ने भी आसन ग्रहण कर लिया था। सुधर्मा सभा में आज चिन्ता की अरुचिकर गन्ध है।'

देवता गन्धग्राही होते हैं। सुरभि आघ्राण ही उनका आहार है। अतः यदि उन्हें मनोभावों की गन्ध भी आती हो तो कोई आश्चर्य की बात तो है नहीं।

'भारतवर्ष ही देवधानी का पोषक है।' सुरपति ने खिन्न स्वर में कहा- 'उस कर्मभूमि से उठी स्वाहा-समन्वित सुरभि ही सुरो का पोषण करती है; किन्तु अनेक बार उसके जन त्रिविष्टप को आशंकाकुल कर देते हैं।'

'असुरों ने उस कर्मभूमि पर आधिपत्य की कोई योजना बनायी हैं? बृहस्पति का प्रश्न कहता था कि यह चर्चा कुछ देर चलेगी। गन्धर्वों ने अपने वाद्य उठाये और अप्सराएँ एक-एक करके देवसभा से जाने लगीं।

'भगवान वामन ने जब से उपेन्द्रपद स्वीकार करने का अनुग्रह किया, असुरों का साहस हतप्रभ हो गया। इस समय कर्मभूमि उनके लिए असह्य हो गई है।' वासव के सहस्र नेत्रों में आशंका साकार थी- 'मानव जब अपने स्वरूप में आ जाता है, हम सुरों के लिये भी वह दुराधर्ष होता है इधर ब्रह्मावर्त में एक ऋषिकुमार सुरसरि के तटपर आ बसा है। उसका तप विरमित ही नहीं होता।'

'मदन-देव और मलयमारुत का स्मरण क्या इस बार देवाधिप को अनावश्यक लगने लगा है?' देवगुरु ने पूछा। वे स्वयं इधर दीर्घकाल से अपने आराधन में लीन थे। उन्हें न अमरावती का कोई समाचार ज्ञात था और न धरा का ही।

'वसन्त उस विप्र के मन को अधिक एकाग्र करता है। शीतल पवन और विकच पुष्पराशि उसे अन्तर्लीन होने की प्रेरणा देती है।' महेन्द्र कह रहे थे- 'मन्मथ के समस्त

शर कुसुम-धनुष पर ही स्तम्भित हो गये उसकी आश्रमसीमा में और अप्सराओं का संगीत जैसे ही प्रारम्भ हुआ, वह स्वयं करताल उठाये उनके बीच आ गया। नेत्र बंद किये उद्दाम नृत्य-कीर्तन में तन्मय उस अद्भुत मानव को स्वर्ग-सुन्दरियाँ कैसे प्रभावित करतीं। उसे अपने ही शरीर की सुधि नहीं रही तो फिर उसके आस-पास देवांगनाएँ सावरण हों अथवा निरावरण- क्या अर्थ रह गया इसका।'

'तपस्वी शीघ्र कुद्ध होता है और क्रोध काम की अपेक्षा तपस्तेज का अधिक नाशक है।' देवगुरु ने एक और मार्ग सुझाया। 'ठीक है कि महेन्द्र ने यह कार्य कभी कामानुज को नहीं दिया; किन्तु जब अग्रज विफल हो गया...।'

'अनजु के लिये अवकाश भी तो हो।' इन्द्र बीच में ही बोले- 'वह कहाँ कभी रुष्ट होता है। अद्भुत तापस यदि वह न होता, हमें इतनी चिन्ता क्यों होनी थी। रूक्षता उसके हृदय का स्पर्श नहीं करती। चाहे जब, चाहे जिस नियम को स्थगित करके उपस्थित श्रोता को कोई कथा सुनाने लगेगा अथवा स्वयं करताल उठा लेगा। गद्गद कण्ठ, रोमाञ्चित देह और अश्रु प्रवाह तो मानो रुकना जानते ही नहीं।'

'आप नहीं मानते कि वह अमरावती का अधिकारी हो गया है!' इस बार सुरगुरु का स्वर कुछ भिन्न प्रकार का था- 'समुचित अधिकारी को पुरस्कृत करने में यदि सुरेश्वर प्रमाद करने लगें, लोकपालों की नियुक्ति पितामह ने क्यों की। उस तापस का पार्थिव देह साधनपूत हो चुका। सत्त्वशुद्ध शरीर यहाँ आकर श्रीवृद्धि ही करेगा देवधानी की।'

'वे वन्दनीय यदि स्वीकार कर लें, हम उनका स्वागत करके अपने को कृतार्थ मानेंगे।' महेन्द्र ने गुरु के चरणों में मस्तक झुकाया। एक क्षण को भी उन्होंने त्रिविष्टप का स्मरण किया होता, उन्हें यह दिव्य भूमि अलभ्य नहीं थी। किन्तु वे तो तपोधन- उनके संकल्प की अपेक्षा मुझे क्यों करनी चाहिये! श्रीचरण कुछ काल मेरे सदन को पवित्र करें! मातलि मेरा रथ लेकर धरा को धन्य करने जा रहे हैं।'

मातलि को आदेश की अपेक्षा नहीं थी। देवता संकल्पसाक्षी होते हैं। देवराज के चित्त में जो संकल्प उठा मातलि के लिये वही पर्याप्त आदेश था।

× × ×

'भगवन् आप.....।' तपस्वी तनिक अस्तव्यस्त उठ खड़ा हुआ। वह श्रद्धाप्राण- ध्यान से नेत्र खोलते ही जब एक रत्नाभरणभूषित ज्योतिर्देह पुरुष सम्मुख दीख पड़ा, त्वरापूर्वक अभिवादन के लिये उठा वह विप्रकुमार।

'मैं प्रणम्य नहीं देव!' मातलि ने झटपट दोनों हाथ जोड़कर मस्तक झुका दिया- देवराज का सारथि है यह जन और इसे मातलि कहा जाता है। श्रीचरणों के दर्शन करके आज यह सुर-सूत धन्य हुआ।'

'आप मानव-वन्द्य हैं और आज तो अतिथि हैं इस अकिंचन के।' तपस्वी ने भी प्रणाम किया और आसन दिया। 'सुरसरि का जल और दो धरा के क्षुद्र सुमन- यहाँ आपका सत्कार करने को और है ही क्या।'

'आपके प्रेमाश्रु से सिचित ये रजःकण स्रष्टा के भी भाल को भूषित करने योग्य हैं।' मातलि ने धूलि उठाकर मस्तक पर लगा ली; किन्तु तपस्वी के द्वारा दिया गया अर्घ्य पाद्यादि उन्हें स्वीकार करना पड़ा।'

'आप कोई आदेश देकर इस जन को कृतार्थ करेंगे।' नम्रता की मूर्ति तापस अर्चा के अनन्तर अनुरोध कर रहा था।

'प्रार्थना करने ही आया हूँ।' मातलि को स्वयं उत्कण्ठा थी- देवराज ने अपना रथ भेजा है कि श्रीचरण अब अमरावती को अपनी उपस्थिति से पवित्र करने की कृपा करें।'

'मनु की संतान को सुरों का आदेश श्रद्धापूर्वक स्वीकार करना चाहिये।' तपस्वी ने कोई आपत्ति नहीं की। उन परिग्रह रहित एकाकी साधु को कोई तैयारी तो करनी ही नहीं थी। मातलि के पीछे वे रथ पर विराजमान हो गये। सशरीर स्वर्ग जाने में कोई महत्ता भी है, यह बात उनके मान में आयी ही नहीं।

'देवधानी धन्य हुई।' महेन्द्र ने आगे आकर स्वागत किया। उन्हें आशा ही नहीं थी यह युवा तपस्वी इतनी सरलता से उनका अनुरोध स्वीकार कर लेगा।

'आपको कोई असुविधा न हो, देवराज इसका ध्यान रखेंगे!' सुरगुरु ने अङ्कमाल दी प्रणिपात करते विप्र कुमार को। 'आप देवधानी देख लें। जो सौंध अनुकूल लगे वह आपके लिये सुरक्षित है, ऐसा ही मानें। यहाँ सभी आपका सख्य प्राप्त करके प्रसन्न होंगे और जिसे भी सेवा का अवसर प्राप्त होगा, वही कृतार्थ समझेगा अपने को।'

'मैं तो आपका आज्ञानुवर्ती हूँ।' तपस्वी ने बद्धाञ्जलि निवेदन किया- 'मेरे योग्य जो सेवा सुरगुरु अथवा सुराधिप निर्दिष्ट करें! वैसे मुझे अपने अनुकूल नमो-गंगा का वह रम्यतट लगता है, जिसे मैं नगर-परिखा के बाह्य भाग में देख आया हूँ। यदि आप सब अनुमति दें, मुझे वहाँ आसन लगाने में प्रसन्नता होगी।'

महेन्द्र ने सुरगुरु की ओर देखा- यह मानव तो इस देवभूमि में भी तपोवन बनाने का स्वप्न देखता प्रतीत होता है।'

'इनकी इच्छा का अतिक्रमण करने की शक्ति सुरों में नहीं है, यह हमें स्मरण

रखना होगा।' महर्षि बृहस्पति ने देवराज को संकल्प की भाषा में ही उत्तर दे दिया और तपस्वी से बोले– जहाँ आप प्रसन्न हों हमें कोई बाधा नहीं।'

× × ×

'हम बार-बार श्वासरोध की पीड़ा से त्रस्त होती हैं।' अप्सराओं ने अभियोग उपस्थित किया– 'मानव-तपस्वी जब श्वासरोध करके वृत्तियों को केन्द्रित करता है, हमारे लिये अपने अंग हिलाना कठिन हो जाता है और वह प्रायः अपने आसन पर बैठा ही रहता है।'

'सुरकानन के सुमन म्लान हो गये हैं।' किन्नरों ने देवराज से निवेदन किया– उपोषित मानव का उष्णश्वास सुरपादप के लिये भी असह्य होता जा रहा है।'

'चित्त में आनन्द का उत्स आवे तो संगीत के स्वर रस को साकार करते हैं।' गन्धर्वों ने वाद्य त्याग दिये सुधर्मा सभा में देवेन्द्र के सम्मुख-'धरा से आया अतिथि चित्तवृत्ति निरोध कर लेता है और हमारे मानस में कोई वृत्ति उठ ही नहीं पाती।'

'अमरावती अब अमरों के निवास के लिये अयोग्य होती जा रही है।' देवता अत्यन्त क्लेश भरे स्वर में कह रहे थे– 'हम सब सत्त्ववृत्ति हैं। मानव जब सत्त्व का भी रोध करके ऊपर उठता है, लगता हमारी सत्ता ही समाप्त हो जायगी।'

'अदम्य है तापस का अनुभव!' स्वयं देवगुरु ने स्वीकार किया– 'सम्पूर्ण अमरावती का वातावरण उसकी उपस्थिति से उसके द्वारा नियन्त्रित होने लगा है।'

'हमारे उद्यान अब उजड़े लगते हैं। हमारे सदन क्रीड़ाविरहित हैं। सुधा तक में हमें अब स्वाद नहीं प्राप्त होता।' सुरेन्द्र स्वयं संत्रस्त हो उठे थे– 'अपने आवास में तपस्वी का प्रभाव हमें बलात् भोगवर्जित किये दे रहा है।'

'सुर साधना का शान्त आनन्द आस्वादन नहीं कर पाते।' देवगुरु ने समस्या को समझ लिया था– 'और तपस्वी की परम तत्व से एकात्मता उन्हें गुण के हीन सुख में रहने नहीं देती। फलतः एक अद्भुत आकुलता का अनुभव हम सब करने लगे हैं।'

'वे तपोधन-करते क्या है?' देवगुरु ने कहा– 'हम सब निकट से इसे एक बार भलीभाँति देख लें।'

'वे जब से आये हैं, उन्होंने एक भी संकल्प नहीं किया।' गन्धर्वश्रेष्ठ हू हू ने बताया, क्योंकि तपस्वी की सेवा का विशेष भार उन्हीं पर था। इस दिव्यभूमि में आकर उन्हें न क्षुधा व्याप्त हो सकती और न पिपासा ही। पार्थिव मल भी यहाँ उनके श्रीअंग के अन्तर्वाह्य स्पर्श से वञ्चित है। भिक्षा करने का भला वे क्यों स्मरण करें। स्नान

अवश्य वे बार-बार करते हैं। व्योमगंगा के तट को सम्भवतः इस सुविधा की दृष्टि से ही उन्होंने चुना।'

'आपने उन्हें सुधापान का अधिकारी नहीं माना?' देवगुरु ने उपालम्भ की दृष्टि से देवराज को देखा।

'वे इच्छा करते, सुरा-सुरांगना-सुरतरुसुमन-सभी अमरावती के भोग सार्थक बनते।' शक्र का स्वर शिथिल था- 'इच्छा के अभाव में कोई विषय स्वाद नहीं दे पाता। सृष्टिकर्ता ने इसीलिये स्वर्ग की मर्यादा निश्चित की- इच्छा करते ही भोग की उपलब्धि। अनिच्छित भोग तो हम किसी को दे नहीं पाते और वे अद्भुत अतिथि हैं कि इच्छा करना जैसे उन्हें आता हीं नहीं।'

'वे कर्मभूमि भेजे नहीं जा सकते, क्योंकि अमरपुर आकर कोई पुण्य क्षीण हुए बिना धरा पर जाता नहीं। उन अमित प्रभाव के पुण्य!' सुरगुरु चिन्तित हुए- 'स्वर्ग उनके तेज को सहन नहीं कर पा रहा है और उर्ध्व लोकों में किसी को हम भेजने की शक्ति नहीं रखते!'

'जो अधिकारी हैं, उन्हें कोई भेजे; इसकी अपेक्षा कहाँ है!' सहसा देवर्षि का स्वर आया। वे नित्य परिव्राट् अकस्मात अमरावती आ पहुँचे थे। सुरेन्द्र को आश्वासन प्राप्त हुआ।

'भगवन्! हमने एक मानव-तपस्वी को सशरीर ले आने की भूल की!' देवगुरु संकोचपूर्वक बोले।

'वह क्षीण-तृष्ण है और अब तृष्णा ही न रहे चित्त में स्वर्ग उसके लिये सत्ताशून्य हो उठता है।' देवर्षि ने वाक्य पूरा किया- 'उसकी उपस्थिति ने देवधानी की सत्ता संदिग्ध बना दी है; किन्तु उस महाप्राण का स्वागत करने के लिये श्वेतद्वीप के षडूर्मिरहित क्षीण तृष्ण पावन प्राण समुत्सुक हैं। मैं उसे लेने ही आया हूँ।

तपस्वी को कितनी प्रसन्नता हुई देवर्षि के साथ प्रस्थान करने में। भगवान् नारायण ने स्वयं उसे स्मरण किया था। उसका भाग्य........।'

धर्म-धारक

'आज लगभग तेंग का पूरा परिवार ही नष्ट हो गया!' बात मनुष्यों में नहीं, देवताओं में चल रही थी। 'वह कृष्णवर्ण दीर्घांगी कंकालिनी लताकण्टकभूषणा चामुण्डा किसी पर कृपा करना नहीं जानती। उसने मेरी अनुनय को उपेक्षा के निष्करुण अट्टहास में उड़ा दिया। आप सब देखते ही हैं कि किस शीघ्रता से वह प्राणियों के रक्त-माँस को चाटती जा रही है।'

'तुम्हारे यहाँ तो अद्‌भुत सुइयाँ एवं औषधियाँ लेकर एक पूरा दल चिकित्सकों का आ गया है।' दूसरे देवता ने अधिक खिन्न स्वर में कहा- 'मेरे क्षेत्र की ओर तो मानव शासक भी ध्यान नहीं दे रहा है। पूरा जनपद प्रायः खँडहर हो चुका है और दो-चार दिनों में रुद्र के गण जब वहाँ अधिकार कर लेंगे, मुझे भटकते घूमना पड़ेगा।'

'उन चिकित्सकों में से तीन की बलि विषूचिकाने ले ली। पाँच और शय्या पर पहुँच चुके हैं।' पहिले देवता का स्वर शिथिल बना रहा- 'मानव के ये प्रयत्न चामुण्डा की चरणगति का अवरोध बन पायेंगे? वह कहाँ समझता है कि उसकी चेष्टा तभी सफल होती है, जब भगवान् धर्म सानुकूल हों। वे रुठे और रुद्र के गणों का कोई-न-कोई दल आया।'

'हम सब अब क्या कर सकते हैं!' एक तीसरे का दीर्घ निःश्वासयुक्त स्वर था- 'हमारे पूरे प्रदेश पर लगातार चार वर्ष से देवराज का प्रकोप है। मेघ आते हैं और चले जाते हैं। पशु-पक्षी तो पहिले ही नहीं रह गये थे; अब मनुष्य क्षुद्र कीटों के समान मृत्यु के ग्रास बन रहे हैं।'

आपको अद्‌भुत लग सकता है; किन्तु यह सत्य है कि प्रत्येक नगर एवं ग्राम का एक क्षेत्रपाल होता है। प्रत्येक गृह का एक अधिदेवता होता है। नगर, ग्राम गृह स्वच्छ हों, सम्पन्न हों तो उसे प्रसन्नता होती है। वहाँ दुःख, द्ररिद्रता, गंदगी हो तो उसको कष्ट होता है। अधिदेवता प्रसन्न हो तो नगर, ग्राम, गृह के निवासी सुखी रहते हैं और वह रुष्ट हो तो निवासियों को रोग, शोक चिन्ता सताती है।

उस समय हिमालय के दुर्गम प्रदेश में चीन के कई प्रान्तों के क्षेत्रपाल देवताओं का समूह एकत्र हुआ था। वे विपत्ति में पड़ गये थे। मनुष्य उनकी सत्ता माने या नहीं माने, उनकी सत्ता और कार्य में कोई बाधा नहीं पड़ती; किन्तु जब मनुष्य अधर्म पर उतर आता है- महामारी, अकाल आदि आपत्तियाँ उसे शिकार बना लेती हैं। ऐसी अवस्था में क्षेत्रपाल भी संकट में पड़ जाते हैं। गृह रहेगा तो गृह का अधिदेवता रहेगा। गृह खँडहर हो जाय या जनहीन हो जाय तो वहाँ प्रेत निवास कर लेंगे। क्षेत्रपाल निर्वासित हो जायगा। यही अवस्था ग्राम तथा नगर के देवताओं की भी है। जनहीन नगर तथा ग्राम रुद्रगणों के स्वत्व हैं।

महामारी, भुखमरी से चीन के ग्राम-के-ग्राम सूने होते जा रहे थे। अधिकारियों के बहुत प्रतिबन्ध रखने पर भी यह समाचार विश्व को मिल ही गया कि अकाल तथा है जैसे वहाँ अत्याधिक जनहानि हुई है। इतनी बड़ी जन-हानि जो कई करोड़ की समझी जा रही है।

क्षेत्रपाल अधिदेवताओं पर भी अकस्मात् इतनी बड़ी विपत्ति एक साथ कभी नहीं आयी थी। वे क्या करें, यह निर्णय करने के लिये उनका समुदाय एकत्र हुआ था। प्रलय का समय आया नहीं, आकस्मिक खण्ड-प्रलय की सूचना देकर भगवान् रुद्र ने उन्हें धरा का त्याग करने का अभी कोई आदेश नहीं दिया और उनके आवास नष्ट होते जा रहे हैं। उन्हें लगता है कि रुद्रगण उसे शीघ्र ही उन्हें निर्वासित कर देने वाले हैं।

'महेश्वर शरण में यदि हम लोग चलें!' एक ने बड़े संकोच से बात प्रारम्भ की- 'वे आशुतोष परम कृपालु हैं।'

'वे समाधि में हैं!' तिब्बतीय क्षेत्र के एक क्षेत्रपाल ने सूचना दी- ऐसा न भी होता तो वे हमें कदाचित ही मानव की सहायता करने को कहते। मानव ने कैलास के आस-पास जो हत्याएँ की हैं, तपस्वियों का आहार रोककर जो उनका सामूहिक विनाश उसने किया है, उसकी उपेक्षा कैसे की जा सकती है।'

'किसी का कोई दोष वे सर्वाधार कभी नहीं देखते। दूसरे के स्वर में यह कहते कोई उल्लास नहीं था। किन्तु जब वे उत्थित ही नहीं, उनके समीप जाने का प्रश्न नहीं उठता और हम सीधे उनके समीप जा भी कैसे सकते हैं।' हमें अपनी समस्या नियमानुसार देवराज के समीप उपस्थित करनी चाहिये।

'और देवराज अत्यन्त रुष्ट हैं इसे देश के मानवों पर इन दिनों!' एक नगरपाल कह रहे थे- 'अवर्षण बनकर उनका क्रोध इतने असह्य रूप में आया है कि मेरे पास अब थोड़े से गृह रह गये हैं। मेरे नगर की जनसंख्या सहस्रों के स्थान पर 'शत्' में गणना की जायगी। देवराज के समीप जाकर कोई आश्वासन प्राप्त करने की आशा कहाँ है।'

'मानव हमें मानता या न मानता!' एक वृद्ध क्षेत्रपाल बोले- 'वह भगवान् धर्म से तो विमुख न होता। वह अहिंसा, दया, सत्य, क्षमा आदि को अपनाये रखता, हमने कहाँ उसकी उपेक्षा पर कभी क्रोध किया है।'

'हम सब धर्म के ही समीप चलें।' प्रस्ताव आया और स्वीकृत हो गया।

× × ×

देवताओं को भी बहुत परिश्रम करना पड़ा धर्म को प्राप्त करने के लिये। उनका हिमधवल विशाल वृषभ देह सूखकर अत्यन्त कृश हो गया था। चार में से उसके तीन चरण तो पहले ही नष्ट हो गये थे, एक चरण भी इतना दुर्बल हो चुका था कि उसके बल पर वे किसी प्रकार ही कुछ हिल-डुल सकते थे। उनके पूरे शरीर पर घाव थे।

'आप सबका स्वागत!' नेत्रों में अश्रु भरकर धर्म ने क्षेत्रपालों को देखते ही कहा- 'आपके कष्ट का अनुमान मैं अपनी अवस्था से ही कर सकता हूँ।'

'आपने इस भूमि का लगभग परित्याग ही कर दिया और जब आप प्रजा का धारण नहीं करते....!' एक युवक क्षेत्रपाल चपलतापूर्वक बोलने लगे।

'मैं कभी किसी का परित्याग नहीं करता!' धर्म ने उन्हें बीच में ही रोक दिया- 'मैं प्रजा का धारण पोषण ही करना जानता हूँ। इसी से मेरा नाम सृष्टिकर्त्ता ने धर्म रखा है; किन्तु मानव स्वयं जब मेरा त्याग कर देता है मोह के वश होकर, मैं कर भी क्या सकता हूँ? कर्म-स्वतन्त्र मानव को विवश करने का विधान नहीं है और उसने अपने कर्मों से मेरी जो अवस्था कर दी है, आप देख रहे हैं।'

'हम सब आपके ही आश्रित हैं!' बड़े संकोचपूर्वक क्षेत्रपालों में से एक वृद्ध ने कहा- 'यदि आप हमारी ओर नहीं देखेंगे....।'

'हम सब हरि के आश्रित हैं।' धर्म के स्वर में अतिशय नम्रता थी- 'मनुष्य आज आत्महत्या करने पर उतर आया है। उसने पक्षियों को समाप्त कर दिया, बिना यह सोचे कि वे कृषि तथा मानव-प्राणों के शत्रु कीटवर्ग पर अंकुश रखते हैं। उसने यन्त्रों के भरों से पशुओं को समाप्त कर दिया, बिना यह ध्यान दिये कि भूमि की उर्वराशक्ति उन पशुओं का ही वरदान है। किन्तु मनुष्य को दीखता कहाँ है कि वनराज नहीं रहता तो वन उजड़ने लगते हैं। अब इस पीतवर्णी मानवों के समूह में यहाँ तक दुर्बुद्धि आ गयी है कि वृद्ध, अपंगे रोगी मानव को भी अनावश्यक मानकर दुर्गम स्थलों में निर्वासित कर रहा है क्षुधा कष्ट से मृत्यु प्राप्त करने के लिये। इस बर्बरता से पूर्ण वातावरण में मुझे अपनी प्राण-रक्षा के लिये इस एकान्त का आश्रय लेना पड़ा है।'

'आप यदि प्रजा का त्याग कर देंगे!' बोला नहीं गया क्षेत्रपाल से। 'कितनी भयंकर बात है- धर्म ही यदि प्रजा का त्याग कर दें तो प्रजा रहेगी कैसे। मनुष्य के अन्तःकरण में यदि किसी प्रकार आपकी तनिक छाया भी प्रवेश करें!'

क्षेत्रपालों को एकमात्र धर्मका आश्रय है। मनुष्य जड़वादी हो सकता है; किन्तु देवता तो सत्य देखने में समर्थ हैं। वे देख सकते हैं कि मनुष्यों की दया, दान, प्राणि-पोषण आदि उसे स्वयं पुष्ट करते हैं। वह धर्म ही सानुकूल वृष्टि तथा पृथ्वी की उर्वराशक्ति बनता है और मनुष्य की स्वार्थपरता, हिंसा, क्रूरता आदि गगन तथा धरा दोनों के रस को चूस लेते हैं। इनसे तो केवल प्राणहारी, अन्न-विनाशी महामारी के रोगाणु तथा टिड्डी-कीट आदि ही अभिवृद्धि पाते हैं।

'मानव विश्वस्रष्टा की श्रेष्ठतम कृति है। स्वयं नारायण का निवास है उसके अन्तःकरण में। वह उन्हें कितना भी अस्वीकार करे; किन्तु उन जगदात्मा की ज्योति नर में व्यक्त हुई है।' धर्म बड़े विश्वासपूर्ण स्थिर स्वर में कह रहे थे- 'स्वभाव में चाहे जितनी विकृति आ गयी हो, मूलतः मानव में देवत्व है। उसके देवत्व में विश्वास नहीं खोया जा सकता। अतएव मैं उनका पूर्णतः त्याग कभी नहीं करता। समय की प्रतीक्षा अवश्य करनी पड़ती है और मैं यही कर रहा हूँ।'

समय की प्रतीक्षा! क्षेत्रपालों के समुदाय ने दीर्घ निःश्वास लिया- 'यदि भगवती चामुण्डा भी समय की प्रतीक्षा करतीं। किन्तु वे तो आज हमारे आवास उजाड़ती चली जा रही हैं। आज हम निर्वासित होने के समीप हैं।'

'अनेक बार महाकाली को यह अप्रिय कार्य करना पड़ता है।' धर्म का पूरा शरीर कम्पित हो गया। अधर्म से कलुषित धरा को उनके श्रीचरण स्वच्छ करते हैं। वे महामाया आज मानव के हृदय को मोहाच्छन्न करके अपने महाताण्डव की उसी के हाथों तैयारी करवा रही है। विनाश के प्रचण्ड साधन मानव के कर निर्माण कर रहे हैं; किन्तु विश्व के पालक प्रसुप्त नहीं हुआ करते। उनकी इच्छा संकेत हम सुरों को भी प्राप्त नहीं होता, यह भिन्न बात है। किन्तु हम सबके यही परमाश्रय है। हमें उनका आह्वान करने के लिये तो कहीं जाना नहीं है।'

क्षेत्रपालों का समुदाय भी धर्म के साथ ही उन जगद्ध्याता के ध्यान में तन्मय हो गया।

× × ×

'धर्म ही प्रजा का धारण करते हैं! धर्म ही प्रजा का धारण करेंगे।' एक अव्यक्त

दिव्य वाणी अन्तःकरण में ही उठी क्षेत्रपालों के। 'धर्म अविनाशी हैं, शाश्वत हैं मैं ही स्वयं धर्म हूँ।'

पता नहीं क्षेत्रपालों ने इस रहस्यात्मक परावाणी का क्या अर्थ समझा। उन्हें आश्वासन प्राप्त हुआ या नहीं, कैसे कहा जा सकता है। लेकिन जहाँ तक अपनी बुद्धि की बात है, लगता यह है कि मनुष्य को यदि जीवित रहना है, मानव-सभ्यता को बनाये रखना है तो धर्म का आश्रय लेना होगा, अन्यथा धर्म तो मिटेंगे नहीं, मानवता भले ध्वंस को प्राप्त हो जाय; क्योंकि प्रजा तो धर्म के धारण करने पर ही रहेगी।

जागे हानि न लाभ कछु

'राजकुमार श्वेत के आनन्द का पार नहीं है। आज उनका अभीष्ट पूर्ण हुआ। आज उनकी तपस्या सार्थक हुई। उन्हें लगता है कि आज उनका जीवन सफल हो गया। उन्होंने भगवान् मुरारि से वरदान प्राप्त किया है कि पृथ्वी पर वे सहस्र वर्ष एकच्छत्र सम्राट रहेंगे और सौ अश्वमेध निर्विघ्न सम्पन्न कर सकेंगे। भविष्य में इन्द्रासन उनका स्वत्व बनेगा।

पिता परम शिवभक्त हैं। श्वेत ने जब गुरुगृह की शिक्षा सम्पन्न करके कुछ काल तपोवन में रहने की अभिलाषा व्यक्त की, तब पिता ने अनुमति और आशीर्वाद दिया। आज वह आशीर्वाद फलित हुआ है।

पूर्णकाम कुमार श्वेत अपने उटज से ताम्रपर्णी में स्नान करने जा रहे हैं। आनन्द के अतिरेक में पद पथ में त्वरित पड़ रहे हैं। 'स्नान, मध्यान्ह-संध्या और फिर गुरुदेव के आश्रम पहुँचकर उनके चरणों में प्रणति! वहाँ से कोई सहाध्यायी स्वयं समाचार देने राजधानी दौड़ जायगा। रथ आ जायगा लेने के लिये। सम्भव है स्वयं महाराज विप्रवन्द के साथ लेने पधारें!' श्वेत की कल्पना, पता नहीं क्या-क्या सोच रही है।

'भविष्य के देवेन्द्र!' सहसा एक झींगुर का स्वर श्वेत के कानों में पड़ा। स्वर में उन्हें वेदना लगी, व्यंग लगा। प्राणियों की भाषा का ज्ञान गुरुदेव से मिल चुका था। श्वेत के पैर रुक गये। उनकी सफलता का संवाद क्या देवताओं ने जगती में फैलाया है! चकित से वे पीछे घूमे।

'भूतकाल के इन्द्र का सम्मान तुम भले न करते; किन्तु एक प्राणी को इस प्रकार आहत करना तो तुम्हें शोभा नहीं देता।' झींगुर का एक पैर आहत हो गया था। असावधानी के कारण श्वेत का पैर पड़ गया था उसके ऊपर। वह धूलि में किसी प्रकार एक ओर घिसटता जा रहा था।

आप मुझे क्षमा करें!' श्वेत ने उस कीट की भाषा में ही उत्तर दिया। 'आपका परिचय पाने का अधिकारी यदि मैं होऊँ...।'

'इस शिष्टता की आवश्यकता एक कीड़े के साथ व्यवहार करने में नहीं है!' झींगुर ने घिसटना बंद कर दिया और बोला– 'इन्द्रत्व एक स्वप्न था और यह कीटदेह भी एक स्वप्न ही है। वैसे मैं अब भी इन्द्र हूँ।'

'आप इस दशा में इन्द्र हैं!' राजकुमार श्वेत को आश्चर्य हुआ। उन्हें संदेह भी हुआ कि कहीं शतक्रतु पुरन्दर यह रूप धारण करके उनकी कोई परीक्षा लेने तो नहीं आ गये हैं। स्वतः स्वर निकल गया– 'मैं आपकी वन्दना करता हूँ।'

मैं आपका वन्दनीय नहीं हूँ।' उस कीट ने कहा– 'मुझे कोई खेद नहीं कि आपके पद से मैं आहत हो गया। प्राणिमात्र के परम वन्दनीय भगवान् शशाङ्कशेखर ने आपको आज ही दर्शन दिये हैं, अतः आपका चरण स्पर्श मेरा सौभाग्य ही है।'

'महाभाग!' श्वेत समझ नहीं पा रहे थे कि यह कीट वेश में किससे उनकी बाचीत हो रही है।

'आप कोई शंका न करें।' झींगुर ने राजकुमार की चकित भंगिमा लक्षित कर ली– 'इस समय मैं एक घृणित कीट मात्र हूँ; किन्तु इस देह में दो क्षण पूर्व मैं उस सुन्दर, सुरभित, सुकोमल, सुरंग पुष्प पर बैठा था जो तृणशाखा पर मार्ग में झूम रहा है। किस इन्द्र के सिंहासन से वह हीन गौरव है? उस पर बैठा मैं झिल्ली राग आनन्द से अलाप रहा था। मेरी सात प्रेयसियाँ मेरे चारों ओर फुदक रही थी। आप आये तो वे कूदकर तृणों में अदृश्य हो गयीं। मेरा एक पैर आहत हो गया। जैसे असुरों के आक्रमण से आहत–पराजित पुरन्दर मेरु की गुहा में आश्रय लेते हैं, मैं भी उस भू–विवर (दरार) में तब तक के लिये जा रहा हूँ, जब तक मेरा यह पैर ठीक न हो जाय और मैं कूदकर अपने पुष्पासन पर पहुँचने योग्य न हो जाऊँ। इन्द्र के समान ही भोगवञ्चित इस समय हो गया मैं।'

'तो यह वाग्मी सामान्य कीट ही है!' श्वेत ने मन में ही सोचा। उनके चित्त को इससे आश्वासन मिला। 'आप पहिले कभी देवराज रहे हैं!'

'रहा हूँ।' झींगुर ने उत्तर दिया– 'किन्तु देवराज का पद कुछ इतना गौरवमय नहीं है, जितना आप समझ रहे हैं। उसके भोगों में और इस देह के भोगों में अन्तर ही क्या है? एक मन्वन्तर देवाधिप रहा और एक ऋषि का तनिक अपराध हो गया, उनको उचित सम्मान देने में किञ्चित् प्रमाद बन गया तो अब कीट बन चुका हूँ।'

'आपकी प्रज्ञा एवं स्मृति विलक्षण है!' श्वेत के मन में इस कीट के प्रति पुनः गौरवबुद्धि 'जाग्रत हुई। वह इस समय भले कीट हो, देवराज रह चुका है। उससे अनेक अनुभव प्राप्त कर सकता है श्वेत।

'यही एक तथ्य है और वह भगवान गङ्गाधर की अनुकम्पा का परिणाम है।' झींगुर ने बतलाया- 'अन्यथा इन्द्रत्व एक स्वप्न था। उससे शाप के द्वारा कीटदेह में आगमन भी एक स्वप्न है। यह राजकुमार श्वेत के पद से आहत होकर उनसे मिलना भी स्वप्न और राजकुमार भी स्वप्न देखते हैं चक्रवर्ती पद का, इन्द्रत्व का तथा एक कीट से वार्तालाप करने का। स्वप्न का जैसा लाभ, वैसी हानि। इसमें हर्ष-विषाद को स्थान कहाँ है।'

'स्वप्न के जैसा लाभ और स्वप्न के समान हानि!' श्वेत की समझ में बात का कोई भी अंश नहीं आया। 'आप कहना यह चाहते हैं कि मैंने जो अध्ययन किया, तप किया और भगवान् शिव ने प्रत्यक्ष मुझे दर्शन दिये, वह सब स्वप्न है और उस वरदान से जो चक्रवर्ती पद तथा कालान्तर में इन्द्रत्व प्राप्त होगा, वह सब भी स्वप्न ही होगा? मैं अश्वमेध यज्ञ भी सौ बार काल्पनिक ही करूँगा!'

'इसमें सदाशिव की अनुकम्पामात्र सत्य है!' कीट कह रहा था- 'कोई अद्‌भुत बात मैं नहीं कह रहा हूँ। मैंने भी इसी प्रकार अध्ययन किया था, तपस्या की थी और मैं चक्रवर्ती सम्राट हुआ था। सम्राट न होता तो सौ अश्वमेध कर कैसे पाता और इन्द्र तो सर्वदा शतक्रतु होता है। इस सबमें आशुतोष की अहैतुकी कृपा जो मुझे प्राप्त हुई, वही सत्य है। उसी का परिणाम है कि मुझे पिछले स्वप्नों की स्मृति है और यह मेरा कीटदेह स्वप्न है, इसे मैं समझ सका हूँ।'

'किन्तु यह तथ्य अभी मेरी बुद्धि ग्रहण नहीं कर पा रही है!' श्वेत में जिज्ञासा जाग्रत् होने लगी थी।

'स्वाभाविक है!' कीट बोला- 'स्वप्न देखते समय कदाचित ही यह बुद्धि आती है कि जो दृश्य सम्मुख है, वह स्वप्न है। जाग्रत् हुए बिना स्वप्न के हानि-लाभ उस स्वप्नकाल में तो वास्तविक बने ही रहते हैं।'

'यह जागरण कैसे हो!' विनम्र स्वर हो चुका था श्वेत का। वह जानता था कि ज्ञान श्रद्धालु एवं विनयावनत को ही प्राप्त होता है।

'आप देख ही रहे हैं कि मेरा यह देह तामस देह है और इस समय आहत पैर की व्यथा भी मुझे चञ्चल कर रही है।' झींगुर ने समझाया- 'आप में जिज्ञासा है, अधिकार है और तत्त्वज्ञ पुरुषों का भारत में कभी अभाव नहीं रहा है। अतः आप अब मुझे अनुमति दें!'

'झींगुर ने श्वेत की अनुमति की अपेक्षा नहीं की। वह एक पैर घसीटता समीप के दरार में धीरे से प्रवेश कर गया दो क्षण श्वेत वहीं सिर झुकाये खड़े रहे। अब सरिता की ओर उठते उनके पद शिथिल थे और सावधान थे दृष्टिपात स्थल पर ही पादक्षेप करना चाहिये, इस आदेश का प्रथम अतिक्रमण ही उन्हें खिन्न बनाये दे रहा था।

× × ×

'मुझे चक्रवर्ती सम्राट का पद नहीं चाहिये। इन्द्रत्व की मेरी अभिलाषा भी मर गयी!' श्वेत का वैराग्य सच्चा था। हम आप बड़ी सरलता से कह देते हैं यही बात- प्राय साधकों के मुख से यह सुनता हूँ; किन्तु जो भिक्षुक पैसे-पैसे को जन-जन के सम्मुख हाथ फैलाता हुआ गिड़-गिड़ाता है, वह भी कहता है- 'मुझे करोड़पति नहीं बनना है।' यह न वैराग्य है, न त्याग। अपनी सामर्थ्य जिसका स्वप्न भी देख न पाती, उसका लोभ मन में जागता नहीं। यदि वह प्राप्य लगने लगे- रुपये का लोभी स्वर्ण की खदान छोड़ पायेगा? किन्तु श्वेत को चक्रवर्ती पद तथा इन्द्रत्व का वरदान प्राप्त हो चुका था। उनका वैराग्य उपलब्ध का त्याग कर रहा था।

'मैं मूर्ख नहीं बनूँगा!' श्वेत का संकल्प दृढ़ था- 'जागरण क्या! बिना जाग्रत् हुए सत्य का स्वरूप अवगत नहीं हो सकता। मुझे जागृति चाहिये!

'वत्स! तुम खिन्न प्रतीत होते हो! श्वेत स्नान-संध्या के उपरान्त सीधे गुरुदेव के आश्रम पहुँचे थे। अपने पदों में प्रणत शिष्य को ऋषि ने आशीर्वाद देकर उठाया। किन्तु तपस्या के लिये गया यह राजकुमार खिन्न क्यों लौटा? पूछा ऋषि ने - 'कोई विघ्न बाधा दे रहा है तुम्हें?'

'आपका अनुग्रह जिनकी सुरक्षा को सतर्क है, विघ्न के अधिनायक उसकी छाया से भी आतंकित होते हैं।' राजकुमार ने अपनी वरदान-प्राप्ति तक का समाचार शिथिल स्वर में ही सुना दिया।

'किन्तु तुममें योग्य उल्लास क्यों नही है!' ऋषि आसन पर सावधान बैठ गये।

'आपका अन्तेवासी अज्ञानान्धकार में भटकता रहे, वह उसी का अनाधिकार!' राजकुमार के नेत्र भर आये- अन्यथा आपकी अहैतुकी कृपा के प्रसाद कहाँ परिसीम होते हैं।'

'वत्स!' कृमि-संवाद की बात सुनकर महर्षि का स्वर भी गद्गद हो गया। अन्ततः उनका छात्र त्रिवर्ग की लिप्सा से ऊपर उठ गया। वह वैराग्य की परम सम्पत्ति लेकर उनके समीप ज्ञान की ज्योति प्राप्त करने आया है। 'भगवान् शंकर का आशीर्वाद अमोघ है। चक्रवर्ती साम्राज्य इन्द्रत्व अब तुम्हारे स्वत्व हैं। उनकी प्राप्ति का आग्रह जैसा अज्ञान-मूलक था, मोह था, वैसा ही आग्रह उनके त्याग का भी है। स्वप्न सम्बन्ध में क्या आग्रह कि वह अमुक प्रकार का ही रहे अमुक प्रकार का न रहे।'

'भगवन्! जागरण चाहिए। मुझे।' राजकुमार श्वेत ने महर्षि के पदों में मस्तक रखा।

'वह तुम्हारा स्वरूप है।' महर्षि कह रहे थे- 'तुम स्वप्न देख रहे हो, यह भ्रम है। तुम नित्य जाग्रत् हो। नित्य चिन्मय हो। तुममें स्वप्न की सत्ता कहाँ है।'

श्वेत ने दो क्षण में सब समझ लिया। शास्त्र अवश्य कहते हैं कि क्षणार्ध में ज्ञानोपलब्धि होती है; किन्तु होती है अधिकारी को। देवेन्द्र और विरोचन भी प्रजापति के पास गये थे और उन्हें दीर्घकाल तक व्रत धारण करना पड़ा था। श्वेत को गुरुगृह में अधिक नहीं रहना पड़ा। किन्तु उन्हें जब वे राजधानी पहुँचे- कोई हर्ष नहीं था उस स्वागत-सत्कार का जो उनका किया गया था। जागरण का स्वरूप आदि वाणी में आता होता- लेकिन वह अनिर्वचनीय है। कहा इतना ही जा सकता है कि जाग्रत् के लिये न कुछ लाभ रह जाता, न हानि।

❑❑

देखे सकल देव

'भगवन्! मैं किसकी आराधना करूँ।' वेदाध्ययन पूर्ण किया था उस तपस्वी कुमार ने महर्षि भृगु की सेवा में रहकर। महाआथर्वण का वह शिष्य स्वभाव से वीतराग, अत्यन्त तितिक्षु था। उसे गार्हस्थ्य के प्रति अपने चित्त में कोई आकर्षक प्रतीत नहीं हुआ।

'वत्स! तुम स्वयं देखकर निर्णय करो।' आज का युग नहीं था! शिष्य गुरुदेव के समीप आ गया और उसके कान में एक मन्त्र पढ़ दिया गया। वह अपने गुरुदेव के सम्प्रदाय में दीक्षित हो गया यह कौन सोचे कि 'उस जीव का भी कुछ अधिकार है। जन्म-जन्मान्तर से चले आते उसमें भी किसी साधना के कुछ संस्कार हो सकते हैं। उन संस्कारों के अनुरूप दीक्षा ही उसके लिए उपयुक्त है।' यहाँ तो स्व-सम्प्रदाय - स्व-शिष्यश्रेणी अभिवर्धन ही एकमात्र अभिप्राय बन गया है आज!

महर्षि भृगु- वे ब्रह्मपुत्र समर्थ हैं, सर्वज्ञ हैं, और अपने अन्तेवासी कुमार आर्चेय पर स्नेह है। उनका। वे सहज ही उसे इष्ट एवं मन्त्र का निर्देश कर सकते हैं; किन्तु उन्हें प्रिय लगा कि उनका ब्रह्मचारी स्वानुभव-सम्पन्न बने।

बचपन में मेरे कान में अनेक बालकों ने 'हू' या 'ढू' किया है। अनेकों के कान में मैं चिल्लाया हूँ। वे सब न मेरे गुरु हैं और न शिष्य। कान में कोई शब्दोंच्चारण-मन्त्रोच्चारण कह लीजिये, दीक्षा है और इतने से ही कोई गुरु हो जाता है- मेरा चित्त इसे स्वीकार नहीं करता।

शास्त्रों में दीक्षा एवं गुरु का महत्त्व है, संतगुरु महिमा का वर्णन करते शास्त्र थकते नहीं। वह सब मुझे अस्वीकार कहाँ है; मैं 'गुरुर्बह्मा गुरुर्विष्णु....' से पीछे हटूँ तो आप मेरे कान पकड़े; किन्तु दीक्षा भी तो हो। कोई गुरु भी दृष्टि में आवे। आप रेत में धान और सरोवर में बाजरे के बीज डालते चलेंगे और कहेंगे- 'मैं कृषक!' कौन स्वीकार करेगा!

अपनी परम्परागत प्राप्त साधना जब अपने स्वयं के साधन से सप्राण होती है, मन्त्र में चेतना आती है। मन्त्र चैतन्य न हुआ तो मन्त्र ही नहीं। वह चेतन मन्त्र जब

उपयुक्त क्षेत्र पहिचान कर दिया गया- यह देखकर दिया गया कि यह अपने जन्म-जन्मान्तर से इसी पथ का पथिक रहा, तब दीक्षा हुई। दीक्षा हुई इसकी पहचान यह कि क्षेत्र उपर्युक्त था, मन्त्रचेतन था। अतः स्वतः अप्रयास ही साधना की रुचि जाग गयी। दीक्षामात्र से। बीज में अंकुर आ गया। अब आगे वह बढ़े, फूले- यह उस साधक का प्रयास; किन्तु यदि अंकुर ही नहीं आया तो दीक्षा हुई कहाँ? या तो बीज निष्प्राण था, अथवा क्षेत्र ही ठीक पहचाना नहीं गया।

महर्षि भृगु सिद्धगुरु-ब्रह्मपुत्रों के लिये तो अमुक एक ही सम्प्रदाय नहीं है। जैसा अधिकारी वैसी दीक्षा- सभी मन्त्र, सभी आराध्य उनके अपने हैं। उनके चित्त में उद्भूत मन्त्र सदा सप्राण रहता है। वे किसी को यदि दीक्षा न देते हों, कारण तो होगा ही। आर्चेय उनका प्रिय शिष्य; किन्तु वह महाआथर्वण का शिष्य है। उसकी प्रदीप्त प्रज्ञा- गुरु उसकी प्रज्ञा को ही प्राञ्जल करना चाहते हैं।

'भगवन!' आर्चेय ने अञ्जलि बाँधकर आज्ञा स्वीकार की। वह अप्रतिहत गति और महाआथर्वण का शिष्य जहाँ भी जायगा, उसका सत्कार करके जो लोकपाल अपने को कृतार्थ न माने-कितने क्षण लोकपाल बना रह सकता है वह।

× × ×

'संयमिनी आज धन्य हुई!' धर्मराज ने आगे आकर आर्चेय को प्रणिपात किया।

'जीव का भय आपके आश्रय से निवृत्त हो सकता है!' अर्घ्य-पाद्यादि स्वीकार करके आर्चेय ने यमराज की पुरी देखी। उस ऋषि पुत्र के शुद्ध चित्त में दोषदर्शन की प्रवृत्ति कभी अंकुरित नहीं हुई। उसने प्रसन्नचित्त से स्वीकार किया- 'मृत्यु की विस्मृति ही जीव को प्रमत्त बनाती है और यह पाप में प्रवृत्त होता है। यदि वह यम का स्मरण करता रहे, उनके दारुण दण्ड की स्मृति उसे शुद्ध रक्खेगी। उसे नरकाग्नि में परिशुद्ध करना आवश्यक होगा।'

किन्तु आर्चेय के लिये तो इतना पर्याप्त नहीं है। जिसके चित्त में तमस का प्रवेश ही नहीं, वह यम की भला क्यों आराधना करेगा! वहाँ से प्रस्थान किया उसने कुबेरजी की अलकापुरी की ओर।

'आपका आशीर्वाद जीव को प्रथम पुरुषार्थ की ओर से निश्चिन्त कर देगा।' धनाधीश का सत्कार स्वीकार करके ब्रह्मचारी आर्चेय प्रस्थान करने को उद्यत होकर बोले- 'धर्म तथा काम अर्थ के वशवर्ती हैं। अतः त्रिवर्ग में आपकी अनुकम्पा का आकांक्षी रहेगा ही।'

'आपकी अनुकम्पा का आकांक्षी यह जन!' जिसे त्रिवर्ग की वासना स्पर्श नहीं करती, राजाधिराज वेश्रवण उसके श्रीचरणों की रज मस्तक पर धारण करके कृतार्थ

ही होते हैं। 'मेरे ही समान जलाधीश एवं देवराज भी त्रिवर्ग के ही स्वामी हैं। श्रीचरणों की अर्चा करके वे भी अपना सौभाग्य मानेंगे।'

कुबेर जी ने संकेत से सूचित कर दिया कि वरुणा की पुरी विभावरी तथा स्वर्ग जाने का श्रम आर्चेय को नहीं करना चाहिये। वरुण तथा इन्द्र उनके अर्चक बन सकते हैं, आराध्य नहीं हो सकते। वैसे भी अलका पहुँचकर आर्चेय को कैलास जाना ही था अब लोकपालों के यहाँ जाने का संकल्प त्याग दिया उन्होंने।

'वत्स!' कैलास पहुँचकर आर्चेय ने प्रणिपात किया उमा-महेश्वर को। तो जगदम्बा ने आगे आकर उठा लिया उन्हें। महर्षि भृगु रुद्रागज हैं और उनकी शंकरजी से दक्ष को लेकर कभी पर्याप्त खटपट हो चुकी है, यह सब स्मरण था आर्चेय को किन्तु उसे लगा कि वह अपने पिता के ही आश्रम में आ गया है। भगवान् चन्दमौलिका सुप्रसन्न अभिनन्दन और जगज्जननी का वात्सल्य- नि-शब्द आर्चेय के नेत्रबिन्दुओं ने ही स्तवन का स्थान पूर्ण किया।

'यह निर्वाण का धाम! आर्चेय को प्रत्यक्ष चिद्घन सदाशिव के श्रीचरणों में चतुर्थ पुरुषार्थ अपवर्ग आश्रयगण करता दृष्टि पड़ा। 'अभय यहाँ पूर्णता प्राप्त करता है। जीव के जीवन की परम सफलता इन गङ्गाधर के निर्गुण गुणमय पादपद्मों की उपलब्धि है।'

आर्चेय कई मुहूर्त आनन्दमग्न रहे। चित्त जैसे बाह्यवृतियों से शून्य हो गया हो। वह सम्मुख विराजमान कर्पूरगौर मूर्ति- वह मूर्ति कहाँ है। वही तो विभु अनिर्वचनीय परमार्थ-तत्त्व है।

भगवान् शिव के गण आ गये। जैसे हैं वे गण, आप जानते हैं। अपनी सहज चञ्चलवृत्ति वे भूल जाते हैं अपने आराध्य के सम्मुख। आर्चेय की भी उन्होंने वन्दना ही की।

'राग का ध्वंस हुए बिना वैराग्य पुष्ट नहीं होता।' आर्चेय को कोई दोष नहीं दीखा रुद्रगणों में- प्रलय करके ये सेवक नश्वर के प्रति राग का आधार ही तो नष्ट करते हैं। आसक्ति यदि निष्करुण उत्पीड़क न बने, उसके नागपाश से प्राणी कैसे त्राण पायेगा?'

सब सानुकूल; किन्तु आर्चेय को उल्लसित- आनन्द अभीष्ट है और कैलास शान्ति का परमधाम है। अतएव आज्ञा ली उन्होंने चरण-वन्दना करके प्रभु एवं जगदम्बा से।

'लोकपितामह के यहाँ नित्य व्यस्तता है।' अनेक बार आर्चेय ब्रह्मलोक में उन स्रष्टा की चरणवन्दना करने अपने गुरुदेव के साथ गये हैं। उनका चित्त वहाँ की प्रवृत्ति में कभी प्रसन्न नहीं हुआ। अतः इस यात्रा में ब्रह्मलोक की बात वे नहीं सोचते।

× × ×

'यतः शान्तिः, यतोऽभयम्' महर्षि भृगु ने किसी समय त्रिदेवों की परीक्षा करके अपना यह निर्णय ऋषिमण्डली में घोषित किया था। उसी परीक्षा का प्रसाद भगवान् नारायण के वक्ष पर भृगुलता के रूप में नित्य सुशोभित है। गुरु की प्रतिभा ही नहीं, उसकी भावना भी शिष्य में मूर्त होती है। शिष्य गुरु की नांद-संतति भी तो है। अतः यदि आर्चेय अपने स्वयं के निर्णय से भी वहाँ पहुँचे थे, जो उनके गुरुदेव का निर्णय है तो आश्चर्य करने जैसे कोई बात नहीं है।

ब्रह्मन्! आपका स्वागत! स्वयं शेषशायी ने उठकर प्रथम प्रणाम किया था। आर्चेय के पदों में। भगवती रमा ने उनके चरण धोये थे। आसन स्वीकार कर लिया था उन्होंने यन्त्रचलित के समान; किन्तु उनका अन्तर-उनकी बाह्य संज्ञा डूब गयी थी, यह बात भी कहते बनती नहीं है। अनन्त आनन्दसिन्धु और वही धनीभूत होकर यह सम्मुख सान्द्रनील ज्योतिर्मय बना अर्चातत्पर हो गया है। बाह्य और अन्तर का भेद मिट जाय- उस अवस्था का वर्णन भी कोई कैसे कर सकता है।

'कोई आज्ञा देकर आप मुझे कृतार्थ करें।' वे पुरुषोत्तम पूछ रहे थे, जिनकी आज्ञा का अनुवर्तन करके ही जीवन कृतार्थ होता है। 'सेवा का सौभाग्य इस जन को अवश्य मिलना चाहिए।'

'ब्राह्मणकुमार हूँ, ब्रह्मचारी हूँ, अतः भिक्षा माँगने का अधिकारी तो हूँ ही।' उन लीलामय की प्रेरणा होगी कि वाणी ने शब्दोंच्चारण की शक्ति प्राप्त कर ली- 'आपकी ये नित्य अभिन्न शक्तिदेवी महामाया, प्रथम इनके चरण में ही प्रार्थना। ये इस शिशु पर सानुकूल रहें। इस अबल का मानस कभी व्यामोह में न पड़े, ऐसा अनुग्रह बनाये रखें।'

'एवमस्तु!' स्वर में वात्सल्य की माधुरी उमड़ उठी- 'ऋषिपुत्र और कुछ आज्ञा करेंगे?'

'इन श्रीचरणों में अविचल अनुराग।' स्वर गद्गद् हो गया। 'आपके गुणगणों का चिन्तन ही इस जन के चित्त का व्यसन बना रहे।'

'आपकी जैसी इच्छा!' पुराण-पुरुष कह रहे थे- 'इसका तात्पर्य है कि हम दोनों को आपकी सेवा का सुअवसर कुछ दिन भी नहीं मिलेगा।'

× × ×

'भगवन्!' शिष्य ने यात्रा समाप्त करके गुरुदेव के चरणों में साष्टांग प्रणिपात किया।

'वत्स! आराध्य की उपलब्धि हो गयी?' महर्षि भृगु के प्रश्न में पृच्छा कम, प्रसन्नता अधिक थी।

'श्रीचरणों का अनुग्रह!' शिष्य कह रहा था- 'सब प्रमुख देवता देख लिये मैंने; किन्तु अन्तर को परमाश्रय देने वाले तो एक ही हैं- वे आनन्दघन।'

❑❑

रक्षक के लंबे हाथ

'आज रक्षक भक्षक बन गया है। हम किसी प्रकार तुझे सेना में जाने से रोक नहीं सकते।' मेरी माता ने कहा था उस माता ने जिसने जीवन के अस्सी बसंत देख लिये हैं। जो पिछले बाईस वर्ष का अपना वैधव्य जीवन एकमात्र अपने इस पुत्र के सहारे बिताती रही है। जिसकी भौंहों के केश तक श्वेत हो चुके हैं। जिसके शरीर पर काल की रेखायें झुर्रियों के रूप में सर्वत्र गिनी जा सकती हैं। जो इस बुढ़ापे में भी घर के काम से बचा समय अपने छोटे बगीचे में पेड़ों-पौधों को सींचने-गोड़ने तथा घास निकालने में बिता देती है। फलों को कुतरने वाली चिड़ियों में एवं गिलहरियों में भी जो बुरा-भला कहने के बदले चुगने को दोनों समय नियम से दाने डालती हैं। जिसे किसी से झगड़ते पूरे कस्बे में किसी ने कभी नहीं देखा। वह मेरी माँ रो रही थी। उसने मुझे विदा देते समय कहा था- 'जहाँ तक बन सके, अपने हाथ निरपराधों के रक्त से रँगने से बचना। परमात्मा तेरी रक्षा करेगा। बड़े लम्बे हैं उस रक्षा करने वाले के हाथ।'

प्रत्येक युवक को सैनिक शिक्षा लेनी ही पड़ती है हमारे देश में और प्रत्येक सैनिक आयु का व्यक्ति इस युद्ध के प्रारम्भ में ही सेना में बुला लिया गया। मेरी माँ को चाहे जितना दु:ख हो- सहस्त्रो माताओं को ऐसा ही दु:ख है; किन्तु जर्मनी में फ्युहरर (हिटलर) के आदेश को कोई असहाय वृद्धा कैसे टाल सकती थी।

मुझे सैनिक-प्रशिक्षण पहले ही प्राप्त हो चुका था। अब कुछ महीनों में मैं पनडुब्बी पर काम करने के लिये शिक्षित किया गया; क्योंकि मैं बहुत कुछ जल-सेना के सैनिक की शिक्षा भी प्राप्त कर चुका था। जर्मनी की जलसेना छोटी है। ब्रिटेन, फ्राँस, अमेरिका की संयुक्त जलसेना की चर्चा तो दूर रही, अकेले ब्रिटेन की जलशक्ति से टक्कर लेने की बात भी सोची नहीं जा सकती, किन्तु फ्युहरर को अपनी पनडुब्बियों पर भरोसा है। विपक्षी के जहाजों को डुबाकर उसकी जलसेना की रीढ़ तोड़ दी जा सकेगी, यह कठिन भले हो, असम्भव नहीं लगता है और जर्मनी का शौर्य असम्भव को सम्भव बनाने से ही कब हिचका है।

मेरा काम न यान-संचालन करना है और न तार-पीडों से प्रहार करना। मैं यन्त्र कक्ष का निरीक्षक हूँ। कभी-कभी रेडियो-संवाद लेने और सुनने का भी काम करता रहा हूँ। वैसे आप सम्भवतः नहीं जानते कि पनडुब्बी के प्रत्येक व्यक्ति को उसके संचालन, तारपीडो-प्रहार तथा यन्त्रों समस्त प्रयोगों की शिक्षा लेनी पड़ती है। कब कैसी दुर्घटना होगी और किस व्यक्ति के लिये कौन-सा काम अनिवार्य बन जायगा, यह कहा नहीं जा सकता।

आप कह सकते हैं कि मैंने किसी जहाज पर अपने हाथ से 'तारपीड़ों' नहीं चलाया, अतः हत्या के रक्त से मैं बचा हूँ किन्तु मैं अपने-आपको धोखा कैसे दे सकता हूँ। मुझे ही सूचित करना पड़ता था अपने यन्त्रों से पता लगाकर कि विपक्षी जहाज कहाँ है, किस ओर जा रहा है। किस स्थान से उस पर आघात करना ठीक रहेगा, यह निर्णय भले कप्तान करता हो; किन्तु मेरा योग इस विनाश में कम नहीं था। उन जहाजों के सैनिक, मल्लाह तथा दूसरे लोग जिन्होंने हमारा कुछ नहीं बिगाड़ा, जिन्हें हम जानते तक नहीं। वे हमारे देश पर कभी आक्रमण करने न जायें, यह भी तो हो सकता था; किन्तु वे विपक्ष के जहाज पर हैं- जब वे सर्वथा असावधान होते, हमारी पनडुब्बी से उनकी मृत्यु दौड़ पड़ती उनकी ओर।

हमारी पनडुब्बी में पर्याप्त पैट्रोल था। एक महीने हम बराबर समुद्र में रह सकें, इतना ईंधन, भोजन का सामान और आघात के प्रचुर अस्त्र। हमने अफ्रीका के दुर्गम पश्चिमी तट के एक स्थान पर कुछ खाद्य-पदार्थ और पैट्रोल छिपा रक्खा था। संकट के समय वह हमारे काम आता। दो बार बीच में हम वहाँ उतरे भी थे।

कुल सात व्यक्ति थे हमारी पनडुब्बी में- सब युवक और साहसी। हमने ब्रिटेन के पाँच जहाज डुबाये, जिनमें तीन भारी सैनिक जहाज थे; किन्तु इसका यह परिणाम हुआ कि ब्रिटेन के हवाई जहाज और विध्वंसकों का पूरा दल हमारी खोज में निकल पड़ा। वन में जैसे किसी नरघाती चीते को ढूँढ़ने शिकारी कुत्तों का दल निलके- पश्चिम अफ्रीका तथा ब्रिटेन से पश्चिमी का महासागर वे चप्पा-चप्पा करके ढूँढ़ने लगे। सम्भव है, उन्होंने अपने लिये अन्वेषण के क्षेत्र बाँट लिये हों।

'बचने और भागने की नीति कायरों की नीति है।' हमने केन्द्र को परिस्थिति की सूचना दी तो वहाँ से फटकार मिली- 'आघात करो और शत्रु के अधिक-से-अधिक विध्वंसकों को नष्ट कर दो ! तुम्हारे दो सहयोगी और जा रहे हैं।'

हमारा कप्तान आवेश में आ गया। केवल बारह घंटों में हमने विपक्ष के तीन विध्वंसकों को और जल समाधि दे दी; किन्तु इस उत्साह का दुष्परिणाम सम्मुख आ

गया। हम घिर गये। ब्रिटिश पोतों ने इस प्रकार विस्फोटक फेंकने प्रारम्भ किये, जिससे मीलों तक समुद्र का जल पूरी गहराई- तक ऐसे उबलने लगा, जैसे चूल्हें पर चढ़ा पतीली का पानी।

भयंकर विस्फोटक का शब्द! मैं मूर्छित हो गया और फिर मुझे कुछ पता नहीं है कि मेरे साथियों का, मेरी पनडुब्बी का अथवा हमें घेरे में लेकर मौत की वर्षा करने वाले उन विपक्ष के विध्वंसकों का ही क्या हुआ। केवल अनुमान कर सकता हूँ कि पनडुब्बी के चिथड़े उड़ गये होंगे। मेरे साथी समुद्र के गर्भ में सो गये होंगे या समुद्री जन्तुओं ने उन्हें पेट में पहुँचा दिया होगा। जल के ऊपर तेल का प्रवाह जब तेर आया होगा, विपक्षी पोत अपनी सफलता का आनन्द मनाते लौट गये होंगे; किन्तु मैं.... 'रक्षक के हाथ बहुत लंबे हैं' इसलिये मैं यह लिखने को बचा हूँ।

× × ×

जब मुझे चेतना प्राप्त हुई, तेज धूप थी। सूर्य आकाश में सिर के ऊपर था। पीड़ा से मेरा पूरा शरीर फटा जा रहा था। शीघ्र ही वमन हुई। बहुत-सा खारा पानी निकला पेट से। शरीर और सिर का दर्द बहुत कम हुआ किन्तु प्यास से कण्ठ सूखा जा रहा था। हिलने की शक्ति नहीं थी। मैं औधे से चित्त पड़ गया और पता नहीं कब तक पड़ा रहा। सम्भवतः मैं फिर मूर्छित हो गया था।

इस बार मुझे वर्षा की बूँदों ने जगाया। बड़ी-बड़ी बूँदें बहुत तेज वर्षा; किन्तु कल आधे घण्टे के पश्चात् फिर सूर्य निकल आया। कुछ पानी वर्षा का मैंन मुख खोलकर कण्ठ तक पहुँचाया था। अब बैठकर मैंने कमीज खोल ली और उसे मुख में निचोड़ने लगा।

थोड़ी शक्ति मिली जल पीकर। मैं चौंक गया; क्योंकि मैं जिस आधार पर पड़ा हूँ वह स्थिर नहीं है। वह हिल रहा है और सम्भवतः चल भी रहा है। मैं उठकर खड़ा हो गया और देखने लगा कि मैं कहाँ हूँ।

चारों ओर अनन्त समुद्र है। सूर्य ढ़लने लगा है, अतः मैं केवल दिशा का अनुमान कर सकता हूँ; किन्तु मैं इस समय कहाँ हूँ- यह जानने का कोई उपाय नहीं है। यह मैंने देख लिया है कि जिस आधार पर मैं इस समय हूँ, वह एक तैरता हिमखण्ड है- उत्तर ध्रूव से समुद्र में तैर आने वाला एक हिमखण्ड है। जल में वह कितना डूबा है, पता नहीं किन्तु ऊपर वह कुल दो-ढ़ाई सौ गज लंबा है। इसका अर्थ हे कि मैं उत्तर ध्रुव से चलने वाली शीतल धारा में दक्षिण अफ्रीका की ओर इस हिमखण्ड पर बहता जा रहा

हूँ। ऊपर एक भारी गिद्ध चक्कर लगा रहा है। वह मेरी मृत्यु की प्रतीक्षा करता होगा। यह समुद्री गीध अब दस-पन्द्रह दिन मजे से प्रतीक्षा करता साथ चल सकता है।

मृत्यु- मैं सिंहर उठा। जेबों को टटोलने पर पेन्सिल, डायरी और कुछ गोलियाँ मिल गयी हैं। ये आहार की गोलियाँ हैं। इनसे पेट नहीं भरता, क्षुधा का कष्ट नहीं मिटता; किन्तु शरीर को पोषण मिल जाता है। काम करने की क्षमता बनी रहती है। हमारे वैज्ञानिकों ने विपत्ति में पड़े सैनिकों के लिये इनका आविष्कार किया था।

मैंने तीन गोली एक साथ खा ली हैं। शरीर में अब स्फूर्ति का अनुभव करता हूँ। दर्द भी घटा है। किन्तु यह तैरता हिमखण्ड-इन बहते हिमखण्ड़ों की सूचना देने वाला विभाग क्या इससे अनभिज्ञ है? क्या इसके उपेक्षणीय आकार तक गल जाने के कारण अब उसने इसका पता रखना और इसके सम्बन्ध में जहाजों को सूचना देना बंद कर दिया है? क्या कोई जहाज मिलेगा मार्ग में? यह भी तो सम्भव कि इसके प्रवाह की सूचना दी गयी हो और इधर से कोई जहाज आये ही नहीं।

अन्तिम सम्भावना ही अधिक है। इसका अर्थ जो कुछ है, जीवन के अन्तिम क्षण तक उसे लेकर आतंकित क्यों बनूँ। किन्तु मैं यह सब क्यों लिखने बैठा हूँ? क्या उपयोग इसका? इस हिमखण्ड पर बैठे-बैठे और कर भी क्या सकता हूँ। समय काटने का साधन भी तो कुछ चाहिये।

रात्रि का अन्धकार फैलने से पूर्व एक दुर्घटना और हो गयी। मैं जिस हिमखण्ड पर था, उसमें एक रेखा दीखी मुझे बाल के समान पतली। शीघ्र ही वह दरार बन गयी और हिमखण्ड दो टुकड़ों में विभक्त हो गया। मैं जिस टुकड़े पर बैठा था, वह बहुत छोटा हो गया था। कूदकर मैं दूसरे टुकड़े पर आ गया।

रात्रि कैसे व्यतीत हुई- पूछिये मत! सूर्य की किरणों को देर तक मेरा शरीर सेंकना पड़ा, तब कही मैं उठकर बैठने योग्य हुआ हूँ; किन्तु यह सम्मुख क्या है? हे भगवान! हे दयाधाम! यह तो पृथ्वी है, ये वृक्ष दीख रहे हैं। समुद्रतट के। मेरे प्रभु! तो तेरे लम्बे हाथ मुझे बचाने यहाँ तक बढ़ आये हैं। इतना समुद्र तो मैं अब सरलता से तैर सकता हूँ।

× × ×

वर्षों पीछे कांगों के समुद्रतट पर एक डायरी मिली। उसमें किसी जर्मन सैनिक की लिखी कुछ बातें हैं। अनुमान है कि पनडुब्बी के डूबने पर इसका मूर्छित शरीर लहरों पर बहता रहा और किसी बड़ी लहर ने उसे उठाकर पानी में तैरते हिमखण्ड पर

फेंक दिया। लेकिन पृथ्वी पर पहुँचकर उसका क्या हुआ, उसका कुछ पता नहीं है।

कांगों के सुदूर उत्तरी गहन जंगलीय भाग में अत्यन्त बर्बर बौने लोग रहते हैं। कांगों के सात फुट ऊँचे बालूवा जाति के शूर भी उन बौनों के नाम से काँपते हैं। कोई साहस नहीं कर सका अभी तक उस अञ्जल में जाने का। सुना जाता है कि कोई गौरवर्ण तरुण उन बौनों के मध्य रहता है। दूर से एक-दो-एक आखेटकों ने उसे देखा है। बौनों के सम्पर्क में आने वाली जाति के मुखिया का कहना है- 'वह बौनों का देवता है। उसी के कारण बौने अत्यधिक निर्भय हो गये हैं और अब नरहत्या भी उन्होंने छोड़ दी है। वह देवता कहता है कि 'पूरे संसार का कोई स्वामी है और उसके रक्षा करने वाले हाथ भले दीखते न हों, सब कहीं विपत्ति से बचाने को बढ़ जाते हैं, किन्तु प्राणियों के मारने-वाले को वह रक्षक पसंद नहीं करता।

❑❑

पुनर्जन्म

डा० ह्यूम वॉन एरिच जीवाणु-वैज्ञानिक हैं मुख्य रूप से। वैसे आज विज्ञान की अनेक शाखाएँ परस्पर उलझ गयी हैं। रसायन-विज्ञान और परमाणु-विज्ञान के बिना आज जीवाणु-विज्ञान में प्रगति नहीं की जा सकती। स्वभावतः डा० एरिच ने इन विज्ञान की शाखाओं में भी अच्छा अध्ययन किया है। उनका प्रयोग चल रहा है और उन्हें लगता है कि मनुष्य में आनुवंशिकता अङ्कित करने वाली जो प्रकृति की लिपि है, उसमें परिवर्तन करने की कुंजी सैद्धान्तिक रूप में उनके हाथ आ गयी है।

किन्तु डा० एरिच अपनी शोध में आगे बढ़ें, इससे पहले उनके सम्मुख एक नवीन समस्या आ खड़ी हुई है। उनका पाँच वर्ष का पुत्र कल शाम को सहसा एक विचित्र भाषा बोलने लगा। कठिनाई से डा० एरिच को पता लगा कि वह शुद्ध संस्कृत बोल रहा है। यह भी पता इसलिये लगा कि डाक्टर का सहकारी किसी काम से उनके पास घर पर आया था और वह संस्कृत जानता-समझता तो नहीं; किन्तु इतना समझ सकता है कि यह संस्कृत-भाषा है।

डाक्टर एरिच के पूर्व पुरुष इटली से अमेरिका आये थे। उनकी पत्नी भी इटालियन हैं। जहाँ तक डाक्टर की जानकारी है, दम्पत्ति में से किसी की चार-छः पीढ़ियों में से कोई संस्कृत जानने वाला नहीं हुआ था। तब बच्चे को यह संस्कृत का ज्ञान कहाँ से मिला? समस्या जटिल थी। डाक्टर इसके अतिरिक्त क्या कर सकते थे कि बच्चे की बात को टेप रिकार्ड कर लें और उसका अनुवाद प्राप्त करने का प्रयत्न करें।

बच्चा स्वयं अपनी बात का अनुवाद अपने पिता को बतला रहा था और जब संस्कृत में बोली उसकी बातों का टेप रिकार्ड अनुवाद के लिये भेजा गया, तब अनुवाद होकर आने पर इस बात की पुष्टि हो गयी कि बच्चा अपना अनुवाद ठीक करता है।

'मैं एक भारतीय योगी हूँ। मेरा नाम ज्ञाननाथ है। काँगड़ा (भारत) से थोड़ी दूर पर मेरी कुटी है। एक बार दो अमेरिकन यात्री मिले थे मुझे। उनके संग से अमेरिका देखने की इच्छा हुई। यह इच्छा बनी रही और शरीर टूट गया। मुझे यहाँ के दो-चार

बड़े नगर दिखा दो। फिर मैं भारत जाकर अपनी साधना पूरी करूँगा।' बच्चे की सब बातों का यही सारांश था।

बच्चे को वैज्ञानिकों-मनोवैज्ञानिकों तथा शरीर-विशेषज्ञों की देखरेख में रक्खा गया। संस्कृत के ज्ञाताओं ने उससे पूछताछ की। बच्चा कांगड़ा के आसपास के स्थानों, निवासियों, रीति-रस्मों का ठीक-ठीक वर्णन करता था। वह कहता था कि उसने काशी में संस्कृत पढ़ी है। उसके पिता के घर कोई नहीं है। नाथमार्ग के किसी योगी से उसने दीक्षा ली थी। सबसे विचित्र बात यह कि वह अब बड़े सवेरे-अँधेरा रहते ही स्नान करना चाहता था। स्नान करके भारतीय योगियों के समान नीचे फर्श पर बैठकर आँखें बन्द करके पता नहीं क्या करता रहता था। देर तक और कभी-कभी जोर से चिल्लाकर बोलता था- 'अलख!'

× × ×

माता-पिता के द्वारा जब प्रथम दिन बालक गर्भ में आता है; केवल एक कलल होता है माता के उदर में। उसमें सोलह कोशिकाएँ पिता से और सोलह माता से आयी होती हैं। इन कोशिकाओं के केन्द्रक (न्यूक्लियस) होते हैं।

इन केन्द्रकों के घेरे में होते हैं गुणसूत्र (क्रोमोसोम) और इन गुणसूत्रों में स्थान-स्थान पर गाँठें होती हैं। इन गाँठों को संस्कारकोष (जीन) कहते हैं। इन संस्कारकोषों की संख्या एक कोशिका में अरबों में है। वस्तुतः ये कोष एक ऐंठी सीढ़ी के आकार में हैं और कुण्डली मारकर गाँठ-जैसे बन गये हैं। इनको फैला दिया जाय तो यह सीढ़ी मनुष्य के पूरे शरीर की लम्बाई के दो तिहाई से अधिक होती है।

एक संस्कारकोष में प्रकृति के एक अरब अक्षरों में यह लिखा होता है कि गर्भस्थ शिशु की आकृति, रंग, कद आदि कैसा होगा? प्रकृति के इन अक्षरों का वैज्ञानिक एमोनो एसिड कहते हैं जो विभिन्न क्रम से लगे होते हैं। डाक्टर एरिच दीर्घकाल से परमाणु-विकिरण तथा विषाणु के दारा इन नैसर्गिक अक्षरों के क्रम में परिवर्तन की चेष्टा में लगे हैं। एक सीमा तक वे सफल हो गये हैं।

एक कलल में स्थित सभी गुणसूत्रों के संस्कारकोषों में समान लिपि नहीं है।' डाक्टर एरिच ने यह नवीन खोज की है। 'लगता है- शरीर के विभिन्न अङ्गों की बनावट के आदेश विभिन्न संस्कार-कोषों में हैं।'

'इन संस्कार-कोषों के अनेक आदेश कई-कई पीढ़ियों तक अक्रिय पड़े रहते हैं और कभी किसी समय सक्रिय हो सकते हैं।' ऐसा क्यों होता है? अभी इसका कोई उत्तर विज्ञान के पास नहीं है।

किन्तु यह सब तो माता-पिता द्वारा प्राप्त आनुवंशिकता की बात है। वैज्ञानिक इसे समझते हैं और इस आनुवंशिकता को आज नहीं तो, कुछ वर्षों बाद इच्छानुसार परिवर्तित कर लेने की उन्हें आशा है। यद्यपि लक्ष्य दूर है और अनेक उलझन-भरे प्रश्न सुलझाने का अभी अछूते पड़े हैं।

यह बच्चे का संस्कृत बोलना क्या है? यह उसका पुनर्जन्म? डाक्टर एरिच की समझ में यह बात एकदम नहीं आ रही है। साथ ही इसे आनुवंशिकता कह देने का भी कोई कारण नहीं दीखता।

वैज्ञानिक हठधर्मी नहीं होता। वह सत्य का शोधक होता है। डॉक्टर एरिच को लगा कि उनके बच्चे के सम्बन्ध में शोध करने के लिये भौतिकविज्ञान के वर्तमान साधन पर्याप्त नहीं हैं। परलोकवादियों की सहायता उन्हें उपेक्षित है।

× × ×

'पुनर्जन्म कैसे होता है?' एक परलोक-विद्या के अमेरिकन ज्ञाता ने बच्चे से पूछा।

'इनमें से किसी टुकड़े को पकड़ो।' बच्चे ने अपना प्लास्टिक के खिलौने का वह बक्स उलट दिया, जिसके टुकड़ों से वह अक्षर बताया करता था।

'इस टुकड़े से जो टुकड़े जुड़ सकें, उनमें एक अक्षर बनाता है।' झटपट बच्चे ने एक अक्षर बनाने वाले टुकड़े जोड़ दिये और बोला- 'अब ऐसे ढ़ंग से इससे मिलाते अक्षर जोड़ते जाता है कि कम-से-कम अक्षर बनाकर हम 'म' तक पहुँच सकें।'

'तुम खेल में लग गये। मेरे प्रश्न का उत्तर तुमने दिया नहीं।' प्रश्नकर्त्ता ने बच्चे को रोका।

'मैं आपको उत्तर ही दे रहा हूँ। मैं एक भारतीय साधु हूँ। साधु खिलौने से खेला नहीं करते।' बच्चा तनिक अप्रसन्न हुआ- 'तुम क्या समझते नहीं हो?'

'हम सचमुच कुछ नहीं समझ सके।' नम्रतापूर्वक प्रश्नकर्त्ता ने स्वीकार किया।

'मनुष्य मरते समय जो कामना करता है, वह उस टुकड़े के समान है, जिसे तुमने पहले उठाया था। मनुष्य के पास उसके वर्तमान जीवन और पहले के अनेक जन्मों के लाख-लाख संस्कार होते हैं। यहाँ तो ये थोड़े से टुकड़े हैं।' बच्चे उन टुकड़ों को एक बार हाथ से उलट-पलट दिया।

'मरने के समय की अन्तिम कामना से मेल करने वाले संस्कार भी अनेक प्रकार के प्रारब्ध बना सकते हैं; किन्तु ध्यान यह रखना पड़ता है कि ऐसा प्रारब्ध बने, जिससे मेल खाते दूसरे प्रारब्ध बनते चले जायँ और 'म' तक पहुँचने के लिये प्रारब्धें की छोटे-से-छोटी जंजीर बने।' बच्चे ने इस भाव से देखा, जैसे वह अपनी पूरी बात समझ चुका है।

'म' तक पहुँचने की बात ही क्यो?' प्रश्नकर्त्ता ने पूछा।

'मनुष्य का प्रारब्ध ही अन्तिम प्रारब्ध होता है। केवल मनुष्य के मरने पर प्रारब्ध शृंखला बनती है और मनुष्य-जन्म का प्रारब्ध शृङ्खला बनती है और मनुष्य-जन्म का प्रारब्ध बनाकर वह पूरी हो जाती है।' बच्चे ने बताया- 'दूसरे प्राणी तो उस शृङ्खला के बीच के प्रारब्धों से उतपन्न होते हैं। मनुष्य ही साधन करके मुक्त हो सकता है।'

'यदि आप अपने साधन को इस जीवन में भी पूर्ण न कर सके।' प्रश्नकर्त्ता बच्चे को आदरपूर्वक ही सम्बोधित कर रहा था; क्योंकि वह जानता था कि उपेक्षा प्रकट होने पर बच्चा असंतुष्ट हो जायेगा।

'मैं इस बार अवश्य पूर्णत्व प्राप्त करूँगा।' बच्चा तनिक उत्तेजित हुआ और तुरंत शान्त भी हो गया। 'मान लो तुम्हारी ही बात ठीक निकले, ऐसे सम्भव नहीं है। तब भी कुछ हानि नहीं है। मैं सावधान रहूँगा कि जीवन में साधन के विरोधी भाव न आवें। कुछ प्रमादवश आ गये तो वे अगले प्रारब्ध बनते समय संचित में चले जायँगे और मैं फिर से साधन में आगे बढ़ूँगा। साधक का पतन नहीं होता। वह जितना चल चुका, अब उससे आगे ही उसे चलना रहता है।'

'संचित क्या?' प्रश्नकर्त्ता की समझ में यह बात आयी नहीं थी।

'ये टुकड़े जिनका हमने उपयोग नहीं किया, संचित के समान हैं।' बच्चे ने बताया- 'जिन कर्म-संस्कारों का उपयोग प्रारब्ध-शृङ्खाला के निर्माण में नहीं हुआ, उनकी राशि का नाम संचित है।'

'उनका उपयोग कब होगा?'

'अगली बार प्रारब्ध बनते समय। यदि मनुष्य जीवन से मुक्त न हो जाय।' बच्चे ने कहा- 'मुक्त पुरुष-का संचित भस्म हो जाता है और यह याद रक्खों कि साधन के संस्कार संचित में कभी फेंके नहीं जाते। वे सदा प्रारब्ध बनाने के लिये चले जाते हैं।'

'यह सब व्यवस्था कौन करता है?'

प्रश्नकर्त्ता देर से यह बात पूछने को उत्सुक थे। 'ईश्वर ही यह सम्पूर्ण व्यवस्था करता है?'

'ईश्वर करता है, ऐसा कह सकते हैं।' बच्चा बहुत गम्भीर हो गया। वस्तुतः यह व्यवस्था ईश्वर का विधान करता है। हम उस कर्मविधान के नियन्ता को यमराज कहते हैं। मैं नहीं जानता कि दूसरे लोग उसे क्या कहते हैं। वैसे यमराज के सम्बन्ध में मुझे कुछ अधिक पता नहीं है।'

'मृत्यु के पश्चात् और जन्म से पूर्व आपकी जो अवस्था थी, उसके सम्बन्ध में आप कुछ बतायेंगे !' प्रश्नकर्त्ता ने अपना अन्तिम प्रश्न किया।

'परमात्मा नहीं चाहता कि यह रहस्य जीवों पर प्रकट हो।' बच्चे ने कोई उत्सुकता व्यक्त नहीं की। बड़ी कठिनाई से अनेक बार पूछने पर उसने कहा- 'आपको इससे कोई लाभ नहीं होगा। देहत्याग के पश्चात जीव केवल जीव नहीं होता। कारण-शरीर और सूक्ष्म-शरीर अर्थात् मन और बुद्धि तो उसके यहाँ के होते हैं। एक अतिवाहिक शरीर भी उसे मिल जाता है, जिसकी आकृति प्रायः उसके भौतिक स्थूल-शरीर-जैसी होती है। वह भावलोक है, जहाँ उस आतिवाहिक देह में जाना पड़ता है। अतएवं जिसकी जैसी भावना जीवन में होती है, उस प्रकार ही उसे वह भवलोक दीखता है।'

बच्चा थक चुका था। उस दिन का प्रश्न-कार्य रोक देना पड़ा।

× × ×

'मुझे अमेरिका देखना है। पहले मुझे यहाँ के मुख्य-मुख्य स्थान दिखला दो।' बच्चे ने हठ पकड़ लिया। वह किसी के प्रश्नों का उत्तर देता नहीं था। डाक्टर एरिच को उसका हठ रखना पड़ा। अपनी प्रयोगशाला सहकारी को सौंपकर पत्नी और पुत्र के साथ वे यात्रा के लिये निकले।

डाक्टर एरिच का पुत्र सामान्य बालकों से नितान्त भिन्न था। वह केवल फल-मेवे खाता और दूध पीता था। अनेक बार संस्कृत बोलने लगता था। किसी भी दृश्य के प्रति उसने कोई विशेष आकर्षण प्रकट नहीं किया।

यात्रा अधिक दिन चली भी नहीं। बच्चा बार-बार हठ कर रहा था कि उसको भारत भेजने की व्यवस्था कर दी जाय। वह अपनी माता से अनेक बार पूछ चुका था। कि भारत जाने का मार्ग क्या है और वहाँ जाने के लिये क्या करना पड़ता है?

डा० एरिच देश से बाहर जाने को प्रस्तुत नहीं थे। उनकी प्रयोगशाला का काम अधूरा पड़ा था। बच्चे को अकेले भेजने की बात सोची नहीं जा सकती थी। पत्नी ने अवश्य प्रस्ताव किया था कि यदि डाक्टर छः महीने बाद भारत आने का वचन दें तो वह पुत्र को लेकर जा सकती है और वहाँ पति की प्रतीक्षा करेगी।

यह सब कुछ करना नहीं पड़ा। अभी पासपोर्ट के लिए निवेदन भेजा ही गया था कि बच्चा एक दिन सबेरे स्नान करके आसन लगाकर बैठा और कुछ क्षण पीछे 'अलख' की उच्चध्वनि के साथ उसने देह त्याग दिया। सम्भवतः उसका देह अमेरिका-दर्शन की कामना का ही परिणाम था। कामना पूर्ण होते ही देह पूरा हो गया।

प्रार्थना का प्रभाव

'भगवान् याकशायर में हैं और दक्षिण ध्रुव में नहीं हैं?' वह खुलकर हँस पड़ा। 'जो यहाँ हमारी रक्षा करता है वह सब कहीं कर सकता है।'

इस तर्क का किसी के पास भला क्या उत्तर हो सकता है। श्रीमती विल्सन जानती हैं कि उनके पति जब कोई निश्चय कर लेते हैं, उन्हें रोका नहीं जा सकता।

मनुष्य भगवान् की सृष्टि का बड़ा अदभुत प्राणी है। इस दो पैर से चलने वाले पुतले के भीतर क्या-क्या है- कदाचित् इसके निर्माता ब्रह्माजी भी नहीं जानते। यह देवता बन सकता है, दानव बन सकता है, पशु बन सकता है और पिशाच तक बन सकता है। जब इसे कोई सनक सवार हो जाती है तो देवता और दानव दोनों चकित रह जाते हैं। जो कार्य दोनों के वश का न हो- मनुष्य के लिए दुर्गम, असम्भव जैसे कुछ नहीं है। वह नर जो है। उसका नित्य सखा नारायण उसका साथ देगा ही- यह दूसरी बात है कि नर ही अपने सखा की उपेक्षा किये निर्बल बना रहे।

मि० विल्सन पक्के निरामिषभोजी हैं। उनके लिये उबाले आलू, उबाली पत्तियाँ, थोड़ा अंजीर या कोई सूखा मेवा और दूध- बस, यह सदा पर्याप्त होता है। चावल, दाल, रोटी- अन्न छोड़कर फलाहारी वे कभी बने नहीं, बनने की बात भी नहीं सोची; किन्तु अन्न की अपेक्षा उन्हें कभी नहीं रहती। यदा-कदा ही वे उसका उपयोग करते हैं।

लंबा दुबला शरीर, नीली आँखें, सुनहले केश- लेकिन इस फलाहारी प्राय अंग्रेज की रूचि बड़ी विचित्र है। इसे गुमसुम बैठना पसन्द नहीं। आतङ्कपूर्ण स्थितियों में इसे आनन्द आता है। भय को आमन्त्रण देगा और जब चारों ओर से प्राण घातक आशङ्काएँ इसे घेर लेंगी- बड़े आनन्द से उछलेगा, कूदेगा और ताली बजा-बजाकर हँसेगा- 'भगवान्! मेरे भगवान्! मैं तुझे देख रहा हूँ!' जैसे भगवान् इसे शान्त, सौम्य परिस्थितियों में दीखते ही नहीं।

श्रीमती विल्सन-बेचारी सुशील नारी-पति की मंगलकामना के अतिरिक्त वह और क्या कर सकती है। बड़ा सनकी है उसका पति- जब हिमपात प्रारम्भ होगा, वह प्राय: संध्या का अन्धकार फैलने के बाद अकेला मोटर लेकर घूमने निकल जायगा।

नगर की पुलिस तंग है, इस फक्कड़ से। रात्रि के हिम में किसी राजपथ पर कोई मोटर रुक गयी है, प्रातः मार्ग स्वच्छ करने वाला दल दूर से ही कहेगा– 'बहुत करके विल्सन होना चाहिये।' उसकी मोटर प्रायः पथ पर बर्फ में जमी मिलती है। आप उस समय जब बरफ हटाकर मोटर की खिड़कियाँ खुलने योग्य कर दी जायेगी, बड़े आनन्द से खिड़की खोलकर कहेंगे– 'अच्छा, इतनी बरफ पड़ी? तभी तो रात में थोड़ी सर्दी लग रही थी। रातभर मोटर के भीतर अकड़े पड़े रहने पर भी जो सर्दी लगने की बात करे– पागल नहीं तो और क्या कहा जाय उसे।

एक उपद्रव हो तो गिनाया जाय। जब तूफान के वेग से समुद्र हाहाकार करने लगेगा, बड़े-बड़े जहाज लंगर डालकर बंदरगाहों में शरण लेंगे, खतरे की सूचना बंदरगाह का अधिकारी यन्त्रों से दूर-दूर भेजता होगा, एक छोटी सफेद रंग की नौका गर्जन-तर्जन करते महासागर के वक्ष पर हंसिनी-सी तैरती दीख सकती है। बड़े साहसी नाविक तक नेत्रों से दूरवीक्षण लगाये चकित-स्तम्भित देखते-देखते रहते हैं– 'मि० विल्सन नौका-विहार का आनन्द लेने निकले हैं।'

यह सब तो नित्य की बाते हैं; किन्तु इस बार श्रीमती विल्सन हताश हो गयी हैं। उनके पति को एक नयी धुन चढ़ी है। दक्षिण अमेरिका से कोई दल दक्षिण ध्रुव का पता लगाने जा रहा है। विल्सन उस दल के साथ जायँगे। कैसे जायँगे? कैसे रहेंगे? ये प्रश्न कभी विल्सन के मन में उठे हों तो आज उठें। उन्होंने तो लिखा-पढ़ी की उस दल के नायक से और अनुमति प्राप्त कर ली। पासपोर्ट ले लिया और जहाज में स्थान तक निश्चित करा लिया। यह सब करके तब पत्नी को सूचना दी इस भले आदमी ने।

'मैं आपको महान् निश्चय से विचलित नहीं करूँगी।' श्रीमती विल्सन को कोई आश्चर्य नहीं हुआ। अपने पति के स्वभाव को वे जानती है। 'मुझे इसका गर्व है कि मेरे पति विश्व के उन थोड़े से लोगों में एक हैं जो अकल्पनीय साहस कर सकते हैं।'

'कितनी अच्छी हो तुम!' विल्सन तो बच्चों की भाँति हैं। वे बहुत शीघ्र प्रसन्न होते हैं।

'तुम मेरी एक बात मान लो! भोजन-सम्बन्धी अपना नियम अब यहीं रहने दो।' श्रीमती विल्सन का अनुरोध सहज स्वाभाविक है। किसी हिम प्रदेश में कोई शाकाहारी बने रहने का हठ करे, बोतल को न छूने की शपथ का निर्वाह करे– कैसे जीवित रहेगा वह।

'तुम क्यों चिन्ता करती हो?' यही उत्तर ऐसे किसी भी अवसर पर देता है। 'चिन्ता करनेवाला है न। वह सारे संसार की चिन्ता करता है। तुम विश्वास रक्खो– जब तक मैं होश में रहूँगा, उसकी नित्य प्रार्थना करूँगा। उसे भूलूँगा नहीं।'

'उसे भूलूँगा नहीं।' इससे बड़ा आश्वासन भला और क्या दिया जा सकता है।

× × ×

[2]

'मैं शाकाहारी हूँ। किसी प्रकार की कोई शराब न छूने की प्रतिज्ञा की है।' दक्षिण अमेरिका से जहाज छूटने के पश्चात् पहले ही दिन विल्सन को दलनायक को स्पष्ट सूचित करना पड़ा। स्थल पर इसकी आवश्यकता नहीं पड़ी थीं। उनकी पत्नी उनके साथ आयीं थीं इंग्लैण्ड से और जहाज के छूटने के समय तक विदा देने उनके साथ रहीं। दल के सदस्यों ने भूमि पर रहते समय एक साथ भोजन करने का कभी कोई आग्रह नहीं किया था।

'आप निरामिषभोजी हैं और शराब छूते तक नहीं है?' दलनायक हर्बर्ट अपनी कुर्सी से उठ खड़े हुए। आप होश में भी हैं या नहीं? दक्षिण ध्रुव की यात्रा करने चल रहे हैं। आप।'

'मेरे बेहोश होने की तो कोई बात नहीं है।' विल्सन शान्त बैठे रहे- 'मैं जानता हूँ कि मैं कहाँ जा रहा हूँ। '

'हम आपको समीप के द्वीप पर छोड़ देंगे। अमेरिका लौट जाने के लिये एक सप्ताह के भीतर ही आप जहाज पा सकते हैं।' दलनायक को खेद हो रहा था- क्यों वह इस व्यक्ति को साथ ले आया।

'यात्रा में साथ ले चलने की स्वीकृति आपने दी है और वह पत्र मेरी जेब में हैं।' विल्सन ने दृढ़ स्वर में कहा- 'मैंने यात्रा के नियमों में किसी को तोड़ा नहीं है।'

'आप चाहेंगे तो लौटने पर आपको इंग्लैंड से यहाँ बुलाने का हर्जाना और मार्गव्यय मैं चुका दूँगा।' हबर्ट ने भी दृढ़ स्वर में ही कहा- 'जान-बूझकर किसी की हत्या करने के लिये मैं उसे साथ नहीं ले जा सकता।'

'मैं लौटने के लिये नहीं आया हूँ।' विल्सन ज्यों-के-त्यों दृढ़ रहे। 'सब सदस्य अपने उत्तरदायित्व पर आये हैं। किसी की मृत्यु के लिये कोई उत्तरदायी नहीं है।'

'तुम समझने का प्रयत्न करो। मेरे मित्र।' हर्बर्ट बैठ गया और विल्सन का हाथ पकड़कर बड़ी नम्रता से उसने कहा- 'जहाँ बहुत तेज शराब भी गले के नीचे जाकर रक्त में उष्णता बनाये रखने में किसी भाँति सफल होती है, वहाँ कोई शराब न छूने का व्रत रक्खे- कैसे जीवित रहेगा? हमारा जहाज बहुत दूर तक नहीं जा सकता। अन्त में हमें स्लेज पर ही यात्रा करनी है। हमारे एकमात्र भोजन वहाँ साथ चलने वाले बारहसिंगे ही हो सकते हैं। कोई भी भोजन का पदार्थ वहाँ प्राप्य नहीं और न उसे ले जाने के साधन हैं।'

'मैं आपकी सहानुभूति एवं सलाह का कृतज्ञ हूँ।' विल्सन ने भी स्वर को पर्याप्त प्रेमपूर्ण बना लिया- 'ये सब कठिनाइयाँ मेरे ध्यान से बाहर नहीं हैं। लेकिन तुम क्या

नहीं मानते कि भगवान् सर्वसमर्थ हैं? वे सर्वत्र हैं तो हमें क्यों भय करना चाहिए और क्यों चिन्ता करनी चाहिये? मैं तो इस यात्रा पर आया ही इसलिये हूँ कि निर्जन हिमप्रदेश में भी परमात्मा है और वहाँ भी वह उस प्रार्थना को सुनने के लिए उपस्थित रहता है जो केवल उसके लिये की जाती है- यह अनुभव करूँ।'

'मैं नास्तिक नहीं हूँ। लेकिन इतना आशावादी बनने का भय भी नहीं उठा सकता।' हर्बट ठीक कह रहा था। एक सामान्य मनुष्य जैसे सोच सकता है, वैसे ही सोच रहा था वह- 'मैं कृतज्ञ रहूँगा, यदि तुम मेरी सलाह मान लो।'

'हम पहले प्रार्थना करेंगे।' विल्सन ने दूसरा ही प्रस्ताव किया- 'प्रार्थना के बाद भोजन करके तब इस बात पर चर्चा करना अच्छा रहेगा।'

'परमात्मा ! मेरे परमात्मा ! तू सब कहीं है। तू उस हिम-प्रदेश में भी है जहाँ मैं तुझे प्रणाम करने आ रहा हूँ।' विल्सन का कण्ठ प्रार्थना करते समय गद्गद् हो रहा था। उसके बन्द नेत्रों से आँसू की बूँदें टपक रही थीं- जगदीश्वर ! एकमात्र ही सबका रक्षक और पालक है। तू यहाँ है और सब कही है। हम क्यों डरें? क्यों चिन्ता करें। तू है न ! हमें शक्ति दे कि हम तेरा ही भरोसा करें ! तुझे ही स्मरण करें !'

सभी यात्री, सेवक और वे नाविक भी जो प्रार्थना में आ सकते थे- आये थे सबके नेत्र गीले हो गये थे, सब यात्रियों को लग रहा था विल्सन इस भयंकर यात्रा में उनके लिये बहुत आवश्यक है। उनका विश्वास-उसकी प्रार्थना उन्हें जो आत्म-बल दे रही है, वह उस समस्त सामग्री से जो आवश्यक मानकर साथ ली गयी है, अधिक महत्त्वपूर्ण है।

सबकी सहानुभूति विल्सन के साथ हो गई थी। दल-नायक हर्बर्ट ने लौटने की बात फिर नहीं छेड़ी ! उसने सोच लिया- परिस्थिति जब विवश करेगी, आहार-सम्बन्धी नियम अपने आप लुप्त हो जायेगें अभी आग्रह करने का अर्थ उस आग्रह को पुष्ट करना ही होगा।'

× × ×

[3]

विल्सन ! हम प्रार्थना करेंगे।' दलनायक हर्बर्ट और दल के दूसरे साथी प्रार्थना के अद्‌भुत प्रभाव को देखते-देखते अब अभ्यस्त हो गये हैं। वे अब विल्सन को परिहास-में संत विल्सन कह लेते हैं; किन्तु यह केवल परिहास नहीं है। प्रायः सभी अनुभव करते हैं कि विल्सन संत हैं। अब जहाज छोड़कर दल स्लेजगाड़ियों पर यात्रा कर रहा है। बर्फीले तूफान, बर्फ की दल-दल, मार्ग में पड़ी पचीस पचास गज चौड़ी

तक दरारें और मार्ग खो जाना सच बात यह है कि कोई मार्ग है ही नहीं। दिग्दर्शक यन्त्र और अनुमान- पद पद-पर विपत्तियाँ आती हैं। किसी भी दारुण विपत्ति के समय दल एकत्र हो जाता है और प्रार्थना होने लगती है। है अद्‌भुत बात- प्रत्येक बार प्रार्थना के पश्चात् सभी अनुभव करते हैं कि विपत्ति भाग गयी- भगा दी गयी है और उनका मार्ग सुगम हो गया है।

हिम-अनन्त अपार हिम है चारो ओर। वृक्ष, तृण, हरियाली की तो चर्चा ही व्यर्थ है। बारहसिंगों के झुंड और कुत्तों का दल-कुत्ते न हों तो स्लेज खींचे कौन! लेकिन ये हिम-प्रान्तीय भयानक कुत्ते बार-बार बिगड़ उठते हैं। बार-बार बारह सिंगों के झुंड पर आक्रमण करते हैं और बारह सिंगों में भगदड़ मचती है। कुत्ते मनुष्य के समान बुद्धिमान् तो नहीं कि सोच-समझ कर क्षुधा पर नियन्त्रण रक्खें। बेचारे स्लेज खींचते-खींचते थके जाते हैं भूख लगती है और बारहसिंगों को छोड़कर उन्हें मिल भी क्या सकता है। बड़ा कठिन है उनको नियन्त्रित करना। समय-समय पर बर्फ के नीचे जमी काई चरने के लिए बारहसिंगों को भी छोड़ना ही पड़ता है।

विश्राम- नाममात्र है विश्राम का। ऐसी दारुण यात्रा-में विश्राम कैसा! साथ में एक तम्बू हैं- नीचे हिम की चट्टान और ऊपर अनवरत धुनी रुई-जैसी गिरती उज्ज्वल हिम-अपने-अपने थैलों में जूते पहिने ही घुसकर कुछ घंटे पड़े रहने को आप विश्राम कहना चाहे तो कह सकते हैं।

विल्सन- सबका सहारा, सबको उत्साहित रखनेवाला नित्य प्रसन्न विल्सन, और पूरे दल में विल्सन ही हैं जिनका दल पर कोई भार नहीं। साथ कुछ मेवे, कुछ पनीर और जमे दूध के डिब्बे, कुछ फल बंद डिब्बों में आया था। वह सब विल्सन के लिये पहले सुरक्षित हो गया। लेकिन उसका क्या अर्थ है? दूसरे के लिये तो केवल वह स्वाद बदलने का साधन मात्र हो सकता था। जब दूसरे शराब की बोतल मुख से लगाते हैं, विल्सन स्पिरिट के बरफ को पिघलाकर उबालता है और गरम पानी की घूँटें पीकर सबसे अधिक स्फूर्ति पा जाता है।

'मैं चरने जाता हूँ।' प्राय: वह सबको हँसा देता है। अद्‌भुत है यह अंग्रेज। उसके अमेरिकन साथी इस बात की कल्पना ही नहीं कर सकते है कि बारह सिंगों के साथ बर्फ के नीचे जमी यत्र-तत्र काई जैसी घास को मनुष्य भोजन बना सकता है। लेकिन विल्सन मजे में पर्याप्त मात्रा में उसे खा लेता है।

'हमें लौटना चाहिये!' सहसा एक दिन कुत्तों ने स्लेज को लौटाने की हठ ठान लीं। वे किसी प्रकार आगे बढ़ना ही नहीं चाहते थे। बारहसिंगों का झुण्ड चरने को छोड़ा गया और अदृश्य हो गया। विल्सन ने सलाह दी- 'लक्षण अच्छे नहीं हैं।' इस

वर्ष शीत शीघ्र प्रारम्भ होता दीखता है। भयंकर बर्फीले तूफान कुछ दिनों में ही चलने लगेंगे। हम लोग जहाज तक लौट चलें तो ठीक।'

'बारहसिंगे भाग चुके और उनको पाने का कोई मार्ग नहीं है।' दलनायक हर्बर्ट ने सहमति व्यक्त की- 'अब लौटने पर हम सब विवश हैं। जहाज यदि समुद्र के जम जाने से पहले न निकल सका तो हिम समाधि निश्चित समझनी चाहिये।

'हम फिर अगले वर्ष आ सकते हैं।' एक यात्री ने कहा। सभी श्रान्त थे और लौटने को उत्सुक थे।

'हम फिर आ सकें या न आ सकें, हमारी यात्रा दूसरों का मार्ग-दर्शन करेंगी।' विल्सन ने तटस्थ भाव से कहा ! 'प्रयत्न करना हमारे हाथ में था। परमात्मा की इच्छा सर्वोपरि है और हमें उसके संकेतों की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये।'

कुत्ते लौटते समय गाड़ियों को पूरी शक्ति से खींच रहे थे। जैसे उन्हें भी लगता था कि इस हिम प्रदेश से जितनी शीघ्र निकला जा सके- उतनी शीघ्र निकल चलने में ही कुशल है।

× × ×

[4]

'हम प्रार्थना करेंगे।' विल्सन के प्रस्ताव को कोई समर्थन नहीं मिला। सच यह है कि समर्थन या विरोध करने जितनी शक्ति अब जहाज के यात्रियों में नहीं थी। कितने दिन कोई उपवास कर सकता है ! अब उठने और बोलने की क्रिया जहाज के सारे यात्रियों के लिए अत्यन्त कष्टसाध्य होती जा रही थी। जीवन से प्राय: निराश हो चुके थे।

जहाज पर उसके यात्री आये और समुद्र का जमना प्रारम्भ हुआ। बहुत थोड़ी दूर जाकर जहाज रूक गया। पृथ्वी और जल का भेद मिट चुका था। एक श्वेत चद्दर- यात्रियों को लगता था कि बूढ़ी पृथ्वी मर गयी है और उसे श्वेत वस्त्र से ढ़क दिया गया है। मृत्यु-केवल मृत्यु दीखती थी उन्हें। मृत्यु की छाया काली होती है; किन्तु उनके यहाँ तो उजली-असीम उजली, कोमल और शीतल रूप धारण करके मृत्यु आयी थीं।

पूरा जहाज ढ़क गया हिम के अपार अम्बार में। बाहर से उसका कोई अंश दीखता भी है या नहीं- जहाज के यात्रियों में साहस नहीं था कि जहाज से बाहर आकर यह देखें ! बेचारे कुत्ते मर गये थे। स्लेज खींचने में उन्होंने प्राण होम दिये। मार्ग में हिमपात प्रारम्भ हो चुका था। यात्री किसी प्रकार भागते-दौड़ते जहाज पर पहुँच गये, यही बहुत था। लेकिन अब इस सुरक्षा का क्या अर्थ ! इतना ही कि अगली त्रतु में कहीं कोई पता लगाने आया तो जहाज के भीतर उनके सिकुड़े शव उसे मिल जायँगे।

जल केवल जल पीकर रहना था उन्हें और अन्त में वह भी अलभ्य हो गया। भोजन का सामान और शराब की बोतले कब की समाप्त हो चुकी थीं। बहुत सा उनका भाग स्लेज–गाड़ियों के ऊपर मार्ग में ही छूट गया था। जहाज में जो कुछ था– कितने दिन चल सकता वह? शीत असह्य हो गया। भोजन समाप्त होने पर बार–बार जल की आवश्यकता पड़ी। उष्णता की प्राप्ति, बरफ गलाकर जल बनाना– सबका साधन था। स्प्रिट लैम्प और अन्त में स्प्रिट भी समाप्त हो गया।

'परमात्मा! मेरे परमात्मा! मैं जानता हूँ कि तू यहाँ भी है और मेरी प्रार्थना सुनता है।' विल्सन की प्रार्थना में अब वह अकेला रह गया है। अनाहार और मृत्यु की स्पष्ट मूर्ति ने सबको निराश कर दिया है। किसी में अब आशा नहीं कि प्रार्थना से कुछ होगा– सच तो यह है कि अब कोई कुछ सोचता नहीं– सोचने योग्य नहीं– मृत्यु–मृत्यु की प्रतीक्षा कर रहे हैं सब। केवल विल्सन है जो नित्य दोनों समय–प्रार्थना कर लेता है। समय का अनुमान भी वहाँ घड़ी से ही होता है। वह ठीक घड़ी की भाँति समय पर हाथ जोड़कर घुटनों के बल बैठकर बोलने लगता है– 'मेरे प्रभु! मैं कुछ नहीं चाहता। केवल इतना–इतना ही कि मैं तुझे भूलूँ नहीं।'

अद्भुत जीव है यह विल्सन भी। इसका अनाहार सबसे पहले प्रारम्भ हुआ। सबसे दुबला यही है। स्प्रिट समाप्त होने को आया– यह देखते ही इसने पानी भी बंद कर दिया। बरफ के टुकड़े मुख में रखकर चूस लेने का अभ्यास सबसे पहले इसने किया। जिन्हें मांसाहार करना था, जिनकी नाड़ियों का रक्त शराब की उष्णता से उष्ण बनता रहा, जो बहुत पीछे तक कुछ–न–कुछ छीन–झपटकर पेट में पहुँचा देते थे, वे सब मूर्छित–प्राय पड़े हैं और यह शाकाहारी, खौलाये पानी पर जीवित रहने वाला विल्सन– यह अब भी उठ–बैठा लेता है, प्रार्थना कर लेता है।

साठ दिन– पूरे साठ दिन बीत चुके। आज विल्सन को लगा, वह अन्तिम बार प्रार्थना करने बैठा है। उसका सिर घूम रहा है। उसके नेत्रों के आगे अन्धकार फैल रहा है। उसका कण्ठ सूख गया है। 'परमात्मा!' केवल एक शब्द कह पाया वह। उसे लगा, अब गिरेगा– मूर्छा और मृत्यु वहाँ पर्यायवाची ही थे।

'कोई है? कोई जीवित है भाई?' जहाज के ऊपर डैक पर से नीचे उतरने के बन्द द्वार को कोई पीट रहा है। बार–बार पुकार रहा है– 'परमात्मा के लिए बोलो! एक बार बोलो!'

'कौन आवेगा यहाँ? भ्रम–भ्रम है मेरा।' विल्सन अर्धमूर्छित हो रहा था। लेकिन द्वार बराबर पीटा जा रहा था। बराबर कोई पुकार रहा था। अन्त में लेटे–लेटे पेट के बल किसी प्रकार विल्सन खिसका।

'परमात्मा के लिये शराब नहीं– गरम पानी।' द्वार खोलकर विल्सन गिरा और

क्षण भर को मूर्छित हो गया; किन्तु आगतों में जब एक ने उसके मुख से बोतल लगाना चाहा- उसकी चेतना लौट आयी। उसने बोतल हटा दी मुख से।

'जहाज जम गया है। हम साठ यात्री मृत्यु की घड़ियाँ गिन रहे हैं। भोजन और स्प्रिट समाप्त हो गया है। जहाज में लगे बेतार-के तार से यह अन्तिम संदेश अमेरिका में सुना गया था। शीत के प्रारम्भ में जब हिमपात प्रारम्भ हो गया हो अंटारकटिका की यात्रा की बात सोचना ही अकल्पनीय है। सरकारी अधिकारी भी यात्रियों के प्रति सहानुभूति ही प्रकट कर सकते थे।

समाचार पत्रों में यह दारुण समाचार छपा और एक तरुण ने संकल्प किया उन हिम-समाधि लेते मनुष्यों के उद्धार का। बाधाओं की गणना ही व्यर्थ हैं। जो सहायता दे सकते थे- उन्होंने भी रोकने का ही प्रयास किया। लेकिन उसे यात्रा करनी थी। एक नहीं तो दूसरा- जो प्राण देकर परोपकार करने को प्रस्तुत है, उसके सहायक संसार में निकल ही आते हैं।

कुत्तों, स्लेज-गाड़ियों, बारहसिंगों की पूरी सेना मिल गयी उसे अंटारकटिका में पहुँचने पर भोले हिमग्राम के वासियों से। उसे गणना नहीं करनी थी कि कितने यूथ कुत्तों और बारहसिंगों के हिम की भेंट हो गये। उसे तो लक्ष्य पर पहुँचना था- ठीक समय पर पहुँच गया वह।

'हमारे यूथ में कुछ मादा बारहसिंगे हैं। तीन-चार ने मार्ग में बच्चे दिये हैं। आपको हम दूध पिला सकते हैं।' जब जहाज के यात्री होश में आये, कुछ पेट में पहुँच जाने से बोलने योग्य हुए, तरुण ने विल्सन के सामने एक प्याला गरम दूध रख दिया। मूर्छित दशा में भी विल्सन को दूध पिला चुका था वह।

'हम प्रार्थना करेंगे।' दूध पीने से पहले विल्सन घुटनों के बल वही बैठ गया। उसके पीछे पूरा समुदाय बैठ गया। 'यह उसकी प्रार्थना का ही प्रभाव तो है जो वे आज उसके साथ प्रार्थना करने बैठ सकते हैं।'

आशा-उचित-अनुचित

'नम्बर सात ताला-जंगला सब ठीक है।' बड़े ऊँचे स्वर में पुकारा पीले कपड़े वाले नम्बरदार ने। दूसरे बैरेकोंसे भी इसी प्रकार की पुकारें लगभग उसी समय उठीं।

यह कारागार का तृतीय श्रेणी का बैरेक नम्बर सात है। संध्याकालीन भोजन हो चुकने पर बंदी अपने फट्टे (मूँज की रस्सी से बनी चटाइयाँ), कम्बल, कपड़े लपेटे, तसला-कटोरी लिये दो पंक्तियों में बैठ गये थे। उनकी गिनती की गयी और फिर भरभराकर वे बैरेक में घुस गये।

घुटने से नीचे तक का जाँघियाँ और बिना बाँह के कुर्ते। जाँघिया और कुर्ते दोनों पर किन्हीं के लाल मोटी धारी हैं, किन्हीं के नीली धारी। लाल धारी बतलाती है कि बंदी पहली बार करागार आया है और नीली धारी कहती है कि वह इससे पहले भी आ चुका है। किन्हीं-किन्हीं के सिर पर लाल दुपलिया टोपियाँ भी लगा रक्खी हैं।

बीच में डेढ़-दो हाथ की दूरी छोड़कर चबूतरे बने हैं सीमेंट के पंक्तिबद्ध। बंदियों ने अपने फट्टे चबूतरों पर डाल दिये हैं। लोहे के तसलों में पानी कुछ ले आये हैं दौड़कर, कुछ ड्रम के पास भीड़ लगाये खड़े हैं। कुछ के पास मिट्टी की हँड़ियाँ भी है पानी रखने को। जिनकी फूट चुकी हैं, इस ग्रीष्म में उन्हें अपने तसले के पानी से रात्रि को प्यास बुझानी है, यदि कोई अन्य मित्र अपनी हँड़ियाँ का पानी देने की उदारता न दिखलावे। कारागार- अधिकारी दुबारा हँड़िया देने से रहे।

'सब अपने-अपने चबूतरे पर जल्दी बैठो!' नम्बरदार चिल्लाया और उसने हाथ का डंडा हिलाया! जैसे भेड़ों को हाँकता हो, ऐसी ही चेष्टा- 'जल्दी करो, गिनती करनी है।'

दो-चार मिनट उपेक्षा चल सकती है इस नम्बरदार की। फिर वह गाली पर उतर आयेगा और कुछ कहो तो सबेरे 'पेशी' कर देगा जेलर के सामने। पानी गिनती के बाद

भी लिया जा सकता है। एक बार सब बैठ गये चबूतरों पर- शान्त हो गये। अपने ही ही चबूतरे पर बैठे हो यह आवश्यक नहीं था। एक चबूतरे पर दो व्यक्ति न हों, यह नम्बरदार ने कहा; किन्तु इस पर बल नहीं दिया उसने। अपनी गिनती पूरी करके उसे 'ताला-जंगला ठीक है।' की घोषणा करने की जल्दी थी। इस समय।

'कल मुझे छुटकारा मिल जायगा!' एक दुबले, गोरे रंग के अधेड़ व्यक्ति कह रहे थे- 'मेरा भाई अवश्य मेरी जमानत कल कर देगा। कल न्यायालय में मुझे जाना है।'

ये विचाराधीन बंदी है। अपनी सफेद कमीज में रहते हैं और पाजामा भी इनका घर का ही है। दाँढ़ी-मूँछ के बाल बुरी तरह बढ़ गये हैं। यहाँ नाई हैं सही; किन्तु विचाराधीन बंदी को उनकी सुविधा प्राप्त नहीं होती। तृतीय श्रेणी का बंदी दाढ़ी बनाने का अपना सामान साथ रख नहीं सकता।

'यह तो साक्षात नरक है! मच्छरों के मारे सब बेचैन हैं। सबके हाथ की चट्पट् गूँज रही है। बैरेक में ही एक कोने पर इन साठ बँदियों के मल-मूत्र त्याग का स्थान है। उसकी दुर्गन्धि भरी है सब कहीं। जो थोड़े गिने-चुने चबूतरे खिड़कियों के पास हैं- उन पर नम्बरदार के कृपापात्र या सशक्त लोग हैं। शेष इस दमघोटू वातावरण में घुट रहे हैं। पसीना, मच्छर, दुर्गन्धि- ठीक तो कहते हैं वे कि यह नरक है।

'मुझे निरपराध फँसाया गया हैं!' सच-झूठ की राम जाने। यहाँ या तो लोग डींग हाँकते हैं या अपने को निर्दोष बतलाते हैं; किन्तु इनके-जैसा सीधा, चार बजे सुबह से ही भजन में लगने वाला- कुछ भी हो, ये कल यहाँ से मुक्त हो जायँ तो उत्तम।

'सब लोग अपने-अपने चबूतरे पर जाओ।' नम्बरदार ने डंडा उठाया। अब तक लोग दो-दो चार-चार एकत्र बैठकर बातचीत कर रहे थे। थोड़ी देर उपेक्षा चली; किन्तु नम्बरदार को कब तक टाला जा सकता है। वह घूम-घूमकर पुकार रहा है- 'बातचीत एकदम बंद! सब सो जाओ।'

बातचीत बन्द हो जायगी; किन्तु यह गरमी, ये मच्छर, बत्ती के कारण उड़ते ये कीड़े-पतंगे और यह दुर्गन्धि-निद्रा क्या अपने वश में है?

× × ×

'मेरी जमानत नहीं हुई।' वही वातावरण, वही सायंकाल के बाद का समय, वही बैरेक। दूसरे दिन वे बहुत दुखी थे। न्यायालय से लौटकर आये तब से लगता था कि जैसे टूट चुके हैं। 'भाई ने सीधे देखा तक नहीं। वह मुख चुराकर चला गया।' आँसू गिर रहे थे नेत्रों से।

'संसार में किसी से भी आशा करना दुःख ही देता है!' बैरेक में एक पण्डित जी हैं। सब उन्हें इसी नाम से पुकारते हैं। वे कारागार क्यों आये, पता नहीं; किन्तु बड़े सज्जन और अद्‌भुत शान्त पुरुष। वे आ गये हैं इन्हें दुखी देखकर। समीप बैठ गये हैं और सान्त्वना देने लगे हैं।

'सब स्वार्थ के साथी हैं। विपत्ति में कोई साथ देने वाला नहीं!' दुःख सान्त्वना पाकर पहले उबलता तो है ही।

'संसार के लोगों से आशा करना अनुचित है। यह आशा ही दुःख की जड़ है।' पण्डित जी ने स्नेह भरे स्वर में कहा– 'किन्तु दुःखी और निराश होने की तो कोई बात नहीं है। एक है, जिस पर पूरा भरोसा किया जा सकता है। जिससे लगी आशा को वह कभी विफल नहीं करता। कोई दुखी उसी की ओर देखे तो वह सहायता न करे ऐसा कभी नहीं हुआ।'

'कोई नहीं है। मेरा कोई परिचित, कोई सम्बन्धी ऐसा नहीं जो अब मेरी सहायता करे।' उनकी घिग्घी बँध गयी।

'अच्छा है! संसार में जिसका सहायक कोई नहीं है, श्यामसुन्दर उसका अपना है।' पण्डितजी की वाणी गम्भीर हुई– 'संसार से आशा अनुचित है और उस दयामय से आशा– उचित आशा एकमात्र यही है। आपने देख लिया कि लोगों से आशा करके क्या होता है। अब उसे पुकारकर देखिये!'

'वह सुनेगा मेरी?' संदेह के स्वर उठे– 'आप स्वयं भी तो इसी घिनौने कारागार में है।'

'मुझे यह अच्छा लगता है। उसने मेरे लिए कोई मंगल देखा होगा इस जीवन में!' पण्डितजी बोले– 'सब खटपट से छट गया। एकान्त है यहाँ। भजन-चिन्तन ठीक बनता है। उसे जो अच्छा लगे– मैं उसमें कोई भी कष्ट देखता नहीं अपने लिये; किन्तु आप दुखी हैं, आर्त हैं। उसे पुकारिये। आर्त की सच्ची पुकार उस दयाधाम के यहाँ से कभी विफल नहीं लौटी।'

पण्डितजी जाकर सो गये अपने आसन पर; किन्तु वे सज्जन पूरी रात बैठे रहे। उनकी हिचकी और आँसू रुकने का नाम नहीं लेते थे।

घटना लगभग यहीं समाप्त हो जाती है। केवल इतना और बता देना है कि दूसरे दिन पण्डित जी दोपहर से पहले ही कारागार से बाहर हो गये। न्यायालय ने उसी दिन उन्हें दोषमुक्त घोषित कर दिया और दौड़-धूपकर पण्डितजी ने उन सज्जन को भी स्वयं जमानत देकर संध्या से पूर्व ही कारागार से बाहर कर लिया।

❑❑

कोप या कृपा

'मातः!' बड़ा करुण स्वर था हिमभैरव का। यह उज्ज्वल वर्ण, स्वभाव से स्थिर-प्रशान्त, यदा-कदा ही क्रुद्ध होने वाला रुद्रगण बहुत कब बोलता है। बहुत कम अन्य गणों के सम्पर्क में आता है। उग्रता की अपेक्षा सौम्यता ही इसमें अधिक है। साम्बशिव की एकान्त सेवा और स्थिर आसन; किन्तु जब इसे क्रोध आता है- अन्ततः भैरव ही है, पूरा प्रलय उपस्थित कर देगा। किन्तु आज यह बहुत ही व्यथित जान पड़ता है।

'तुम इतने कातर क्यों हो वत्स?' जगदम्बा शैलसुता-ने अनुकम्पापूर्वक देखा।

'ऋषि कुमार वर्चा ने शाप दे दिया मुझे।' रोते हुए हिचकी बँध गयी हिमभैरव की- 'यक्षराज के सरोवर में स्नान करके वे लौट रहे थे। सुकोमल हिम में चरणापात उन्होंने अपनी असावधानी से किया; किन्तु जब गिरे, रोष उन्हें मुझ पर आया। उन्हें कोई आघात नहीं लगा। केवल जटाओं एवं बल्कल में हिमकण भर गये थोड़े से और वे कहते हैं कि 'हिमभैरव अब ऋषिकुमारों से परिहास-का प्रमाद करता है। उसे भगवान् शंकर के श्रीचरणों में रहने का अधिकार नहीं। वह मनुष्य जन्म ले!' आपके इन चरणों से पृथक् यह किंकर.....।'

'डरो मत पुत्र!' अत्यन्त कातर, अपने चरणों को अश्रुधारा से धोते गण को वात्सल्य की उन अधिदेवता ने अपने श्रीकरों से उठाया- 'ऋषिकुमार की वाणी को अन्यथा नहीं किया जा सकता; किन्तु उन्होंने मनुष्य-जन्म लेने का ही तो शाप दिया है। मर्त्यलोक में निवास की अवधि तो निश्चित की नहीं है। तुम जन्म लो और फिर अविलम्ब वह देह त्यागकर मेरे समीप आ जाओ!'

'मैं भुवनेश्वरी को अम्बा कहता हूँ और अब कोई सामान्य मानवी मेरी जननी बनेगी!' हिमभैरव का रुदन रुका नहीं- 'अपवित्र मर्त्यधरा मेरी जन्मभूमि और यम के दूत- रोग मुझे पराभव देंगे- मेरी मृत्यु के हेतु बनेंगे!'

'वह सब तुमसे किसने कहा?' माता पार्वती ने पुचकारा स्नेहपूर्वक- 'मेरी प्रिय सखी बलया- नन्दीश्वर के शाप से वह मर्त्यनारी बनी। उसका निर्वासन मुझे व्यथित करता है। तुम उसकी गोद में जा सकते हो। उसे भी तो तुम अम्बा ही कहते थे। तुम्हारा जन्म मेरे इस दिव्य प्रदेश में होगा और मुझे बलया को भी तो मुक्त करना है। मुक्त हो

जायँगे उसके सम्पर्क में आने वाले अन्य बहुत-से परिपूत प्राणी। तुम्हारा यह हिम तुम सबको शरीर-बन्धन से मुक्त करेगा !'

'अनुकम्पा माता की !' हिमभैरव ने नेत्र पोंछ लिये। जगदम्बा के ज्योतिर्मय श्रीचरणों पर उसने मस्तक रक्खा- 'अल्पतम अवधि वियोग की बने इस शिशु के लिये !'

× × ×

'नाथ ! जबसे सावधान हुई, सचेत हुई, बड़ी नन्दा की जत किसी वर्ष चुकाया नहीं मैंने। भगवती नन्दा (पार्वती) हम पर्वतीय जनों की परमाराध्या हैं !' महारानी बलया ने एकान्त में बड़े ही अनुरोध भरे स्वर में प्रार्थना की- 'यात्रा का समय समीप आ रहा है। महाराज अनुग्रह करें !' मैं आपको साथ चलने का आग्रह नहीं करती; किन्तु अनुमति प्राप्त हो इस सेविका को !'

'कठिन यात्रा है और इस समय तुम सरल यात्रा के योग्य भी नहीं हो !' कन्याकुब्जेश्वर महाराज यशधवल का मुख गम्भीर हो गया। दो क्षण वे कुछ सोचते रहे- किन्तु इस अवस्था में तुम्हारी किसी आकांक्षा को भग्न करना भी ठीक नहीं है। यात्रा का संकल्प पवित्र है। मैं साथ चलूँगा और सब सुविधा रहेगी; किन्तु एक अनुरोध मेरा भी मानना होगा तुम्हें। यात्रा की किसी भी सीमा से तुम पदयात्रा करने का आग्रह नहीं करोगी !'

'नहीं करूँगी देव !' महारानी ने स्वीकार किया ! महाराज यशधवल को बड़ा प्रेम है अपनी इस पर्वतीय महारानी से और अब तो महारानी अन्तर्वत्नी हैं। राज्य के प्रमुख ज्योतिषियों ने बताया है कि महारानी की कुक्षि में कुमार है। महाराज का और आदर बढ़ गया है महारानी बलया के लिये।

यात्रा का आदेश मिला सैनिकों को और साथ में चिकित्सक, परिचारक आदि सबकी व्यवस्था हुई। यात्रा के उत्सुक श्रद्धालुजनों तथा साधुओं को भी महाराज यशधवल ने साथ ले लिया। उनके आहार-विश्राम की व्यवस्था भी राजा ने की।

आज के समान तीर्थयात्रा सुगम नहीं थी। वैसे 'बड़ी नन्दा की जत' आज भी गढ़वाल में कठिन यात्राओं में है और यह घटना तो आज से लगभग 6 शती पूर्व की है। मार्ग में शिविर पड़ते, कथा-कीर्तन, साधु-ब्राह्मणों का सत्कार और मार्ग के तीर्थों पर स्नान-दान करते यह तीर्थयात्री समूह जा रहा था। कई मास मार्ग में लगेंगे, यह स्वाभाविक तथा पहले से जानी-समझी बात थी।

महाराज यशधवल जब 'गंगतोली' पहुँचे, महारानी बलया को प्रसव-वेदना प्रारम्भ हुई। सैनिकों, बहुत-से सेवकों तथा साथ के तीर्थयात्रियों को महाराज ने आगे चलने का आदेश दिया और स्वयं महारानी के साथ रुक गये। चिकित्सक, परिचारक

आदि थोड़े से व्यक्ति गंगतोली में रुके। आगे जाने वाले दल ने जिबरागिली ढाल पर पड़ाव डाला था उस समय जब गंगतोली में महारानी बलया की गोद में एक उज्ज्वल-हिमवर्ण पुत्र आया।

× × ×

'मातः !' भगवती उमा के सम्मुख आज उपस्थित थे भगवान् रुद्र के गण प्रमुख जिनके ऊपर हिमालय के पुष्प-स्थलों की पवित्रता को अक्षुण्ण रखने का दायित्व है। उन्होंने प्रार्थना की- 'राजा यशधवल ने नन्दाक्षेत्र की पवित्रता भङ्ग की है। उस क्षेत्र में उसकी रानी के पुत्र होने से क्षेत्र अशुचि हुआ है। रानी बलया आपकी अनुग्रह-भाजना हैं और उनका नवजात पुत्र तो आपका किंकर हिमभैरव.... हम श्रीचरणों की आज्ञा के बिना कोई दण्ड-विधान करने का साहस अपने में नहीं पाते।'

'बलया मेरे सांनिध्य से बहुत काल निर्वासित रह चुकी और हिमभैरव तो प्रार्थना कर गया है कि उसके मर्त्यशरीर की आयु अल्पतम होनी चाहिये।' भगवती ने कृपा-पूर्वक आज्ञा दी- 'इन दोनों के जो भी सहचर हैं, उन्हें भी अब कैलास आ जाने दो! किन्तु केवल हिमपात का ही विधान करना है तुम्हे। आधि-व्याधि या अन्य कोई दण्ड किसी को नहीं मिलेगा! किसी को कोई कष्ट अथवा आतङ्क प्राप्त नहीं चाहिये।'

'भगवती की जैसी आज्ञा!' गणप्रमुखों ने अञ्जलि बाँधकर मस्तक झुकाया।

दो क्षण पश्चात् सहसा अतर्कित हिमपात प्रारम्भ हुआ 'जिबरागिली ढाल' के प्रदेश में। इतना भयानक हिमपात कि किसी को उसे ठीक देखने का समय भी नहीं मिला। उस ढाल के ठीक नीचे 'रूपकुण्ड' है। जो लोग भी ढाल पर थे, उनके शरीर हिम में जम गये और पीछे लुढ़ककर हिम के साथ रूपकुण्ड में पहुँच गये।

ठीक उसी समय 'गंगतोली' पर बड़े जोर से ओले पड़ रहे थे। इन ओलों की वर्षा में महाराज यशधवल अपनी पत्नी, नवजात पुत्र तथा सेवक-परिचारकों के साथ निर्वाण प्राप्त हो गये।*

❑❑

---

*चमोली जिले में मोटर बस के अड्डे 'ग्वालडाम' से 41 मील दूर 'रूपकुण्ड' है। यह समुद्र की सतह से 16000 फीट ऊँचाई पर है और इसके चारों ओर खड़ी दीवार के समान पर्वत 80 से 250 फीट ऊँचे हैं। इसके ठीक ऊपर 'जिबरागिली ढाल' है। इससे 10 मील दूर 'होमकुण्ड' है। इस रूपकुण्ड से बहुत-से अस्थि-पञ्जर गत दो वर्ष पूर्व मिले थे। साथ ही कुण्ड से तलवारें, ढाल, सैनिक वस्त्र, भाले, कमण्डलु मालाएँ आदि भी मिली थीं। पुरातत्व-वेत्ताओं ने इन अस्थि-पञ्जरों को छः सौ वर्ष

पुराना बताया है। यद्यपि 'ये अस्थिपञ्जर किनके हैं'– इस सम्बन्ध में इतिहासज्ञों ने अनेक प्रकार के अनुमान लगाये हैं और उनमें ऐकमत्य नहीं है किन्तु कुमायऊँ प्रदेश में प्रचलित 'जागर' लोकगीतों में जो इस सम्बन्ध में कथा है, उसी का आधार इस कहानी में लिया गया है। हिमालय में अब भी ऐसे दिव्य क्षेत्र हैं– मुझे मिले हैं, जहाँ मल–मूत्र या थूक डालना मना है और कोई यह मर्यादा तोड़े तो वहाँ ओले पड़ने लगते हैं।

–लेखक

कलियुग के अन्त में

(आपने यदि वैज्ञानिक कही जाने वाली कहानियें में से कोई पढ़ी हैं तो देखा होगा कि किस प्रकार दो-चार शती आगे की परिस्थिति का उनमें अनुमान किया जाता है और वह अनुमान अधिकांश निराधार ही होता है। यह कहानी भी उसी प्रकार की एक काल्पनिक अनुमान मात्र प्रस्तुत करती है; किन्तु यह सर्वथा निराधार नहीं है। पुराणों में कलियुग के अन्त समय का जो वर्णन है, वह सत्य है; क्योंकि पुराण सर्वज्ञ भगवान् व्यास की कृति हैं। उनमें भ्रम, प्रमाद सम्भव नहीं है। अत: उन पुराणों के वर्णनां को मुख्याधार बनाकर कल्पना ने कहानी को यह आकार दिया है। अवश्य ही आज के सामान्य स्वीकृत एवं सम्भाव्य वैज्ञानिक तथ्यों को दृष्टि में रक्खा गया है।

यह कलिसंवत् 5064 विक्रम संवत् 2020 में। कलियुग की कुल आयु (पूरा भोगकाल) 432000 वर्ष है। इसलिये यह कहानी लगभग 426900 वर्ष आगे के सम्बन्ध में है और उस समय की स्थिति का एक दृश्य उपस्थित करती है।

इसका प्रयोजन? अनेक बार लोग इस भ्रम में पड़ते हैं कि कल्कि अवतार हो गया या निकट वर्षों में होने वाला है। यह प्रचार भी कुछ लोग करते हैं, किन्हीं भ्रान्तियों के कारण अथवा कुछ निहित स्वार्थों के कारण। ऐसी दशा में यह कहानी इतना तो सूचित कर ही देती है कि शास्त्र-पुराणों के अनुसार कल्कि अवतार जिस समय होगा, उस समय की सामाजिक अवस्था किस स्तर पर पहुँच चुकी होगी और मुख्य घटनाएँ क्या होंगी। उनके प्रमुख पात्र कौन-से होंगे। इस विशेष कहानी के लिये इतना स्पष्टीकरण आशा है, पर्याप्त होगा।'

× × ×

'यह पुरुवंशी प्रतीपात्मज देवापि राजर्षि मरु को अभिवादन करता है!' हिमालय का अत्यन्त दुर्गम दिव्यदेश कलाप ग्राम, जो नित्यसिद्ध योगियों की साधनभूमि है; जो

मनुष्य तो दूर, गन्धर्वादि उपदेवताओं के लिये भी अगम्य एवं अदृश्य हैं, उसी सिद्ध भूमि में आज कुछ हलचल जान पड़ती थी। जहाँ अखण्ड शान्ति, नित्य उद्रिक्त की सत्वगुण सदा रहता है, वहाँ किञ्चित् भी रजस-क्रिया का उद्भव आश्चर्य की बात है। पूरा युग लक्ष-लक्ष वर्ष व्यतीत हो गये, ऐसा तो कभी नहीं हुआ कि प्रयत्न करने पर भी समाधि में चित्त की स्थिति न हो। विवशतः राजर्षि देवापि अपने आसन से उठे। द्वापर का जब अन्त होने वाला था, उससे कुछ ही पूर्व ये भीष्मपितामह के पिता शान्तनु के बड़े भाई यहाँ आये थे। इस साधनभूमि में इनका साधनकाल सबसे थोड़ा रहा था। महर्षियों के समीप जाकर उनके एकान्त में बाधा देना ठीक नहीं लगा, अतएव अपने से कुछ ही शताब्दी पूर्व साधन-दीक्षित होने वाले राजर्षि मरु के समीप वे चले आये। यह सिद्ध भूमि, यहाँ शताब्दियों का मूल्य हमारे आपके घंटो-जितना भी कठिनाई से ही होगा। राजर्षि मरु द्वापर के प्रारम्भ में (त्रेता के व्यतीत होने के कुछ पीछे) आये थे। केवल कुछ लाख वर्ष पहिले- देवापिकों वे अपने सहाध्यायी-जैसे लगते थे और दोनों राजर्षियों में अच्छी मैत्री भी हो गयी थी यहाँ आकर।

'इक्ष्वाकुवंशीय शीघ्रका पुत्र यह मरु राजर्षि देवापि का अभिवादन करके उनका अभिनन्दन करता है।' मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीराम के पुत्र कुश के वंश में अग्निवर्ण के पौत्र हैं ये राजर्षि मरु। ये भी ध्यानस्थ नहीं थे। उठकर देवापि को अंकमाल दी और आसन अर्पित किया उन्होंने।

आज की दृष्टि से असाधारण, अकल्पनीय, दीर्घकाय, प्रलम्बबाहु, कमलदल-विशाल लोचन, उन्नत नासिका, प्रशस्त भाल एवं वक्ष और पाटल गौर वर्ण, अत्यन्त सुन्दर, सुगठित, किञ्चित तपःकृश देह, जटाजूट, बड़े श्मश्रु केश, केवल वल्कल परिधान-दोनों ही स्त्रष्टाकी अनुपम कृति लगते थे। राजर्षि भरुका शरीर देवापि से विशाल था और आयु में भी बड़े थे। देवापि उनका सम्मान अपने अग्रज के समान करते थे; किन्तु राजा मरु सदा देवापि को अपना समकक्ष मित्र ही मानते हैं।

'आज कुछ अकल्पनीय होने वाला लगता है।' देवापि ने कहा- 'अनेक बार प्रयत्न करके भी एकाग्र नहीं हो सका हूँ। जैसे कोई आकर्षण नीचे जनाकीर्ण जगत् की ओर खींच रहा है।'

'आप जानते ही हैं कि हम दोनों स्त्रष्टा के एक संकल्प-विशेष के यन्त्र हैं।' राजर्षि मरु बोले- 'स्वयं मेरी भी आज यही अवस्था है। लगता है कि वह समय आ गया, जब हम दोनों को कार्यक्षेत्र में जाना होगा। भगवान् ब्रह्मा ने मेरे रूप में सूर्यवंश का बीज यहाँ सुरक्षित किया था और आप चन्द्रवंश के मूल पुरुष बनेंगे निकट के सत्ययुग में। सम्भव है, अब इन बीजों के विस्तार का काल आ चुका हो।'

'वत्स! रजस् का लेश भी यहाँ वर्जित है। सहसा दोनों ही राजर्षियों के हृदय में

कोई अलक्ष्य वाणी गूँजी- 'तुम्हारा साधनकाल पूर्ण हो गया। सृष्टिकर्त्ता की इच्छा से तुममें रजस् अंकुरित होने लगा है। अतः अब तुम कर्मभूमि में पधारो।'

'आदेश आ गया!' वहाँ प्रत्यक्ष मिलन कोई महत्त्व नहीं रखता। अदृश्य-दृश्य का भेद नगण्य है। मन का संकल्प परस्पर विचारविनिमय, उपदेशग्रहण एवं आदेशप्राप्ति का सुपरिचित माध्यम है उस सिद्ध स्थली में। दोनों राजर्षियें ने हाथ जोड़कर सिर झुकाया और एक साथ वहाँ से चले।

× × ×

'मनुष्य हैं ये?' राजर्षि मरु एवं देवापि के सम्मुख तो आज के मनुष्यों का आकार ही अत्यल्प है, कलि के अन्त में उन्हें तीन से चार फीट तक के ही मनुष्य सर्वत्र मिलने थे। इनके मध्य रहना सम्भव होगा?'

'हम सीधे महेन्द्राचल पर चलेंगे!' थोड़ी देर भगवती भागीरथी के तट पर हरिद्वार में ध्यानस्थ रहकर दोनों राजर्षि उठे- 'इस आगामी चतुर्युगी के युग-निर्माता एवं शास्त्र-निर्देशक भगवान् परशुराम हैं। उनके पावन-चरणों में प्रणिपात करके हमें आदेश की अपेक्षा करनी है।'

'धन्य हो गया सम्भल ग्राम! पवित्र हो गया विप्र-श्रेष्ठ विष्णुयश का कुल। भगवान् कल्किरूप में अवतीर्ण हुए।' भगवान् परशुराम ने स्वयं गद्गद् स्वर में कहना प्रारम्भ किया! मरु और देवापि की जैसे वे प्रतीक्षा ही कर रहे थे। दोनों ने जब चरणों में मस्तक रक्खा, भार्गव ने एक साथ भुजाओं में भर लिया उन्हें। स्वयं ही चिर-परिचित की भाँति-जैसे पिता पुत्रों से मिले और अपने संवाद दे कहने लगे- 'अभी आज ही वे लोकमहेश्वर यहाँ से गये हैं। किन्तु तुम दुखी मत हो। तुम दोनों तो उनके परम प्रिय हो। वे स्वयं तुम्हारे भवन पधारेंगे!'

'हमारे भवन?' मरु ने चकितभाव से पूछा! भला उनकी तो कहीं झोपड़ी भी नहीं है।

'हाँ, अब तुम गार्हस्थ्य स्वीकार करो।' परशुरामजी वात्सल्य-गद्गद् कह रहे थे- 'मैं तुम्हारे पुत्र-पौत्रों को श्रुति-शास्त्र तथा शस्त्र की शिक्षा दूँगा। ये जटाएँ आज विसर्जित करो और सूर्य-चन्द्र वंशों के राज्य स्थापित करो इस पुण्यभूमि में।'

'वे निखिल गुरु!' भगवान् परशुराम भाव-विह्वल हो रहे थे। वे पुनः कल्कि का वर्णन करने लगे- 'इस जनको उन्होंने गौरव दिया। उन्हें कहाँ अध्ययन करना और सीखना रहता है। श्रुति उनका निःश्वास है। मृत्यु उनके संकल्प की छाया; किन्तु यहाँ वे अत्यन्त विनम्र सेवापरायण बने रहे। उन्होंने समस्त शास्त्र, साङ्गवेद एवं समस्त अस्त्र-शस्त्रों को शिक्षा ग्रहण करने का नाटय किया। गुरु का गौरव दिया इस जन को।'

'वे परम प्रभु किधर....?'

'वे उग्रतेजा-रूप में इस बार प्रकट हुए हैं।' परशुरामजीने प्रश्न का तात्पर्य समझ लिया- 'उन सहस्र सूर्यसमप्रभ का अङ्गवर्ण भी नेत्रों को आंकलन नहीं हो पाता। तुम जानते हो कि इस भार्गव ने भूमि को इक्कीस बार निःक्षत्र किया और नौ शोणितह्रद बनाये कुरुक्षेत्र में। किन्तु आज तुच्छ है वह परशु। भगवान् देवेन्द्र के द्वारा प्रदत्त उच्चैःश्रवा का पीठ पर वायु के वेग से रौंद रहे हैं धरा को। उनके कर की कराल करवाल.... तुम दर्शन करोगे उनके?'

'देव ! दयामय !' आर्तनाद कर उठे दोनों तपस्वी। भगवान् परशुराम के अनुग्रह से प्राप्त दिव्य-दृष्टि से जो कुछ उन्होंने देखा, असह्य था वह उनके लिये। प्रचण्ड वायु के वेग से दौड़ता हरितवर्ण श्यामकर्ण अश्व और उसकी पीठ पर केश बिखेरे, नेत्रों में प्रलय ज्वाला लिये, कोटि-कोटि भास्कर के समान उग्रतेजा, अरुणवर्ण, खड्गहस्त वे परम पुरुष ! पृथ्वी जैसे सम्पूर्ण रक्त के सागर में डूब जायगी ! तिनकों-जैसे उड़ते-उछलते शव। अश्व के खुर रौंद रहे हैं राशि-राशि प्राणियों को। समूह-के-समूह मनुष्य खड्ग से कटते जा रहे हैं। क्रन्दन, शव, रक्त-कोई कुछ समझे, इससे पूर्व तो महामृत्यु बनी तलवार टुकड़े उड़ा जाती है। नगर-ग्राम देश-द्वीप-प्रलंयकर-सा घूमता अश्व और उसके पीछे उमड़ता रक्त का सागर ! असह्य था यह दृश्य !

'अभय वत्स !' आश्वासन दिया भगवान परशुराम ने। युग बीत यगे, उर्वी अन्न-फल उत्पन्न नहीं करती। मनुष्यों ने कृत्रिम उर्वरकों का इतना उपयोग किया कि धरा बंजर बन गयी। समुद्री काई और सेवार को आहार बनाया नरों ने; किन्तु अपने ही आविष्कृत अद्‌भुत स्फोटको से उस सागरीय आहार को भी उन्होंने विषैला बना लिया। गौधूम और शालि आदि कहीं अब मिलेंगे भी तो वे श्याम के समान अणुप्राय रह गये हैं। इस रक्त-कर्दम से धरा को उर्वरा बनने दो। इस समय तो मानव आमिष, फल, पत्र, छाल, काष्ण, तृण आदि के आहार पर जीता है और वह भी विडम्बना-प्राय हैं। वृक्षों में शमी तथा वैसे ही कण्टक-वृक्ष, फलों में झाड़ियों के बदरीफल और आमिष पाता है मानव कृमियों तथा सरीसृपों का। पशु-पक्षियें का वंश, पता नहीं कब उसके उदर में जा चुका।'

'यह हीनसत्व हीनाकार कदर्य मानव....!' मरु ने खिन्न स्वर में कहा, 'अपने मस्तिष्क पर बड़ा गर्व किया इसने; किन्तु अपने गर्व में यह अपने ही आविष्कारों का आखेट हो गया।' खिन्न स्वर ही था भगवान् परशुराम का भी- 'इसने ऐसे विस्फोटक निर्मित किये कि युद्ध करके उनके द्वारा इसी के सब आविष्कार, सब नगर समाप्त हो गये। वन्य प्राणी बन गया यह स्वयं के विनाशक कृत्यों से और दूसरा परिणाम भी क्या होता। ईश्वर की सत्ता तथा धर्म, परलोक आदि को इसने पहिले ही अस्वीकार कर

दिया था। स्थूल भोगों को ही महत्ता देने का परिणाम जो विनाश होता है, अनिवार्य बना वह।'

'और अब यह दीन पशुप्राय मानव...।' देवापि बोल नहीं सके।

'कीटप्राय कहो वत्स!' भार्गव बता रहे थे– 'इसकी परमायु आज बीस या तीस वर्ष है। सामान्यत: तो दस-पंद्रह वर्ष पूर्णायु हो गयी है। इन्द्रिय-भोग मात्र जीवन ओर वे भाग-जो जिसे स्वीकार कर ले जब तक को, वह उसका उतने काल का पति। जैसे भी हत्या-चोरी से पेट भरे, वही जीविका। जो दूसरों को दबाने, छीनने, मारने में समर्थ हो, वह शासक। शूद्र-प्राय दस्युबहुल ये मानव! इनके भार से धरा कलुषित हो गयी है!'

'इनमें हम जों सृजन करेंगे....?' मरु की शंका उचित ही थी। 'कुछ थोड़े संयमी, भावुक भी हैं।' भगवान् ने बताया– 'दस्यु तो भगवान् की तलवार की धारा ने समाप्त किये ही समझो! उन सत्त्वमूर्ति प्रभु के अङ्गराग की पावन गन्ध अब शेष रहे लोगों के चित्त निर्मल कर देगी। अब उनकी संतान शुद्धशील होगी और युग का प्रभाव उसे उचित दीर्घ आकार भी प्रदान करेंगा।'

'श्रीचरण जो आदेश करेंगे' मरु ने विनम्रतापूर्वक कहा– 'इन सेवकों को उसका पालन करना ही है; किन्तु–'

'जीवन की सफलता श्रीहरि के चरणों में भक्ति है और वह तुम्हें प्राप्त है। भगवान् कल्कि स्वयं पधारेंगे तुम्हारे सदन!' परशुरामजी ने आश्वासन देते हुए आदेश दिया– 'जो मानव बचे भी हैं, वे शूद्रप्राय हैं। दीर्घकाल से वर्णाश्रम का सर्वथा लोप हो चुका है। क्रिया-लोप से द्विज भी व्रात्य हो गये और फिर वर्ण संकर हो गया। अत: इनकी संतित शूद्र ही होगी। तुम दोनों क्षत्रियवंश की प्रतिष्ठा करो। तुम्हारी संतानों में आगे कुछ स्वयं वैश्यवर्ण अपना लेंगे। ऋषि भी धरा को धन्य करने कलापग्राम से आ रहे है। ब्राह्मणों का कुल उनके द्वारा स्थापित हो जायगा। मरु के द्वारा सूर्यवंश की परम्परागत राजधानी अयोध्या और चन्द्रवंश का पवित्र-क्षेत्र प्रतिष्ठानपुर अब देवापि के द्वारा पूर्व प्रतिष्ठा को प्राप्त करे।'

'श्रीचरणों की प्रतीक्षा करेंगे हम!' दोनों ने साष्टाङ्ग प्रणिपात किया।

'प्रजापति स्वयं तुम्हारी सहधर्मिणियों का विधान करेंगे।' भगवान् परशुराम ने आशीर्वाद देकर बताया– 'तुम्हारी संतति को शस्त्र एवं शास्त्र की शिक्षा देने मुझे आना ही है!'

❑❑

भाग्य-भोग

'भगवन्! इस जीव का भाग्य-विधान?' कभी-कभी जीवों के कर्मसंस्कार ऐसे जटिल होते हैं कि उनके भाग्य का निर्णय करना चित्रगुप्त के लिये भी कठिन हो जाता है। अब यही एक जीव मर्त्यलोक से आया है। इतने उलझन भरे इसके कर्म हैं- नरक में, स्वर्ग में अथवा किसी योनि विशेष में कहाँ इसे भेजा जाय, समझ में नहीं आता। देह-त्याग के समय की इसकी अन्तिम वासना भी (जो कि आगामी प्रारब्ध की मूल निर्णायिका होती है) कोई सहायता नहीं देती। वह वासना भी केवल देह की स्मृति-देह रखने की इच्छा है। ऐसी अवस्था आने पर चित्रगुप्त के पास एक ही उपाय हैं, वे अपने स्वामी के सम्मुख उपस्थित हों।

धर्मराज ने चित्रगुप्त से उस जीव का कर्मलेख लिया और उसे लगभग बिना पढ़े ही उसके आगामी प्रारब्ध के तीनों कोष्ठ भर दिये। चित्रगुप्त ने देखा जाति के कोष्ठक में लिखा है- मनुष्य-श्वपच, आयु के कोष्ठक में उदारतापूर्वक 102 की संख्या है; किन्तु भोग-भोग का विवरण देखकर चित्रगुप्त को लगा कि आज संयमनीपति विशेष क्रुद्ध हैं।

चित्रगुप्त कभी नहीं समझ सके कि जीव का जो कर्म-विधान उसको इतना जटिल लगता है, धर्मराज कैसे उसका निर्णय बिना एक क्षण सोचे कर देते हैं। यम एक मुख्य भागवताचार्य हैं और भक्ति का-भक्ति के अधिष्ठाता का रहस्य जाने बिना, उसकी कृपाकोर की प्राप्ति के बिना कर्म का- धर्माधर्म का ठीक-ठीक रहस्य-ज्ञान नहीं होता, यह बात चित्रगुप्त जी नहीं समझेंगे। वे तो कर्म के तत्वज्ञ हैं और कर्माकर्म की कसौटी पर ही सब कुछ परखना जानते हैं; किन्तु जब उनकी कसौटी उलझन में डाल देती है- यमराज कर्म के परम निर्णायक हैं। उनके निर्णय की कहीं अपील नहीं है, अतः वे बिना हिचके निर्णय कर देते हैं। यह चित्रगुप्त जी के चित्त का समाधान है; किन्तु धर्म के निर्णायक को आवेश में तो निर्णय नहीं करना चाहिये।

'यह अभागा जीव!' यमपुरी के विधायक, यमराज के मुख्य सचिव चित्रगुप्त-

उन्हें किसी जीव को नरक का आदेश सुनाते किसी ने हिचकते नहीं देखा और आज वे क्षुब्ध हो रहे थे– 'कैसे सहन कर सकेगा यह इतने दारुण दुःख? इतना दुःखदायी विधान एक असहाय प्राणी के लिये!

'संयमनी के मुख्य सचिव प्राणी के सुख-दुःख के दाता कब से हो गये?' चित्रगुप्त चौंक उठे। उन्होंने अपनी चिन्ता में देखा ही नहीं था कि देवर्षि नारद उनके सामने आ खड़े हुए हैं। उन्होंने प्रणिपात किया देवर्षि को?

'धर्मराज को स्रष्टा ने केवल जाति आयु और भोग के निर्णय का अधिकार दिया है।' देवर्षि ने अपना प्रश्न दुहराया– 'स्थूल शरीर तक ही कर्म अपना प्रभाव प्रकट कर सकते हैं, किन्तु देखता हूँ; धर्मराज के महामन्त्री अब जीव के सुख-दुःख की सीमा के स्पर्श की स्पर्धा भी करने लगे हैं।'

'ऐसी धृष्टता चित्त में न आवे, आप ऐसे अनुग्रह करें।' चित्रगुप्त ने दोनों हाथ जोड़े– 'किन्तु इतना दारुण भोग प्राप्त करके भी जीव दुखी न हो, क्या सम्भव है?'

'असम्भव तो नहीं है। शरीर की व्यथा प्राणी को दुखी ही करे– आवश्यक नहीं है।' देवर्षि ने चित्रगुप्त जी के सम्मुख पड़ा कर्म-विधान सहज उठा लिया।

'स्वयं धर्मराज ने यह विधान किया है।' चित्रगुप्त डरे। परम दयालु देवर्षि का क्या ठिकाना, कहीं इतना कठोर विधान देखकर वे रुष्ट हो जायँ– उनके शाप को स्वयं स्रष्टा भी व्यर्थ करने में समर्थ नहीं होंगे।

'कुब्ज, कुरूप, बधिर, मूक, शैशव से अनाथ, अनाश्रय, उपेक्षित, उत्पीड़ित, मान-भोग-वर्जित, नित्य देहपीड़ा-ग्रस्त मरुस्थल-निर्वासित.....।' देवर्षि के साथ डरते-डरते चित्रगुप्त भी उस जीव के भोग के कोष्ठक में भरे गये विधान को पुनः पढ़ते जा रहे थे मन-ही-मन। कहीं तो उसमें कुछ सुख-सुविधा मिलने का कोई संयोग सूचित किया गया होता।

'अतिशय दयालु हैं धर्मराज।' चित्रगुप्त की आशा के सर्वथा विपरीत देवर्षि के मुख से उल्लास व्यक्त हुआ– 'इस प्राणी को एक साथ स्वच्छ कर देने की व्यवस्था कर दी उन्होंने। विपत्ति तो वरदान है श्रीनारायण का।'

अब भला इन ब्रह्मपुत्र से कोई क्या कहे और इन्हें ही इतना अवसर कहाँ कि किसी की बात सुनने को रुके रहें। चित्रगुप्त के कर्म-विधान का पोथा पटका उन्होंने और उनकी वीणा की झंकार दूर होती चली गयी।

× × ×

महाराजा की सवारी निकली थी नगर-दर्शन करने। यह भी कोई बात है कि उनके

सामने राजपथ पर कोई कुबड़ा, गूँगा, काला, कुरूप चाण्डाल बालक आ जाय। राजसेवकों ने उसे पीट-पीटकर अधमरा कर दिया और घसीटकर मरे कुत्ते के समान दूर फेंक दिया।

'कौन था यह?' महाराज ने पूछा।

'एक श्वपचा का पुत्र!' मन्त्री ने उत्तर दे दिया।

'इसके अभिभावक इसे पथ से दूर क्यों नहीं रखते?' महाराजा का क्रोध शान्त नहीं हुआ था।

'इसका कोई अभिभावक नहीं।' कुछ देर लगी पता लगाने में और तब मन्त्री ने प्रार्थना की- 'माता-पिता इसके तब मर गये, जब वह बहुत छोटा था, अब तो यह इसी प्रकार भटकता रहता है।'

'नगर का अभिशाप है यह!' महाराजा को कौन कहे कि गर्व के शिखर से नीचे आकर आप देखें तो वह भी आपके समान ही सृष्टिकर्ता की कृति है; किन्तु धन, अधिकार का मद मनुष्य की विवेक-दृष्टि नष्ट कर देता है। महाराज ने आदेश दे दिया- 'इसे दूर मरुस्थल में निर्वासित कर दिया जाय। राजधानी में इतनी कुरुपता नहीं रहनी चाहिये।'

छोटा-सा अबोध बालक। वैसे ही वह दर-दर की ठोकरे खाता फिरता था। कूड़े के ढ़ेर पर से छिलके उठाकर उदर की ज्वाला शान्त करता था। लोग दुत्कारते थे। बच्चे पत्थर मारते थे। वृक्ष के नीचे भी रात्रि व्यतीत करने का स्थान कठिनता से पाता था और अब उसे नगर से भी निर्वासित कर दिया गया। हाथ-पैर बाँधकर ऊँट पर लादकर एक राजसेवक श्वपच उसे मरुभूमि में ले गया और वहाँ उसके हाथ-पैर उसने खोल दिये।

अंग में लगे घाव पीड़ा करते थे। मरुस्थल की रेत तपती थी और ऊपर से सूर्य अग्नि की वर्षा करते थे। आँधियाँ मरुभूमि में न आयेंगी तो आयेंगी कहाँ; लेकिन मृत्यु उस बालक के समीप नहीं आ सकती थी। उसके भाग्य ने उसे जो दीर्घायु दी थी- कितनी बड़ी विडम्बना थी उसकी वह दीर्घायु।

जब प्यास से वह मूर्छित होने के समीप होता, कहीं-न-कहीं रेत में दबा मतीरा उसे मिल जाता। खेजड़ी की छाया उसे मध्याह्न में झुलझ जाने से बचा देती थी। मतीरा ही उसकी क्षुधा भी शान्त करता था। वैसे उसे मरुस्थल के मध्य में एक छोटा जलाशय मिल गया बहुत शीघ्र और वहाँ कुछ खजूर के वृक्ष भी मिल गये, किन्तु खजूर बारहमासी फल तो नहीं है।

इस भाग्यहीन बालक का स्वभाव विपत्तियों को भोगते-भोगते विचित्र हो गया था। बचपन में तो वह रोता भी था; किन्तु अब तो जब कष्ट बढ़ता था तो वह उलटे हँसता था- प्रसन्न होता था। अनेक बार उसे मरुस्थल के डाकू मिले और उन्होंने जी

भरकर पीटा। वह उस पीड़ा में खूब हँसा- मानो उसे पीड़ा में सुख लेने का स्वभाव मिल गया हो।

वह क्या सोचता होगा? वह जन्म से मूक और बधिर था। शब्द ज्ञान उसे था नहीं। अतः वह कैसे सोचता होगा, यह मैं नहीं समझ पाता हूँ। लेकिन वह कुछ काम करता था। दिन निकलता देखता तो सूर्य के सम्मुख पृथ्वी पर बार-बार सिर पटकता। आँधी आती तो उसे भी इसी प्रकार प्रणाम करता और कभी आकाश में कोई मेघखण्ड आ जाय तो उसे भी। खेजड़ी के वृक्ष को, जलाशय को और यदि कभी कोई दस्युदल आ जाय तो उन लोगों को तथा उनके ऊँटों को भी वह इसी प्रकार प्रणिपात किया करता था।

दूसरा काम वह प्रायः प्रतिदिन यह करता कि खेजड़ी की एक डाल तोड़ लेता और विभिन्न दिशाओं में दूर-दूर तक एक निश्चित दूरी पर उसके पत्ते टहनियाँ तब तक डालता जाता- जब तक मध्याह्न की धूप उसे छाया में बैठ जाने को विवश न कर देती। अनेक बार उसके डाले इन पत्तों के सहारे मरुस्थल में भटके यात्री एवं दस्यु उसके जलाशय तक पहुँचे थे। अनेक बार उन दस्युओं ने उसे पीटा था। बहुत कम बार किसी यात्री ने उसे रोटी का टुकड़ा खाने को दिया। लेकिन उसने खेजड़ी के पत्ते डालने-का काम केवल तब तक बंद रक्खा, जब वह ज्वर से तपता पड़ा रहता था।

मरुस्थल में एकाकी, दिगम्बर, असहायप्राय भूख-प्यास से संतप्त रहते वर्ष - पर-वर्ष बीतते गये उसके। बहुत बीमार पड़ा और बार-बार पड़ा; किन्तु मरना नहीं था, इसलिये जीवित रहा। बालक से युवा हुआ और इसी प्रकार वृद्ध हो गया। उसकी देह में हड्डियों और चमड़े के अतिरिक्त और था भी क्या। अनेक बार यात्री उसे प्रेत समझकर डरे थे।

दुर्भाग्य ही तो मिला था उसे। एक अकाल का वर्ष आया और वह नन्हा जलाशय सूख गया जो वर्षों से उसका आश्रम रहा था। खेजड़ी में पत्तों के स्थान पर काँटें रहे गये। उसे वह स्थान छोड़कर मरुस्थल में भटकना पड़ा।

अंधड़ से रेत नेत्रों में भर गयी। प्यास के मारे कण्ठ सूख गया। गले में काँटे पड़ गये और अन्ततः वह मूर्छित होकर गिर पड़ा।

सहसा आकाश में उत्तङ्क मेघ प्रकट हुए जो केवल राजस्थान की मरुभूमि में कभी-कभी-कुछ शताब्दियों के अन्तर से प्रकट होते हैं। बड़ी-बड़ी बूँदों की बौछार ने उसके संतप्त शरीर को शीतल किया। उसने नेत्र खोलने की चेष्टा की; किन्तु उनमें रेत भर गयी थी। देह में भयंकर ताप था। वह जीवन में पहली बार वेदना से चीखा- मूक की अस्पष्ट चीत्कार उसके कण्ठ से निकली।

उत्तङ्क मेघ उसके लिये तो नहीं आये थे। मरु की राशि में शतियों से समाधिस्थ महर्षि उत्तङ्क उठे थे समाधि से। उनकी तृषा शान्त करने के लिये मेघ आते हैं। महर्षि ने

अपने समीप से आयी वह चीत्कार ध्वनि सुनी और आगे बढ़ आये।

कृष्णवर्ण, कुब्ज, श्वेत केश, कंकालमात्र एक मानवाकार प्राणी रेत में पड़ा था। अब भी वह अपने नेत्रों से रेत ही निकालने के प्रयत्न में था। महर्षि की दृष्टि पड़ी। वे सर्वज्ञ–उन्हें कहाँ सूचित करना था कि उनके सम्मुख पड़ा प्राणी बोलने और सुनने में असमर्थ है। लेकिन महर्षि का संकल्प तो वाणी की अपेक्षा नहीं करता। उनकी अमृतदृष्टि पड़ी उस सम्मुख के प्राणी पर और फिर वे अपनी साधना–भूमि की ओर मुड़ गये।

× × ×

कुछ मास (क्योंकि देवताओं का दिन मनुष्यों के छः महीने के बराबर होता है और उतनी ही बड़ी होती है उनकी रात्रि) व्यतीत हुए होंगे, चित्रगुप्त जी के और एक दिन पुनः देवर्षि नारद संयमनी पधारे।

'आपके उस अतिशय भाग्यहीन जीव की अब क्या स्थिति है?' धर्मराज का सत्कार स्वीकार करके जाते समय देवर्षि ने सहसा चित्रगुप्त से पूछ लिया– 'जीवन में भाग्य का भोग उनको कितना दुखी कर सका, यह विवरण तो आपके समीप होगा नहीं।'

'आपका अनुग्रह जिसे अभय दे दे, कर्म के फल उसे कैसे उत्पीड़ित कर सकते हैं?' चित्रगुप्त ने नम्रतापूर्वक बताया– 'वे महाभाग देह की पीड़ा, अभाव, असम्मान से प्रायः अलिप्त रहे।'

'अनुग्रह तो उन पर किया था धर्मराज ने।' देवर्षि ने सहज भाव से बतलाया– 'भोग–विवर्जित करके संयमनी के स्वामी ने उन्हें अनेक दोषों से सुरक्षित कर दिया था। आपत्तियों ने उन्हें निष्काम बनाया। विपत्ति का वरदान पाये बिना प्राणी का परित्राण कदाचित् ही हो पाता है।'

'महर्षि उत्तङ्क के अनुग्रह से उनके निष्कलुष वासना–रहित चित्त को आलोकित कर दिया।' चित्रगुप्त जी ने बताया– 'अब हमारे विवरण में केवल इतना ही है कि उनका परम पवित्र देह धरा देवी ने अपनी मरुराशि में सुरक्षित कर लिया है।'

जिसके सम्बन्ध में श्रुति कहती है–

'न तस्य प्राणाश्चोत्क्रामन्ति तत्रैव प्रविलीयन्ते।'

उस मुक्तात्मा के सम्बन्ध में इससे अधिक विवरण चित्रगुप्त जी के समीप हो भी कैसे सकता हैं?

❑❑

बद्ध कौन ?
'बद्धो हि को यो विषयानुरागी'

अकेला साधु, शरीर पर केवल कौपीन और हाथ में एक तूंबीका जलपात्र। गौर वर्ण, उन्नत भाल, अवस्था तरुणाईको पार करके वार्धक्य की देहलीपर खड़ी। जटा बढ़ायी नहीं गयी, बनायी नहीं गयी; किंतु बन गयी है। कुछ श्वेत-कृष्ण-कपिश वर्ण मिले-जुले केश उलझ गये हैं परस्पर।

धूलि से भरे चरण, कहीं दूर से चलते आने की श्रान्ति। मुख की घनी दाढ़ी पर भी कुछ धूलि के कण हैं। ललाट पर बड़ी-बड़ी स्वेदकी बू दें झलमला आयी है। मध्याह्न होने को आया, साधु को अब विश्राम करना चाहिये।

'यह क्या है? ये लोग इस प्रकार क्यों भागे जा रहे हैं? इतनी आकुलता क्यों है? साधु को दूसरों की उलझन में नहीं पड़ना चाहिये; किंतु दूसरों की विपत्ति उनके नवनीत-कोमल हृदय को द्रवित कर देती है इसमें उनका दोष? विपत्ति ही तो - विपत्ति के बिना क्या पूरा गाँव इस प्रकार अस्तव्यस्त भागता है?

साधु ने ग्राम के पास वट-वृक्ष के नीचे बने चबूतरे पर कुछ देर विश्राम किया। कोई नहीं आया उनके समीप। गाँव बड़ा है, सम्पन्न दीखता है। ग्राम के अधिपति की ऊँची कोठी भी है वहाँ; किंतु गाँव में तो कोई हलचल है। घोड़े, छकड़े लादे जा रहे हैं। पशु इकट्ठे किये जा रहे हैं। ये लोग तो घरों का पूरा सामान गाड़ियों पर लाद रहे हैं। बड़ी शीघ्रता में है सब-के-सब।

'क्या बात है भाई! आप सब बहुत घबराये-से लगते है?' साधु ने स्वयं एक व्यक्ति के पास जाकर पूछा।

'महाराज, क्षमर करें।' श्रद्धापूर्वक उसने चरणस्पर्श किया -'हम ऐसी विपत्ति में है कि कोई सेवा करने में इस समय समर्थ नहीं।'

'विपत्ति क्या है? यदि बताने में कोई हानि न हो...'

'पिण्डारे आ रहे हैं।' उस व्यक्ति ने बताया –'प्रसिद्ध क्रूर पिण्डारा भीमपाल अपना पूरा दल लिये बढ़ा आ रहा है। कई सौ घुड़सवार है उसके साथ! वह असुर है प्रभु! आप भी यहाँ से कहीं दूर चले जायँ तो अच्छा। उन लोगों में किसी के लिये श्रद्धा नहीं। वे साधु की भी हत्या करके प्रसन्न होने वाले पिशाच हैं। वे लूटकर हीं संतुष्ट नहीं होते, घरों को जलाकर और गिराकर तथा जो मिले उसी को क्रूरतम रीतियों से पीट-पीटकर मारने में विनोद मानते हैं।'

'विश्वनाथ के चरणाश्रित मनुष्यों की उदारता और दया पर निर्भर नहीं किया करते।' साधु ने एक बार आकाश की ओर नेत्र उठाये–'भय उन मृत्युश्रञ्जय के स्मरण से भीत रहा करता है; किंतु इस समय मुझे तुम्हारे यहाँ के गढ़पति से मिलना है। तुम इतना कर सकोंगे?'

'आप गढ़पति से मिलेंगे?' ग्रामीण चौंका। 'पिण्डारों के लिये कोई वेश बना लेना कठिन नहीं है। क्या पता.....।'

'साधु पर शंका पाप होती है!' साधु ने कहा– 'जब शंकर का एक सेवक यहाँ आ ही गया है, तुम लोगों को विपत्ति में इसी प्रकार छोड़कर चला जाय, यह उसके स्वामी का अपमान है। कौन जाने आशुतोष इस बार भीमपाल पर ही अनुग्रह करने वाले हों। तुम्हारी विपत्ति का कुछ-न-कुछ उपाय तो करना ही होगा।'

'आप मेरे साथ पधारें!' ग्रामीण की श्रद्धा उसकी शंका से प्रबल सिद्ध हुई। फिर उसने सुन रक्खा है कि पिण्डारा भीमपाल नृशंस है; किंतु शूर है। वह छलका आश्रय प्रायः नहीं लिया करता। गढ़पति से साधु को मिला देने मात्र से कोई बड़ी हानि सम्भव नहीं। एकाकी शस्त्रहीन साधु का वह कर भी क्या सकता है।

× × ×

आप को ठीक पता है पिण्डारे आ रहे है?'' साधु ने गढ़पति को इधर उधर की बातें करने का अवकाश नहीं दिया।

'तीन दिन पहले हमारा एक तरुण उनके आक्रमण में घिर गया था।' गढ़पति ने भी मूल बात चलायी –'वह किसी प्रकार भाग आया। उस ग्राम को उन लोगों ने ध्वस्त कर दिया। वहाँ अब खंडहर और कहीं-कहीं उठता धुआँ होगा। कितने लोग मरे, पता नहीं।'

'आप अपने आश्रितों रक्षा नहीं करेंगे?' साधु ने उलाहना नहीं दिया। उनका स्वर सामान्य था।

'वही करने का प्रयत्न कर रहा हूँ।' खेदभरे स्वर में गढ़पति कह रहे थे-'क्षत्रिय हूँ। मृत्यु से डरता नहीं। किंतु अपने सैनिकों के साथ मरकर भी रक्षा की कोई आशा नहीं। ये मुट्ठी भर वीर उन शतशः दुर्दान्त दस्युयों के पद रोक नहीं सकते। अतः हम ग्राम खाली कर रहे हैं। घरों का मोह छोड़ना पड़ेगा। शेष सब चल सम्पत्ति हम ले जायेंगे और खेत अभी तो खाली पड़े हैं।'

'निकल जा सकेंगे आप ?' साधु का प्रश्न जितना सीधा था, उत्तर उतना कठिन था।

'कम आशा है। उनके अश्व वन्यपथ के अभ्यस्त हैं। कोई वन का मार्ग उन्हें अज्ञात नहीं। बड़ी निराशा थी गढ़पति के स्वर में -'वे ग्राम को खाली पाकर क्रुध होंगे। इस प्रदेश में जनपद दूर-दूर हैं। वे थके, भूखे आयेंगे। उनके घोड़ों को खली-दाना आवश्यक होगा। लंबी यात्रा के बिना आगे भी आशा नहीं। निश्चय वे हमें ढूँढ़गे। पर दूसरा कोई उपाय नहीं। वे प्रातः यहाँ पहुँचेंगे। तब तक हम जितनी दूर जा सकें।'

'इतनी दूर जाने की आवश्यकता नहीं है।' साधु ने आश्वासन दिया - 'मैं तुम्हें रोकता नहीं हूँ। रुक जाओ तो यहाँ भी विश्वानाथ सबकी रक्षा कर लेंगे। भरोसा न हो तो, कहीं इतने पास रुको सबके साथ कि जब पिण्डारे लौट जायें, तुम लोग आकर अपने घर सँभाल सको।'

'आप उनके स्वभाव से अपरिचित हैं।' गढ़पति के स्वर में वहीं वेदना बनी रही। 'घर सँभालने योग्य रहने दें, ऐसा सौम्य उनमें एक भी न मिलेगा।'

'मैं अपने विश्वनाथ के स्वभाव से परिचित हूँ। अपने आश्रित की उपेक्षा करना उन्हें आता नहीं।' साधु के स्वर में अविचल आस्था गूँज रही थी- 'तुम्हारे घर तुम्हें कल तीसरे पहर सुरक्षित मिलेंगे।'

'आप यहाँ रुकने का आग्रह न करें।' गढ़पति ने बड़े खेद के साथ कहा-'एक सम्मान्य अतिथि को शत्रु के मुख में —भूखे भेड़िये -जैसे शत्रु के मुख में छोड़कर जाने का कलंक लेने के बदले।'

'ठहरो !' साधु ने बीच में रोक दिया। 'मेरा कोई शत्रु नहीं। विश्वनाथ के विश्व को कोई जन नहीं जो मेरा सुहृद् न हो। साधु कहाँ रहे, कहाँ न रहे, वह निर्णय करने का तुम्हें अधिकार है, ऐसा तुम नहीं सोचते होगे।'

'मैं आज्ञानुवर्ती हूँ ; किंतु""।

'तब केवल आज्ञा का पालन करो!' साधु ने स्थिर स्वर में आदेश दिया 'यहाँ से सबको लेकर इसलिये जाओ कि तुम सब स्वतः आश्वस्त रह सको। मध्याह्न के पश्चात् यहाँ लौट आ सको, इतनी दूर हट जाना पर्याप्त होगा।'

साधु ने किसी प्रकार भी भोजन करना स्वीकार नहीं किया। वे वहाँ से सीधे उसी वट के नीचे आये और अपने भजन-पूजन में लग गये।

× × ×

'हम पूरे ग्राम का चक्कर करते आये हैं!' प्रचण्डकाय भीमपाल के सम्मुख उसके अपने सैनिकों के स्वर भी भय से काँपते थे-'सूना पड़ा है ग्राम। खुले पड़े हैं घरों के द्वार टूटी चारपाई तक उनमें नहीं हैं।

'बको मत!' भीमपाल अब भी अपने काले घोड़े पर ही सवार था। उसका कर्कश स्वर गूँजा — 'अश्वों को दाना चाहिये। हमारे सभी सैनिक अब भोजन तथा विश्राम चाहते हैं। सूने घर! हम चमगीदड़ नहीं हैं कि सूने घरों में उलटे लटकेंगे। उन घरों को जलाकर हाथ सेंक लेने का काम पीछे, पहले भगोड़ों को ढूँढ़ निकालो।'

'एक आदमी है। एक कौपीनधारी नंगा साधु उस बरगद के नीचे।' एक सैनिक ने सूचना दी — 'वह आँखें बंद किये बैठा हैं।'

'बाँध लाओं उसे!' आज्ञा पूरी होते-न-होते तीन-चार अश्व दौड़ पड़े।

'गाँव के लोग कहाँ गये!' रस्सियों से बँधे सामने उपस्थित साधु से भीमपाल ने पूछा सहीं; किंतु उसे आश्चर्य हो रहा था कि यह साधु बाँधे जाने पर भी प्रसन्न है और कोई प्रतिवाद नहीं करता।

'मुक्त पुरुष बन्दियों का विवरण नहीं रखते और बंदी के प्रश्नों का उत्तर देने को वे विवश भी नहीं।' साधु ने नम्र किंतु दृढ़ स्वर में उत्तर दिया।

'बंदी कौन?' भीमपाल कुछ आश्चर्य में पड़ गया।

'जो भागने को विवश हुए। जो घोड़ों पर बैठे भागे आये। जो विश्व में वासनाओं से बँधे भागते-नाचते डोलते हैं।'

'जो रस्सी से बँधा सामने खड़ा है!' अब पिण्डारे ने अट्टहास किया।

'ये रस्सियाँ मिट्टी को बाँधती हैं।' साधु हँसे — 'विश्वनाथ के सेवक को बाँधने की शक्ति इनमें नहीं हैं। तू बाँधेगा प्रलयंकर के सेवक को? स्वयं तेरा बन्धन कट नहीं सकता। इस साधु के करों का आश्रय पाये बिना।'

'मैं बँधा हूँ ?' दस्यु चिल्लाया —'मैं तेरे प्रलाप में उलझ नहीं सकता। गाँव के भगोड़ों का पता तुझे देना पड़ेगा।'

'अपना बन्धन तुझे दीखे, यह मेरे आराध्यकी कृपा के बिना सम्भव कहाँ हैं?' साधु ने ध्यान ही नहीं दिया कि दो सैनिक अपने सरदार के संकेत के अनुसार कोड़े उठाये अश्व से उतरकर उसके दोनों ओर आ खड़े हुए हैं। उन्होंने तो एक बार आकाश की ओर दृष्टि उठायी –'आशुतोष!'

'आप मुझे क्षमा करें।' भीमपाल अपने अश्व से कूदा और सीधे साधु के चरणों पर उसने मस्तक रख दिया –'ये भंयकर सर्प! ये फण फैलायें जलते नेत्रों से घूरते काले विषयधर! आप इनसे मेरी रक्षा करें।'

किसी की समझ में कुछ नहीं आया। किसी को कुछ नहीं दीख रहा था। पिण्डारे सैनिकों ने केवल इतना समझा कि साधु कोई साधारण मनुष्य नहीं है। उसने अवश्य कुछ किया है – कोई चमत्कार!

'ये मुझे जकड़े हैं। ये मेरी हड्डी-हड्डी तोड़े दे रहे हैं। मैं इनके विष से जला जा रहा हूँ।' भीमपाल व्याकुल होकर इधर-उधर हाथ-पैर पटकने लगा था –'आप कृपा करें! आप रक्षा करें! आप क्षमा करें!' बार-बार साधु के पैरों पर वह सिर पटकने लगा था।

'ये नागआज तुम्हें नहीं बाँध रहे हैं।' साधु स्वस्थ प्रसन्न खड़े थे – 'ये तो सदा से बाँधे हैं तुम्हें। ये काले, नीले, पीले, चित्रवर्णी नाग-तुम्हारा काम, क्रोध, लोभ – तुम्हारी सांसारिक विषयों की प्रबल तृष्णा तुम तो सदा इनके द्वारा जकड़े हो। सदा इनके विष से दग्ध हो रहे हो। आज तुमने प्रभु की कृपा से अपना बन्धन देखा।'

'सचमुच मैंने आज देखा!' भीमपाल का क्रन्दन कम हुआ। उसने अपने हाथों साधु के बन्धन की रस्सी खोली और फिर चरणों पर गिरा 'अपने बन्धन को देखने की दृष्टि आपने दी प्रभु! इससे छूटने की पद्धति-अब मैं इन चरणों को छोड़ने वाला नहीं हैं।'

× × ×

गाँव के लोग शाम को लौट आये थे। उन्हें भीमपाल के यहाँ आने के चिह्न रूप में कहीं-कहीं घोड़ों की लीद मात्र मिली। वे साधु मिले नहीं। भीमपाल के दलका भी फिर नाम नहीं सुनायी पड़ा। अवश्य एक प्रचण्डकाय साधु जो मौनी था, उक्त घटना के कुछ ही दिनों बाद चित्रकूट में देखा जाने लगा था।

❑❑

शरण या कृपा?

'मेरा लड़का शरण चाहता है महाराणा!' गोस्वामी श्रीगोविन्दरायजी के नेत्र भर आये थे। उनका स्वागत सत्कार हुआ था, उनके प्रति सम्मान अर्पित करने में महाराणा ने कोई संकोच नहीं किया था; किन्तु गोस्वामीजी को यह स्वागत-सम्मान नहीं चाहिये। उनके हदय में जो दारुण वेदना है, उसे शान्त करने वाला आश्वासन चाहिये उन्हें। 'आज एक वर्ष से अधिक हो गया मेरे पुत्र को भटकते। यवन सत्ताधारी चमत्कार देखना चाहता है। चमत्कार कहाँ धरा है मेरे पास और मेरा नन्हा सुकुमार लाल चमत्कार क्या जाने। यवनों के भय से जोधपुर, जयपुर-कोई उसे स्थायी आश्रय नहीं देना चाहता। मैं अपने पुत्र के लिये आप से शरण माँगने आया हूँ महाराणा।'

उदयपुर के महाराणा राजसिंह कुछ कहें, इससे पूर्व ही महामंत्री उठ खड़े हुए - 'गोस्वामीजी! आप जानते ही हैं कि दाराशिकोहका पक्ष लेने के कारण औरंगजेब उदयपुर से चिढ़ गया है। फतेहा बाद की पराजय चाहे जिस के दोष से हुई हो, उसने हमारे वीरों की एक बड़ी संख्या से हमें हीन कर दिया हैं।'

'हमारा सौभाग्य है कि श्रीनाथ जी पधारना चाहते हैं' महाराणा राजसिंह ने महामन्त्री की बात काटने का प्रयत्न किया। गोस्वामी जी को सर्वथा निराश कर दिया। जाय, यह उन्हें स्वीकार नहीं था।

'सीसौदिया-कुल शैव हैं। भगवान एकलिंग हमारे आराध्य हैं।' महामन्त्री की राजनीति कहती थी कि औरंगजेब से शत्रुता लेना ठीक नहीं है। वे महाराणा को भरे दरबार में न रोक सकते थे, न समझा सकते थे। इसलिये उन्होंने यह अपना ब्रह्मास्त्र प्रयुक्त किया था।

'श्रीमान !' महाराणा ने देखा कि अन्तःपुर से राजमाता की निजी सेविका दोनों हाथ जोड़े सिंहासन के सामने मस्तक झुकाये आ खड़ी हुई है। उसे संकेत से ही बोलने की अनुमति मिल गयी। कदाचित् ही राजमाता किसी राजकार्य में कोई हस्तक्षेप करती थी; किन्तु यह तो मेवाक़ा बच्चा-बच्चा जानता था कि वे इस दिव्य भूमि की महेश्वरी हैं। उनका संकेत भगवती की अनुल्लङ्घनीय आज्ञा है मेवाड़ में। सबके नेत्र सेविका

की ओर लग गये। उसने केवल इतना कहा–'माता जी स्वयं कुछ कहना चाहती हैं, और धीरे मस्तक झुकाकर लौट गयी।

'राजसिंह ! तू होता कौन है त्रिभुवन के स्वामी को शरण देने वाला?' सुकोमल कण्ठ; किंतु बड़ा सुदृढ़ स्पष्ट स्वर सिंहासन के पीछे यवनिका के भीतर से आया। 'वे दयामय तुझे शरण देने आ रहे है। तुझ पर कृपा करने आ रहे हैं। तुझे भूलना नहीं चाहिये कि सीसौदियों का सिंहासन कायर पुरुषों के लिये नहीं है।'

'माता !' जगज्जनी !' गोस्वामी गोविन्दराय जी दोनों हाथ जोड़े खड़े हो गये यवनिका की ओर मुख करके।

'महाराज, मैं तो आपके पुत्र की एक तुच्छ दासी हूँ।' राजमाता बड़ी नम्रता से कह रही थीं – 'वे त्रिलोकीनाथ हैं। मेवाड़ को अपने श्रीचरणों से पवित्र करना चाहते हैं यह उनकी कृपा है। राजसिंह ! देखता क्या हैं? उठ खड़ा हो, जिनका सिंहासन है, वे पधार रहे हैं। एक सेवकमात्र है तू उनका। गोस्वामी ! उदयपुर का सिंहासन आपके पुत्र श्रीचरणों को पाकर धन्य बनेगा।'

माताजी !' महामन्त्री कुछ कहने के लिये खड़े हो गये हाथ जोड़कर ; क्योंकि महाराणा सचमुच सिंहासन से उठ खड़े हुए थे और गोस्वामी जी के सम्मुख मस्तक झुका रखा था उन्होंने ।

'राजपूत को राजनीति नहीं चाहिये महामन्त्री जी !' जैसे माता छोटे बच्चे को झिड़क रही हो, राजमाता के स्वर में वही स्नेहमय वात्सल्य था –'राजनीति को राजपूत के पैरों के पीछे चल सकने योग्य बनना चाहिये। लेकिन आप डरते क्यों हैं? तीनों लोक जिसकी शरण में हैं, वे किसी की शरण नहीं लिया करते। उन्होंने यह गौरव जो आपको दिया है, वह उनकी कृपा है। वे यह संदेश लेकर आ रहे हैं कि अब मेरा राजसिंह पीड़ितों को शरण देने योग्य हो गया है। उनका वरद हस्त इसके सिर पर रहेगा और कदाचित् दिल्ली के उस क्षुद्र यवन को भी इसकी शरण लेनी पड़ेगी।'

'धन्य हो माता !' गोस्वामी जी के नेत्रों से अश्रु बिन्दु टपकने लगे। अब किसी को कहने के लिये कुछ नहीं रह गया था।

'महाराज ! अपने लाल जी के साथ आप कब पधार रहे हैं?' राजमाता ने पूछ लिया और वहीं निश्चित हो गयी जोधपुर से श्रीनाथ जी की प्रस्थान-तिथि।

× × ×

(2)

सं० 1726 में औरंगजेब मथुरा पर चढ़ाई की। ध्वस्त हो गयी वह पावन भूमि अत्याचारी के नृशंस करों से। श्रीकेशवराय जी के विशाल मन्दिर को खंडहर बनाकर विपुल सम्पत्ति आततायी लूट ले गये। इस सफलता से उनके मुँह रक्त लग गया। दूसरी ओर भक्तों के हृदय की जो दशा हुई–उसकी कल्पना ही कठिन हैं।

भगवान् तो भाववश हैं। जो जैसी भावना करे, उसके लिये वे वैसे ही हैं। श्रीवल्लभाचार्य जी का पुष्टिमार्ग ठहरा सुकोमल वात्सल्य–रसका रसिक। नन्हें गोपाल लाल वे तो स्नेह के, दुलार के पात्र है। उनका तो लाड़ लड़ाया जा सकता है। वहाँ चमत्कार का क्या काम। श्रीनाथ जी को क्रूर करों से कैसे बचाया जाय, यह एक समस्या हो गयी थी। वयोवृद्ध श्रीगिरिधरराय जी ने ही सम्पत्ति दी थी श्रीगोविन्दराय जी को कि श्रीनाथ जी को अब चुपचाप राजस्थान पधारना चाहिये। अब व्रज का वातावरण उनके अनुकूल नहीं रहा। उनकी इच्छा अब यहाँ रहने की जान नहीं पड़ती।

यवन शासन की लोलुप दृष्टि श्रीनाथ जी की सम्पत्ति पर पड़ चुकी थी। उसने संदेश भेज दिया था –'चमत्कार दिखाओ या स्थान छोड़ दो।'

रोते–बिलखते स्नेहियों अपने स्नेहाधार की सुरक्षा के लिये उन्हें विदा करना आवश्यक माना। श्रीनाथजी गिरिराज गोवर्धन से विदा हुए और आगरा पहुँचे। कोटा, बूँदी, पुष्कर आदि कई स्थानों में इस यात्रा वे दयामय पधारे। पता नहीं, किन–किन के किस–किस भाव को, उन्हें सार्थक करना था। जोधपुर के महाराज यशवन्त सिंह जी ने स्वयं प्रार्थना की अपने यहाँ श्रीनाथ जी के चातुर्मास्य करने की। जोधपुर के बाबा सोनी में श्रीनाथ जी महाराज यशवन्त सिंहजी की प्रार्थना से पधारे।

औरंगजेब –वह महाभयदायक दिल्ली–सम्राट, कोई भी नरेश उसके भय से अपने यहाँ श्रीनाथ जी को स्थायी निवास नहीं देना चाहता था। हृदय ललकता था, उत्कण्ठा होती थी; किंतु मन मसोसकर रह जाना पड़ता था। उस महाभय के सम्मुख होने का साहस नहीं था किसी में। इस विकट परिस्थिति में मेवाड़ धूमधाम से श्रीनाथ जी का स्वागत करने आगे बढ़ा।

श्रीनाथ जी मेवाड़ पधारें। सिंहाड़ स्थान पर पहुँचकर उनका रथ एक पीपल वृक्ष के नीचे रुक गया। अब खींचने के सब प्रयत्न विफल हो रहे थे। गोस्वामी श्रीगोविन्दरायजी बोले–अब मेरा लड़का यहीं रहना चाहता हैं।'

'जो प्रभु की इच्छा!' राजमाता और महाराणा ने स्वीकार कर लिया है। कारीगर एकत्र हो गये। श्रीनाथजी का विशाल मन्दिर बनने लगा। एक वर्ष से भी कम समय

लगा। फाल्गुन कृ० 7 सं० 1728 को तिलकायत गो० श्रीदाऊजी के करों से श्रीनाथ जी प्राण प्रतिष्ठा हुई। सिंहाड़ स्थान पर 'नाथद्वारा' बन गया। भगवान् एक लिङ्गकी कृपा पात्र से मेवाड़ भूमि श्रीनाथ जी श्रीचरणों का सान्निध्य पाकर धन्य हो गयी।

× × ×

(3)

'माँ! रूपनगर से पत्र आया है!' महाराणा राजसिंह ने राजमाता के चरणों में पहुँचकर उनके सम्मुख रूप नगर की राजकुमारी का पत्र रख दिया। औरंगजेब को भी अपने पिता, पितामह के समान राजपूत कन्या से विवाह करने की धुन चढ़ी थी। रूपनगर को दुर्बल राज्य समझकर उसने महाराज को लिख दिया था– 'अपनी कन्या विवाह दो या युद्ध के लिये प्रस्तुत रहो।' बेचारी राजकुमारी को शरणदाता नहीं दीख रहा था। राजपूत कुमार क्या यवन की अङ्कशायिनी होगी? छिः ! उसने मेवाड़ के राणा को पत्र लिखा। किसी दिन महाराज भीष्मक की कन्या रुक्मिणी जी ने जैसे द्वारका पत्र लिखा था मयूरीमुकटी को– ठीक उसी प्रकार।

'सोलंकी की कन्या मेरी पुत्रवधू बनेगी।' राजमाता ने पत्र लौट दिया – 'बेटा! इसमें पूछने की क्या बात है ? एक पवित्र कुमारी अपनी रक्षा के लिये पुकारेगी तो सीसौदिया अस्वीकार कैसे करेगा। फिर तेरे लिये अब पूछने की क्या बात है। जो शरण माँगे –उसे शरण देता चल। श्रीनाथ जी तेरे यहाँ शरण लेने का बहाना करके पधारे हैं। शरण देने वाला तो वहीं हैं। उन्होंने यह संकेत कर ही दिया है कि तुझे शरण देना है – स्वयं औरंगजेब शरण लेने आवे तो उसे भी शरण देना हैं।'

कुछ कहने को है नहीं। रूपनगर की राजकुमारी को महाराणा राजसिंह ले आये। वे मेवाड़ की महाराणी बन गयी आकर। बेचारा औरंगजेब –वह कुढ़कर रह गया। उसे ऐंठते देख उसी के दो महासेनापति बिगड़ उठे थे। महाराज जयसिंह और यशवन्तसिंह। दोनों ने कह दिया –'सम्राट ! मेवाड़ हमारी श्रद्धा का स्थान है। भगवान् एकलिंग और श्रीनाथजी हमारे आराध्य हैं। आप रूप नगर के साथ अन्याय कर रहे थे। अब यदि मेवाड़ से आप युद्ध ही करना चाहें तो हम राजपूतों को महाराणा के पीछे खड़े होना है।'

यहीं तक इति नहीं हुई। महाराणा राजसिंह का धिक्कारपूर्ण पत्र मिला औरंगजेब को। वह हारकर बैठ जाने वाला तो नहीं था। जिसने अपने पिता और भाइयों के साथ ही कृतज्ञता नहीं दिखलायी, वह राजपूत सेनापतियों के प्रति कृतज्ञ हो सकता था?

लेकिन जयपुर और जोधपुर भी शत्रु बनाने का साहस उसमें नहीं था। महाराज जयसिंह को उसने महाराष्ट्र भेज दिया शिवाजी से संग्राम करने और महाराज यशवंत सिंह को अफगान युद्ध में काबुल भेजा उसने।

'माँ! जोधपुर की राजमाता शरण लेने आ रही हैं।' सचमुच महाराणा राजसिंह जैसे शरण देने के लिये ही पृथ्वी आये थे। कृतघ्न औरंगजेब के लिये महाराज यशवंतसिंह काबुल में खेत रहे युद्ध करते हुए और वह उन्हीं के पुत्रों को बंदी बनाने की धुन में लगा था। छोटे-छोटे अनाथ बच्चों को लेकर विधवा महारानी मेवाड़ के महाराणा की शरण आ रही थी।

'तू तो शरणदाता का प्रतिनिधि हो गया है।' राजमाता ने हाथ उठाकर आशीर्वाद दे दिया।

यहीं दिल्ली के सम्राट से युद्ध का सीधे श्रीगणेश हुआ। लेकिन होना क्या था? जहाँ श्रीनाथ जी शरण होकर विराजमान थे, वहाँ दिल्ली सम्राट किस गिनती में आता है। कोई हिमालय पर सिर पटके – हिमालय की चट्टानें टूट जायेगी उससे?

औरंगजेब दुर्भाग्य -महाराष्ट्र में वह उन शूरों से उलझ पड़ा था, जिन्हें समर्थ स्वामी रामदासकी कृपा प्राप्त थी और मेवाड़ में वह उलझ पड़ा महाराणा राजसिंह से, जिनके यहाँ कृपा करके शरण का बहाना लेकर स्वयं श्रीनाथ जी बैठे थे।

क्या हुआ जो एक बार विशाल यवनवाहिनी के लिये राजधानी खाली करके महाराणा अरावली के वनों में चले गये। यह युद्ध नीति तो मेवाड़ को हिंदूकुल सूर्य महाराणा प्रताप से उत्तराधिकार में मिली थी। अरावली की घाटी में राजकुमार जयसिंह और भीमसिंह शत्रु सेना का कचूमर निकालने को प्रस्तुत थे। उदयपुर यवन सेना अधिकार इसीलिये कर सकी कि वह पर्वतीय मार्ग से नहीं आयी।

'राजसिंह से बेकार हम लोग डरते थे। यह काफिर डरपोक ही निकला।' मुगल सेनापति उदयपुर को खाली पाकर निश्चित हो गया था। उसके सैनिक आमोद-प्रमोद में लग गये थे। 'बहुत माल है काँकरोली में। कल हम वहाँ कूच करेंगे।'

'काँकरोली की ओर उठने वाली आँखें तीरों से नहीं, हमारे भालों से फोड़ दी जायँगी।' पता नहीं कहाँ से राजकुमार जयसिंह आ धमके। उनका अश्व दो पैरों पर खड़ा था और भाला धमक ही दिया था उन्होंने सेनापति पर। वह तो अंगुल-दो-अंगुल के अन्त से बच गया।

'जय एकलिङ्ग!' राजपूत वीरों का विजय-घोष गूँज रहा था। छपाछप खड्ग बज रहे थे और भयभीत, भागते, गिरते-पड़ते शत्रुओं के शवों से धरा ढकती जा रही थी।

'मैं आपकी शरण हूँ। महज मेरी जान छोड़ दें। निकल जाने का रास्ता दे दें मुझे!' मुगल सेनापति ही नहीं, स्वयं मुगल शाहजादे को गिड़गिड़ाकर महाराणा से यह भीख माँगनी पड़ी। वह करता भी क्या, मेवाड़ की ओर राजपूत वीर पीछा दबाये बढ़े आ रहे थे और गोलकुण्डा का सामने का मार्ग महाराणा के अनुचर भीलों ने रोक रक्खा था। वे भील, जिनसे दया की आशा की नहीं जा सकती। एकमात्र महाराणा ही शरण दे सकते थे।

केवल शाहजादे की यह दशा नहीं थी, स्वयं सम्राट पधारे मेवाड़ के महापर्वत पर टक्कर मारने। उनका सेनापति दिलावर खाँ, राठौर वीर दुर्गादास और रूपनगर के सोलंकी महाराज की चपेट में आकर कुत्ते की भाँति पूँछ दबाकर भाग गया। औरंगजेब को दुर्गादास से प्राण बचाने कठिन हो गये। अजमेर जाकर उसे शरण लेनी पड़ी। दक्षिण के युद्ध को रोककर शाहजादा मुअज्जम को उसने बुला लिया। लेकिन उस बेचारे के भाग्य में भी पराजय ही लिखी थीं। एक ओर महाराणा राजसिंह राजकुमार जयसिंह के साथ उसकी सेना को स्थान-स्थान पर पराजित कर रहे थे तो दूसरी ओर राजकुमार भीमसिंह गुजरात, इन्दौर, सिद्धपुर - इस प्रकार एक से दूसरे प्रदेशों पर विजय ध्वजा फहरा रहे थे।

'सब काफिर एक हो गये!' हाँफ गया दिल्ली का घमंडी सम्राट। 'राजसिंह को छोड़ मेवाड़ को कोई-कोई दरबार गुलाम भी सुलह चाहे तो मैं चित्तौड़ और मारवाड़ दोनों छोड़ दूँगा।'

मुगल दरबार का दूत आया यह संदेश लेकर। महाराणा महाप्रयाण कर रहे थे। मेवाड़ के सरदारों ने सन्धि स्वीकार की। 'मुझे शरण दो! मेरी जान बख्शो।' इसके अतिरिक्त औरंगजेब की यह सन्धि और क्या थी। यह गौरव किसने दिया मेवाड़ को? उसने- जो शरण लेने आया था या जो कृपा करके नाथद्वारे में आ बैठा था।

❑❑

भरोसा भगवान् का

'वह देखो!' याक की पीठ पर से ही जो कुछ दिखायी पड़ा उसने उत्फुल्ल कर दिया। अभी दिन के दो बजे थे। हम सब चले थे तीर्थपुरी से प्रातः सूर्योदय होते ही; किंतु गुरच्याँग में विश्राम-भोजन हो गया था और तिब्बतीय क्षेत्र में वैसे भी भूख कम ही लगती है। परन्तु जहाँ यात्री रात-दिन थका ही रहता हो, जहाँ वायु में प्राण वायु (ऑक्सीजन) की कमी के कारण दस गज चलने में ही दम फूलने लगता हो और अपना बिस्तर समेटने में पूरा पसीना आ जाता हो, वहाँ याक की पीठ पर ही सही, सोलह मील की यात्रा करके कोई ऊब जाय, यह स्वाभाविक है। कई बार हम पूछ चुके थे 'खिङ्लुङ्' कितनी दूर है। अब दो बज चुके थे और चार-पाँच बजे तक हमें भोजनादि से निवृत्त हो जाना चाहिये। तंबू भी खड़े करने में कुछ समय लगता है। सूर्यास्त से पहले ही अत्यन्त शीतल तिब्बती वायु चलने लगती है। इन सब चिन्ताओं के मध्य एक इतना सुन्दर दृश्य दिखायी पड़े- सर्वथा अकल्पित, आप हमारी प्रसन्नता का अनुमान नहीं कर सकते।

'ओह! यह तो संगमरमर का फुहारा है।' मेरे बंगाली मित्र भूल ही गये कि वे अर्धपालित पशु याक पर बैठे हैं। याक तनिक सा स्पर्श हो जाने से चौंककर कूदने-भागने लगता है। उस पर बैठने वाले को बराबर सावधान रहना पड़ता है। कुशल हुई- मेरे साथी का याक तनिक कूद कर ही फिर ठीक चलने लगा था। उसे साथ चलने वाले पीछे के याक ने सींग की ठोकर दी थी, मेरे साथी सामने देखने में लगे होने से असावधान थे; किंतु गिरे नहीं, बच गये।

'संगमरमर नहीं है, गंधक का झरना है। गंधक के पानी ने अपने आप इसे बनाया है।' हमारे साथ के दुभाषिये दिलीप सिंह ने हमें बताया। वह पैदल चल रहा था; किन्तु प्रायः मेरे याक के साथ रहता था।

'अपने आप बना है यह!' लगभग १५ फुट ऊँचाई, विशाल प्रफुल्ल कमल के समान चमकता गोल हौज जैसे रक्खा गया हो और उसके चारों ओर एक के बाद दूसरे क्रम से एक-दूसरे के नीचे न रखकर तनिक इधर-उधर नीचे चार फुट तक वैसे ही उज्ज्वल, कमलाकार, किन्तु कुछ छोटे-बड़े हौज सजा दिये गये हों। बहुत ही कुशल कारीगर बहुत परिश्रम एवं रुचिपूर्वक सजावे तो ऐसा कमलों के समान हौजों का स्तम्भ बनेगा। इतनी व्यवस्था, इतनी सजावट और ऐसी सुचिक्कण कारीगरी थी कि विश्वास नहीं होता था कि यह मानव-कला नहीं है। सभी हौजों में निर्मल नीला जल दूर से झिलमिल करता दीख रहा था।

'झरना अपने आप बना है, परंतु यह फुहारा तो किसी ने बनवाया है। मेरे बंगाली साथी ने कहा -'वहाँ संगमरमर कहाँ से - कितनी दूर से आया होगा।' हम लोगों को तिब्बत के इस क्षेत्र में कहीं संगमरमर होने की आशा नहीं थी।

'वहाँ एक टुकड़ा भी संगमरमर नहीं। गंधक के पानी का यह कार्य है।' दिलीप सिंह ने हमें फिर समझाया; किन्तु हम उसकी बात तो उस झरने के पास ही जाकर समझ सके। गंधक का झरना है। उसके गरम जल में बहुत अधिक गंधक हैं। वह गंधक बराबर पत्थरों पर जमता रहता है। इससे संगमरमर के समान उज्ज्वल, बेल-बूटे बनी जैसी तहें जमती जाती हैं। यह पूरा कमल-स्तम्भ इसी प्रकार बना था।

'वहाँ कोई है, कोई संन्यासी जान पड़ता है।' गेरुए वस्त्र दीख पड़े एक दो पास पत्थर पर फैले। नीचे के छोटे हौज में बैठा कोई स्नान कर रहा था। कुछ तिब्बती लोग झरने के पास से अपनी भेड़े हाँके लिये जा रहे थे।

'ये वही सन्यासी है, जो हम लोगों को उस दिन दरचिन में मिले थे, जब हम कैलास-परिक्रमा करने जा रहे थे। लगता है कि ये भी आज ही तीर्थपुरी से चले हैं।' दिलीपसिंह में दूर से ही लोगों को पहचान लेने की विचित्र शक्ति है। उसका अनुमान ठीक था। वे वही सन्यासी थे' और तीर्थपुरी तो नहीं, पर आज गुरच्याँग से आ रहे थे।

'अब तो आप मेरे साथ ही चलेंगे!' मैंने सन्यासी जी को आमन्त्रण दिया। मेरे बंगाली साथी 'नीति-घाटी' होकर जोशीमठ जाना चाहते हैं। उन्हें बदरीनाथ जाना हैं। यहाँ खिङ्लुङ् से ही उनका मार्ग पृथक होता है। अब मेरे साथ केवल दिलीपसिंह रह जायेगा। एक साथी और हो जाय तो अच्छा, यह मैंने सोचा था।

'जैसी आपकी इच्छा! परन्तु मैं आपके लिये भार सिद्ध होऊँगा। सन्यासी बड़े प्रसन्नमुख युवक हैं। उनकी बात सच है। यहाँ तिब्बत में मनुष्य के लिये अपना निर्वाह भी कठिन हो जाता है। भारतीय सीमा से अपने साथ लाया सामान ही काम देता है।

यहाँ तो नमक, मट्ठा, दूध, दही, मक्खन कहीं-कहीं मिलता है। चेष्टा करने पर एकाध सेर सत्तू और एकाध सेर आटा मिल जाता हैं तीन-चार रुपये सेर। भारतीय व्यापारी जब तिब्बत में आ जाते हैं, तब कुछ सुविधा हो जाती है; किंतु हम पंद्रह-बीस दिन मौसम से पहले आ गये हैं। अभी व्यापारी आने नहीं लगे हैं। ऐसी अवस्था में एक व्यक्ति की भोजन व्यवस्था और ले ली जाय तो वह भार तो बनेगी ही।

'उस भार की आप चिन्ता न करें।' मैंने हँसकर कहा। 'हमारे साथ का सब सामान आज समाप्त हो जायगा। तिब्बत से बाहर पहुँचने में अभी सात-आठ दिन लगेंगे। इतने समय का निर्वाह तो कैलास के अधिष्ठाता को ही करना हैं। उसे एक भारी नहीं लगेगा तो दो भी नहीं लगेंगे।'

'तुम भी मेरे-ही-जैसे हो।' खुलकर हँसे वे महात्मा। 'तुम्हारे साथ अवश्य चलूँगा। बड़ा आनन्द रहेगा। कोई चिन्ता मत करो।' यहाँ इतना और बता दूँ कि हमें अन्त तक चिन्ता नहीं करनी पड़ी। तिब्बत में दाल और शाक तो मिलता नहीं था; किंतु हमें आटे और मक्खन का अभाव कभी नहीं रहा। आटा बराबर मिलता गया। मक्खन-रोटी या दही-रोटी ऐसा भोजन नहीं है कि उसकी कोई आलोचना की जाय।

× × ×

'आप पहले ही इधर आ चुके हैं। हम लोग मानीथंगा और ठाँजा पीछे छोड़ चुके हैं। छिरचिन से हमने आज प्रातःकाल ही प्रस्थान किया है। आज यदि कुंगरी-विंगरी और जयन्ती के दर्रे पार कर सके तो ऊटा तथा जयन्ती के बीच रात्रि-विश्राम होगा। वहाँ एक होटल (तंबू में) इन दिनों आ गया होगा। दूसरे दिन ऊटा धुरा (दर्रा) पार करके कल हम भारतीय सीमा में पहुँच जायेंगे। ये बातें मुझे सन्यासी जी ने बतायीं और इसीलिए मैंने उनसे प्रश्न किया। वैसे व्यक्तिगत परिचय करने में मेरी रुचि कम है, अन्त तक मैंने उन सन्यासी जी का नाम नहीं पूछा। उनकी कुटी कहीं है या नहीं, यह जानने की इच्छा मुझे नहीं हुई।'

'मैं पिछले ही वर्ष यहाँ आया था; किंतु देर से आया। लौटते समय मार्ग में हिमपात होने लगा। इच्छा होने पर भी सौ बार नहीं जा सका। अब इस वर्ष श्रीबदरीनाथ जी के दर्शन करने आया तो वहाँ से इधर चला आया।' मुझे इस समय पता लगा कि ये स्वामी जी गर्व्याग के रास्ते न आकर नीति घाटी के मार्ग से आये थे और हमें जब दरचिन में मिले थे, तब वहाँ से मानसरोवर चले गये थे। हमने तो समझा था कि वे हमारे समान मानसरोवर होकर कैलास आये होंगे। पैदल यात्री होने के

कारण उन्हें समय अधिक लगता होगा।

'हिमपात तो आज भी होता दीखता है। आगे कोई पड़ाव भी नहीं। तिब्बत में वर्षा कम ही होती है। इस अञ्चल में जब मेघ आते हैं, तब पहले हिमशर्करा पड़ती है। चीनी के दानों से दुगुनी-चौगुनी हिम-कंकड़ियाँ । वस्तुतः वे जल की बूँद होती हैं जो शीताधिक्य के कारण जम गयीं होती हैं। हिमपात की वे पूर्वसूचना हैं। उनके पश्चात् हिमपात होता हैं। कद्दूकस में कसे नारियल के अत्यन्त पतले आध इंच से भी कुछ छोटे टुकड़ों के समान हिम वायु में तैरती गिरती है। असंख्य टुकड़े-लगता है कि रुई की वर्षा हो रही है। सम्मुख का मार्ग नहीं दीखता। पृथ्वी उज्ज्वल हो जाती है। आज आकाश में मेघ हैं, दो-चार हिमशर्करा की कंकड़ियाँ मुख पर पड़ चुकी हैं। आज जब दो धुरे (दर्रे) पार करने हैं, तब उन पर चढ़ते समय हिमपात का सामना करना निश्चित हैं।

'यह हिमपात तो खेल है।' स्वामी जी ने कहा। हिमपात तो मार्गशीर्ष से प्रारम्भ होता है। लगातार हिमवर्षा होती है और एक साथ दस-पन्द्रह फुट हिम पड़ जाती है। उसमें मनुष्य चल नहीं सकता। मैं पिछले वर्ष दीपावली पर दरचिन था और आपने कदाचित् सुना होगा कि पिछले वर्ष हिमपात कार्तिक में ही प्रारम्भ हो गया था।'

'हम जिस दिन मानीथंगा पहुँचे थे, उसी दिन यह तिब्बती, जिसके तंबू के पास हम रुके थे, वह अपने फाँचे (भेड़ों पर नमक आदि लादने की ऊनी थैलियाँ) लेकर लौटा था। पिछले हिमपात में उसकी तीन सौ भेड़ें और दो नौकर मारे गये।' मैंने जो सुना था, वही सुना दिया। हम पैदल ही चल रहे थे। तीर्थपुरी से जो याक मिले थे भाड़े पर, वे केवल मानीथंगा तक के लिये थे। वे लौट चुके थे। मौसम से पूर्व आने के कारण अभी मार्ग खुला नहीं था। हम पहले यात्री थे। हमारे साथ डेढ़-दो सौ भेड़ें लेकर, उन पर नमक लादकर चार तिब्बती चल रहे थे। वे भारतीय बस्ती मिलम में नमक देकर अन्न लेंगे और लौटेंगे। उनकी पाँच भेड़ों पर मेरा सामान-तंबू आदि लदा था।

यहाँ इतना और बता दूँ कि कैलास मानसरोवर अञ्चल में न नगर हैं न ग्राम। दरचिन, तीर्थपुरी, खिङ्लुङ्- जैसे कुछ स्थान ऐसे हैं जहाँ पर्वतों में बुद्ध मन्दिर हैं। उनके पास ही बहुत-सी गुफाएँ हैं। इन गुफाओं में यहाँ के लोग अपना सामान रखते हैं। शीतकाल में उनमें अपने पशुओं के साथ रहते हैं। शेष समय वे तंबुओं में घूमते हुए बिताते हैं। अपने याक और भेड़ें लिये वे घूमते रहते हैं। मानीथंगा, थिरचिन आदि ग्राम नहीं, इन चरवाहों तथा यात्रियों के पड़ाव के स्थान हैं। वे कभी सुनसान रहते हैं और कभी वहाँ तंबुओं के ग्राम बस जाते हैं।

'आपने ध्यान नहीं दिया, वह तिब्बती मुझे देखकर चौंका था। वह मेरे आने से संतुष्ट नहीं था मैं उसकी भेड़ों वाले दल के साथ ही पिछले वर्ष भारत के लिये चला था।' स्वामीजी ने बताया।

'वह कहता था। कि यह लामा अपशकुन है। इसके साथ मत जाओ।' दिलीप सिंह ने हमें बताया। वहाँ मानीथंगा में तिब्बती और दिलीप सिंह हमें बातें बहुत हुई; किंतु वहाँ हमें दिलीप सिंह ने कुछ नहीं कहा था। तिब्बती भाषा में हम भला, क्या समझते। हमें तो वह तिब्बती भला लगा था उसने हमारे तंबू खड़े करने में सहायता दी। हमारे यहाँ अग्नि जला दी और हमारे लिये मक्खन पड़ी नमकीन, तिब्बती चाय झटपट बनवा लाया था अपने तंबू में से।

'आ बचे कैसे?' कुछ रुककर दिलीप सिंह ने फिर पूछा।

'कुछ आगे चलो !' पता नहीं स्वामी जी क्यों गम्भीर हो गये थे।

'यह क्या है दिलीप सिंह ?' मैं ठिठक कर खड़ा हो गया था। मार्ग के पास ही थोड़ी-थोड़ी दूर पर बकरियों भेड़ों की ठठरियाँ पड़ी थीं। उनमें अब केवल हड्डी थी। दो मनुष्य-कङ्काल भी दीखे। उनके आस-पास बहुत से फाँचे थे, कपड़े थे और स्थान-स्थान पर प्रायः बकरियों के कङ्काल के पास ऊन की बड़ी-बड़ी गोलियाँ थीं। वे कुछ चपटी थीं। उनके ढेर और उनकी यह गोल-चपटी आकृति....।

'बकरियाँ-भेड़ें हिम में दब गयीं। उनको जब कुछ भोजन नहीं मिला, तब उन्होंने समीप की भेड़ या बकरी का ऊन खा लिया। वह ऊन उनकी आँतों में जाकर ऐसे गोले बन गया। अब मांस तथा आँतें तो गल गयीं, वन्य पशु-पक्षी खा गये, किंतु आँतो से निकले ये ऊन के गोले पड़े हैं।' दिलीप सिंह ने जो कुछ बताया, उसका स्मरण आज भी रोमाञ्चित कर देता है। हम कुछ अधिक वेग से चलने लगे। संयोगवश बादल हट गये थे। हिमपात कुछ समय के लिये तो टल गया था।

'उस दिन-उस भयंकर दिन मैं इस अभागे यूथ के साथ था।' सन्यासी जी ने कुछ आगे जाकर अपनी गम्भीरता तोड़ी। 'मानीथंगा से जब ये चरवाहे चले थे, तब इनके लामा ने कहा था कि अभी बीस दिन हिमपात नहीं होगा। मैं तो अकस्मात् इनके साथ हो गया।'

दिलीप सिंह और पास आ गया था। मैं भी उत्सुक था सन्यासी जी की बात सुनने के लिये। सन्यासी जी कह रहे थे -'जब हम छिरचिन से चले, तभी घने बादल घिर आये थे। तिब्बती चरवाहे बराबर लामा का नाम लेते थे और कहते थे - उनका लामा पत्थर में पंजे मारकर चिह्न बना देता हैं। वह वर्षा, आँधी, हिमपात-सबको रोक देता

है। इन बादलों को वह अवश्य भगा देगा। उन चरवाहों में एक अधूरी हिंदी बोल लेता था। मुझे वह पता नहीं क्यों मानता भी बहुत था। कई बार उसने मुझे अपनी 'छिरपी' (सूखे मट्ठे का खण्ड) खिलाया।'

एक बार सन्यासी जी ने कैलास की ओर मुड़कर देखा और बोले –'सहसा हिम-शर्करा प्रारम्भ हुई। बकरियाँ और भेड़ें चिल्लाने लगीं और चरवाहे भयातुर हो उठे। इसके पश्चात् हिमपात प्रारम्भ हो गया। हम देख भी नहीं सकते थे कि हमारे आगे दो फुट पर मनुष्य है या पर्वत। मेरे साथ के लोगों का क्या हुआ –मुझे पता नहीं।'

'आप बचे कैसे?' दिलीप सिंह ने पूछा।

'मुझे मारता कौन ?' सन्यासी ने कहा –'मुझे तो न कोई भय लगा न घबराहट हुई। मैं चल रहा था –चलता रहा। मार्ग दीख नहीं रहा था, मार्ग देखने का प्रश्न भी नहीं था। जहाँ गड्ढे में गिरता प्रतीत होता था या सिर टकराता था – जिधर मुड़ना सम्भव होता था मुड़ जाता था।'

'अद्भुत हैं आप।' मैंने कहा।

'इसमें अद्भुत बात क्या है?' सन्यासी ने सहज भाव से कहा –'जो भगवान् शंकर कैलास के अधिष्ठाता हैं, वे मैदान में रक्षा करते हैं और पर्वत के हिमपात में नहीं करते? मैं उनके आश्रम पर आया था – कैलास आया था मैं। उन देव-देवेश्वर के दर्शनार्थी को मार कौन सकता था? हिमपात हुआ– होता रहा। मेरे पैर एक स्थान पर फिसले और पता नहीं मैं कितने नीचे लुढ़क गया। कई बार लुढ़का। कई बार हिम में लुढ़कने पर ढक गया और उठा। बड़ा आनन्द आया उस दिन। पर्वतीय पिता का जाग्रत स्वरूप और उनका क्रीड़ा-वैभव देखा मैंने।'

सन्यासी जी ने अपनी बात समाप्त की –'जब मैं अन्तिम बार लुढ़का तो किसी जल स्रोत में पड़ गया। मेरी चेतना जल की शीतलता और लहरोने छीन ली। जब मुझे फिर शरीर का भान हुआ, तब कुछ भेड़ वाले मुझे दंग से आगे अग्नि जलाकर सेंक रहे थे। उन्होंने मुझ धारा से निकाला था, उन्हें संदेह हो गया था कि मैं जीवित हूँ।'

ये सन्यासी जी केवल दुंगतक हमारे साथ आये। मिलम से भी पूर्व मार्ग में ही वे हमसे पृथक हो गये। परन्तु उनकी एक बात स्मरण करने योग्य है। वे कहा करते थे – 'मर्त्य का भरोसा क्या? भरोसा भगवान् का। उसका भरोसा, जो सदा है – सदा साथ है।'

मनुष्य क्या कर सकता है?

'पशुपतिनाथ! मुझ अज्ञानी को मार्ग दिखाओ!' उस ठिंगने किन्तु सुपुष्ट शरीर वृद्ध के नेत्र भर आये। उसके भव्य भाल पर कदाचित ही किसी ने कभी चिन्ता की रेखा देखी हो। विपत्ति में भी हिमालय के समान अडिग यह गौरवर्ण, छोटे नेत्र एवं कुछ चपटी नाक वाला नेपाली वीर आज कातर हो रहा है – 'भगवान! मुझे कुछ नहीं सूझता कि क्या करूँ। मनुष्य को तुम क्यों धर्म संकट में डालते हो? तुम्हें पुकारना छोड़कर मनुष्य ऐसे समय में और क्या करे? तुम बताओ, मुझे क्या करना चाहिये?'

आँसू की बूँदें चौड़ी हड्डी वाले सुदृढ़ कपोलों पर से लुढ़कर उजली मूँछों में उलझ गयीं। अपनी हुंकार से वन के नृशंस व्याघ्र को भी कम्पित कर देने वाला वज्र-पुरुष आज बालक के समान रो रहा था। उसकी कठोर काया के भीतर इतना सुकोमल हृदय है – उससे परिचित प्रत्येक व्यक्ति इसे जानता है।

नरेन्द्रसिंह वीर है – मृत्यु के मुख में भी पैर रखकर खुखड़ी के दो हाथ झाड़ देने का हौसला रखता है हृदय में, लेकिन धार्मिक है। आप उसे धर्मभीरु भी कहें तो चलेगा और आज वह धर्मभीरु धर्म संकट में पड़ गया है। अब अपने पशुपतिनाथ को –नेपाल के आराध्य देव को पुकार रहा है वह।

'एक ब्राह्मण आशा लेकर गोरखे की शरण आया है। उसने मुझ पर विश्वास किया है। वह दुःखी है – विवश है। दो पुत्रियाँ हैं उसके घर में विवाह करने योग्य और घर पर पुरुष तो दूर, उसकी पत्नी भी जीवित नहीं। फफक पड़ा नरेन्द्रसिंह–'वह मारा जा सकता है। क्रूर विदेशी उसे कुत्ते के समान गोली से भून देंगे। एक गोरखा यह विश्वासघात करे? नरेन्द्र यह ब्रह्म हत्या ले? मेरे नाथ! तुम कहाँ सो गये हो? समाधि छोड़ दो आशुतोष? इस सेवक को मार्ग दिखलाओ।'

'मैं इस चौकी का रक्षक हूँ। चौकी के सैनिक मेरे भरोसे निश्चिंत रहते हैं। मेरे महाराज मुझ पर विश्वास करते हैं। एक नेपाली अपने देश से अपने महाराज से विश्वासघात करे?' नरेन्द्र सिंह ने दोनों हाथ सिर पर पूरे वेग से पटक दिये –'फिंरगी

पता नहीं क्या चाहते हैं। वे रहस्य पाकर पता नहीं क्या अनर्थ करेंगे। चौकी के सैनिक भुन जायँगे और पिशाचों के लिये गौ, ब्राह्मण, देवता –वे तो हैं ही पिशाच। सतियों का सतीत्व उनके लिये विनोद का साधन है। मैं निमित्त बनूँ उनकी पैशाचिकता को सफल बनाने में ? मैं अपने देश से, महाराज से, अनुगतों से, समाज से, और धर्म से ही विश्वासघात करूँ?'

वृद्ध जैसे पागल हो जायेगा। उसने मस्तक पटक दिया पृथ्वी पर –'पशुपतिनाथ! तुम मुझे मार्ग नहीं दिखलाते तो मर जाने दो!' अपनी खुखड़ी उसने म्यान से खींच ली। ललाट पर एक लाल गोल सूजन आ गयी थी; किन्तु जो मृत्यु का आलिंगन करने जा रहा है, उसे उसका क्या पता लगना था।

'गायें मारी जायेगी – नेपाल की इस पावन धरा पर, भगवान तथागत के चरणों से पूत हुई इस पृथ्वी पर गोरक्त गिरेगा। मेरी बेटियों–बहुओं का सतीत्व फिरंगी सिपाही लूटेंगे या वे अपनी रक्षा के लिये खुखड़ी खोस लेंगीं हृदय में।' नरेन्द्र सिंह के हाथ से अपनी खुखड़ी छूट गिरी –'मुझे मरने का अधिकार कहाँ है। मेरी मृत्यु का अर्थ भी तो शत्रु को सुविधा देना ही होगा। हाय! आज यह अधम मर भी नहीं सकता है।'

'अतिथि के साथ विश्वासघात – ब्राह्मण की हत्या! उसकी वे कुमारी कन्याएँ!' नरेन्द्र सिंह की आँखों के आगे अन्धकार छा गया। उसने उस स्वर में, जिसमें किसी नृशंस हत्यारे के छुरे से आहत मरणोन्मुख प्राणी चीत्कार करता है– चीत्कार की – 'पशुपतिनाथ!'

आर्त प्राणों की कातर पुकार वह आशुतोष चन्द्रमौलि न सुने– ऐसा कभी हुआ है? जिस दिन वह गंगाधर सच्ची पुकार सुनने के लिए भी समाधि मग्न बनेगा, सृष्टि रहेगी कितने पल?

नरेन्द्र के मुख पर शान्ति आयी! उसने नेत्र पोंछ लिये हाथों से ही। खुखड़ी उठाकर म्यान में रख ली। उसके हृदय के पशुपतिनाथ ने उसे प्रकाश दे दिया था। दृढ़ निश्चय था उसके मुख पर।

'पण्डित जी! आप मुझे क्षमा करें।' जब वह अतिथि के सम्मुख आया, उसके स्वरों में कोई हिचक या कम्पन नहीं थी। 'आपके खींचे मानचित्र मैं आपको लौटा नहीं सकूँगा। आपको काठमाण्डू जाना है।'

नरेन्द्रसिह! तुम विश्वासघात करोगे ? तुम?' ब्राह्माण के नेत्र फटे–फटे हो गये। उसका मुख भय से सफेद पड़ गया –'फिरंगी मेरी कन्याओं की क्या दुर्गति करेगा सोचो तो तुम। मैं यहीं प्राण दे दूँगा। तुम्हें ब्रह्महत्या लेनी हैं ?'

'मैं विवश हूँ।' नरेन्द्र सिंह ने मुख नीचे झुका लिया। ब्राह्माण के स्वर में जो प्राण दे

देने की दृढ़ता थी–दूसरा कोई मार्ग भी नहीं था उनके लिये। लेकिन नरेन्द्र ने उन्हें उसी स्थिर स्वर में कह दिया– 'यहाँ आपको प्राण देने नहीं दिया जा सकता। काठमाण्डू तो जाना ही है। आपको। पशुपतिनाथ को प्रणाम करके जो कुछ करना आप चाहें स्वतन्त्र रहेंगे।

× × ×

(2)

अंग्रेजों ने नेपाल पर चढ़ाई तो कर दी; किंतु उन्हें अब छठी का दूध याद आ रहा है। उनकी बंदूकों की पिट्-पिट् गोरखा वीरों के पत्थर कले के आघात के सम्मुख व्यर्थ सिद्ध हो रही हैं। इन जंगलों और पहाड़ों में आकर फिरंगी अपनी हेकड़ी भूल गया है। अब तो उसे यह समझ आने लगी है कि किसी प्रकार सम्मान सुरक्षित रखकर सन्धि हो जाना भी बड़ी बात हैं।

'चाहे जो हो कुछ चौकियों पर अधिकार स्थापित ही करना होगा। स्थानीय कर्नल क्या करे? ऊपर वाले तो आदेश देना ही जानते हैं। यहाँ वस्त्रों के शिविरों में रात-दिन रहना पड़े और सिर पर पत्थर कले से छूटे पाषाण खण्ड तोपों के गोलों की भाँति घहरायें तो पता लगे।' लेकिन कर्नल चाहे जितना असंतुष्ट होकर बड़बड़ाये और पैर पटके; ऊपर वालों के आदेश को पूरा किये बिना उसके लिये भी कोई मार्ग नहीं हैं।

'हमें एक मानचित्र मिल जाय इस अगली गोरखा चौकी का।' कर्नल चिन्ता में पड़ गया। सामने छोटी-सी पहाड़ी है। घना जंगल है। जब सेना आगे बढ़ने का प्रयत्न करती है, पहाड़ी के ऊपर से पत्थरों की बौछार प्रारम्भ हो जाती है। कुछ का कचूमर निकल जाता है। अपना-सा मुँह लेकर लौटना पड़ता है। छोटा-सा घेरा हैं पहाड़ी पर बहुत छोटे घर जितना। उसमें कितने गोरखे सैनिक होंगे? कहाँ से वे जल और भोजन पाते हैं? उनका मार्ग क्या है?'

इतिहास देश के इस दुर्भाग्य का साक्षी है कि देशवासी ही सदा आक्रमणकारियों के सहायक हो गये हैं। उस अंग्रेज टुकड़ी के साथ संख्या में देशी सैनिक ही अधिक थे। उन्होंने पता लगाना प्रारम्भ किया। अन्त में कर्नल को सूचना मिली– 'नीचे गाँव में एक ब्राह्मण हैं। वे मानचित्र बनाना अच्छा जानते हैं। कई नरेशों के यहाँ इस काम पर रह चुके हैं। इस समय अर्थ-संकट में हैं। अगली पहाड़ी के पीछे जो गाँव हैं, उसका सरदार पण्डित जी को बहुत मानता है। काठमाण्डू तक भी उनका आना-जाना है।'

'हम तुम्हें बहुत रुपया देंगे-दो हजार रुपया।' कर्नल के आदेश से पण्डित जी

बुलवाये गये - पकड़ मँगाये गये कहना चाहिये। 'तुम इस पहाड़ी और उसके आस-पास का एक मानचित्र हमें बनाकर दे दो। हमारी बात नहीं मानना बहुत बुरा होगा।'

'मैं इस पहाड़ी पर या उसके मार्ग से कभी नहीं गया हूँ।' पण्डित जी राजदरबारों के अनुभवी थे। कर्नल कितने अत्याचार कर सकता है, यह जानना उनके लिये कठिन नहीं था। धन का लोभ-लेकिन दो-दो कन्याओं का विवाह दरिद्रता के कारण एक सम्मान्य व्यक्ति के यहाँ रुका हो और उसे लोभ हो जाय तो दोष कैसे दिया जा सकता है। इतने पर भी पण्डित जी पिंड छुड़ाना ही चाहते थे।

'तुम अब जा सकते हो। तुम्हें जाकर मानचित्र लाना ही हैं।' कर्नल ने धमकी दी। 'तुम्हारे घर पर हमारा एक सैनिक बराबर रहेगा। परसों शाम तक तुम नहीं आ गये मानचित्र लेकर तो हम तुम्हारे घर में आग लगवा देंगे और तुम्हारी लड़कियों को यहाँ पकड़ मँगायेंगे।'

कर्नल की धमकी में जो क्रूरता-पैशाचिकता थी, उसने ब्राह्मण को कँपा दिया। मस्तक झुकाकर वे चले गये। घर जाने का उनमें साहस नहीं था। कर्नल ने उन्हें कागज और पेंसिल पकड़ा दी थी। वनपथ उनके लिये अपरिचित नहीं था।

दुर्भाग्य आता है तो सब ओर से आता है। पण्डित जी ने लगभग पूरा मानचित्र घूम-घामकर बना लिया था; किंतु उन्हें एक गोरे सैनिक ने देख लिया। वह पहाड़ी चौकी से झरने पर सम्भवतः जल लेने आया था।

पाप में साहस नहीं हुआ करता। यह भी हो सकता है कि गौरखे सैनिक ने कुछ न समझा हो - उसने तनिक भी शङ्का न की हो। उसने पण्डित जी को पहचानकर स्वाभाविक ढंग से ही पुकार कर प्रणाम किया हो। लेकिन पण्डित जी मानचित्र की रेखाएँ स्पष्ट कर रहे थे वृक्ष की छाया में बैठे। सैनिक का शब्द सुनते ही उनका तो रक्त सूख गया। कागज समेटा और भाग खड़े हुए। उन्हें लगा कि सैनिक ने उन्हें ही नहीं, उनके काम को भी देख लिया है। उसके प्रणाम में उन्हें स्पष्ट व्यंग्य का स्वर लगा। वह अपनी खुखड़ी या पत्थर कला लेने गया होगा। अपने नायक को कहने या उनकी अनुमति लेने गया होगा। वह और उसके साथी आते होगे।' बेचारे पण्डित जी अपनी आशङ्का के कारण ही अधमरे हो गये थे।

'नरेन्द्रसिंह! मैं तुम्हारी शरण हूँ। मेरी रक्षा करो।' पास के गाँव में पण्डित जी भागते-दौड़ते पहुँच गये। उनका शरीर पसीने से लथपथ हो रहा था। वे हाँफ रहे थे और भय से काँप भी रहे थे -'तुम वीर हो। ब्राह्मण की रक्षा तुम्हारे हाथ में हैं।'

'आप इतने भयभीत क्यों हैं ?' नरेन्द्रसिंह ने पूछा- 'फिरंगी तो इधर नहीं आ रहे हैं?'

'फिरंगी नहीं, तुम्हारे सैनिक।' पण्डित जी ने सब बातें सच-सच बात दीं।

'मानचित्र देखूँ तो।' नरेन्द्र ने मानचित्र ले लिया; किंतु उसके मन में ब्राह्माण से पूरा विवरण सुनकर तुमुल द्वन्द्व प्रारम्भ हो गया। वह घर के भीतर जाते-जाते बोला- 'आप विश्राम करें। यहाँ कोई आपको छू नहीं सकता।'

ब्राह्माण ने संतोष की साँस ली। वे पास बिछे पलंग पर बैठ गये। लेकिन नरेन्द्र सिंह -उसे मार्ग नहीं सूझ रहा था। वह व्याकुल हो रहा था - क्या करे वह? अब उसका कर्त्तव्य क्या है? यह ब्राह्मण - यह अतिथि - यह शरणात''''।

× × ×

(3)

आप ब्राह्मण हैं, आपको मैं और क्या कहूँ।' हिंदू नरेशों का औदार्य ही तो हैं जो वे देवताओं के लिये भी कभी वन्दनीय माने जाते है। अपराधी ब्राह्मण देवता जब तीन सरकार (नेपाल के प्रधानमन्त्री) के सामने पहुँचाये गये, तब राणा ने उन्हें उठकर प्रणाम किया। 'आशा है मार्ग में आपको कष्ट नहीं हुआ होगा। सैनिकों ने आपके साथ सम्मान का व्यवहार किया होगा। आप हमें क्षमा करें इस अविनय के लिये। नायक नरेन्द्रसिंह का पत्र है कि वे यहाँ कल प्रातः पहुँचेंगे। तब तक आप हमारा आतिथ्य ग्रहण करें।'

'आप मुझे प्राणदण्ड नहीं देंगे - यह मैं जानता हूँ। ब्राह्मण अवध्य है न! लेकिन मैं तो मर चुका। यह आपके सामने मेरा प्रेत खड़ा है। इसे मर-मिटने के लिये स्वतन्त्र कर दीजिये!' ब्राह्मण के नेत्र लाल-लाल हो रहे थे-'मेरा सम्मान नहीं रहा, मेरी लड़कियाँ फिरंगी ले ही गया होगा और वे पिशाच हाय भगवान! मैं अब क्यों जीवित हूँ?' दोनों हाथों अपने केश नोंच लिये ब्राह्मण ने।

'आपकी पुत्रियाँ ''''? फिरंगी'''' ?' महाराणा रुक-रुककर भी पूरे वाक्य बोल नहीं सके। स्थिति समझते ही उनके नेत्र भी अंगार हो उठे; किंतु दो ही क्षण में शान्त हो गये वे। 'महाराज! नरेन्द्र सिंह को आपके साथ आना चाहिये था। वह नहीं आया है। कल प्रातः वह यहाँ पहुँचेगा - उसने लिखा है तो पहुँचेगा ही। अब तक उसने एक बार भी झूठा आश्वासन नहीं दिया हैं। मैं समझता हूँ कि आपकी पुत्रियाँ सुरक्षित हैं।'

'सुरक्षित हैं वे?' ब्राह्मण को विश्वास नहीं हुआ।

'मैं भी केवल अनुमान कर रहा हूँ। कल प्रातः तक प्रतीक्षा कीजिये।' राणा ने गम्भीरता से कहा- 'नरेन्द्र सिंह चौकी से एक भी सैनिक हटा नहीं सकता। ऊपर के आदेश के बिना इतना दुस्साहस वह नहीं करेगा। उसके पास गाँव में कुल दस युवक

और हैं और फिरंगी सेना बहुत बड़ी हैं।'

'वह क्या मेरी पुत्रियों को निकाल लाने वाले हैं? ब्राह्मण को इसकी तनिक भी सम्भावना नहीं दिखती थी।

'भगवान् पशुपतिनाथ जानते है।' राणा के पास भी कोई उत्तर नहीं था।

× × ×

नरेन्द्रसिंह दूसरे दिन प्रातःकाल काठमाण्डू पहुँचे तो पहाड़ी टट्टुओं पर उनके साथ ब्राह्मण की दोनों पुत्रियाँ थी।

'धन्य वीर!' ब्राह्मण दौड़ा भुजाएँ फैलाकर।

'यह सम्भव कैसे हुआ?' राणा ने पूछा।

'मुझे भी पता नहीं।' नरेन्द्र सिंह ने भरे नेत्रों से कहा– 'मैं प्राण दे सकता था, वही देने गया था। मेरे दस साथी क्या कर लेते? लेकिन गाँव तक पहुँचने में शत्रु मिला ही नहीं। वह सो रहा होगा। उसके सैनिक दौड़े तब जब हम दो तिहाई मार्ग लौटते समय पार कर चुके थे फिर हमारे पत्थर-कलों ने मृत्यु की वर्षा प्रारम्भ कर दी। करना तो जो कुछ था-पशुपतिनाथ को करना था, मनुष्य क्या कर सकता हैं?

❑❑

सच्ची पुकार

'तुम प्रार्थना करने आये थे अल्फ्रेड?' सभ्यता के नाते तो कहना चाहिये था। 'मि० वुडफेयर' किंतु विल्सन रार्बट में जो सहज आत्मीयता है अपने अल्प परिचितों के भी प्रति, उसके कारण वे शिष्टाचार का पूरा निर्वाह नहीं कर पाते और न उसे आवश्यक मानते।

उसका पूरा नाम है **अल्फ्रेड जॉन्सन वुडफेयर**। चौककर उसने पीछे मुड़कर देखा। समुद्र किनारे के इस छोटे से गाँव में उसे जानने वाला, उसका नाम लेकर पुकारने वाला कौन है? उसे यहाँ आये अभी दो ही सप्ताह तो हुए हैं और एक खेतों में फसल काटने वाला मजदूर क्या इस योग्य है कि उसे लोग जानें और इतने स्नेह से नाम लेकर पुकारें।

'ओह आप हैं।' अल्फ्रेड पूरा पीछे घूम गया और उसने अपना हाथ आगे बढ़ा दिया। विल्सन से उसका घनिष्ट परिचय है, यह तो वह नहीं कह सकता; किंतु इस अलमस्त घुमक्कड़ से कई बार पहले भी वह मिल चुका है। कई बार जब वह अपनी नौका पर समुद्र में मजदूरी करने निकला - विल्सन की नौका उसे मिली है। एक बार तूफानी रात्रि में विल्सन उसकी झोंपड़ी में अतिथि रह चुका है।

'मैं जानता था तुम यहाँ आओगे। अन्ततः आये न' विल्सन उसके बराबर आ गये हँसते हुए और उसका हाथ पकड़कर गिरजाघर की सीढ़ियाँ उसके साथ ही उतरने लगे। 'मनुष्य कैसा भी हो, कोई भी हो, अपने पिता के सामने आये बिना रह कैसे सकता है।'

वह देखता रहा इस सुसज्जित सम्मान्य यात्री को। यात्री-विल्सन यात्री ही तो है। वे क्या करते हैं, कहाँ रहते हैं, यह सब तो वह जानता नहीं। जानता केवल इतना है कि वे सम्पन्न होने के साथ अत्यन्त उदार हैं और पर्यटन का उन्हें व्यसन है। इस गाँव में भी वे घूमते-घामते ही आ निकले होंगे। रविवार को प्रार्थना करके गाँव के अधिकांश वृद्ध स्त्री-पुरुष, जिनके साथ घरों के बालक भी हैं, गिरजाघर से बाहर जा रहे हैं। बहुत

थोड़े गिने-चुने युवक प्रार्थना करने आते हैं, युवतियाँ उनसे कुछ ही अधिक आती हैं। तारुण्य का गर्व जब शिथिल पड़ने लगता है, तभी तो मनुष्य में, जीवन के उस पार भी कुछ है यह झाँकने की समझदारी आती है।

'लेकिन अल्फ्रेड ! मैं भूलता नहीं हूँ तो केवल बीस दिन पूर्व हम यहाँ से पर्याप्त दक्षिण समुद्र के वक्ष पर मिले थे।' विल्सन को इसकी चिन्ता नहीं जान पड़ती कि उनके जैसे मूल्यवान उज्ज्वल वस्त्रधारी को एक मजदूर का हाथ पकड़कर चलते देख पास से जाने वाले वृद्ध और वृद्धाएँ किस प्रकार देखते है, किस प्रकार मुख सिकोड़ते हैं और परस्पर फुसफुसाकर क्या कहते हैं?

'तब मैं गोता लगाने को प्रस्तुत हो रहा था।' अल्फ्रेड ने इतनी देर बाद बोलना आवश्यक समझा। 'वही समुद्र में मेरा अन्तिम गोता था और फिर जब मैं चल सकने योग्य हुआ, सीधे गिरजाघर पैदल चलकर गया। यद्यपि बहुत कष्ट हुआ उस दिन मुझे चलने में, किंतु बहुत आनन्द भी मिला मुझे। प्रार्थना तो उसी दिन मैंने की। अब तो लकीर पीट लेता हूँ।' वह पता नहीं क्या और कितनी बातें एक साथ बता जाना चाहता था, लेकिन उस दिन की प्रार्थना का स्मरण करके ही उसके नेत्र भर आये थे। रूमाल निकालकर खाँसने का बहाना बनाया उसने और मुख को एक ओर घुमा लिया।

'मैं तुम्हारे साथ चल रहा हूँ। आज तो विश्राम का दिन है।' विल्सन ने आमन्त्रण की अपेक्षा नहीं की। जो व्यक्ति केवल बीस दिन पहले धर्म और आस्तिकता ही बात सुनकर ठठाकर हँस पड़ता था, जिसे सुरा···· जाने दीजिये, किसी के दोषों का वर्णन भी दोष ही है, इतना जानना पर्याप्त होना चाहिये कि अल्फ्रेड 'खाओ, पीओ, मौज उड़ाओं' के नियम को मानकर चलने वाला था। वह मृत्यु से संग्राम करके अपनी जीविका प्राप्त करता था और उसे अपने उल्लासो को प्राप्त करने के लिये व्यय करने में संकोच नहीं था। वह कहा करता था-'धर्म तो कायर और अशक्त लोगों के मन को संतोष देने का बहाना है।' गिरजाघर वह क्यों जाय, जब कि वह उन भव्य भवनों को जीवन-संग्राम में थके अपंग लोगों के मिथ्या आवश्वासन प्राप्त करने का स्थान मानता है। वही अल्फ्रेड किसी दिन की प्रार्थना का स्मरण करके गद्‌गद हो उठे बिना विशेष घटना के यह कैसे सम्भव है। लेकिन यहाँ मार्ग में कुछ पूछना शिष्टता नहीं होगी।

'आप मेरे यहाँ चलेंगे?' अल्फ्रेड ने मुख घुमाकर देखा। 'अब मशीनों ने खेत में काम करने वाले घोड़ो के अस्तबल खाली कर दिये हैं। बाहर से आये मजदूरों के साथ मुझे खेत के स्वामी ने कृपा करके उनमें से एक छोटा स्थान ठहरने को दे दिया है

'मेरे मित्र ! मैं भी मनुष्य हूँ - ठीक तुम्हारे समान मनुष्य।' विल्सन ने उसके कंधे को थपथपा दिया। 'जब परमात्मा प्रत्येक स्थान पर है, हमें कहीं जाने में संकोच क्यों होना चाहिये?'

× × ×

(2)

'नित्य की भाँति मैं उस दिन भी समुद्र-तल में उतरा।' अल्फ्रेड बिछी हुई घास पर बैठा था और उसके पास ही विल्सन बैठे उसी की ओर देख रहे थे। 'मेरे दोनों सहकारी बहुत सावधान और अपने कार्य में कुशल थे। लेकिन गोताखोर तो प्रत्येक गोते के समय मृत्यु के मुख में ही उतरता है और उसे केवल अपनी स्फूर्ति, प्रत्युत्पन्न बुद्धि तथा सतर्कता पर निर्भर करना पड़ता है।'

अल्फ्रेड मजदूर बनने से पहले- अभी बीस दिन पहले तक समुद्री गोताखोर था। समुद्र के गहरे तल में उतरकर मोती के सीप उठा लाना ही उसका व्यवसाय था। सीप में मोती है या नहीं, यह बात तो ऊपर आकर देखने की होती है। समुद्र तल में तो यथाशीघ्र जो सीप मिलें, उन्हें समेटकर ऊपर आ जाना पड़ता है।

'मौसम अच्छा था। ऊपर चमकीली धूप निकल रही थी। जल के भीतर पर्याप्त दूरी तक इतना प्रकाश था कि मैं अपने आसपास दौड़ती-भागती छोटी-बड़ी मछलियों तथा तल प्रदेश की अद्‌भुत लताओं को सरलता से देख सकता था।' अल्फ्रेड बता रहा था- समुद्र तल में जो सृष्टिकर्ता ने उपवन लगा रखा है- कहीं-कहीं तो तल-प्रदेश के पौधे, घासें और लताएँ अद्‌भुत सुन्दर हैं। उस दिन मैं ऐसे ही एक मनोहर समुद्री उद्यान में उतर पड़ा था।'

'वहाँ उद्यान-सौन्दर्य देखने जितना अवकाश और धैर्य रहता है?' विल्सन ने बीच में पूछ लिया -'भय नहीं लगता ?'

'हमें सावधान रहना पड़ता है और शीघ्रता रहती है।' अल्फ्रेड तनिक हँसा- 'लेकिन जो डरेगा, वह गोताखोर नहीं बन सकेगा और उद्यान को तो अपने बचाव के लिये सावधानी से देखते रहना पड़ता है; क्योंकि हमारे सबसे भंयकर शत्रु उन पौधों में ही किसी पौधे के समान बने छिपे रह सकते हैं।'

'मुझे घोंघे बहुत दीखे और छोटे-बड़े, रंग-बिरंगे जीवित चलते-फिरते शंख भी अधिक थे।' वह अपनी मुख्य बात पर आ गया। 'लेकिन आप जानते हैं कि मैं घोंघे या शंख निकालना एकदम पसंद नहीं करता। मेरे अद्‌भुत वेश के कारण और अपने बीच में मुझे अचानक आया देख मछलियों में हलचल मच गयी थी। उनमें-से अनेक मुझ से बार-बार टकरायीं। भय का कोई कारण नहीं था; क्योंकि मैं जानता था कि समुद्री सिंह (शार्क) इस समुद्री में बहुत थोड़ी हैं और उनके मिलने का समय दूसरा ही होता है।'

'मुझे धीरे-धीरे उतारा गया था। नीचे पहुँचकर मैं खड़ा हो गया और झुककर कुछ सीपों को मैंने अपने झोले में झट से डाल दिया।' विल्सन उत्सुकता से उसकी बातें सुन रहे थे। 'मैं बहुत प्रसन्न था, वहाँ पर्याप्त सीपें थीं। आज का गोता मुझे अच्छी रकम दे देगा। सहसा ऐसा लगा कि कोई कोमल गिलगिली वस्तु दाहिने पैर में लिपट गयी हैं।

मैं चौंका, बायें हाथ का चाकू दाहिने में लेकर झुक गया। अष्ट पद के दो पैर मेरे चाकू ने काट दिये। इसी समय मुझे कसकर झटका लगा।'

'अष्टपद समुद्र का सबसे भयंकर प्राणी और गोताखोरों का सबसे बड़ा शत्रु।' अल्फ्रेड सिहर उठा– 'वह किसी भी चट्टान पर एक पौधे के समान जमा बैठा रहेगा या चट्टान के नीचे से छिपा रहेगा। पता नहीं किस चट्टान के नीचे से निकलकर एक भयानक अष्टपद ने अपने सूँड जैसे पैर मेरी कमर और कंधे में लपेट दिये थे। उसकी दोनों आँखें मेरी आँखों के सामने चमक रही थीं और वह दुष्ट अपनी चोंच मेरे मुख के पास ला रहा था। मेरे मुख से भय के कारण चीख निकल गयीं।'

'जैसे हाथी किसी बालक को सूँड में पकड़कर झटके दे।' अल्फ्रेड दो क्षण रुक गया और फिर बोला – 'वह दारुण माँसाहारी प्राणी मेरा मनोभाव समझ गया था। जब मैं अपना हाथ ऊपर समाचार देने वाली रस्सी खींचने को बढ़ाता था, वह मुझे भयंकर झटका देता था। मेरे मुख पर लगा भारी नकाब खिसक पड़ता था। मुझे भय था कि कहीं प्राणदायिनी वायु-नलिका (आक्सीजन ट्यूब) टूट न जाय। मेरा मुख और नाक स्थान-स्थान से नकाब की रगड़ से छिल गये। उनमें असह्य वेदना होने लगी। बार-बार नकाब ठीक करने को मैं विवश हो रहा था और कहीं भी तल भूमि पर पैर नहीं जमा पता था।'

'अष्टपद ने मुझे एक और झटका कसकर दिया। मेरा पूरा ललाट और कपोल छिल गये। नकाब कंधे पर खिसक आया। मेरी नाक से कुल चार इंच दूर मुझे अष्टपद के क्रूर नेत्र चमकते दीखे। उसकी चोंच-उसकी रक्त-पिपासु चोंच निकट आ रही थी।' दीर्घश्वास ली अल्फ्रेड ने 'नकाब ठीक करने का समय भी, नहीं रह गया था। मैं निराश हो गया था। भय के कारण चीख पड़ा मैं –'हे भगवान् ! और फिर मुझे पता नहीं, क्या हुआ। मेरे नेत्रों के आगे अन्धकार छा गया।'

× × ×

(3)

'मिस्टर विल्सन! एक बात अब तक मेरी समझ में नहीं आती।' अल्फ्रेड ने बीच में दूसरी बात कही –'मुझे ठीक-ठीक स्मरण है कि अष्टपद के पहले ही झटके में चाकू मेरे हाथ से छूटकर गिर गया था। दुष्ट अष्टपद मुझे कई झटके – बीसों झटके बाद तक देता रहा। उसके वे पैर जो मेरी कमर और कंधों को पकड़े थे, काटे कैसे गये?'

'यह तुम्हारे सहायक की तत्परता होगी।' विल्सन ने कहा।

'मेरा सहायक बहुत सावधान है। उसी की सावधानी ने मेरे प्राण बचाये। वह कहता है कि यद्यपि समुद्रतल से उसे कोई संकेत नहीं मिला था; किंतु अपेक्षित समय से अधिक देर लगते देख उसे आशङ्का हो गयी और वह स्वयं नीचे उतर पड़ा।' अल्फ्रेड ने कहा –'मैंने उससे बार-बार पूछा है। वह कहता है कि उसने मुझे मूर्छित पाया। मेरी नकाब उसने ठीक की। मेरी कमर और कंधे में अष्टपद के पैर ऊपर आने तक लिपटे थे, किन्तु वे कटे हुए पैर थे। भारी अष्टपद सब पैरों के कट जाने से मेरे पैरों के पास ही समुद्रतल में तड़फड़ा रहा था।'

'तुम्हारा छूरा तुम्हारे सहायक को मिला?'

'आप कहना चाहते हैं कि मूर्छित होते-होते मैंने ही अष्टपद के पैर काट दिये थे?' अल्फ्रेड ने मुख उठाकर देखा- 'मिस्टर विल्सन! मेरी स्मरण-शक्ति गोताखोर की स्मरण शक्ति हैं। गोताखोर का हृदय, मस्तिष्क और स्नायु असाधारण पुष्ट होते हैं। मेरा छूरा मेरे सहकारी को मिला ही नहीं। वह तो अब भी समुद्रतल में पड़ा होगा।'

'तुमने अभी बताया है कि तुमने मूर्छित होते-होते कहा था 'हे भगवन्!' विल्सन स्वर मे दृढ़ता और विश्वास था।

'और भगवान् ने मेरी रक्षा की!' अल्फ्रेड के नेत्र भर गये-'सचमुच भगवान् ने ही मेरी रक्षा की मि० विल्सन। मैं इतना घायल हो गया था कि छूरा मेरे हाथ में होने पर भी मैं कुछ न कर पाता। मैं अपने सहकारी द्वारा जब ऊपर लाया गया, तब मेरा मुख रक्त से लथपथ था। पूरे तीन दिनों बाद मैं उठकर चलने योग्य हुआ और तब सीधे गिरजाघर गया।'

'भगवान् तो सुनते हैं और रक्षा भी करते हैं; किंतु –' विल्सन रुके दो क्षण-'किन्तु हम मनुष्य इतने भाग्यहीन हैं कि प्राण-संकट में भी वे दयामय हमें स्मरण नहीं आतें। उस समय भी हम अपने उस कृपालु पिता को पुकार नहीं पाते।'

'मैं नित्य पुकारता हूँ, प्रतिदिन पुकारता हूँ, तब से दो रविवार मात्र पड़े हैं और दोनों को गिरजाघर प्रार्थना करने गया हूँ।' अल्फ्रेड ने बहते आँसू पोंछने का कोई प्रयत्न नहीं किया- 'किन्तु मेरे मित्र! अब मेरी पुकार वे दयालु पिता क्यों फिर नहीं सुनते?'

'वे सुनते हैं-सुनते तो हैं, पर जब पुकार सच्ची हो।' विल्सन ने दीर्घ श्वास लेकर कहा –'वह समुद्रतल की तुम्हारी पुकार-बस, वैसी सच्ची पुकार वे सुनते हैं।'

भगवत्प्राप्ति

'मनुष्य-जीवन मिला ही भगवान् को पाने के लिए हैं। संसार भोग तो दूसरी योनियों में भी मिल सकते हैं। मनुष्य में भोगों को भोगने की उतनी शक्ति नहीं, जितनी दूसरे प्राणियों में हैं!' वक्ता की वाणी में शक्ति थी। उनकी बातें शास्त्रसंगत थीं, तर्क सम्मत थीं और सबसे बड़ी बात यह थी कि उनका व्यक्तित्व ऐसा था जो उनके प्रत्येक शब्द को सजीव बनाये दे रहा था। 'भगवान् को पाना है- इसी जीवन में पाना है। भगवत्प्राप्ति हो गयी तो जीवन सफल हुआ और न हुई तो महान् हानि हुई।'

प्रवचन समाप्त हुआ। लोगों ने हाथ जोड़ें, सिर झुकाया और एक-एक करके जाने लगे। सबको अपने-अपने काम हैं और वे आवश्यक हैं। यही क्या कम हैं जो वे प्रतिदिन एक घंटे भगवच्चर्चा भी सुनने आ बैठते हैं। परन्तु अवधेश अभी युवक था, भावुक था। उसे पता नहीं था कि कथा पल्लाझाड़ भी सुनी जाती है। वह प्रवचन में आज आया था और उसका हृदय एक ही दिन के प्रवचन ने झकझोर दिया था।

सब लोगों के चले जाने के बाद उसने वक्ता से कहा - 'मुझे भगवत्प्राप्ति करनी है, उपाय बतलाइये।' वक्ता बोले- 'बस, भगवान् को प्राप्त करने की तीव्र इच्छा होनी चाहिये, फिर घर के सारे काम भगवान की पूजा बन जायेंगे।' उसने कहा- 'महाराज! घर में रहकर भजन नहीं हो सकता। आप मुझे स्नेहवश रोक रहे हैं, पर मैं नहीं रुकूँगा।' इतना कहकर वक्ता को कुछ भी उत्तर देने का अवसर दिये बिना ही युवक तुरन्त चल दिया।

'भगवान को पाना है- इसी जीवन में पाना है।' सात्विक कुल में जन्म हुआ था। पिता ने बचपन से स्तोत्र पाठादि के संस्कार दिये थे। यज्ञोपवीत होते ही त्रिकाल संध्या प्रारम्भ हो गयी, भले पिता के भय के प्रारम्भ हुई हो। ब्राह्मण के बालक को संस्कृत पढ़ना चाहिये, पिता के इस निर्णय के कारण कालेज की वायु लग नहीं सकी। इस प्रकार सात्विक क्षेत्र प्रस्तुत था। आज के प्रवचन ने उसमें बीज वपन कर दिया। अवधेश को आज न भोजन रुचा, न अध्ययन में मन लगा। उसे सबसे बड़ी चिन्ता थी- उसका विवाह होने वाला है। सब बातें निश्चित हो चुकी है! तिलक चढ़ चुका है अब वह अस्वीकार करे भी तो कैसे करे और 'भगवान को पाना है, इस बन्धन में पड़ा तो पता नहीं क्या होगा।

दिन बीता, रात्रि आयी। पिता ने, माता ने तथा अन्य कई ने कई बार टोका-

'अवधेश! आज तुम खिन्न कैसे हो?' परन्तु वह, किसी से कहे क्या। रात्रि में कहीं चिन्तातुर को निद्रा आती है। अन्त में जब सारा संसार घोर निद्रा में सो रहा था, अवधेश उठा। उसने माता-पिता के चरणों में दूर से प्रणाम किया। नेत्रों में अश्रु थे; किंतु घर से वह निकल गया।

'अवधेश का स्वास्थ्य कैसा है?' प्रातः जब पुत्र नित्य की भाँति प्रणाम करने नहीं आया, तब पिता को चिन्ता हुई।

'वह रात बाहर नहीं सोया था?' माता व्याकुल हुई। उन्होंने तो समझा था। कि अधिक गरमी के कारण वह बाहर पिता के समीप सोया होगा।

पुत्र का मोह -कहीं वह स्वस्थ, सुन्दर, सुशील और गुणवान् हो; मोह तो माता-पिता को कुरूप, कुपुत्र, दुर्व्यसनी पुत्र का भी होता है। विद्या-विनय सम्पन्न युवक पुत्र जिसका चला जाय, उस माता-पिता की व्यथा का वर्णन कैसे किया जाय। केवल एक पत्र मिला था- 'इस कुपुत्र को क्षमा कर दें! आशीर्वाद दें कि इसी जीवन में भगवत्प्राप्ति कर सकूँ।'

× × ×

'आपने यहाँ अग्नि क्यों जलायी ?' वन का रक्षक रुष्ट था- 'एक चिनगारी यहाँ सारे वन को भस्म कर सकती है।'

'रात्रि में वन-पशु न आवें इसलिये!' अवधेश- अनुभवहीन युवक, वह सीधे चित्रकूट गया और वहाँ से आगे वन में चला गया। उसे क्या पता था कि पहले ही प्रातःकाल उसे डाँट सुननी पड़ेगी। अत्यन्त नम्रतापूर्वक कहा उसने- 'मैं सावधानी से अग्नि बुझा दूँगा।'

'बिना आज्ञा के यहाँ अग्नि जलाना अपराध है!' वन के रक्षक ने थोड़ी देर में ही अवधेश को बता दिया कि भारत के सब वन सरकारी वन विभाग द्वारा रक्षित हैं। वहाँ अग्नि जलाने की अनुमति नहीं है। वहाँ के फल-कन्द सरकारी सम्पत्ति हैं और बेचे जाते हैं। वन से बिना अनुमति कुछ लकड़ियाँ लेना भी चोरी है।

'हे भगवान् !' बड़ा निराश हुआ अवधेश। वन में आकर उसने देखा था कि उसे केवल जंगली बेर और जंगली भिंडी मिल सकती है। वह समझ गया था कि ये भी कुछ ही दिन मिलेंगे; किंतु वैराग्य नवीन था। वह पत्ते खाकर जीवन व्यतीत करने को उद्यत था, परन्तु वन में तो रहने के लिए भी अनुमति आवश्यक है। आज कहीं तपोवन नहीं हैं।

'आप मुझे क्षमा करें! मैं आज ही चला जाऊँगा।' वन-रक्षक से उसने प्रार्थना की।

वैसे भी जंगली भिंडी और जंगली बेर के फलके आहार ने उसे एक ही दिन में अस्वस्थ बना दिया था। उसके पेट और मस्तक में तीव्र पीड़ा थी। लगता था कि उसे ज्वर आने वाला हैं।

'आप मेरे यहाँ चलें!' वन-रक्षक को इस युवक पर दया आ रही थी। यह भोला बालक तपस्या करने आया था-कहीं यह तपस्या का युग हैं। 'आज मेरी झोपड़ी को पवित्र करें।'

अवधेश अस्वीकार नहीं कर सका। उनका शरीर किसी की सहायता चाहता था। उनके लिए अकेले पैदल वन से चित्रकूट बस्ती तक जाना आज सम्भव नहीं रह गया था। 'यदि ज्वर रुक गया- कौन कह सकता है कि वह नहीं रुकेगा।' अवधेश तो कल्पना से ही घबरा गया। उसने सोचा ही नहीं था कि वन में जाकर वह बीमार भी पड़ सकता है।

× × ×

'आप मुझे अपनी शरण में ले लें।' बढ़े केश, फटी-सी धोती, एक कई स्थानों से पिचका लोटा -युवक गौरवपूर्ण है, बड़े-बड़े नेत्र हैं; किन्तु अत्यन्त दुर्बल है। सम्भ्रान्त कुल का होने पर भी लगता है कि निराश्रित हो रहा है। उसने 'महात्मा के चरण पकड़ लिये और उन पर मस्तक रखकर फूट-फूटकर रोने लगा।'

'मुझे और सारे विश्व को जो सदा शरण में रखता हैं, वहीं तुम्हें भी शरण में रख सकता है।' ये महात्मा जी प्रज्ञा चक्षु हैं। गङ्गा जी में नौका पर ही रहते हैं। काशी के बड़े-से-बड़े विद्वान् भी बड़ी श्रद्धा से नाम लेते हैं इनका। इन्होंने युवक को पहचाना या नहीं, पता नहीं किंतु आश्वासन दिया-'तुम पहले गङ्गा स्नान करो और भगवत्प्रसाद लो। फिर तुम्हारी बात सुनूँगा।'

'आप मुझे अपना लें! मेरा जीवन व्यर्थ नष्ट हो रहा है!' युवक फूट-फूटकर रो रहा था 'मुझे नहीं सूझता कि मुझे कैसे भगवत्प्राप्ति होगी।'

'तुम पहले स्नान भोजन करो।' महात्मा ने बड़े स्नेह से युवक की पीठ पर हाथ फेरा -'जो भगवान् को पाना चाहता है, भगवान् स्वयं उसे पाना चाहते हैं। वह तो भगवान् को पायेगा ही।'

युवक ने स्नान किया और थोड़ा-सा प्रसाद शीघ्रतापूर्वक मुख में डालकर गंगाजल पी लिया। उसे भोजन स्नान की नहीं पड़ी थी। वैराग्य सच्चा था और लगन में प्राण थे। वह कुछ मिनटों में ही महात्मा जी के चरणों को पकड़कर उनके समीप बैठ गया।

'पहले तुम यह बताओ कि तुमने अब तक किया क्या?' महात्मा जी ने तनिक स्मित के साथ पूछा।

'बड़ा लम्बा पुराण है!' अवधेश- हाँ, वह युवक अवधेश ही है- यह आपने समझ लिया होगा। उसने अपनी बात प्रारम्भ की। उसने बताया कि वह खूब भटका है इधर चार वर्षों में। उसे एक योगी ने नेती, धोती, न्यौली, ब्रह्मदाँतौन तथा अन्य अनेक योग की क्रियाएँ करायीं। उन क्रियाओं के मध्य ही उसके मस्तक में भयंकर दर्द रहने लगा। बड़ी कठिनाई से एक वृद्ध संत की कृपा से वह दूर हुआ। उन वृद्ध संत ने योग की क्रियाएँ सर्वथा छोड़ देने को कह दिया।

'ये मूर्ख!' महात्मा जी कुछ रुष्ट हुए -'ये योग की कुछ क्रियाएँ सीखकर अपने अधूरे ज्ञान से युवकों का स्वास्थ्य नष्ट करते फिरते हैं। आज कहाँ हैं अष्टाङ्गयोग के ज्ञाता। यम-नियम की प्रतिष्ठा हुई नहीं जीवन में और चल पड़ें आसन तथा मुद्राएँ कराने। असाध्य रोग के अतिरिक्त और क्या मिलता है इस व्यायाम के दूषित प्रयत्न में।'

'मुझे एक ने कान बंद करके शब्द सुनने का उपदेश दिया।' अवधेश ने महात्मा जी के चुप हो जाने पर बताया - 'एक कुण्डलिनी योग के आचार्य भी मिले। मुझे घनगर्जन भी सुनायी पड़ा और कुण्डलिनी-जागरण के जो लक्षण वे बताते थे, वे भी मुझे अपने में दीखे। नेत्र बंद करके मैं अद्‌भुत दृश्य देखता था; किंतु मेरा संतोष नहीं हुआ। मुझे भगवान् नहीं मिले - मिला एक विचित्र झमेला।'

'अधिकारी के अधिकार को जाने बिना चाहे जिस साधन में उसे जोत दिया जाय- वह पशु तो नहीं हैं।' महात्मा जी ने कहा - 'धारणा, ध्यान, समाधि-चाहे शब्द योग से हो या लय योग से; किन्तु जीवन में चाञ्चल्य बना रहेगा और समाधि कुछ क्रिया मात्र से मिल जायगी, ऐसी दुराशा करने वालों को कहा क्या जाय। जो भगवद्दर्शन चाहता है उसे सिखाया जाता है योग.... ! भगवान् की कृपा है तुम पर। उन्होंने तुम्हें कही अटकने नहीं दिया।'

'मैं सम्मान्य धार्मिक अग्रणियों के समीप रहा और विश्रुत आश्रमों में। कुछ प्रख्यात पुरूषों ने भी मुझ पर कृपा करनी चाही।' अवधेश में व्यंग्य नहीं, केवल खिन्नता थी- 'जो अपने आश्रम धर्म का निर्वाह नहीं कर पाते, जहाँ सोने-चाँदी का सेवन और सत्कार है, जो अनेक युक्तियाँ देकर शिष्यों का धन और शिष्याओं का धर्म अपहरण करने का प्रयत्न करते हैं, वहाँ परमार्थ और अध्यात्म भी है, यह मेरी बुद्धि ने स्वीकार नहीं किया।'

'कलियुग का प्रभाव- धर्म की आड़ में ही अधर्म पनप रहा है!' महात्मा जी में भी खिन्नता आयी -'जहाँ संग्रह हैं, विशाल सौध हैं, वहाँ साधुता कहाँ है। जहाँ सदाचार नहीं, इन्द्रिय तृप्ति है, वहाँ से भगवान या आत्मज्ञान बहुत दूर है। परन्तु इतनी सीधी बात लोगों की समझ में नहीं आती। सच तो यह है कि हमें कुछ न करना पड़े, कोई आशीर्वाद देकर सब कुछ कर दे, इस लोभ से जो चलेगा वह ठगा तो जायेगा ही। आज

धन और नारी का धर्म जिनके लिए प्रलोभन हैं, ऐसे वेशधारियों का बाहुल्य इसीलिये है। ऐसे दम्भी लोग सच्चे साधु-महात्माओं का भी नाम बदनाम करते हैं।

'मैं करने को उद्यत हूँ।' अवधेश ने चरणों पर मस्तक रखा -'मुझे क्या करना है, यह ठीक मार्ग आप बताने की कृपा करें।'

'घर लौटो और माता-पिता को अपनी सेवा से संतुष्ट करो।' महात्मा जी ने कहा -' वे चाहते हैं तो विवाह करो।' घर के सारे काम भगवान् की पूजा समझकर करो- यही तो उस वक्ता ने तुमसे कहा था।

'देव!' अवधेश रो उठा।

'अच्छा, आज अभी रुको।' महात्मा जी कुछ सोचने लगे।

× × ×

'ये पुष्प अञ्जलि में लो और विश्वनाथ जी को चढ़ा आओ!' प्रातः स्नान करके जब अवधेश ने महात्मा जी के चरणों में मस्तक रखा, तब महात्मा जी ने पास रखी पुष्पों की डलिया खींच ली। टटोलकर वे अवधेश की अञ्जलि में पुष्प देने लगे। बड़े-बड़े सुन्दर कमलपुष्प थोड़े ही पुष्पों से अञ्जलि पूर्ण हो गयी। महात्मा जी ने खूब ऊपर तक भर दिये पुष्प।

असीघाट से अञ्जलि में पुष्प लेकर नौका से उतरना और उसी प्रकार तीन मील दूर विश्वनाथ जी आना सरल नहीं है। परन्तु अवधेश ने इस कठिनाई की ओर ध्यान नहीं दिया। वह पुष्पों से भरी अञ्जलि लिये उठा।

'कोई पुष्प गिरा तो नहीं?' महात्मा जी ने भरी अञ्जलि से नौका में पुष्प गिरने का शब्द सुन लिया।

'एक गिर गया।' अवधेश का स्वर ऐसा था जैसे उससे कोई बड़ा अपराध हो गया हो।

'कहाँ गिरा, गंगा जी में?' फिर प्रश्न हुआ।

'नौका में' अवधेश खिन्न होकर बोला- 'मैं सम्भाल नहीं सका।'

'न विश्वनाथ को चढ़ सका, न गंगाजी को।' महात्मा जी ने कहा -'अच्छा, अपनी अञ्जलि के पुष्प मुझे दे दो!'

अवधेश ने महात्मा जी की फैली अञ्जलि में अपनी अञ्जलि में पुष्प भर दिये। महात्मा जी ने कहा- 'बाबा विश्वनाथ!' और सब पुष्प वहीं नौका में गिरा दिये।

'भैया, ये पुष्प विश्वनाथ जी को चढ़ गये?' पूछा महात्मा जी ने।

'चढ़ गये भगवन्!' अवधेश ने मस्तक झुकाया।

'बच्चे! तू जहाँ है, भगवान तेरे पास ही हैं वहीं तू उनके श्रीचरणों पर मस्तक रख!' महात्मा जी ने अब की कुछ ऐसी बात कही जो भली प्रकार समझ में नहीं आयी।

'वहाँ किनारे एक कोढ़ी बैठता है!' साधु होते ही विचित्र हैं। पता नहीं कहाँ से कहाँ की बात ले बैठे महात्मा जी।

'वह बैठा तो है।' इङ्गित की गयी दिशा में अवधेश ने देखकर उत्तर दिया।

'देख, वह न नेती-धोती कर सकता, न कान बन्द कर सकता और न माला पकड़ सकता।' महात्मा जी समझने लगे -'वह पढ़ा-लिखा है नहीं, इसलिए ज्ञान की बात क्या जाने। परन्तु वह मनुष्य है। मनुष्य जन्म मिलता है भगवत्प्राप्ति के लिए ही। भगवान् ने उसे मनुष्य बनाया, इस स्थिति में रखा। इसका अर्थ है कि वह इस स्थिति में भी भगवान् को पा ही सकता है।'

'निश्चय पा सकता है।' अवधेश ने दृढ़तापूर्वक कहा।

'तब तुम्हें यह क्यों सूझा कि भगवान् घर से भागकर वन में ही जाने पर मिलते हैं।' महात्मा जी ने हाथ पकड़कर अवधेश को पास बैठाया -'क्यों समझते हो कि गृहस्थ होकर तुम भगवान से दूर हो जाओगे। जो सब कहीं हैं, उससे दूर कोई हो कैसे सकता है।'

'मैं आज्ञा पालन करूँगा।' अवधेश ने मस्तक रखा संत के चरणों पर। उसका स्वर कह रहा था। कि वह कुछ और सुनना चाहता है - कोई साधन।

'भगवान् साधन से नहीं मिलते।' महात्मा जी बोले- 'साधन करके थक जाने पर मिलते है। जो जहाँ थककर पुकारता है-'प्रभो! अब मैं हार गया, वहीं उसे मिल जाते हैं। या फिर मिलते उसे है जो अपने को सर्वथा उनका बनाकर उन्हें अपना मान लेता है।'

'अपना मान लेता है?' अवधेश ने पूछा।

'संसार के सारे सम्बन्ध मान लेने के ही तो हैं।' महात्मा जी ने कहा - 'कोई लड़की सगाई होते ही तुम्हें पति मान लेगी और तुम उसके पति हो जाओगे। भगवान् तो हैं सदा से अपने। उन्हें अपना नहीं जानते, यह भ्रम है। वे तुम्हारे अपने ही तो हैं।'

'वे मेरे हैं- मेरे भगवान्!' पता नहीं क्या हुआ अवधेश को। वह वहीं नौका में बैठ गया - बैठ रहा पूरे दिन। लोग कहते हैं - कहते तो महात्मा जी भी हैं कि अवधेश को एक क्षण में भगवत्प्राप्ति हो गयी थी।

सबमें भगवान्

'हम कहाँ जा रहे हैं?' सभी के मन में यही प्रश्न था। सभी के मुख सूख गये थे। वे दुर्दान्त, निसर्गतःक्रूर दस्यु, जिन्होंने कभी किसी की करुण प्रार्थना एवं आर्तचीत्कार पर दया नहीं दिखायी, आज इस समय बार-बार पुकार रहे थे- 'या खुदा! या अल्ला!'

दस्युपोत था वह। उन्होंने रात्रि के अन्धकार में सौराष्ट्र के एक छोटे ग्राम पर आक्रमण किया। बड़ी निराशा हुई उन्हें। पता नहीं कैसे उनके आक्रमण का अनुमान ग्रामवासियों ने कर लिया था। पूरा ग्राम जन शून्य था। भवनों के द्वार खुले पड़े थे। न सामग्री हाथ लगी, न पशु और न मनुष्य ही। अपनी असफलता के कारण दस्यु चिढ़ उठे। बार-बार वे हाथ-पैर पटकते और दाँतो से होंठ काटते थे -'ये काफिर''''' व्यर्थ था उनका रोष।

'कोइ बड़ा मगर आ रहा है!' एक दस्यु, जो पोत पर निरीक्षण के लिए था, दौड़ा आया। 'मगर' यह उनका सांकेतिक शब्द था। इसका अर्थ था कि उनके पोत को नष्ट करने में समर्थ कोई युद्धपोत आ रहा है।

'मगर!' दस्युओं में भय फैला। बड़ी-बड़ी काली दाढ़ी, भयंकर नेत्र, वे यमदूत से दस्यु -किंतु जो जितना क्रूर है, उतना ही भीरू होता है। समाचार इतना ही था- 'दूर लहरों में एक बड़ी रोशनी इधर आती लगती है।' परंतु दस्यु भाग रहे थे।

'फूँक दो ये मकान!' एक ने मशाल उठायी।

'बेवकूफी मत कर।' सरदार ने डाँटा- 'इनकी रोशनी समंदर में दूर तक हम लोगों को रोशन करती रहेगी और जानता नहीं क्या कि सोरठी मगर कितने खूँखार होते हैं।'

'रण छोड़राय की जय!' दस्यु जब भागे जा रहे थे, ग्राम के बाहर एक झोंपड़ी में से उन्हें ध्वनि सुनायी पड़ी। रात्रि के अन्धकार में यह झोपड़ी उन्हें दीखी नहीं थी।

'एक केकड़ा ही सही।' दो-चार एक साथ घुस पड़े झोपड़ी में। केवल एक अधेड़ साधु मिले उनको। साधु की झोपड़ी में तूँबा-कौपीन छोड़कर और होना ही क्या था। दस्युओं ने ठोकर मारकर जल का घड़ा लुढ़का दिया। पटककर तूँबा फोड़ दिया और साधु को घसीट ले चले।

अपने पोत में दस्युओं ने साधु को पटक दिया था। क्रोध के आवेग में और सच कहा जाय तो युद्धपोत के आ धमकने के भय के कारण वे सोच नहीं सके थे कि इस साधु को वे क्यों लिये जा रहे हैं और उसका क्या करेंगे। वे सब-के-सब डाँड़ सम्हालकर बैठ गये थे। उन्हें यथाशीघ्र युद्धपोत के आने से पूर्व दूर निकल जाना था।

जल-दस्यु समुद्र में मार्ग नहीं भूला करते। परंतु 'आसमानी आफत' का कोई रास्ता उनके पास नहीं था। वे तट से दूर समुद्र में पहुँचे और तूफान की भयंकर हर हराहट उनके कानों में पड़ी।

'तूफान!' दस्यु इस आफत की कल्पना भी नहीं कर सके थे। समुद्र में तूफान आता तो है; किन्तु ऐसे आ पड़ेगा? क्षणों में दस्युपोत नियन्त्रण से बाहर हो गया। पल-पल पर लगता था कि वह अब डूबा, तब डूबा। घोर अन्धकर में कुछ सूझता नहीं था। लहरों के थपेड़े सबके वस्त्र भीग चुके थे। सबके दिल धड़क रहे थे। पोत पता नहीं किधर लहरों पर उड़ा जा रहा था।

'हम कहाँ हैं?' मुख पर आकर भी यह प्रश्न बाहर नहीं आता था इससे भी बड़ा प्रश्न -'हम बचेंगे आज?' लेकिन इस अन्धकार में कोई एक दूसरे का मुख तक देख नहीं पाता था।

× × ×

'श्रीरण छोड़राय की जय!' अरुणोदय के झुटपुटे में दस्युओं ने देखा कि वे जिसे पकड़ लाये हैं, वह भारतीय साधु हिलते-कूदते पोत में एक तख्ते पर तली में शांत बैठा था। वह इतना स्थिर, इतना शांत था कि पोत में वह है, यह बात की दस्यु भूल चुके थे। अब वह हिला हैं और उठाकर लहरों से एक चुल्लू पानी लेने की फिराक में है।

'काफिर!' एक दस्यु ने अपना भाला उठाया।

'ठहरो!' सरदार ने रोक उसे। हम उसे फिर जिबह कर सकते हैं। क्या करता है यह देखने दो!'

'श्रीरणछोड़राय की जय!' साधु को इसकी कोई चिन्ता नहीं जान पड़ती थी कि वह यमदूतों के मध्य में है। पोत अब भी बुरी तरह उछल रहा है, इसकी भी उसे चिन्ता नहीं थी। उसके मुख पर न भय के चिह्न थे और न खेद के। उसने एक हाथ से पोत का एक किनारा पकड़ लिया था, दूसरे हाथ से उत्ताल तरगों से एक-एक चुल्लू जल लेकर मुख धो रहा था।

'यह इतना थोड़ा पानी क्यों पीता हैं?' साधु को समुद्र के जल से आचमन करते देख दस्युओं को कुतूहल हुआ।

'समंदर का पानी वह ढेर-सा पी कैसे सकता है।' दूसरे ने समाधान कर लिया अपनी समझ के अनुसार।

साधु ने संध्या की और सागर की लहरों से उठते भगवान् भास्कर को अर्घ्य अर्पित किया। पोत में खड़े होना सम्भव नहीं था। बैठकर वे प्रार्थना करने लगे - 'विश्वानि देव सवितुर्दु रितानि परासुव.....।'

'यह तो इबादत कर रहा है- खुदा की इबादत! सरदार ने साथियों की ओर देखा। 'काफिर! दूसरा दस्यु चिढ़ उठा- आफ़ताब है इसका खुदा!' और भाला उठाया उसने।

'तुम मेरे सामने हथियार उठाने की जुर्रत करते हो?' सरदार चिढ़ उठा। उसके नेत्र जलने लगे। अपनी भारी तलवार उसने खींची -'रात को कहाँ था आफ़ताब? वह पूरी रात परस्तिश करता रहा है और कौन जानता है कि खुदा ने उसी की दुआ कुबूल करके हमें बचाया नहीं है।'

'एक काफिर के हक में शमशेर उठाना अच्छा नहीं है।' दूसरे दस्यु भी झगड़े को उद्यत हो गये। 'हम इसे गवारा नहीं कर सकते। भले हमारे सरदार की ही यह हरकत हो।'

'मैं नहीं चाहता कि वह कतल किया जाय।' सरदार ने स्वर को नरम करके कहा- 'कुल घंटे भर में हम मौत के जजीरे के पास पहुँच रहे हैं। वहाँ इसे उतार देंगे।'

'एक ही बात, काफिर को मारना है। हम रहम-दिली से मारते, जजीरे के जंगली पत्थरों से मारेंगे।' सरदार के साथी दस्यु खुश हो गये। 'कोई बात नहीं, इसके कबाब पर एक दिन उन्हें दावत उड़ा लेने दिया जाय।'

× × ×

महाद्वीप अफ्रीका के समीप का वह घने वनों से आच्छादित द्वीप। जलदस्युओं ने ही नहीं, सभी परिचित माझियों ने उसका नाम 'मृत्युद्वीप' रख छोड़ा था। जलपोत उस के तट से दूर ही रहने का प्रयत्न करते थे। उस पर रहने वाले वन्यमानव इतने भयानक थे कि उनका दर्शन ने होना ही ठीक। चुटकी बजाते वे बिल में से चींटियों के समान वन में से ढेर-के-ढेर निकल पड़ते हैं। अपनी वृक्ष नौकाएँ वे पाँच-सात हाथों पर उठायें दौड़े आते हैं और समुद्र में एक बार उनकी नौका छूट गयी -तट के मील भर का क्षेत्र तो उनके लिये भूमि पर दौड़ते जैसा क्षेत्र है। उनके अचूक निशाने- उनके हाथ के फेंके भाले लक्ष्य चूकना जानते ही नहीं। आरब्य सुपुष्टकाय, दैत्याकार दस्यु भी इन

कौपीनधारी, कज्जलवर्ण, मोटे होठ और रूखे घुँघराले केशोंवाले वन्यमानवों से दूर ही रहने में कुशल मानते हैं।

दस्युपोत महाद्वीप के पास नहीं गया। उपद्वीप से भी दूर घूमता रहा। वह जैसे कुछ प्रतीक्षा कर रहा था। सहसा उस उपद्वीप की हरियाली में हलचल हुई कुछ आकृतियाँ रेंगती दिखायी पड़ी और फिर तो चिचियारी का कोलाहल समुद्र की लहरों पर गूँजने लगा।

'जल्दी फेंक दो इसे। वे आ रहे हैं। पास आ गये तो समझो कयामत आ गयी।' दस्यु सरदार ने लहरों के ऊपर दूर तैरती काली-काली नौकाएँ देख ली थीं। जैसे बड़े-बड़े मगर मुख फाड़े बढ़े आ रहे हों।

'मेहरबान! अब इन लोगों का मेहमान बनना है जनाब को।' दो दस्युओं ने पकड़कर उठाया साधु को और अट्टहास करके फेंक दिया समुद्र में।

'या खुदा!' सरदार ने सिर पर हाथ दे मारा। कई नौकाएँ एक बड़ी लहर के पीछे से ऊपर उठ आयीं एक साथ। अब उन पर खड़े चीत्कार करते वन्यमानव स्पष्ट देखे जा रहे थे। चिल्लाया सरदार-'फुर्ती! डाँड़ उठाओ! मौत दौड़ी आ रही है! मौत!'

एक, दो, चार-पचीसों नौकाएँ बढ़ी आ रही थीं। पोत इन नौकाओं के समान शीघ्रगामी कैसे हो सकता है और समुद्र अभी शांत हुआ नहीं है। दस्यु प्राण पर खेलकर डाँड़ चला रहे थे।

'ओह!' सबसे आगे की नौका पर खड़े एक काले पुरूष ने हाथ उठाया। एक भाला 'खप्' करता आकर एक दस्यु के कन्धे में घुस गया। लुढ़क गया दस्यु।

'खप्, खट्, खट्, बराबर भाले दस्युओं पर या पोत पर पड़ने लगे थे। नौकाओं ने उन्हें घेर लिया था।

दस्यु सरदार ने देखा कि अब भागने की चेष्टा करना व्यर्थ है। वह पोत से कूद पड़ा सागर के जल में। इतने वन्यमानवों से युद्ध की तो बात सोचना व्यर्थ है।

× × ×

'आप यहाँ कैसे पहुँचे?' सरदार ने आँखे खोलीं तो देखा कि साधु उसके ऊपर झुके कुछ पूछ रहे थे। परन्तु अभी वह कुछ बोल सके, ऐसी दशा में नहीं था। मस्तक में भंयकर पीड़ा हो रही थी। तनिक सिर घुमाकर वह उलटी करने लगा। पेट में से समुद्र का पानी निकल जाने पर उसे कुछ शान्ति मिली।

'बहुत थोड़ी चोट लगी है। सिर चट्टान से टकरा गया लगता है; परन्तु रक्त अब बंद हो गया है।' साधु पास बैठे दस्यु पति का सिर सहला रहे थे।

'हुजूर की मेहरबानी!' दस्यु अत्यन्त दीनस्वर में बोला। उसके नेत्रों से आँसू बह चले- 'मुझे हुजूर माफ कर दें। खुदा के बंदे हैं हुजूर!'

'आप घबराइये मत! मुझे भी लहरों ने आपके ही समान यहाँ किनारे फेंक दिया। अन्तर इतना है कि मुझे चोट नहीं लगी और मैंने समुद्र का पानी नहीं पिया! भगवान् सबका मङ्गल करते हैं।' साधु स्नेहपूर्ण हाथ फेरते रहे –'धूप तीव्र है आप खिसक सकें तो हम लोग कुछ दूर चलकर छाया में बैठें!'

'हम मौत के जजीरे पर हैं?' दस्यु सरदार उठ बैठा। उसका पुष्ट शरीर उसकी जीवनी शक्ति इस विपत्ति में इतनी क्षीण नहीं हुई थी कि वह उठ न सके; किन्तु इधर-उधर देखकर वह हतप्रभ हो उठा। 'वह दूर से आवाज आ रही है। वे लोग मेरे साथियों को बाँधकर उनके चारों ओर नाचते-कूदते, चिल्लाते होंगे। वे उन्हें पत्थरों से मारकर समाप्त कर डालेंगे और टुकड़े करके उनका कबाब खा जायेंगे।'

'मृत्यु दो बार नहीं आती और जब आने को होती है, उससे पहले भी नहीं आती।' साधु का तत्त्वज्ञान दस्यु की समझ में आये, इसकी आशा नहीं थी; साधु ने भी इसे झट अनुभव कर लिया। वे प्रसङ्ग बदलकर बोले –'मेरे गुरुदेव ने बताया है कि 'जो सम्मुख आये, उसे भगवद्रूप मानो और उसके अनुरूप उसकी सेवा करो। संसार की चिन्ता में पड़ना तुम्हारा काम नहीं है।' आप क्या छाया तक चल सकेंगे?'

'आपका हुक्म मानूँगा।' दस्यु को सहायता की आवश्यकता नहीं पड़ी। वह भी देख रहा था। कि अब समुद्र में भागने का कोई मार्ग नहीं और धूप में देर तक बैठा नहीं जा सकता। दोनों में ही दूर तक जाने की शक्ति नहीं थी। तट के सबसे समीप के वृक्ष तक वे जा सके और बैठ गये। लहरों के थपेड़ों ने उनके अंग-अंग चूर कर दिये थे।

'आइये, भगवन्!' विपत्ति अकेली नहीं आती। छाया में बैठे आधा घंटे भी नहीं हुआ था कि सामने की झाड़ी में दो नेत्र चमक उठे। साधु से पहले दस्यु की दृष्टि उधर गयी। वह भय से पीला पड़ गया। उसने बिना बोले उधर संकेत किया। परन्तु साधु तो अद्भुत पुरूष है। उसने तो ऐसे बुलाया जैसे किसी सामान्य अतिथि को बुला रहा हो – 'आप संकोचपूर्वक छिप क्यों रहे हैं? पधारिये!'

सचमुच झाडी में से सिंह निकला और अपनी स्थिर मन्दगति से आगे बढ़ आया।

'आप विराजें! कोई आसन मेरे पास नहीं है।' साधु ने खड़े होकर दोनों हाथ जोड़े 'हम कंगाल कोई भी अभ्यर्थना करने योग्य नहीं, देव!'

सिंह बैठ गया और जब उसके पास साधु बैठ गये, तब अपना मुख उसने उनके पैरों पर रख दिया। एक पालतू कुत्ते के समान अपनी पूँछ वह हिला रहा था और उसके नेत्र अधमुँदे हो चुके थे।

'हुजूर करिश्मा कर सकते हैं!' दस्यु को आश्चर्य हो रहा था कि एक आदमी इस तरह जंगल में खूँखार शेर का सिर थपथपा सकता है।

'भगवान् ने कहा है कि वे पशुओं में सिंह हैं।' साधु का स्वर श्रद्धापूर्ण था।

'हूजूर आफताब की इबादत करते थे और अब शेर को खुदा कह रहे हैं!' दस्यु की समझ में कुछ नहीं आया था; परन्तु उसका भय दूर हो गया था।

'तो आप समझते हैं कि खुदा हर जगह और हर वस्तु में नहीं हैं?' साधु ने देखा दस्यु की ओर।

'वे आ गये- उनमें भी खुदा....।' दस्यु का स्वर भय से बंद हो गया। झाड़ियों के पीछे कुछ काली आकृतियाँ उसने देख ली थी, जो इधर-उधर हिल रही थीं।

पता नहीं क्या हुआ- एक चिचियारी गूँजी और शान्ति फैल गयी। कुछ क्षण ऐसा लगा कि वन्य मानवों का समूह घने वन में, लताओं के पीछे चुपचाप एकत्र हो रहा है और तब तीन-चार सुपुष्ट व्यक्ति धीरे-धीरे एक ओर से बाहर आये।

'आइये, भगवन् !' साधु ने उनकी ओर देखा और सिंह ने भी सिर उठाकर देखा; किन्तु वे भागें, इससे पूर्व ही सिंह ने मुख साधु ने पैरों पर फिर रख लिया।

कुछ पुकारकर कहा उन लोगों ने एक साथ पूरी भीड़ वन के पीछे से निकल आयी। वन्य मानव भूमि पर लेटकर साधु को प्रणाम करते थे।

'ये कहते हैं कि आप वन के देवता हैं या उनके दूत?' दस्यु ने अधर हिलाकर बिना शब्द किये एक वृद्ध से संकेत की भाषा में बातें प्रारम्भ कर दीं।

'देवताओं का आराधक!' साधु का उत्तर सुनकर वे वन्यमानव नृत्य करने लगे। सिंह की उपस्थिति वे भूल ही गये। उन्होंने साधु से प्रार्थना की कि वे उनके ग्राम को पधारकर पवित्र करें। वहीं निश्चय हो गया कि दस्युपोत वे साधु को दे देंगे भारत जाने के लिए और दस्यु को तो वे साधु का सेवक ही समझ रहे थे। सचमुच अब दस्यु साधु सेवक हो चुका था।

'सुहृदं सर्वभूतानाम्'

'सावधान!' हवाई जहाज के लाउडस्पीकर से आदेश का स्वर आया। यह अन्तिम सूचना थी। वह पहिले से ही द्वार के सम्मुख खड़ा था और द्वार खोला जा चुका था। उसकी पीठ पर हवाई छतरी बँधी थी। रात्रि के प्रगाढ़ अन्धकार में नीचे कुछ भी दिखायी नहीं दे रहा था। केवल आकाश में दो-चार तारे कभी-कभी चमक जाते थे। मेघ हल्के थे। वर्षा की कोई सम्भावना नहीं थी। बादलों के होने से जो अन्धकार बढ़ा था, उसने आवश्वासन ही दिया कि शत्रु छतरी के कूदने वाले को देख नहीं सकेगा। हवाई जहाज बहुत ऊपर चक्कर लगा रहा था। सहसा वह नीचे चील की भाँति उतरा।

'एक हजार दो सौ फीट, एक सौ सत्रह, कूद जाओ!' आदेश सभी अंग्रेजी में दिये जाते थे। यह आदेश भी अंग्रेजी में ही था। मैंने अनुवाद मात्र किया है। एक काली छाया हवाई जहाज से तत्काल नीचे गिरी और द्वार बूँद हो गया। हवाई जहाज फिर ऊपर उठ गया। वह मुड़ा और पूरी गति से जिस दिशा में आया था, उसी दिशा में लौट गया। शत्रु के प्रदेश से यथाशीघ्र उसे निकल जाना चाहिये। जिसे नीचे गिराया गया, उसकी खोज खबर लेना न उसका कर्त्तव्य था और न ऐसा करना उस समय सम्भव ही था।

'एक, दो, तीन-दस, ग्यारह-सत्तर, इकहत्तर, गिरने वाला पत्थर के समान ऊपर से गिर रहा था; किन्तु वह अभ्यस्त था। बिना किसी घबराहट के वह गिनता जा रहा था। उसे पता था कि उसे जब गिराया गया, उसका हवाई जहाज पृथ्वी से एक हजार दो सौ फीट ऊपर था। 'एक सौ पंद्रह, एक सौ सोलह, एक सौ सत्रह!' संख्या जो उसे बतायी गयी थी, पूरी गिनी उसने और तब उसके हाथों ने पीठ पर बँधी छतरी की रस्सी खींच दी। पैराशूट एक झटके से खुल गया। अब वह वायु में तैरता हुआ धीरे-धीरे नीचे आ रहा था।

सहसा वायु का वेग प्रबल हो गया। पैराशूट एक दिशा में उड़ चला; किन्तु वह बहुत दूर नहीं जा सका। उसके सहारे उतरने वालों के पैरों को किसी वृक्ष की ऊपरी टहनियों का स्पर्श हुआ। अगले क्षणों में एक शाखा में पैर उलझाने में वह सफल हो गया। बहुत कड़ा झटका लगा। मुख, हाथ, पीठ शाखाओं पर रगड़ लगी। अच्छी चोट

तथा कुछ खरोंचें भी आयी। शरीर की नस-नस कड़कडा उठीं, लेकिन अन्त में पैराशूट उलट गया। वह डाल पर स्थिर बैठ गया और उसने रस्सियाँ खोलकर पैराशूट को पीठ पर से उतार लिया।

वह कहाँ है, कुछ पता नहीं उसे। चारों ओर घोर वन है। वन्य पशुओं की चिग्घाड़ें रह-रहकर गूँज रही हैं। जो मानचित्र उसे दिया गया था, अब वह बड़ी कठिनाई से काम देगा; क्योंकि हवा उसे अपने लक्ष्य से कितना हटा लायी है, किस स्थान पर वह आ गया है, यह जानने का कोइ उपाय उसके पास नहीं।

रात्रि के इस अन्धकार में भूमि पर उतरना आपत्ति को आमन्त्रण देना था। प्रकाश वह थोड़ा भी कर नहीं सकता। इससे शत्रु कहीं समीप हुआ तो वह पता पा जायगा। जब तक झुटपुटा नहीं हुआ, वह चुपचाप उसी डाल पर बैठा रहा। मच्छरों ने उसका मुख लाल बना दिया। शीतल वायु के झकोरे यद्यपि शरीर को अकड़ाये दे रहे थे, उसे अच्छे लगे; क्योंकि कुछ क्षण को उनके कारण मच्छरों से उसे छुटकारा मिल जाता था। वायु की दुर्गन्धि बतलाती थी कि समीप ही कहीं दलदल है।

झुटपुटे के प्रारम्भ में ही वह नीचे उतरा। सबसे पहले उसने कमर से बड़ा चाकू निकालकर भूमि में गड्ढ़ा बनाया। गीली मिट्टी होने से थोड़े ही परिश्रम में गड्ढ़ा इतना बन गया कि उसमें पैराशूट रखकर ऊपर से मिट्टी डाल दी उसने। मिट्टी के ऊपर सूखे पत्ते इधर-उधर से लाकर बिखेर दिये। अब वह निश्चिंत हुआ कि पैराशूट या ताजे गड्ढे को देखकर शत्रु को कोई संदेह होने का भय नहीं रहा।

× × ×

'हम उसे गोली नहीं मार सकते। वह भारतीय है। उसे नेताजी को दे देना होगा।' जापानी अधिकारी परस्पर विवाद करने में लगे थे। एक अंग्रेजों के जासूस को मार देना चाहिये, इस विषय में दो मत नहीं था उनमें किंतु नेताजी ने बहुत कठोर रुख बना लिया था, भारतीयों के साथ किये जाने वाले व्यवहार को लेकर। बात लगभग झगड़े की सीमा तक पहुँच चुकी थी। नेताजी अड़े थे- 'प्रत्येक भारतीय बंदी उन्हें दे दिया जाय। उसके साथ क्या हो, यह निर्णय वे करेंगे।'

'यह हमारे सैनिक अधिकारों में हस्तक्षेप हैं।' जापानी अधिकारियों को ऐसा प्रतीत होता था और वे मन में चिढ़ते थे; किन्तु प्रत्यक्ष विरोध करना उनके लिए सम्भव नहीं था। उन्हें टोकियो से आदेश मिला था -'सुभाषचन्द्र बसु का सम्मान सम्राट के प्रतिनिधि की भाँति किया जाना चाहिये।'

कल रात्रि में कोई अंग्रेजी सेना का विमान वन में जासूस उतार गया। यह पता नहीं है

कि जासूस अकेला ही आया है या उसके कुछ और साथी हैं। विमान का पीछा नहीं किया जा सका; किन्तु वन में खोज करने वाले सैनिक एक भारतीय को पकड़कर ले आये। वह पैराशूट मिल गया भूमि में गड़ा हुआ, जिससे वह उतरा था। अब बिना कठोर व्यवहार के जासूस कुछ बतायेगा नहीं। कुछ सैनिक अधिकारी उसे गोली मार देने के पक्ष में हैं; किन्तु नेताजी का संदेश आ गया है। उन्होंने कहलाया है–'उससे पूछने का काम मुझ पर छोड़ दो !'

'हम यदि उसे रोकते है, बात टोकियो तक पहुँच सकती है।' प्रधान सैनिक अधिकारी ने गम्भीर चेतावनी दी और तब दूसरा उपाय ही इसे छोड़कर नहीं रह गया कि उस भारतीय को चुपचाप नेताजी के समीप भेज दिया जाय।

× × ×

'जिस वृक्ष पर मैं उतरा था, उसकी टहनियाँ और पत्ते टूटे थे। उनको हटा देना चाहिये, इधर मेरा ध्यान नहीं गया था।' वह तरुण बता रहा था – 'जापानी वन निरीक्षकों का ध्यान उन रात के टूटे पत्तों पर गया। उन्होंने उस वृक्ष के आसपास खोज की और पैराशूट को भूमि में से खोद निकाला। इसके बाद उनके सैनिकों का एक पूरा समूह वन में फैल गया। मेरे लिए छिपना सम्भव नहीं रह गया और पिस्तौल का उपयोग करने से कोई लाभ नहीं था। विवश होकर मैं उनके सामने आ गया।'

'जीवन में शिक्षाकाल से तब तक मैंने कभी ईश्वर की सत्ता स्वीकार नहीं की थी। वैसे में पहिले संयम पसंद करता था; किन्तु जासूसी में अनेक बार शराबियों–जुआरियों के बीच में रहना पड़ा। धीरे–धीरे मुझ में सब दुर्व्यसन आ गये। नास्तिक था ही, परलोक की चिंता पागलपन लगती थी।' युवक कहते–कहते रो पड़ा था। उसने अपने अनेक अपकर्मों की रोते–रोते चर्चा की। यहाँ उनकी चर्चा अनावश्यक ही नहीं, अनुचित भी हैं।

'मुझे एक गंदे कमरे में हथकड़ी डालकर बंद कर दिया गया था। मच्छरों को भगाने के लिए हाथ भी खुले नहीं थे। परंतु विपत्ति इतनी ही कहाँ थी। चूहों का एक झुंड आया। उसने मुझे पहिले दूर से देखा, सूँघा और फिर वे निकट आ गये। जब उनमें से एक ने मेरी गर्दन पर मुँह लगाया; मैं चीख पड़ा –'हे भगवान्!' लेकिन मुझे अपने पर ही क्रोध आया। 'मेरे जैसे पामर नास्तिक की पुकार भगवान् सुनेगा भी –यदि वह हो !' वह अब हिचकियाँ लेने लगा था।

'किन्तु भगवान् है। उसने मेरे जैसे पापी की पुकार भी सुनी। घंटे भर भी वह देर करता तो जापानी सैनिक मारते या छोड़ते, चूहे मुझे नोंच–नोचकर खा लेते। उन्होंने गर्दन, पैर और कंधे पर केवल तीन घाव किये कि मेरी कोठरी का द्वार खुल गया। मुझे

वह जापानी सैनिक भगवान् का दूत ही लगा। वह मुझे गोली भी मार देता तो मैं उसे ऐसा ही मानता; किन्तु वह मुझे मोटर में बैठाकर नेताजी के समीप ले गया।' उसने अपने अश्रु पोंछ लिये और दो क्षण को चुप हो गया।

'मुझे आज पता लगा कि भगवान है और वह मुझ जैसे की पुकार भी सुनता है। उसने मुझे बचाया है। अब यह जीवन उसका, उसी के स्मरण में अब जीना या मरना है।' वह बता रहा था कि उसने नेताजी से ये बातें कहीं थी– 'अब शस्त्र उठाकर किसी ओर से किसी की भी हत्या करने की इच्छा मेरी नहीं है। भगवान् है, तो पूरी पृथ्वी उसकी है। सब मनुष्य उसके अपने हैं। अतः मैं युद्ध में अब किसी ओर से नहीं लड़ूँगा।'

'आप पर प्रभु की कृपा है। आप सच्चे अर्थों में भगवद्भक्त हैं। भले यह भक्ति आपको इसी क्षण मिली हो।' नेताजी का स्वर भी भर आया था– 'हम आप पर कोई प्रतिबन्ध लगाने की धृष्टता नहीं कर सकते। आप चाहे जहाँ जाने को स्वतन्त्र हैं। हम केवल प्रार्थना करेंगे कि आप मेरा आतिथ्य स्वीकार कर लें आज के दिन।'

'मुझ से कुछ पूछा नहीं गया। मैंने स्वयं जो कुछ बता दिया, वही नोट कर लिया गया। मेरी हथकड़ियाँ तो नेताजी ने पहुँचते ही खुलवा दी थीं। उन्होंने जिस श्रद्धा से मुझे भोजन कराया, उसका स्मरण करता हूँ तो मुझे अपने–आप से घृणा होने लगती है। उन लोक पूज्य की श्रद्धा मिली मुझे केवल इसलिए कि मैंने भगवान् को स्वीकार किया था। मैंने किया ही क्या था, मेरा मृत्यु मुख से उद्धार तो स्वयं उस भगवान् ने किया था जो कदाचित् मेरे जैसों के पाप देखना जानता ही नहीं! भगवान् ! भगवान् ! और वह फूटकर रो पड़ा। उन्मत्त के समान उठा और एक और दौड़ता चला गया। पता नहीं कहाँ गया वह।

'पागल है!' एक सज्जन ने कहा। फटे वस्त्र, बढ़े केश, चिड़िया का घोंसला बनी दाढ़ी। उसका वेश देख कर दूसरा अनुमान लगाया भी कैसे जा सकता है।

'वह मौज में आता है तब कहता है – मित्र भगवान् ! मेरे प्यारे मित्र! आप सबके मित्र!' उन वृद्ध महोदय ने बताया जिनसे अभी वह बातें कर रहा था –'वह रंगून से युद्ध काल में ही वन के मार्ग के से पैदल भारत आया। वह कहता है कि वन के भयानक जंतु और उनसे भयानक नरभक्षी मानव भी उसके लिए मित्र ही थे। भगवान सबका मित्र और उस भगवान ने उसे मित्र जो बना लिया। अब वह अपनी धुन में पागल है।'

'सबका सुहृद वह श्यामसुन्दर! उसे अपने सुहृद रूप में पाने वाले ये महाभाग धन्य हैं!' पास सुनते एक साधु ने कहा।

❑❑

श्रद्धा की जय

आज की बात नहीं है; किंतु है इसी युग की बात। क्या हो गया कि इस बात को कुछ शताब्दियाँ बीत गयीं। कुलान्तक्षेत्र (कुल प्रदेश) वहीं है, व्यास और पार्वती की कल-कल निदनादिनी धाराएँ वही हैं और मणि कर्ण का अर्धनारीश्वर क्षेत्र तो कहीं आता-जाता नहीं है।

कुलू के नरेश का शरीर युवावस्था में ही गलित कुष्ठ से विकृत हो गया था। पर्वतीय एवं दूरस्थ प्रदेशों के चिकित्सक व्याधि से पराजित होकर विफल-मनोरथ लौट चुके थे। क्वाथ-स्नान, चूर्ण-भस्म, रस-रसायन कुछ भी तो कर सका होता।

नरेश न उच्छृङ्खल थे, न भोगपरायण। उनके पूर्व पुरुषों ने कुलांतक्षेत्र के दिव्य त्रिकोण (व्यास नदी के उद्‌गम, पार्वती नदी के उद्‌गम और दोनों के संगम स्थल की मध्यभूमि) को भगवान् उमा-महेश्वर की विहार भूमि मानकर उसे अपने निवास से अपवित्र करना उचित नहीं समझा। मनुष्य रहेगा तो उसके साथ उसके प्रमाद त्रुटियाँ भी रहेंगी ही। अतः उन्होंने व्यास के दक्षिण तट पर अपनी राजधानी बनायी, जो आज कुलू कही जाती है। यों इस त्रिकोण में उनके वंशधर ने पीछे एक निवास बना लिया था नगर में और वही आज पुरानी राजधानी के नाम से जाना जाता है।

इतने भावप्रवण कुल में जिनका जन्म हुआ, उनके रक्त में वासना की वृद्धि के लिए आहार कहाँ से मिलता। नरेश बचपन से अत्यन्त श्रद्धालु थे और श्रीरघुनाथ जी के उपासक थे। शरीर में रोग के लक्षण प्रकट होते ही चिकित्सा के साथ पण्डितों के अनुष्ठान प्रारम्भ हो गये थे।

प्रारब्ध प्रबल होता है, तब पुरुषार्थ सहज सफल नहीं होता। वर्षा की उमड़ती नदी में बाँध बनाने के प्रयत्न सफल हों, असीम शक्ति और साधन की अपेक्षा है। ग्रह शान्ति देवाराधन और चिकित्सा के प्रयत्न प्रारब्ध को रोक नहीं सके थे। नरेश के सर्वाङ्ग में कुष्ठ फूट पड़ा थ।

'यह घृणित रोग' - नरेश को देह का मोह नहीं रहा था किन्तु उन्हें आन्तरिक व्यथा थी कि अब न वे सत्पुरुषों -संतो के चरणों पर मस्तक रखने योग्य रहे और न कथा सत्संग में बैठने योग्य। किसी तीर्थ में, पुण्य क्षेत्र में कैसे जाया जा सकता है? अपने रोग का संस्पर्श दूसरों को प्राप्त हो, बड़ी सावधानी से नरेश इसे बचाते थे। पत्नी तक को उन्होंने पद वन्दना से वञ्चित कर दिया था। उस साध्वी को भी अपने आराध्य की आज्ञा स्वीकार करके दूर से ही दर्शन करना पड़ता था।

'यह संस्पर्श से फैलने वाला संक्रामक रोग है। किसी भी पावन तीर्थ में यह भाग्यहीन अब स्नान के योग्य नहीं रहा।' महाराज अत्यन्त दु:खित रहने लगे थे। 'किसी मन्दिर में प्रवेश का अधिकार नहीं रहा मुझे। पतितपावन प्रभु भी रूठ गये मुझ से।'

अन्त में राजपुरोहित ने नरेश को मणि कर्ण में निवास की सम्मति दी। मणि कर्ण क्षेत्र का उष्णोदक सम्भव है, नरेश के रोग को दूर कर सके। राजपुरोहित की यह आशा सर्वथा निराधार नहीं थी। उष्ण जलस्रोत पृथ्वी पर बहुत हैं - भारत में भी बहुत है; किन्तु प्राय: सर्वत्र उनमें एक गंध है और वे स्वाद में कषाय न भी हों, परन्तु स्वादिष्ट नहीं है। मणि कर्ण के क्षेत्र में खौलते जल स्रोत का विस्तार मीलों में है। लगभग पूरा मणिकर्ण ग्राम घर-घर में इस जल को अपने कुण्डों में रोककर उससे भोजन सिद्ध कर लेता है। जल निर्गन्ध है, स्वादिष्ट है और अब भी अनेक रोग-चर्म रोग विशेषत: उससे दूर होते हैं।

नरेश ने यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। उनकी दृष्टि दूसरी थी। शरीर जाता ही हो तो उमा महेश्वर की गोद में ही जाय! भगवती हिमवान् सुता का साक्षात भौतिक रूप है- पार्वती नदी और उनकी धारा को अंक माल देते चलने वाला खौलता उष्णोदक स्रोत साक्षात् शिव का ही तो रूप है। मणि कर्ण, क्षेत्र का प्राकट्य तो शम्भु उमा की कीडा में हुआ है। वहाँ कहीं भी स्नान किया जा सकेगा, मुख्य स्थल से कुछ नीचे हटकर। जन सम्पर्क का प्रश्न ही वहाँ नहीं उठता।

राज्य का भार वैसे भी अब मन्त्रियों पर था। आज के समान भुन्तर के समीप व्यास पर सेतु नहीं था। रस्सियों को बाँधकर किसी प्रकार पर्वतीय जन व्यास को पार करते थे। नरेश के लिये कुछ अच्छा सेतु बना। व्यास पार्वती के संगम में स्नान करके वहाँ से दस कोस ऊपर मणिकर्ण क्षेत्र में नरेश का शिविर पड़ा। गिने-चुने सेवक थे साथ में और तब मणिकर्ण गाँव का कोई अस्तित्व नहीं था। केवल पर्व के समय वहाँ कुछ लोग आ जाते थे।

'इस क्षेत्र में पाण्डु पुत्रों ने निवास किया था। इसके मूर्धन्य भाग में ही धनञ्जय ने

तप करके चन्द्रमौलि की आराधना की और अपने पराक्रम से उन पिनाकपाणि को संतुष्ट किया। भगवान् गंगाधर अर्जुन पर कृपा करने के लिये यहाँ किरात वेश में विचरण कर चुके हैं। भगवती जगदम्बा पार्वती के शवर कन्या रूप में श्रीचरण यहाँ पड़े है।' नरेश इस क्षेत्र में आकर अपने रोग को – अपनी व्यथा को विस्मृत हो गये। वे दूर से चमकते धवल वर्ण इलावर्त शिखर को प्रणिपात करते, उष्णोदक में स्नान करते और प्राय: भाव विह्वल रहते।

'श्रीराम जय राम जय जय राम।'

जिह्वा पर यह नाम तो उनके बचपन से बसा था। अब इस क्षेत्र में आकर उन्होंने अन्न और दूध भी त्याग दिया था। उनका राज्य स्वादिष्ट फलों का आकर है; किन्तु उनके लिए वे फल भी अब अग्राह्य बन गये थे। वन में मिलने वाला चावल (कहा जाता है कि यह पाण्डवों की तीर्थ यात्रा के समय उनकी की हुई कृषि का अवशेष है)' जंगली गोभी और कुछ ऐसे ही शाक इनको मणिकर्ण के उष्णोदक में उबाल लिया जाता और दिन में एक बार नरेश उसे ग्रहण करते। अब तो यह चावल गोभी मणि कर्ण से चौदह मील ऊपर क्षीर गंगा क्षेत्र के वन में ही उपलब्ध हैं।

आस-पास के क्षेत्रों में भी नरेश हो आते थे तप, जप और भावना- उनके देह की बाह्यावस्था कुछ भी हो, उनका हृदय इलावर्त शिखर पर जमे हिम के समान उज्ज्वल हो गया था, इसमें संदेह नहीं।

× × ×

सहसा एक दिन राजधानी में संदेश आया कि नरेश लौट रहे हैं। राज सदन सजाया गया। प्रजा प्रसन्न ही हुई। उनके प्रजावत्सल नरेश रोगी सही, उनके मध्य में तो रहें।

'गगनचुम्बी हिमगौराकृति पर्वत शिखर उन ज्योतिर्मय के घुटनों तक भी नहीं था। कह नहीं सकता कि द्वितीया का चन्द्र उनके भाल पर था या क्षितिज पर ; किन्तु पिंगल जटा जूट का अन्त दृष्टि नहीं पाती थी।' लौटकर नरेश ने एकान्त में राजगुरु को जो कुछ बतलाया, वह यही था – 'मणिकर्ण के उष्णोदक से उठती वाष्प राशि स्पष्ट नहीं देखने देती थी और संध्याकाल का अन्धकार भी प्रारम्भ हो गया था; किन्तु लगता था हिमशीतल पार्वती की धारा से एक पाटल गौर मूर्ति उठ खड़ी हुई है और उसे वाम भाग में किये कर्पूरगौर, अमित तेजोमय अहिभूषण भवानीनाथ स्वयं सम्मुख खड़े है।'

गद्गद्कण्ठ, अश्रु झरते नयन नरेश कह रहे थे 'प्रभु की मूर्ति लगता था, क्षण में

प्रकट होती है, फिर अदृश्य हो जाती है अथवा जल में परिणत हो जाती है। उन्होंने मुझे आदेश दिया –'अयोध्या से अपने श्रीरघुनाथ को ले आ। उनका स्नानोदक लेकर स्नान कर –तेरा शरीर स्वस्थ हो जायेगा।'

नरेश ने बताया कि रात्रि में उन्होंने स्वप्न में अयोध्या की वह छोटी-सी श्रीरघुनाथ जानकी की श्रीमूर्ति देखी है। उसका स्थान देखा है और उन मर्यादा पुरुषोत्तम ने भी इस पर्वतीय प्रान्त को अपने पदार्पण से धन्य करने का वचन दिया है।

राजपुरोहित को तो जैसे निधि प्राप्त हुई। मार्ग मिल गया तो लक्ष्य भी मिलकर ही रहेगा। स्वयं राजपुरोहित ने अयोध्या जाने का निश्चय किया। सेवक, सचिव आदि सबको आदेश दे दिये गये।

यह समूह पैदल यात्रा करके अयोध्या पहुँचा। उसे निर्दिष्ट स्थल पर श्रीरघुनाथ जी की उस मूर्ति के दर्शन भी हो गये; किन्तु त्रिभुवन के स्वामी को अपने घर ले जाने के पूर्व उनके सत्कार की प्रस्तुति भी तो चाहिये। राजपुरोहित पूरे एक वर्ष अयोध्या रहे। उन्होंने प्रत्येक दिन, प्रत्येक पर्व पर जैसी, जिस विधि से सेवा श्रीरघुनाथ जी की होती थी, उसका सावधानीपूर्वक निरीक्षण किया और उस सबको लिखते गये।

एक वर्ष पश्चात् योजना बनाकर एक रात्रि में राजपुरोहित के नेतृत्व में यह पर्वतीय लोगों का समूह मन्दिर से उस श्रीमूर्ति को लेकर चल पड़ा। प्रातःकाल जब मन्दिर में मूर्ति नहीं मिली, अयोध्या में हुई हलचल का आप अनुमान कर सकते हैं।

अयोध्या के लोग पीछा करेंगे, यह बात तो निश्चित थी। उन्होंने पीछा किया; किन्तु राजपुरोहित इसके लिये प्रस्तुत थे। क्रोध से उबलते अवधवासी जब समीप आये, राजपुरोहित अपने पूरे समाज के साथ हाथ जोड़े, सिर झुकाये खड़े थे। उन्होंने कहा –'आप मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरघुनाथ जी के अपने जन हैं। हमारे परमादरणीय हैं और हम पर्वत के पापी-अपराधी प्राणी हैं। आप हमें दण्ड देंगे तो हम पवित्र ही होंगे। किन्तु श्रीरघुनाथ जी को हम उनके आज्ञानुसार लाये हैं। वे विश्वनाथ पर्वतों की यात्रा करने निकले हैं। यदि वे लौटना स्वीकार करें, तो आप उन्हें प्रसन्नतापूर्वक ले जाइये।

अयोध्या के लोग क्रुद्ध तो बहुत थे; किन्तु प्रतिवाद के ईधन के स्थान पर नम्रता का जल पड़े तो क्रोधाग्नि कब तक जलती रह सकती है। सबसे अद्‌भुत बात यह हुई कि वह कुछ तोले की श्रीरघुनाथ जी की श्रीमूर्ति किसी के उठाये उठती नहीं थी। सब प्रयत्न करके थक गये और अन्त में अयोध्या से आगतों को कहना पड़ा –'जब प्रभु ही जाना चाहते हैं, तो उन्हें रोकने वाले हम कौन होते हैं। किन्तु श्रीरघुनाथजी के आराधकों का एक परिवार उन्हें छोड़कर लौट जाने को तैयार नहीं था। वह परिवार

श्रीरघुनाथ जी के साथ ही कुलू आया और अभी कुछ वर्ष पूर्व तक उस परिवार के वंशधर कुलू में थे।

पूरे मार्ग में विधिपूर्वक श्रीरघुनाथजी की पूजा-अर्चा होती आयी थी। केवल विश्राम के कुछ समय में ही उनकी पालकी यात्रा करती थी। मार्ग में ही वे पर्वोत्सव भी मनाये गये जो उस समय पड़े।

कुलू में श्रीरघुनाथ जी के पहुँचने से पूर्व ही उनके मन्दिर का निर्माण पूरा हो गया था। धूम-धाम के साथ श्रीरघुनाथ जी कुलू पधारे और मन्दिर में उन्हें विराजमान कराया गया। नरेश मन्दिर में प्रवेश नहीं किया; किन्तु श्रीरघुनाथ जी के पधारते समय दूर से उनकी पालकी को साष्टाङ्ग प्रणिपात कर लिया था।

उत्तम मुहूर्त में श्रीरघुनाथ जी का विधिपूर्वक महाभिषेक सम्पन्न हुआ। अभिषेक का जल स्वयं राजपुरोहित सेवकों द्वारा लिवाकर राजा के पास आये और उल्लसित स्वर में बोले 'आप चौकी पर विराजें। अब आपका अभिषेक सम्पन्न हो।'

'आप भी ऐसी अनुचित आज्ञा देंगे, ऐसी आशा मुझे नहीं थी।' नरेश दोनों हाथ जोड़कर दूर खड़े रोते-रोते कह रहे थे -'यह मेरे आराध्य के अभिषेक का परम पावन जल हैं। इसे क्या इस कुष्ठ से अपवित्र देह पर डाला जा सकता है? यह मेरा वन्दनीय है। मैं कैसे यह कर सकता हूँ कि इसका कोई कण मेरे पैरों तक जाय?'

दो क्षण राजपुरोहित हतप्रभ खड़े रह गये। अन्त में बोले -'भगवान् शंकर और स्वयं रघुनाथजी का ही तो यह आदेश है। श्रीगंगा जी भगवान् पादोदक ही हैं और उनमें स्नान करना शास्त्र संत सभी परम सौभाग्य मानते हैं।'

'मैं अज्ञ प्राणी हूँ। तर्क करने की क्षमता मुझ में नहीं है।' नरेश ने लगभग गिड़गिड़ाते हुए कहा -'उमा महेश्वर तो माता-पिता हैं हम पर्वतीय जनों के। वे स्नेह से शिशु को गोद में लें या मस्तक पर बैठावें; किन्तु जब शिशु में अपनी कुछ समझ आ जाय - अपनी अधूरी पूरी, भ्रान्त या ठीक समझ से वह जो कुछ सम्मान व्यक्त करने का प्रयत्न करता है, वही तो पूजा है।'

राजपुरोहित को बड़ा खेद हुआ। राजा को वे समझा सकेगे, ऐसी आशा उन्हें नहीं थी और नरेश को स्वस्थ देखने की भी दूसरी युक्ति सूझती नहीं थी। अन्ततः उन्हें वह अभिषेक जल लेकर लौटना पड़ा। स्वस्ति पाठ के साथ केवल कुछ जलकण वे अपने नरेश के मस्तक पर डाल सके थे और एक कलश जल नरेश ने अपने पीने के लिये रख लिया था।

'श्रीरघुनाथ जी की जय!' राजपुरोहित अभी उस कक्ष के द्वार तक पहुँचे थे कि

उन्हें पीछे से नरेश की भाव विह्वल जय ध्वनि सुनायी पड़ी। वे पीछे मुड़े , इससे पूर्व नरेश दौड़कर उनके सम्मुख साष्टाङ्ग गिर गये थे - सुन्दर, स्वस्थ, युवा, निर्मल देह नरेश!

दो क्षण फिर चकित थकित राजपुरोहित हर्ष विह्वल अपने यजमान की सम्पूर्ण स्वस्थ काया को देखते और तब उनके कण्ठ से अस्पष्ट गद्‌गद स्वर निकला - 'श्रद्धा की जय!'

× × ×

कुलू के श्रीरघुनाथ मन्दिर में आज भी अयोध्या से आया श्रीरघुनाथ जी का वही श्री विग्रह विराजमान है। देवताओं की इस घाटी के वे अध्यक्ष हैं विजयादशमी को घाटी के सब देवता उनका अभिवादन करने कुलू आते हैं।

❑❑

आर्त

'बाबू जी ! आज तो आप कहीं न जायें।' कोई नीचे से गिड़गिड़ा रहा था। उसका लड़का बीमार था और उसकी दशा बिगड़ती जा रही थी। आज कम्पाउंडर आया नहीं था। अस्पताल बंद रखना कल शाम को निश्चित हो चुका था। वृद्ध डाक्टर अपने मकान में ऊपरी तल्ले में बैठे अपनी लड़की से श्रीमद्भगवत का बंगला अनुवाद सुन रहे थे।

'मैं डाक्टर हूँ बेटी!' स्निग्ध स्वर में उन्होंने कहा, 'मेरी आवश्यकता हिंदू मुसलमानों को समान रूप से हैं। कोई इस बुड्ढ़े को मारकर क्या पावेगा?'

'उत्तेजना मनुष्य को पिशाच बना देती है।' दूर से 'अल्ला हो अकबर' का कोलाहल सुनायी पड़ने लगा था। दादा कलकत्ते गये और पूरे दो सप्ताह हो गये, लौटे नहीं। मैं अकेली रह जाऊँगी यहाँ। नहीं, आप इस दंगे के समय कहीं नहीं जा सकते।' पिता के हाथ के हैंडबेग को पकड़ लिया उसने।

'डाक्टर साहब !' नीचे से करुण आवाज आयी। 'मेरा बच्चा। खुदा आपका भला करेगा। बच्चे को बचाइये।'

'मैं डाक्टर हूँ। मेरा कर्त्तव्य है यथासम्भव रोगी को बचाने का प्रयत्न।' बड़े स्नेहपूर्वक पुत्री के मस्तक पर हाथ फेरा उन्होंने। 'मुझे कर्त्तव्य से विमुख करेगी रुक्मा? श्यामसुन्दर तो हैं ही तेरे समीप।' सिंहासन पर विराजमान श्रीकृष्ण के भव्य चित्र की ओर संकेत था डाक्टर का।

'तो तुम शीघ्र लौट आना।' हैंडबेग छोड़ दिया रुक्मिणी ने। 'आज कुछ-न-कुछ होकर रहेगा। लक्षण अच्छे नहीं दिखायी पड़ते हैं।' आप जानते हैं कि नोआखाली जिले के श्रीरामपुर के लिए वह दंगे का प्रथम दिवस कितना भंयकर था।

'जो सर्वेश की इच्छा!' डाक्टर कच्चे आस्तिक नहीं है। 'जो वह चाहेगा, वही होगा। मैं यहाँ रहूँ तो भी क्या? उसकी इच्छा में बाधा थोड़े ही दे सकूँगा? तू उसी के विश्वास पर है बेटी !' वातावरण से वृद्ध अपरिचित नहीं थे और न उसको छिपाने का प्रयत्न किया उन्होंने। एक हाथ में हैंडबेग और दूसरे में इंजेक्शन बाक्स लिये वे खट्-खट् सीढ़ियों से नीचे उतर गये।

'दादा कलकत्ते से नहीं लौटे।' डॉक्टर के ज्येष्ठ पुत्र किसी कार्यवश कलकत्ता गये थे और उन्हीं दिनों वहाँ दंगा हो गया था। अब तक उनका कोई पता लगा नहीं। पिता पुत्री बराबर चिन्तित रहते हैं। आशङ्का उठती है – कहीं ....। स्नेह मना करता है अमङ्गल धारणा को। 'वे अवश्य जीवित होंगे। आने का मार्ग न मिलता होगा। रेलें भी तो रुकी पड़ी हैं।'

रुक्मिणी ने पुस्तक वहीं खुली छोड़ दी। वह खिड़की के समीप आकर खड़ी हो गयी और अपने वृद्ध पिता की ओर एकटक देखती रही। वे एक मैले कुचैले मुसलमान के पीछे सड़क पर चले जा रहे थे। उस मूर्ख मुसलमान ने उनके हाथ से हैंडबेग भी नहीं लिया था।

'बेचारे बापू' एक दीर्घ निःश्वास लिया उसने। कोलाहल समीप आता जा रहा था। पिता दृष्टि से ओझल हो चुके थे। 'श्रीद्वारिकानाथ उनकी रक्षा करें।' खिड़की बंद कर दी उसने। सीढ़ियों से नीचे उतरकर बाहरी द्वार भी बंद कर दिया। आज न तो मजदूरनी आयी थी और न नौकर। सबको अपनी-अपनी पड़ी थी। ऊपर आकर वह सीधे पूजा की कोठरी में चली गयी। चित्रपट के सम्मुख सुन्दर काश्मीरी आसन बिछा था। बैठने के बदले आसन पर मस्तक रख दिया उसने।

(2)

'अल्लाहो अकबर ! धम्-धम्, 'धड़-धड़' वह उठी और खिड़की खोलकर नीचे झाँका उसने। समीप का मकान धू-धू करे जल रहा था। कुछ लोग पेट्रोल के पीपे खोल रहे थे। कुछ मकानों पर छिड़क रहे थे। हाथों में छुरे, भाले, तलवार, लाठी- उद्धत भीड़ चीख रही थी। गालियाँ बक रही थी। कौन कह सकता था कि वे मनुष्य हैं। पिशाचों का ताण्डव हो रहा था नीचे सड़क पर।

'तेल डालो और माचिश लगा दो।' उसका हृदय धक से हो गया। बाहरी फाटक से कूदकर सामने छोटे मैदान में भीड़ भर गयी थी। पेट्रोल के पीपे सड़क के घेरे मे फेंके किसी ने दो तीन। कुछ लोग मकान का दरवाजा पीट रहे थे। 'इस बुड्ढ़े खूँसट के यहाँ रखा भी क्या होगा। एक काइयाँ है। बैंक में ही रखता होगा पूरा मालमता। दरवाजा नहीं टूटता तो लगाओं माचिश और पार करो।'

'गजब की खूबसूरत है !' किसी दुष्ट की दृष्टि खिड़की पर पड़ गयी। भद्दे ढंग से हँसते हुए वह चिल्लाया 'चाँद है चाँद।' रुक्मिणी ने पीछे हटकर खिड़की बंद कर ली। उसने देख लिया था कि एक टीन फोड़ डाला गया है और कई गुंडे पेट्रोल छिड़कने लगे हैं उसके मकान पर।

'फूँको मत! मैं तो उस खूबरू को लेकर रहूँगा। आज अभी....।' उसके अश्लील शब्दों पर आसुरता को भी लज्जा आयी होगी। दरवाजे पर और भंयकर आघात होने लगे।

'दादा, बापू!' वह उन्मत्त-सी चिल्ला उठी। इधर-उधर कमरों में दौड़ने लगी। डेस्क, संदूक भड़भड़ा डाले उसने। 'कोई तो बचाने आता! कहीं भी तो ऐसा स्थान नहीं, जहाँ इन पिशाचों से परित्राण मिले छिपने पर। कोई भी ऐसा अस्त्र-शस्त्र तो नहीं, जिसे लेकर वह एकाकी अबला इन नृशंस असुरों का सामना कर सके।'

साड़ी पृथ्वी में लोट रही थी। शरीर पसीने से लथपथ हो रहा था। नेत्र टेसू के फूल बन गये थे। उनमें का पानी सूख गया था। वह काँपती, लड़खड़ाती एक से दूसरे कमरे में दौड़ रही थी।

'बापू का पिस्तौल!' दौड़कर बैठक में पहुँची। 'हाय, डेस्क तो बन्द है। टूटता भी तो नहीं।' पत्थर दे मारा उसने डेस्कपर। द्वार पर प्रहार बढ़ते जा रहे थे। वह चरमरा रहा था। भीड़ चिल्ला रही थी। वह डेस्क पर पत्थर पटक रही थी।

'अररर धड़ाम्!' कर्राकर द्वार भीतर की ओर गिर पड़ा। भीड़ का तुमुलनाद गूँजा 'अल्लाहों-अकबर!' डेस्क टूटा नहीं था। भागी वह बैठक से ऊपर को। ऊपर बड़ी भीड़ मकान में पिल पड़ी थी।

'तुम, हाँ तुम्हीं अब मुझे बचाओ! श्यामसुन्दर!' सीधे दौड़ती हुई पूजा की कोठरी में पहुँची। उस कोठरी का द्वार बंद करना भी भूल गयी थी। मस्तक पटक दिया उसने मूर्ति के सम्मुख बिछे अपने ही नित्य बैठने के आसन पर। 'रुक्मिणी तुम्हारी है – हाँ तुम्हारी ही है यह अपनी रुक्मिणी की ही भाँति हाथ पकड़कर दस्युओं के बीच उठा लों या फेंक दो इन भूखे भेड़ियों के सम्मुख एक मांस खण्ड के समान।'

उसे लगा कि कमरा आलोक से जगमगा उठा है। दिन में भी कमरे में कोई दूसरा सूर्य उदित हो गया है। आगे कुछ देख नहीं सकी वह संज्ञाशून्य हो गया था उसका शरीर।

'भागो! भागो!' पेट्रोल के खुले पीपे में कोई चिनगारी पड़ गयी थी। मकान पर छिड़के पेट्रोल ने अग्नि पकड़ ली थी। लपटें क्षितिज को चूमने ऊपर दौड़ रही थीं और मकान में घुसी हुई भीड़ सिर पर पैर रखकर मकान से बाहर।

(3)

'डॉक्टर साहब! इस समय आप मेरे घर से बाहर हर्गिज नहीं जा सकते।' वहीं मैला-कुचैला मुसलमान सामने खड़ा था, जो डॉक्टर को यहाँ तक ले आया था। द्वार बंद कर दिया था उसने। 'आप होश में नहीं हैं।'

'तुम्हारे लड़के को अब दूसरे इंजेक्शन की जरूरत नहीं होगी।' अनुनय किया डॉक्टर ने। 'मैं दवा दे चुका हूँ। उसका ज्वर उतर रहा है। हाय, मेरी रुक्मा। उधर ही से शोर आ रहा है। वह देखो, मेरी कोठी के पास लपटें उठ रही हैं। तुम्हारे पैरों पड़ता हूँ।' सचमुच वृद्ध ने उस मैले-गंदे मुसलमान के पैरों पर मस्तक रख दिया।

'लड़का मर भी जाय तो मैं परवा नहीं करता।' जल्दी से पीछे हटकर उसने डॉक्टर को उठाया अपने पैरों से। 'वहाँ शैतानों के बीच में मैं आपको नहीं जाने दे सकता। किसी भी तरह नहीं। मौत के मुँह में आप जा रहे हैं। वे सब आज न मुसलमान हैं और न आदमी। शैतान सवार है उनके सिर। कुछ नहीं देखेंगे वे। आप उम्मीद नहीं कर सकते कि वे आपको जिंदा छोड़ देंगे।' दरवाजे से पीठ लगाकर वह अटल, अडिग खड़ा हो गया।

'मरने दो फिर एक काफिर को।' डॉक्टर अधीर हो रहे थे। पिस्तौल लाये होते तो अवश्य उसे गोली मार देते और निकल जाते सड़क पर। 'हाय, रुक्मा का पता नहीं क्या हाल होगा। मुझे जाने दो। सबाब होगा तुम्हें।'

'अपना सबाब मैं खूब जानता हूँ।' इस भयानक परिस्थितियों में भी वह हँस पड़ा। 'मैं इंसान हूँ और मुसलमान हूँ। मैं जानता हूँ कि मुझे अपने पड़ोसी के साथ कैसे रहना चाहिये। अपने पर एहसान करने वाले के लिये क्या करना चाहिये। मुझे शैतान धोखा नहीं दे सकता। क्योंकि मैं एक ठीक मुसलमान हूँ।'

'मुझे किसी भी तरह जाने दो।' डॉक्टर फिर गिड़गिड़ाये। 'मैं पहुँचते ही तुम्हे पाँच हजार रुपये दूँगा।' उनकी वाणी में आग्रह, अनुनय एवं करुणा, सब भर गयी थीं। भीड़ लौट रही थी। कोलाहल इधर ही बढ़ता आ रहा था।

'डॉक्टर साहब!' जैसे सावधान कर रहा हो वह। 'आप मुझे फुसला नहीं सकते। बच्चा नहीं हूँ मैं। लोग इधर ही आ रहे हैं। हमीदा की माँ! अगर कोई आवाज दे तो तू कह देना कि कोई घर में नहीं है। वह भी तो तुम लोगों के साथ भीड़ में ही गये हैं।' अपनी स्त्री को आदेश दिया उसने।

'मैं झूठ नहीं बोलता।........'

'अच्छा, मेहरबानी करके जबान बंद कीजिये। कतई बंद।' उसने कठोर स्वर से कहा। भीड़ का कोलाहल बहुत पास आ गया था। 'अगर आपने फिर कुछ कहा तो मैं मजबूर होऊँगा कि आपके हाथ-पैर बाँध दूँ और मुख में ....।' अपना तेल से चीकट बदबूदार गमछा दाहिने हाथ से उठाकर डॉक्टर के सामने कर दिया उसने।

बेचारे डॉक्टर - वे समझ गये कि आज बुरे फँसे हैं। यह कठोर आदमी जो कुछ भी कह रहा है, उसको करने में उसे एक मिनट भी नहीं लगेगी। उनके वृद्ध शरीर में इस

हट्टे-कट्टे तरुण का प्रतिकार करने की शक्ति नहीं है। नेत्रों में अश्रु भरकर बड़ी दीनता से उन्होंने उसकी ओर देखा।

'आप वहाँ बैठ जाइये।' कण्ठ स्वर मृदुल हो गया था। एक खाली चारपाई की ओर संकेत था उसका, जो एक कोठरी मे बिछी थी। 'भीड़ को निकल जाने दीजिये। मैं जाकर बिटिया का पता ले आता हूँ। हो सकेगा तो उसे यहीं लिवा लाऊँगा। आपका वहाँ जाना ठीक नहीं है जब तक हालत सुधर नहीं जाती, आपको इसी गरीब खाने को अपना मकान मानना होगा।'

× × ×

(4)

'बेटी ! बेटी रुक्मा !' सारी कोठी जल गयी थी। मकान का बहुत-सा भाग टूटकर गिर पड़ा था। अभी भी लपटें इधर-उधर उठ रही थी। मेज, कुर्सी तथा दूसरे लकड़ी के जलने योग्य पदार्थ अब भी धधक रहे थे। उस्मान का ही साहस था उस अवें से तपते भट्ठे मे प्रवेश करने का।

'जल तो नहीं गयी। वे सब उठा तो नहीं ले गये?' वह बार-बार पुकार रहा था। कुछ आधी गिरी कोठरियों में भीतर जाना किसी प्रकार सम्भव नहीं था। भीतर धुआँ भरा था और लपटें फुफकार रही थी। झाँककर, पुकार कर वह इधर-उधर ढूँढ़ रहा था किसी को।

'ओह, मेरी बिटिया !' जैसे कोई निधि मिल गयी हो। जीने का पता नहीं था। गिरे हुए ईटों पर से ही बचता-बचाता ऊपर आया था वह आधी छत गिर चुकी थी। मोटे देशी जूते के भीतर भी पैरों के तलबे भुने जा रहे थे। एक कोने में एक कोठरी पूरी खड़ी थी। उसका बाहरी भाग तो जल गया था, लेकिन दरवाजा बचा था और शायद अग्नि की लपटे उसमें घुसने की हिम्मत नहीं कर सकी थीं। धुआँ जरूर भर गया था। उसमें।

दूर से ही उसने देख लिया कि कोई लड़की जमीन पर सिर रखे औधी पड़ी है। और कुछ देखने के लिए न अवकाश था और न वह देखना ही चाहता था। धड़धड़ाकर कमरे में घुस गया। लड़की मूर्छित थी। उसने खुले सिर पर हाथ रखा।

'श्यामसुन्दर !' स्पर्श ने उसे चौंका दिया। चीख पड़ी वह अपने आप घुटनों में अधिक सिकुड़ने का प्रयत्न किया उसने वह समझ गया कि बुरी तरह डर गयी है। लड़की।

'बेटी !' बड़े प्रेमभरे स्वर में पुकारा उसने।

'बापू! चेतना लौट आयी। उसने उठने का प्रयत्न करते हुए बिना देखे ही प्रश्न किया। 'बापू कहाँ हैं?' तुम यहाँ कैसे आये? बापू का क्या किया तुमने?' उसे देखते ही लड़की ने पहचान लिया। चौंक गयी, डर गयी और ढेर से प्रश्न कर डाले।

'मैं दुश्मन नहीं हूँ। डरो मत।' आश्वस्त करना पहले जरूरी था। स्निग्ध स्वर का प्रभाव लड़की पर पड़ रहा है, यह उसने लक्षित कर लिया। 'तुम्हारे बापू मेरे घर सुरक्षित हैं। भले चंगे हैं। वे।'

'बापू अच्छे हैं?' बड़ी उत्सुकता से पूछा उसने।

'हाँ, वे अच्छे हैं। तुम्हे भी उन्होंने बुलाया हैं। तुम्हारा यहाँ रहना अब भी खतरे से खाली नहीं है।' बहुत धीरे-धीरे कह गया वह।

'तुम्हारा घर? एक मुसलमान के घर?' आशंका से उसका हृदय भर गया। 'नहीं - मैं तुम्हारे घर नहीं जाऊँगी। तुम यहाँ से चले जाओ।' उसने फिर भरी दृष्टि से अपने सिंहासनस्थ भगवान् की ओर देखा। उसे लगा- वह चित्रमूर्ति मुसकारा रही है।

'मुसलमान के घर नहीं अपने बाप के घर अपने घर।' उस गंदे मुसलमान के नेत्रों में पवित्र उज्ज्वल अश्रु झलमला आये। 'बेटी ! क्या मुसलमान इंसान नहीं होता?'

'हो सकता है।' अविश्वास की भी एक सीमा होती है। हृदय अच्छी प्रकार हितेच्छु हृदय को पहचानने की शक्ति रखता है। 'मैं अपने श्यामसुन्दर को छोड़कर कहीं नहीं जा सकती।'

'इनको भी ले चलो बेटी!' उसके नेत्र झरने लगे। दूसरों की धार्मिक भावना का आदर करना वह खूब जानता है। 'इस गरीब बाप के झोपड़े को भी इनके कदमों से पाक बनने दो। मैं तुम्हारे और इनके लिए एक पूरी कोठरी खाली कर दूँगा बेटी! कोई दिक्कत नहीं होगी तुम्हारी पूजा में।'

वचनों में अन्तर की सच्चाई थी। उसने चित्रपट को उठाकर हृदय से लगा लिया और उसी मुसलमान के पीछे-पीछे चल पड़ी। हृदय से लगा वह नटनागर ज्यों-का-त्यों मुसकरा रहा था।

जिज्ञासु

'प्रकृति भी भूल करती हैं।' अपने आप डॉक्टर हडसन कह रहे थे। उन्होंने साबुन से हाथ धोये और आपरेशन ड्रेस बदलने लगे। 'जड नहीं, जड तो कभी भूल नहीं करता। उसमें भूल करने की योग्यता ही कहाँ होती है। मशीन तो निश्चित ही कार्य करेगी।'

आज जिस शव का डॉक्टर ने आपरेशन किया था, उसने एक नयी समस्या खड़ी कर दी। बात यह थी कि जिस किसी का भी वह शव हो, इतना तो निश्चित ही था कि उसने अपनी लगभग साठ वर्ष की आयु पूर्ण की है और उसका शरीर सिद्ध करता है कि वह एक स्वस्थ सबल पुरुष रहा है। डॉक्टर को आश्चर्य में डाल दिया था उस शव की शरीर रचना ने। ऊपर से देखने पर सामान्य पुरुष के शरीर में और उसमें कोई भेद नहीं था; किन्तु भीतर? हृदय दाहिनी ओर, यकृत बायीं ओर। सम्पूर्ण अंत्र एवं स्नायुजाल साधारण शरीर रचना से ठीक विपरीत दिशा में।

'जैसे रचनाकार ने सभी आँतों के उलटी दिशा में रखकर परीक्षण किया हो कि इस दशा में उसकी कृति ठीक काम करती हैं या नहीं।' डॉक्टर के मस्तिष्क में आपरेशन के समय से ही यह प्रश्न चक्कर काट रहा था। उन्होंने शव को मेज पर ही सुरक्षित छोड़ दिया था और उसके पूरे भीतरी शरीर का फोटो लेने के लिए कैमरामैन को बुलवा भेजा था। उनके सहकारी ने विस्तृत विवरण नोट कर लिया था। यह भी निश्चय हो गया था कि यह शव प्रधान विज्ञानशाला को दे दिया जायगा।

'भूल एवं परीक्षण तो चेतन ही करता है। ' डॉक्टर का ध्यान शरीर रचना की अद्‌भुतता के बदले कारण की ओर अधिक था। 'तब क्या सृष्टि का सचमुच कोई चेतन रचनाकार है?' उन्हें स्वयं अपने विचारों पर आश्चर्य हो रहा था। ऐसे भद्दे अन्धविश्वासों की बात सोचने में भी उनका परिष्कृत मस्तिष्क झिझकता था।

बचपन में माता-पिता की आस्तिकता ने उन्हें पूर्णतः प्रभावित किया था। प्रत्येक रविवार को अपनी माता की अँगुली पकड़कर वे गिरजाघर जाया करते थे। नेत्र बंदकर किसी अज्ञेय सत्ता का अनुभव करने का बहुत अधिक गम्भीर प्रयत्न होता था, मानो वहाँ पादरी कहा करते थे 'यह बच्चा निश्चय संत होगा।'

यह भी स्मरण है कि हाई स्कूल तथा कॉलेज में सहपाठी उनका परिहास करते थे। आस्तिकता, धर्म एवं ईश्वर का पक्ष लेकर विवाद करने वालों में वे समर्थक पक्ष के सबसे उत्साही छात्र थे। प्राय: उनका परिहास करने के लिए ही सहपाठी ऐसे विवाद प्रारम्भ करते थे और भावुकता वश वे शीघ्र आवेश में आ जाते थे।

संगति का प्रभाव पड़ता ही है। निरंतर के व्यङ्ग एवं आक्षेप ने संदेह का बीज अंकुरित कर दिया। इतने पर भी बाल्यसंस्कार प्रबल रहे। परीक्षण का निश्चय हुआ और माता-पिता की इंजीनियर बनाने की इच्छा विरुद्ध मि० हडसन आज डॉक्टर हडसन हैं। उन्होंने शव परीक्षण में अत्यधिक श्रम किया। मरते समय पशु एवं मनुष्यों की भरपूर जाँच की। जीवित खरगोश को चीरकर जीव को पकड़ने का प्रयत्न किया। अन्तत: वे इस निश्चय पर पहुँचे। 'शरीर में जीव जैसी कोई सत्ता नहीं। ईश्वर सचमुच मानव का मानस पुत्र है और धर्म मानव दुर्बलताओं का संघीभाव। ईश्वर एवं धर्म का मूल भय एवं मोहजन्य अविश्वास ही है।'

'यदि सृष्टिकार कोई चेतन हो' डॉक्टरी की निर्णीत धारणाओं पर आज के शव ने पानी फेर दिया था। वे आमूल नये सिरे से विचार करने को बाध्य हो गये थे। 'तब तो जीव भी होगा। ईश्वर भी होगा और तब धर्म अनिवार्य हो रहेगा।' आज मन में पुन: दुविधा उत्पन्न हो गयी थी। इस अनतर्द्वन्द्व से त्राण पाने का कोई मार्ग दिखायी ही नहीं देता था।

'इस विषय में भारतीयों ने सबसे अधिक अन्वेषण किया है। इतने दिनों के अनुभव से आज डॉक्टर जान चुके हैं कि डॉक्टरी चीर-फाड़ से जीव के सम्बन्ध में कुछ भी जानना सम्भव नहीं है। सच्चा जिज्ञासु भूल भले ही जाय, सदा के लिए पथ भ्रष्ट नहीं हो सकता। डॉक्टर की जिज्ञासा सच्ची थी। उन्हें भारत प्रवास का निश्चय करने में दो क्षण की भी देर नहीं लगी।

× × ×

(2)

'मैं भी बुद्ध हो रहूँगा। गौतम भी तो मनुष्य ही थे। तपस्या यदि उनके लिए सम्भव थी तो मेरे लिए अशक्य नहीं होगी।' डॉक्टर ने बौद्ध धर्म में दीक्षा ले ली। विलायत में वे अमिताभ के सम्बन्ध में बहुत अध्ययन कर चुके हैं। यहाँ आते ही कोट पतलून छोड़कर मुण्डित मस्तक होने एवं पीले वस्त्रों को पहनने में उन्हें कोई संकोच नहीं हुआ। काँटा चम्मच तो छूट ही गया था, अन्न छोड़कर वे पूरे फलाहारी हो गये।

'तपस्या के लिए तो हिमालय का प्रदेश ही भारत में श्रेष्ठ माना गया है।' सम्पूर्ण भारतीय ढंग अपनाने का निश्चय हो गया था। बिना पूरी विधि के भारतीय तत्व ज्ञान

भला कैसे मिलेगा। 'एक बार जान लूँ, फिर उपलब्धि के आधुनिक युगानुरूप वैज्ञानिक साधन आविष्कृत करना सरल हो जायेगा।' अन्वेषण की लगन और उसके लिए पराकाष्ठा का त्याग यूरोपीय सभ्यता की अपनी वस्तु हैं।

नैनीताल से कुछ नीचे, सुन्दर स्वच्छ सलिल की कल कलवाहिनी छोटी पर्वतीय सरिता के किनारे, गरम जल के झरने से कुल दो सौ गज दूर, पुष्पित हरित लता तरुओं के मध्य एक कुटिया बन गयी। यों बरगद का वृक्ष समीप था और उसी को बोधि वृक्ष बनाने का स्वप्न था डॉक्टर के मन में।

आसपास के लोगों में कुतूहल स्वाभाविक था। भीड़ यों ही गोरे चमड़े का साधु देखकर आने लगी थी। जब यह ज्ञात हुआ कि वह वटमूल की वेदिका पर सात दिन से बिना खाये-पीये बैठा है, बैठे-बैठे ही सो लेता है, मेला एकत्र होना स्वाभाविक था। डॉक्टर इसकी पहले से सम्भावना कर चुका था। उसकी सावधानी का स्वरूप था। दढ़ियल सिख पहरेदार। वह भीड़ को वहाँ पहुँचने से पहले ही रोककर लौटा देता था। लोगों के पुष्प, चंदन, फल उसकी तपस्या में विघ्न डालने न पहुँच सके।

'इस प्रकार तो मृत्यु ही हो जायेगी।' उसने पहले नहीं सोचा था बुद्ध की मानसिक एवं शारीरिक शक्ति के सम्बन्ध में। 'मैं यूरोपियन हूँ। गौतम के समान वातावरण में रहने का पूर्वाभ्यास मुझे है नहीं।' शरीर दुर्बल एवं अशक्त हो गया था। धैर्य को कष्ट ने विचलित कर दिया था। क्षुधा पिपासा किसे व्याकुल नहीं कर देती और वह तो सात दिन से उस स्थान से उठा भी नहीं था।

'मन?- मन तो ऐसे अटपट चाट एवं भोजनों का बराबर चिन्तन करता है, जिनकी मैंने कभी पहले कल्पना भी नहीं की थी। जिन बाजारू वस्तुओं से मैंने सदा घृणा की है, वही आज मुझे प्रलुब्ध कर रही हैं।' मन प्रतिक्रिया कर रहा था बल प्रयोग से विद्रोही होकर। अशान्त हो उठा था वह तपस्वी। उसके लिए इस कष्ट सहिष्णुता का कोई अर्थ रह नहीं गया।

'भूल तो मेरी ही है।' उसे स्मरण हुआ कि पूरे चालीस दिन के उपवास के अनन्तर गौतम ने भी तपस्या का परित्याग तो उसे व्यर्थ समझकर ही किया था। 'मैं भी कैसा मूर्ख हूँ।' उसने धीरे से पहरेदार को पुकारा और उसे संतरे का रस ले आने की आज्ञा दे दी।

लोकापवाद से तो वे डरते हैं, जिनका उद्देश्य लोकैषणा होती है। 'लोग क्या कहेंगे?' सच्चे हृदयों में यह प्रश्न कभी उठता ही नहीं। अवश्य ही शारीरिक दुर्बलता उसे वहाँ से दस पन्द्रह दिन कहीं जाने न देगी।

(3)

'तो तुम्हें पुस्तकों में कुछ भी नहीं मिला?' वे जटाजूटधारी महात्मा हँस पड़े।

प्रणाम के अनन्तर प्रश्न का अवकाश भी नहीं दिया था उन्होंने। 'साधुओं में भी तुम्हें कोई मार्गदर्शक उपलब्ध न हुआ?'

'मेरा दुर्भाग्य!' रो पड़ा वह। पूरे दो वर्ष तो वह अपनी पहाड़ी कुटिया में ग्रन्थों के पीछे पड़ा रहा। बौद्ध , जैन, शांकरवेदांत, रामानुज तथा दूसरे वैष्णवों के ग्रन्थ, तंत्रग्रन्थ सब छान डाले उसने। सबके सिद्धान्त, प्रक्रिया का बड़ा विद्वान् अवश्य हो गया वह किन्तु क्या मिला उसे? ग्रन्थों में अनेक प्रकार के योग, अनुष्ठान, उपासनाएँ उसे मिली। सबका मूल था, 'किसी गुरु के शरणागत होकर तब कुछ करो।' अन्ततः दो वर्ष बाद वह योग्य गुरु के अन्वेषण में निकला। ग्रन्थों के अध्ययन ने उसे महापुरुषों के सम्बन्ध में एक निश्चित धारणा दे दी थी। उसे ठगा नहीं जा सकता।

तीन वर्ष से कुछ अधिक ही भटकता रहा है। पूरे भारत के दो चक्कर कर चुका है। दुर्गम वनों में, पहाड़ों में सुदूर गाँवो में, पता नहीं कहाँ-कहाँ भटका है। प्रायः सभी कहीं उसका स्वागत हुआ है। बहुत से स्थानों पर उसे सिद्धियों द्वारा आकर्षित करने का प्रयत्न हुआ है। विद्वत्तापूर्ण व्याख्याएँ उसके लिए व्यर्थ थीं। सिद्धियाँ उसे आकर्षित न कर सकीं। रहस्य उसे भ्रांत करने में असमर्थ रहा। वह जिज्ञासु था। सच्ची भूख थी उसमें अध्यात्म की। वह भूख जो आडम्बर को अपनी धमक से भस्म कर देती है।

'यह कैसे कहूँ कि महापुरुषों में कोई मुझे कृतार्थ करने में समर्थ न थे।' जिज्ञासु नम्र होता है। उसमें सम्पूर्ण नम्रता विद्यमान थी। आज वह जिस दुर्बल गौरवपूर्ण तेजस्वी महापुरुष के समीप पहुँच गया था, उन्होंने पता नहीं क्यों उसके हृदय को अत्यधिक आकर्षित कर लिया था। यह दूसरी बात है कि वे बहुत तो क्या थोड़े भी प्रसिद्ध नहीं थे। उन्हें सम्भवतः आस-पास कोई जानता भी नहीं था। यहाँ उन्हें आये भी दो तीन दिन ही हुए हैं और वे साधारण साधु की भाँति मन्दिर के अतिथि हैं।

मन्दिर और मूर्तियों में उसे कोई आकर्षण हो, ऐसी बात नहीं। यों ही आज इधर घूमने आकर मन्दिर में चला आया था। पुजारी जी उससे परिचित हैं। एक कोने में आसन लगाये महात्मा पर दृष्टि पड़ गयी। उसे आकर्षण जान पड़ा और समीप जाकर उसने दण्डवत् प्रणाम किया। उसे ज्ञात है कि वैष्णव साधुओं को इसी प्रकार प्रणाम किया जाता है। भूमि पर बैठने में अब उसे कोई हिचक नहीं होती।

'सम्भवतः मेरे पूर्वकृत पाप बहुत ही प्रबल हैं।' भारतीय दार्शनिक सिद्धान्त उसे कण्ठ हो गये हैं। यों महात्मा जी ने पहुँचते ही उसके अध्ययन एवं साधु अन्वेषण के सम्बन्ध में बिना बताये ही जो कुछ कहा था, उस सिद्धि तथा चमत्कार की ओर उसने ध्यान नहीं दिया। उसके लिए अब वह साधारण वस्तु हो गयी थी।

'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः' महात्मा जी ने केवल श्रुति के एक मंत्र की ओर संकेत भर किया।

'ओह, तब क्या वे दयामय मुझे अपनाना नहीं चाहते?' जैसे हृदय में एक प्रकाश हो गया हो। उसने समझ लिया कि उसका भटकना व्यर्थ है। साधनों एवं अनुष्ठानों की कोई महत्ता नहीं। एक क्षण में उसे इतना कुछ प्राप्त हो गया, जितना दो वर्ष के अध्ययन तथा तीन सवा तीन वर्ष के निरन्तर भ्रमण ने भी नहीं दिया था। मस्तक रख दिया उसने महात्माजी के चरणों में।

'तुमने कभी उसकी ओर देखा भी है? कभी उसे पुकारा है?' महात्मा जी गम्भीर हो गये। 'माता कभी खेल में लगे बच्चे को उठाने नहीं दौड़ती। रोता, चिल्लाता और 'माँ-माँ!' पुकारता शिशु ही उसे आकर्षित करता है। तुम्हें यह भी जान लेना चाहिये कि माता को पुकारने के लिए न कोई विधि होती है और न नियम।'

उसके नेत्रों से बूँदें नहीं, धारा चल रही थी। आज उसने पथ पाया था और पथ प्रदर्शक के चरण छोड़ने की उसकी कोई इच्छा न थी।

(4)

'यह तो कल्पना है, मानी हुई वस्तु है।' उसकी पुरानी पर्वतीय कुटी अब एक भव्य मन्दिर का रूप ले चुकी थी। खूब सुसज्जित था मन्दिर। बड़ी सुरुचिपूर्ण थी उसकी रचना। चारों ओर पुष्प वाटिका तथा तुलसीकानन सुशोभित हो रहा था। मन्दिर में मूर्ति के दोनों पार्श्वों की धूपदानियों से सुगन्धित धूम उठ रहा था। सम्मुख स्वर्ण दीप में पञ्चशिखाएँ जगमगा रही थीं। रजत आसन पर सुपूजित दक्षिणावर्त शङ्ख रखा था और सजे रखे थे पूजा के रजत पात्र। आसन के वस्त्र भी कौशेय थे। द्वार पर का नीला मखमली पर्दा एक ओर सिकुड़ा टँगा था।

'मैं सत्य चाहता हूँ। कल्पना मुझे नहीं चाहिये।' गले में तुलसी की कंठी बाँधे, भालपर ऊर्ध्वपुण्ड्र लगाये, पीतकौशेय धोती एवं पीतोत्तरीय में वह गौरवपूर्ण स्वयं दूसरी देवमूर्ति बन गया था। आरती कर चुका था और नित्य की कण्ठस्थ प्रार्थनाओं का क्रम समाप्त हो गया था।

'मैंने समझा था, यह कल्पना ही मुझे सत्य तक पहुँचा देगी।' दण्डवत् प्रणाम करने के पश्चात् वह वहीं घुटनों के बल बैठ गया। बाहर की भीड़ को आरती और तुलसी दल देना आज वह भूल चुका था। लोगों ने देख लिया कि आज वह जल्दी मन्दिर से निकलता नहीं दीखता, तो धीरे-धीरे खिसकने लगे।

'मैं तुम्हें पुकारता हूँ - केवल तुम्हें।' व्याकुलता अपनी सीमा पर पहुँच गयी थी 'मैं नहीं जानता कि तुम कौन हो। कैसे हो। यह जानने के लिए ही तो तुम्हें पुकारता हूँ। मैं उसे पुकारता हूँ, जो विश्व का आदि कारण है। जो मूलस्रष्टा है। जो सबका कारण है -

सम्पूर्ण कारणों का परम कारण। मैं उसे जानना चाहता हूँ और इसीलिए उसे पुकारता हूँ।'

उसे पता नहीं लगा कि कब भगवान भास्कर ठीक मध्य क्षितिज पर पहुँचे, कब वे प्रतीची की ओर आकर्षित हुए और कब अपने साथ सम्पूर्ण अवनी को अरुणिमा के समुद्र में स्नान कराके उन्होंने अपने विश्राम भवन के द्वार पर तमस की काली यवनिका गिरा दी।

उसे पता नहीं कि सेवकों ने उससे कब क्या आग्रह किया भय एवं संकोच भरे मंद स्वर में। कब किसने धीरे से मन्दिर में प्रवेश करके प्रदीप जला दिये, यह भी वह नहीं जानता। उसने सबको मना जो कर दिया है कि जब वह भगवान के सम्मुख हो तो उससे कुछ न पूछा जाय। कुछ न कहा जाय, वह बैठा रहा नहीं, मूर्ति के चरणों में स्थिर अटल उसके नेत्र झरते रहे। लोगों ने आश्चर्य से देखा कि आज पहली बार वह पता नहीं, किसी भाषा में क्या बड़बड़ा रहा है। कौन जानता था यहाँ उसकी मातृभाषा!

'तुम सुनोगे! तुम्हें सुनना होगा!' प्रार्थना की नम्रता प्रेमा ग्रह में परिणत हो गयी। 'आज तुम्हें मेरी पुकार सुननी ही होगी! मैं बिना तुम्हें सुनाये यहाँ से अब नहीं उठता!' व्याकुलता ने चरम सीमा का अतिक्रमण किया।

अकस्मात उसके बंद नेत्र खुल गये। उसे लगा – किसी ने पलकों को पकड़कर नेत्र खोल दिये हैं। मन्दिर एक अलौकिक शीतल प्रकाश से जगमगा रहा था। उसे जान पड़ा – सिंहासन पर ललित त्रिभंगी से खड़ी मुरलीधारी काले पत्थर की मूर्ति मन्द-मन्द मुसकरा रही है सचमुच मुसकरा रही है। उसमें जीवन आ गया है। उसके ऊपर पीताम्बर का पटुका हिल रहा है और ....।

वह वैसे ही बैठा रहा वहाँ। एक दिन, दो दिन और तीसरे दिन शाम को सहसा हँसता हुआ उठ खड़ा हुआ। लोगों को लगा कि वह पागल हो गया है। मूर्ति को प्रणाम करने के बदले सिंहासन पर चढ़कर अंकमाल दी उसने बिना कुछ कहे सुने वहाँ से चला गया।

हम प्रतीक्षा कर रहे हैं कि वह कोई वैज्ञानिक मार्ग बतावेगा विश्व को जीव, ईश्वर एवं धर्म के अनुसंधान के सम्बंध में। लेकिन उसका तो पता ही नहीं है। क्या आप में से किसी ने उसे देखा हैं?

अर्थार्थी

'बेशर्म कहीं का' सरदार की आँखें गुस्से से लाल हो गयीं। फड़कते ओठों से उन्होंने डाँटा। 'पास में तो महज एक बूढ़ा ऊँट हैं और हिम्मत इतनी।'

'कसूर माफ हो।' अरब अपमान सह नहीं सकता। अगर उसे रोशन का ख्याल न होता तो तेग बाहर चमकती होती। लेकिन वह समझ नहीं सका था कि उसने गलती क्या की है। आखिर वह काना-कुबड़ा नहीं है। बदशकल भी नहीं है और कमजोर भी नहीं है। अरब न तो रोजगार करता और न खेती। किसी नखलिस्तान की चढ़ाई में वह भी दुश्मन से आधे दर्जन ऊँट और बड़ा सा तम्बू छीन सकता है। सरदार के ऊँट और उसका तम्बू भी लूट का ही हैं।

'जैसे कारूँ का खजाना इनके वालिद ने इन्हीं के लिए रख छोड़ा हो।' सरदार की तेज जबान पूरे कबीले मे मशहूर है। 'कल की सुबह तुम्हें मेरे कबीले में नहीं मिलना चाहिये। तुम जानते हो कि मैं अपने उसूल का पक्का हूँ और दुबारा कसूर माफ की दरख्वास्त कतई कबूल नहीं होगी। मुँह काला करो!' बूढ़ा बड़े जोर से चिल्ला रहा था। उसकी आदत से वाकिफ होने की वजह किसी ने ख्याल नहीं किया और कोई आया नहीं।

'मैं तेरे टुकड़े नहीं खाता और न कबीला तेरे बाप की पुश्तैनी जायदाद है।' आदमी के सब्र की भी एक हद होती है। बहुत छोटी हद होती है अरब के सब्रकी। 'शाम को पंचायत होगी और वही फैसला करेगी कि मैं कबीला छोड़ दूँ या तू अपनी सरदारी कायम रखने के लिये मेरे साथ तेग के दो हाथ करेगा।' एक झटके से वह तम्बू के बाहर चला गया। उसने परवा नहीं की कि बूढ़ा क्या बड़बड़ा रहा हैं।

इस कबीले में सरदार ही सब कुछ नहीं है। वह महज मुखिया है कबीले का। उसका मुखिया पन भी तभी तक है, जब तक कोई दूसरा उसे ललकार न दे या हर ललकारने वाले को वह नीचा न दिखाता रहे। कबीले का सरदार सबसे बहादुर और मजबूत आदमी ही रह सकता था। आज बूढ़े सरदार को, जो बूढ़ा होकर भी फौलाद का

बना जान पड़ता था, नौजवान महमूद ने ललकार दिया।

'महमूद !' उसने देखा कि तम्बू के दरवाजे से चिपककर रोशन बाहर खड़ी है। शायद उसने अपने अब्बा की और उसकी बातें सुन ली हैं। कुर्त्ते का एक किनारा पकड़कर खींच लिया था उसी ने। 'मेरे अब्बा का लिहाज –'उसका गला भरा था। चुपचाप रोती खड़ी रही वह।

'पगली है तू !' उसने अपने हाथों से आँसू पोंछ दिये। दोनों साथ–साथ खेले हैं और अब भी साथ–साथ बकरियाँ चराते हैं। रोशन से पूछकर ही महमूद उसके अब्बा से कहने गया था कि वह अपनी लड़की का निकाह कर दे उसके साथ। 'तू समझती है कि मैं बूढ़े को मार डालूँगा?'

'वह खुदकशी कर लेगा।' रोशन जानती है कि पंचायत ही सब छोटे–बडे झगड़ों का फैसला करती हैं। कभी भी महमूद को कबीला छोड़ने को पंचायत नहीं कहेगी। उसकी ललकार कबीले के कायदे के मुताबिक मंजूर होगी। बूढ़ा सरदार अगर हारा तो एक साधारण अरब की तरह रहने के बदले मरना ज्यादा पंसद होगा उसे और अगर जीता तो महमूद ....। दोनों हालतें खतरनाक थीं उसके लिये।

'तेरा अब्बा कारूँ का खजाना चाहता है।' महमूद ने थोड़ी दूर सिर झुकाकर सोचा। 'मैं वही दूँगा उसे पंचायत न बुलाऊँगा। उसे कह देना, मैंने उसका हुक्म कबूल किया।' आँखें उठाकर रोशन की ओर देखने की भी जरूरत नहीं समझी उसने एकदम मुड़ा और चला गया। रोशन पुकार भी तो नहीं सकी। देखती रही वह उसकी ओर। देखती रही तब तक, जब तक वह दिखायी देता रहा और फिर सिर पकड़कर बैठ गयी सिसकियाँ लेते हुए।

(2)

'कारूँ का खजाना कहाँ है?' बढ़ी हुई दाढ़ी, फटे मैले कपड़े, शरीर की एक–एक हड्डी गिनी जा सकती थी। कोई बहुत गरीब अरब मुफ्ती की कदम बोसी करके उनके कदमों के पास जमीन पर घुटनो के बल बैठा हुआ पूछ रहा था।

'तुम कहाँ से आये हो?' मुफ्ती को उसके भोले पन पर हँसी नहीं आयी। उसकी गड्ढ़े में घुस गयी आँखें किसी को भी हँसने नहीं दे सकतीं। दया पर वश मुफ्ती पूछ रहे थे।

'बहुत दूर–बहुत दूर मेरे मालिक। मैं यन्नान कबीले का हूँ मुझे वहाँ से चले इतने दिन हो गये कि मैंने पूरे छः चाँद देखे रास्ते में।' दिन को गिनने का कोई तरीका नहीं था। उसके पास महज पूर्णिमा के चाँद से उसने कुछ अंदाज कर लिया था।

'ओह, इतनी मेहनत काबाशरीफ के लिये।' मुफ्ती की आँखें भर गयीं। उन्होंने युवक को बड़े आदर से देखा। 'काबिल तारीफ है तुम्हारी मेहनत। खुदा तुम्हारा जरूर ख्याल करेगा।'

'सो कुछ नहीं मेरे मालिक।' युवक ने फिर सिर झुकाया। 'मैं हज करने नहीं आया। वैसे मैंने दरबारे शरीफ में बोसा दे लिया हैं और इस नालायक को आबेजमजम भी नसीब हो चुका है।' मुफ्ती के लिये यह बताना जरूरी नहीं है। कि गरीब-से-गरीब भिखमंगा मुसलमान भी जब मक्काशरीफ़ करने निकलता है तो 'बोसा' और 'आबेजमजम' की फीस तो जरूर उसके पास होती हैं। अपना पेट काटकर भी वह उसे मुहय्या कर लेता हैं।

'फिर तुमने इतनी बड़ी तकलीफ किस मसलहत से उठायी?' मुफ्ती को ताज्जुब था इस फटे हाल अरब पर। उनका ख्याल था कि महज मजहबी जोश ही आदमी को इतनी बड़ी आफत सहने की ताकत दे सकता हैं।

'मेरा बूढ़ा ऊँट रास्ते की आखिरी मंजिल पर दम तोड़ गया। मुझे तीन-तीन दिन तक पानी भी नसीब नहीं हुआ। बहुत थोड़े नखलिस्तान पड़े मेरे रास्ते में।' नखलिस्तानों के अरब हज करने वालों की खातिर करते हैं और रास्ते के लिये पानी, खजूर, बगैरह साथ दे देते हैं, यह कोई बतलाने की बात नहीं थी।

'आखिर तुम चाहते क्या हो?' मुफ्ती ने अपने कुतूहल को दबाया नहीं। दूसरे अरब सरदार जो पास बैठे थे, वे भी काफी उकता चुके थे और सुन लेने की जल्दी उन्हें भी थी।

'कारूँ के खजाने के लिये ! मैंने उसी को पाने के लिये इतनी मुसीबत उठायी है।' युवक ने फिर कदमबोसी की। 'मैं जानता हूँ मेरे मालिक कि आपसे दुनिया की कोई बात छिपी नहीं। आप ही मुझे बता सकते है कि वह कहाँ है।'

'कोई नहीं जानता कि वह कहाँ हैं?' युवक को मजहब परस्ती की वजह जो आदर मुफ्ती के मन में उसके लिये हो गया था, एकदम दूर हो गया। अरबों ने मुख फेरकर हँसने की कोशिश की। मुफ्ती ने यह भी नहीं सोचा कि उसको सर्वज्ञ मानने की जो धारणा दूर के अनपढ़ कबीले वालों में है, उसको वह इस जवाब से खत्म कर रहा हैं।

'आप जानते हैं- आप जरूर जानते हैं मेरे मालिक।' युवक फिर कदमों पर माथा रगड़ने लगा। वह फूट-फूटकर रो रहा था।

'कोह काकेशश में कहीं पर।' मुफ्ती ने कहानियों में जो सुन रखा था, बतला दिया। 'ठीक पता उसका कोई नहीं जानता। मैं भी नहीं। अगर उसका ठीक पता किसी को होता तो क्या वह अब भी कहीं जमीन में छिपा रहता? उसे निकाल न लिया गया होता?' उसे इस मूर्ख युवक के भोलेपन पर हँसी आ रही थी और लालची पन पर गुस्सा था।

'तब वह किसे मिलेगा?' अरब ने किसी की हँसी का ख्याल नहीं किया।

'जिसे खुदा दे।' मुफ्ती ऊब चुका इस गंदे अरब से।

'जरूर तब वह मुझे देगा।' अरब ने फिर कदम-बोसी की और उठकर खड़ा हो गया। उसने यह भी नहीं पूछा कि कोह काकेशश है किस ओर?

(3)

'ओह, इतना लंबा कोह काकेशश!' आज जब वह अपनी मंजिल पर पहुँचा तो उसका दिल बैठ गया। रास्ते की मुसीबतों की परवा नहीं की थी उसने लगभग समुद्र के किनारे के शहर में होता यहाँ तक पहुँचा था और उसकी मुसीबतों का अंदाज आप भी नहीं कर सकेंगे। मक्का से पैदल, बिना एक छदाम लिये काकेशश की तराई तक। आदमी को यदि सच्ची 'धुन' हो तो नामुमकिन कुछ नहीं।

'यहाँ से कई सौ मील ऊपर जाकर यह कोहकाक से मिल जाता है।' पूछने पर एक शख्स ने उसे बतलाया था। 'बहुत चौड़ा है। लगभग दो सौ मील चौड़ा। इतना ऊँचा-नीचा है कि तुम इसे सीधे पार करना चाहो तो बहुत थोड़ी खास-खास जगहों से ही कर सकते हो।' बतलाने वाले को क्या खबर कि उसका बयान सुनने वाले के दिल पर क्या गुजर रही हैं।

'ठीक पता उसका कोई नहीं जानता।' मुफ्ती के इन लफ्जों की असलियत आज उसके दिमाग में शक्ल बनकर खड़ी हो गयी थी। 'मैं पूरी उमर नहीं ढूँढ़ सकता। काकेशश को एक सिरे से दूसरे सिरे तक पूरा-पूरा देख डालना किसी फरिश्ते के लिये ही मुमकिन हो सकता है।'अब भी वह नहीं समझ सका था कि खजाना कहीं बाहर नहीं पड़ा होगा। उसके लिये काकेशश को पूरा खोदना होगा। पता नहीं कितनी गहराई तक।

बैठ गया वह वहीं एक पत्थर पर। रास्ते की सारी थकावट जैसे आज इकट्ठी आकर उस पर लद गयी। सारी मुसीबतें, जिनको उसने तिनके से भी छोटी मानकर ठुकरा दिया था, जैसे आज उससे पूरा बदला वसूल कर लेंगी। सिर चकराने लगा था। देह में कँप-कँपी जान पड़ती थी। बड़े जोर से खाँसने लगा था वह।

'नहीं, अब नहीं चल सकेगा वह' अब उसमें एक कदम भी चलने की ताकत नहीं हैं। यहीं-इसी चट्टान पर ......। अब वह इस पर से उठ भी नहीं सकेगा। बड़ा भय लग रहा था उसे।

'उसका यन्नान कबीला। हँसते, खेलते, लंबे तगड़े साथी। उसकी बकरियाँ। छोटे-मोटे टीले। वह खूब-सूरती की पुतली रोशन। बूढ़ा खूसट सरदार। सरदार का बिगड़ना। तम्बू के बाहर आँखों में आँसू भरे वह सदा की हँसती-खेलती, शरारती लड़ती गुमसुम बनी। उसका बूढ़ा 'अंट'।' एक-एक कर तस्वीरें सामने आती जा रही थीं। वह चट्टान पर लेट गया था और आँखें बन्द कर ली थी। प्यास से गला सूख रहा था। चमड़े के थैले में पानी की एक बूँद नहीं थी और होती भी तो उसमें उठकर खुद पानी पीने की ताकत कहाँ रह गयी थी आज। वह अब बैठ भी कहाँ सकता है।

'रास्ते के नखलिस्तान। कबीले वालों की खातिरदारी। जईफों की दुआएँ और हम

जोलियों का साथ न दे सकन का अफसोस। जईफ औरतों की सलाहें। मक्का शरीफ, काबे का बोसा। मौलवी-मुल्लों की पैसों के लिये छीना झपटी। डाँट-फटकार।' बेतादाद तस्वीरें उसके सामने से गुजर रही थीं।

'जिस खुदा दे।' मुफ्ती की तस्वीर आखिर में आयी सामने। कितना आबरूदार है मुफ्ती। लेकिन आखिरी कलाम मुफ्ती का दिमाग में आते ही वह चौंककर उठ बैठा। उसमें पता नहीं कहाँ से ताकत आ गयी। प्यास पता नहीं कहाँ रफूचकर हो गयी। पता नहीं उसके बदन के किस कोने में जिदंगी का यह जोश छिपा था।

'मुफ्ती झूठ नहीं बोलता।' उसके पास मुसल्ला कहाँ रखा था। उसी चट्टान पर उसने अपने फटे-फटाये चद्दर को बिछा दिया। 'जरूर खुदा ही उस खजाने को दे सकता है।' अब भी उसे याद था वही जवाब जो चलते वक्त उसने मुफ्ती को दिया था। अपने जवाब पर उसे अब भी पूरा यकीन है। कोई वजह नहीं कि वह अपना इतमीनान खो दे। जब खुदा को ही देना है तो वह कहीं भी दे सकता है। पता भी बतला सकता है। जोश के मारे बिना वजू किये ही नमाज पढ़ने खड़ा हो गया। पानी कहाँ था वहाँ वजू करने को?

(4)

'तेरा जलवा बेशुमार है!' कौन गिनने बैठा था वहाँ कि वह दिन-रात में कितनी नमाजें अदा करता है। बिना रुके, बिना दूसरी बात सोचे वह बराबर एक के बाद दूसरी नमाज पढ़ता जा रहा था। 'तेरे दरबार में कोई कमी नहीं हैं और न तेरे लिये कोई मुश्किल है। तेरा यह सबसे छोटा गुनहगार गुलाम कारूँ का खजाना माँगता है। महज कारूँ का खजाना। मेरे मालिक! मेरी दुआ कबूल कर।'

उसकी आँखे इतना पानी बहा चुकीं थीं कि उनमें अब एक बूँद पानी नहीं बचा था। उसके चमड़े के थैले की तरह वे खुश्क हो चुकी थीं। भूख-प्यास-नींद- इनकी हिम्मत नहीं थी कि खुदा की परश्तिश में लगे इस बंदे की छाया भी वे छू सकें। हर नमाज की आखिरी दुआ जब वह दोनों हाथों को इकट्ठा करके हथेली फैलाकर माँगते हुए ऊपर मुख उठाता था, तो जान पड़ता था कि उसकी नजरों से सातों आसमान फट जायँगे। वह सातवें आसमान का मालिक जरूर कूद पड़ेगा उसकी इन नजरों से मजबूर होकर।

आज उसे पूरे नौ दिन हो चुके हैं। नमाज के लिये उठना-बैठना भी अब मुश्किल होता जा रहा है। आखिर बिना खाये-पिये जिस्म कहाँ तक बदस्तूर काम कर सकता है। हाँफ जाता है वह हर बार उठने में। बैठने पर उठना दूभर हो जाता है और खड़े होने पर पैर काँपने लगते हैं। सिर में चक्कर आने लगता है। बड़ी दिक्कत होती है। झुककर खड़े होने में। लगता है कि वह सामने की ओर लुढ़क जायेगा।

नहीं उठ सका– आखिर जब आफताब उसकी नवें दिन की शाम की नमाज का गवाह होकर कोहकाक के पीछे जा छिपा, तब वह फिर नमाज के लिये किसी तरह उठ न सका। माथा जमीन में टेकते ही बेहोश हो गया। जैसे का वैसे ही पड़ा रहा। उस सुनसान जगह में कौन था जो उसकी खोज–खबर लेता। इन नौ दिनों में कोई चरवाहा भी उधर से नहीं निकला था।

'अक्खाह' पता नहीं कितनी देर पर उठाया था उसने सिर। कहीं से उसी वक्त मुर्गे ने बाँग दी। शायद वह बाँग उसके कानों तक नहीं पहुँची। वह ठहाके पर ठहाके लगाता जा रहा था। पेट पकड़कर हँस रहा था। क्या पागल तो नहीं हो गया।

पता नहीं कहाँ से फिर बदन में ताकत आ गयी। पता नहीं अभी कहीं उसे हड्डियों के ढाँचे में यह ताकत छिपी थी या कहीं से किसी ने उसमें जान फूँक दी थी। मामूली ताकत नहीं थी वह। वह हँसते हुए चट्टान से नीचे खड़ा हो गया और एक कोना दोनों हाथों से पकड़कर चट्टान उसने दूर फेक दी।

बड़े खूबसूरत जीने नीचे जा रहे थे। किसी तहखाने का दरवाजा निकल पड़ा था। उसमें नीचे चाहे जो हो, जीनों पर किसी चमकीली चीज की काफी रोशनी थी। उस अँधेरी रात में भी जीने चमक रहे थे। वह जीनों से नीचे उतर पड़ा।

'मैं भी कितना नालायक हूँ।' वह कुल आधे घंटे में ही ऊपर आ गया और चट्टान उठाकर उसने फिर जीनों के ऊपर पहले जैसे ही रख दी। 'माना कि उसमें बहुत बड़े–बड़े, बहुत चमकीले पत्थरों के ढेर हैं। पत्थर ही तो हैं वे सब। मेरे मालिक! तूने अपने नापाक बन्दे की दुआ कबूल की और उसे बताया। कौन कहता है कि मैंने ख्वाब देखा था। ये पत्थर, जीने क्या ख्वाब हैं? लेकिन तूने इसे छिपाया है –छिपा ही रहने दे इसको। तेरे बन्दे को अब तेरी दुआ के अलावा कुछ नहीं चाहिये। भाड़ में जाय कारूँ और दोजख में जाय उसका यह खजाना। खूब, शैतान ने भी मुझे खूब बेवकूफ बनाया।'

अब कहने को बहुत कुछ नहीं रह गया हैं। कोहकाकेशश में वह पागलों की तरह घूमा करता है। मुझे नहीं मालूम कि वह खाता क्या हैं। कभी–कभी चरवाहें उसे खजूर या रोटी जरूर खिला देते हैं। रोजा वह रखता है कि नहीं, कौन बतावे, लेकिन नमाज तो उसे पढ़ते कभी देखा नहीं गया। कौन पूछे उससे कि कारूँ के खजाने को लेकर कब लौटेगा वह पूछने पर भी क्या वह जवाब देगा? उसने तो बोलना एकदम बंद कर दिया है।

❑❑

ज्ञानी

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिं इत्थम्भूतगुणो हरिः।।

'तुम काश्मीर से स्वास्थ्य सुधार आये?' श्रीस्वामी जी ने समीप बैठे एक हृष्ट-पुष्ट सम्भ्रान्त नवयुवक से पूछा।

'जी, अभी परसों ही घर लौटा हूँ। लगभग छः महीने लग गये वहाँ बड़ा रमणीक प्रदेश है।' युवक सम्भवतः बहुत कुछ कहना चाहता था।

'सो तो है, किन्तु' स्वामी जी वहाँ के सौष्ठ का गुणगान सुनने को तनिक भी उत्सुक नहीं थे। उनका स्वभाव नहीं है इधर-उधर की बातों में लगने का। 'यह छः महीने का श्रम, अहर्निश शरीर की सेवा, निरन्तर स्वास्थ्य का ध्यान, क्या फल है इसका? वर्षो का श्रम एक क्षण में नष्ट हो जाता है। क्या दशा हो इस काश्मीर प्रवास के छः महीने के सुपरिणाम की, यदि केवल एक दिन कसकर ज्वर आ जाय?' युवक ने मस्तक झुका लिया। वह सिहर उठा था।

'डरो मत! मैं न कोई शाप दे रहा हूँ और न भविष्यवाणी कर रहा हूँ। केवल एक बात कह रहा हूँ।' युवक की भीतमुद्रा महात्मा से छिपी न रही। 'जिस पर ज्वर का कोई प्रभाव नहीं पड़ता, जो कभी अस्वस्थ नहीं होता, वस्तुतः वहीं तुम्हारा स्वरूप हैं।'

'जी इस शरीर का क्या ठिकाना। आज है तो कल नहीं।' एक सेठ जी ने, जो बहुत समीप ही बैठे थे, बड़ी नम्रमा से बात आगे चलायी। 'इसके द्वारा तो जो कुछ पुण्यकार्य हो जाय, वही थोड़ा है।'

'आप प्रसिद्ध दानी हैं आपका सुयश बहुत व्यापक है।' स्वामी जी ने सेठ जी के आत्म-प्रशंसा-प्रयत्न को लक्षित कर लिया था। 'यश धर्म के द्वारा ही प्राप्त होता है, अतः वह दूसरी कामनाओं से श्लाध्य है।'

'मैं कहाँ कुछ कर पाता हूँ।' कोई भी समझ लेता कि सेठ जी की यह नम्रता स्वाभाविक नहीं है।

'मैं दूसरी बात कह रहा था। यश का सम्बन्ध भी स्थूल शरीर से ही है।' स्वामी जी का स्वभाव हो गया है, प्रत्येक बात को घुमा-फिराकर अध्यात्म चर्चा का रूप दे देना। 'मरने पर क्या सम्बन्ध रहेगा तुम्हारा इस सुयश से? तुम कह सकते हो कि पिछले किसी भी जन्म मे तुम्हीं नेपोलियन, राणा प्रताप या दूसरे कोई विख्यात पुरुष नहीं थे? क्या सुख देती हैं तुम्हे वह पूर्व प्रख्याति? किसका सुयश और किसका कुयश? सभी यश-अपयश तुम्हारे ही तो हैं। जो परम प्रख्यात, एक एवं अविभाज्य है, उसको यश या अपयश देगा भी कौन?'

'घनन, घनन' मन्दिर की घण्टी बज उठी। बड़ा घण्टा बजाया जाने लगा। नगाड़े पर चोप पड़ी और पुजारी ने मन्दिर पर्दा हटा दिया भीतर से दक्षिण हाथ में आरती का प्रदीप एवं वाम में घण्टी लिये वह खड़ा था मूर्ति के समीप। 'श्रीबाँके बिहारी लालकी जय!' सबसे पहले स्वामी जी ही उठ खड़े हुए थे दर्शनार्थ। वस्तुतः तो सभी दर्शनार्थ ही आये थे। मन्दिर के पट बन्द होने के कारण प्रांगण में ही बैठ गये थे और स्वामी जी बातचीत प्रारम्भ हो गयी थी।

'बड़े विचित्र हैं ये स्वामी जी भी।' बाहर आते ही एक ने कहा। स्वामी जी तो अभी भी दर्शनार्थियों में सबसे पीछे खड़े थे और पट बन्द होने के भी दो-चार क्षण पश्चात् तक खड़े रहेंगे। उनका तो यही नित्य नियम है। 'बातें तो बड़ी गम्भीर करते हैं। तत्वज्ञान से नीचे बोलते ही नहीं और मन्दिर में बच्चों की भाँति आँसू बहाते खड़े हैं।' सम्भवतः स्वामी जी को उन्होंने प्रथम बार देखा है।

'वे केवल रोते ही नहीं, खूब कूद-फाँदकर नाचते भी हैं।' दूसरे ने गम्भीरता से ही कहा। 'उनकी कुटिया पर कभी कीर्तन के समय आप पधारें तो देखेंगे। यह ब्रज है भाई साहब! यहाँ की वायु में बड़े-बड़े बह जाया करते हैं आप अभी नये-ही-नये आये हैं। यहाँ।' दोनों साथ-ही-साथ आगे निकल गये।

(2)

दर्शक चौंक पड़े थे। छोटी-मोटी भीड़ ने उन्हें आवृत कर लिया था। सबको आश्चर्य था कि नित्य सबके पीछे शान्त खड़े अश्रु बहाने वाले महात्मा आज इस प्रकार क्यों अट्टहास कर रहे हैं। क्यों इस प्रकार लोटपोट हो रहे हैं। आज न तो वे भगवद्विग्रह को प्रणाम करते हैं और न उठकर खड़े ही होते हैं। पागल तो नहीं हो गये।

स्वामी जी ने श्रीयमुनाजी के किनारे एक झोपड़ी डाली थी। आज तो भक्तों ने उसे भव्य भवन बना दिया हैं। चारों ओर पुष्पित उपवन से आवृत हो गया है उनका

'गोविन्द-निवास।' आज कई वर्ष से वृन्दावन की सीमा से बाहर नहीं गये हैं वे।

वेदान्त के वे विख्यात आचार्य हैं। उनके लिखित ग्रन्थों की पक्तियाँ दूसरे बड़े-बड़े विद्वान कठिनता से लगा पाते हैं। न्याय तो जैसे उन्हीं के मुख से बोलता है और योग की क्रियाएँ उनसे भली प्रकार यहाँ कौन समझ सकता हैं? कर्म सिद्धान्त, व्याकरण, साहित्य, कोई भी विषय ऐसा नहीं, जिसमें कोई स्वामी जी शिष्यता का भी ठीक-ठीक गर्व कर सके। भगवती मरालवाहिनी ने इस युग में उनको ही चुना है अपने वरदहस्त का अधिकारी। ऐसा उद्भट एवं प्रख्यात विद्वान् , नैष्ठिक वीतराग इस प्रकार मन्दिर में हँसते-हँसते लोटपोट हो, पागल नहीं तो और क्या कहा जाय उसे?

'मैं हूँ, मैं हूँ, मैं ही हूँ!' आत्मचिन्तन अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया। इन्द्रिय निग्रह का प्रश्न ही व्यर्थ था। मन केन्द्र पर एकाग्र हो गया। बुद्धि ने मन से एकात्मता प्राप्त कर ली। शरीर विस्मृत हो चुका था और तब दृश्य की चर्चा करना बुद्धिमानी नहीं कही जा सकती।

स्थिर आसन पर पर्याप्त समय बीत चुका था। प्राणों की गति को मन की स्थिरता ने ठप कर दिया था। आप उसे धारणा, ध्यान तथा समाधि का एकीकरण कह सकते हैं। जैसे एक तरङ्गायमान तत्व है। आकृतियाँ तरङ्गों का रूपमात्र हैं। तरंगें सीधी होती गयीं और अन्ततः एक स्थिर, शान्त स्थिति थी। उसके पश्चात् । वह भी नहीं कह सकते कि उसके पश्चात् क्या हुआ। क्या स्थिति रही।

धीरे-धीरे नेत्र खुले सम्मुख हँसती हुई ललित त्रिभंगी मूर्ति विराजमान थी। मध्य के दर्शकों पर दृष्टि गयी ही नहीं। जैसे आज दर्शकों की सत्ता ही नहीं थी। वह शरारत भरी मुसकराती मूर्ति और पूर्णतया से उत्थित हुए वे। आज कुछ अधिक पहले दर्शनार्थ आ गये थे स्वामी जी। उस समय मन्दिर-प्रागंण में कोई भी नहीं आया था। सामने के बरामदे में ठीक मन्दिर के द्वार के सम्मुख बैठे गये आसन लगाकर न बिछाने को आसन की आवश्यकता हुई और न कोई उपकरण। नेत्र बन्द हो गये अपने आप।

'त्वमेवेदंसर्वम् ' जैसे मूर्ति बढ़ रही थी, बढ़ती जा रही थी। सम्पूर्ण अनन्त विराट उसने अपने में अन्तर्हित कर लिया। 'रोम-रोम प्रति राजहिं कोटि-कोटि ब्रह्मांड।' उसमें साकार हो उठा। नहीं-यह सब कुछ नहीं। न ब्रह्माण्ड और न ब्रह्माण्ड की विशेषता। केवल वही-वही एकमात्र वहीं। नेत्र खुले थे; किन्तु संयासी स्तब्ध हो गये। मूक-चेष्टाहीन।

'क्या निर्वाण तो नहीं लेंगे स्वामी जी यहीं?' लोगों में हलचल मच गयी। फटे-फटे नेत्र, जडवत् शरीर। स्वामी जी की इस स्थिति ने लोगों को भयभीत कर दिया।

'नाहं न में' धीरे-धीरे पलके हिलीं। शरीर में चेतना के लक्षण प्रगट हुए। कुछ

बड़बड़ा रहे थे स्वामी जी। 'मैं ही हूँ और मैं नही, केवल तू ही है। बड़ा सुन्दर है तब तो। हम दोनों मित्र है। अभेद ही तो मित्रत्व है।' वे ठठाकर हँस पड़े।

'सुहृद सर्वभूतानाम् ' वह मन्दिर का देवता तो जाने कब का स्वीकार कर चुका है। स्वामी जी ने फिर कह कहा लगाया 'बड़ा प्रसन्न हुआ होगा वह ऋषि, जिसने समाधि में वेदमन्त्र का अर्थ स्पष्ट किया होगा।' एक क्षण रुक गये वे दूसरे ही क्षण उनका कण्ठ सस्वर था– 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखायौ।'

(3)

जय कन्हैया लाल की। गिरधर गोपाल की ।।

एक चमचमाते थाल में ढेरों बत्तियाँ जलायी गयी थीं। मध्य में कपूर की सुगन्धित लपटें उठ रही थी। दाहिने हाथ पर ऊपर से नीचे नाच रहा था थाल। स्वामी जी का नृत्य उद्दाम हो गया था। उत्तरीय गिर चुका था कौपीन के ऊपर का अधोवस्त्र। केवल कौपीन पहिने वह कुछ स्थूलकाय, मुण्डित मस्तक, गौरवर्ण, तेजमूर्ति थिरक रहे थे। नेत्र जैसे छत की ओर किसी को देख रहे थे। उनसे आनन्दाश्रु चल रहे थे। प्राङ्गण की भीड़ कभी इधर, कभी उधर हट बढ़ रही थी। उन्हें भीड़ का सम्भवतः भान भी नहीं था।

आज जन्माष्टमी थी। कई दिनों से प्रतिवर्ष की भाँति स्वामी जी के यहाँ महोत्सव की प्रस्तुति हो रही थी। केले के खम्भों पर की चित्रकला संगमरमर की भ्रान्ति उत्पन्न कर रही थी। मोगरे के फूलों से पूरा मन्दिर ही बना डाला गया था। पर्याप्त दर्शनार्थी आ गये थे जन्म के समय।

पूर्व दिशा में अनुराग बिखर गया। निशीथ का ठीक समय आ पहुँचा। कुमुदकान्त की प्रथम किरण क्षितिज पर थिरक उठी। साथ ही यमुना किनारे एक धड़ाका हुआ। जैसे मन्दिर की वह पीतयवनि का फट गयी हो। पर्दा हटाने में सीमा की स्फूर्ति प्रदर्शित की पुजारी ने।

बाहर शहनाई का मधुर स्वर गूँज रहा था। मन्दिर में घण्टा, घड़ियाल के शब्द को दबाकर अष्टादश शङ्ख अपने निनाद से सम्भवतः सृष्टि संलग्न स्रष्टा को उनके ब्रह्मलोक में भी सूचित करने दौड़ा जा रहा था। पितामह, कन्हैया के जन्म का समय आ गया। एक क्षण को अपने व्यस्त हाथ रोकिये और आप भी ताली बजाकर गाइये तो सही 'जय कन्हैया लालकी।'

ब्राह्मणों ने वेदध्वनि प्रारम्भ की। दुग्धाभिषेक के अनन्तर सहस्र तुलसीदल

समान्त्रिक चढ़ाये गये। षोड़ - शोपचार पूजन हुआ। अन्त में पुजारी ने आरती की। नीराजन का थाल लेकर दर्शकों को आरती देने मन्दिर से बाहर निकाला था वह। अब तक स्वामी जी एकटक मन्दिर में पलने की ओर देख रहे थे। सहसा आगे बढ़े और पुजारी से थाल ले लिया उन्होंने।

'ओह ! आपकी तो पूरी हथेली ही फफोला हो गयी है।' प्रसाद वितरण हो चुका था। रात्रि जागरण करना ही था और भजनीकों के तबले की खुट-खुट अभी घंटे भर से कम समय न लेगी। सितार के कान ऐंठते भी समय लगेगा ही। स्वामी जी को घेरकर कुछ लोग बैठ गये थे। 'अंगुलियों के फफोले तो फूट गय हैं। आरती के थाल के नीचे एक गमछा भी नहीं रखा गया।' दुःखित स्वर था कहने वाले का घृत लगाने लगे वे उस दाहिने हाथ में।

'पवित्र हो गया यह मांसपिण्ड।' स्वामी जी को जैसे कोई कष्ट ही नहीं हुआ और न हो रहा था। 'आज जन्माष्टमी है, तुम यदि देख सकते !' उनका कण्ठ भर आया था अश्रु टपकने लगे थे। नेत्र अधमु दे हो चले थे।

'तपोलोक में सब महर्षि ही रहते हैं। बड़ी-बड़ी जटा और दाढ़ियों वाले महर्षि।' तनिक आश्वस्त होकर उन्होंने कहा। 'चिरशिशु सनकादि चारों कुमार ताली बजाते, उछलते-कूदते सचमुच आज शिशु हो जाते है। 'जय कन्हैया लालकी।' सबकी दाढ़ियाँ हिला आते हैं। सबकी गम्भीरता, आत्मनिष्ठा, आनन्द में डूब जाती हैं उन पूर्वजों के पूर्वजों को कौन रोके?' एक-एक योगिराज अपने अन्तनेत्रों से तपोलोक का साक्षात करते होंगे,यह किसी के लिये सन्देह का विषय नहीं था।

'सनकादि तो परम ज्ञानी हैं' मैंने ही शङ्का की।

'तुम क्या समझते हो कि ज्ञानी हृदयदीन होता है।?' बड़ी सुन्दर फटकार पड़ी मुझ पर। वह आनन्द कल्लोलिनी में कभी स्नान कर ही नहीं पाता? अरे, तुम्हें इतना भी पता नहीं कि सभी शरीरधारियों के लिये- फिर वे दिव्य शरीरी हों या भौतिक शरीरधारी, एक ही प्रशस्त मार्ग है-

हिंय निरगुन, नयननि सगुन, रसना राम सुनाम।
मनहु पुरट सम्पुट लसत, 'तुलसी' ललित ललाम।।

(4)

'कोई भी काम निरुद्देश्य नहीं किया जा सकता। कुछ-न-कुछ कामना हो तो होती है उसके मूल में।' मेरा समाधान नहीं हो सका था जन्माष्टमी को। उस समय अवसर

नहीं था। स्वामी जी भाव विभोर हो रहे थे। बहुत से लोग थे वहाँ मैंने आज दोपहरी का एकान्त अवसर अनुकूल पाया था। स्वामी जी भी स्वस्थ थे। 'ज्ञानी पूर्ण काम होता है। वह कोई भी प्रयत्न क्यों करेगा?'

'तुम चाहते हो कि ज्ञानी भोजन-पान-शयन एवं श्वास प्रश्वास भी बंद कर दे।' स्वामी जी तनिक हँस रहे थे। 'उसके लिये जीवन अपराध है। उसे मर जाना चाहिये और वह भी मरने का बिना कोई प्रयास किये। क्यों?' खुलकर हँसना उनके लिये नवीन बात नहीं है।

'मेरा ऐसा उद्देश्य तो नहीं है।' मैं भी गम्भीर नहीं रह सका। प्रकृति प्रेरित कार्य तो उसके शरीर द्वारा होगे हीं; किन्तु वे कार्य जो अप्रयास नहीं होते, जिन्हें प्रयत्नपूर्वक करना पड़ता हैं, जिनके लिये प्रकृति विवश नहीं करती, उनके लिये वे क्यों प्रयत्न करेंगे? विधि-निषेध बन्धन का तो है नहीं उनके लिये और कोई कामना शेष रही नहीं है।'

'ठीक तो हैं। तुम को इसमें पूछना क्या रह गया है!' स्वामी जी ने मेरे तर्क को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया। 'यदि तुम किसी व्यक्ति विशेष की चर्चा कर रहे हो तो मैंने किसी का ठेका नहीं लिया है और यदि मेरे सम्बन्ध में तुम्हें शङ्का हो तो तुमसे कहा किसने कि मैं ज्ञानी हूँ?'

'मैं किसी की समालोचना नहीं कर रहा हूँ।' स्वामी जी की स्पष्टवादिता ने मुझे कुण्ठित कर दिया था। 'जब प्रयत्न नहीं किया जाता तो हृदय में जो कुछ हैं, मन उसका चिन्तन करता है और वाणी उसी को प्रकट करती हैं। मैंने अपना प्रश्न अब भी स्पष्ट न करके भूमिका ही विस्तृत की।

'अच्छा इतना और जोड़ दो कि यदि मन में उसे चिन्तन करने और वाणी में उसे प्रकट करने की शक्ति हो।' वे खिलखिलाकर हँस पड़े। मैं जो कुछ कहने वाला था, उसे समझ लिया था उन्होंने 'भोले बच्चे! तुम गोस्वामी तुलसीदास के वचनों पर शङ्का करते हो?' चेतावनी के साथ स्नेह और आत्मीयता थी स्वर में।

'मैं केवल समझना चाहता हूँ।' मैंने सच ही कहा। कुतर्क करना भी चाहूँ तो विवाद में स्वामी जी से पार पाने का स्वप्न देखना भी मेरे लिये सम्भव नहीं हो सकता।

'वाणी कोई-न-कोई नाम ही ले सकती है। किसी-न-किसी का गुण दोष ही कहेगी वह क्यों न वह भगवन्नाम ले और भगवान् का ही गुण गाये, यदि उसे मौन नहीं रहना है।' गम्भीर थी वह वाणी। स्थिरदृष्टि जैसे सीधे हृदय तक जाकर उसे पढ़ रही थी। 'नेत्र व्यक्ति को ही देखेंगे और तब मायिक को देखने के बदले वे अमायिक सगुण साकार के दर्शनार्थ क्यों न समुत्सुक बनें?' एक क्षण को रुक गये कुछ सोचते हुए।

'निर्गुण तो हृदय की ही वस्तु है। उसका तो केवल अनुभव हो सकता है।' फिर वही सुशान्त वाणी गूँजी। 'मन बिना कुछ सोचे तो रहेगा नहीं। निर्गुण को भला क्या सोचेगा वह विश्व एवं विषयों के चिन्तन से तो यही परम श्रेष्ठ है कि वह लीलामय, सकल गुणगणार्णव की दिव्य लीलाओं, परमपावन गुणों का चिन्तन करे।'

'क्या श्रेष्ठ है और क्या निकृष्ट, क्या चाहिये और क्या नहीं चाहिये, यह एक आप्तकाम आत्माराम सोचे ही क्यों?' मैं समझ रहा था कि सम्भवतः जिज्ञासा हठधर्मी का रूप लेती जा रही है। फिर भी प्रश्न तो हो ही गया। 'ज्ञानी के नेत्र जो चाहें सो देखें। मन जो चाहे सो सोचे।'

'वही तो होता है।' स्वामी जी भावजगत में पहुँच गये। 'माया तो उससे भीत होकर भाग जाती हैं। प्रकृति उसे प्रेरित नहीं करती। उसे वह चीर-चोर प्रेरित करने लगता है। उसकी स्वतःचालित गति सर्व सामान्य से भिन्न हो जाती है।' मुझे स्मरण आया-

अद्वै तवीथीपथिकैरुपास्याः
स्वाराज्यसिंहासन्लब्ध दीक्षाः।
शठेन केनापि वयं हठेन
दासीकृता गोवधू विटेन।।

❑❑

कर्मयेणवाधिकारस्ते

'हमारा काम बहुत शीघ्र प्रगति करेगा।' बात यह है कि कार्यारम्भ में ही आशा से अधिक सफलता मिली थी और इस सफलता ने श्रीबद्रीप्रसाद जी को उल्लसित का दिया था।

'ग्राम-संगठन की ओर कोई ध्यान नहीं देता।' आज से एक सप्ताह पूर्व बद्रीप्रसाद जी ने अपने एक मित्र के साथ मिलकर योजना बनायी। 'हम दोनों इस ओर लग जायें तो कार्य बहुत बड़ा नहीं है।'

'पहिले एक ग्राम का संगठन हाथ में लेना होगा।' मित्र ने सलाह दी।

'गाँव के लोग अपने खेत-खलिहान को छोड़कर दूसरी बातों में रुचि ही नहीं लेते।' बद्री प्रसाद जी ने कहा -'अगले मङ्गल से प्रतिदिन अपने यहाँ के हनुमान जी पर शाम को रामायण गान प्रारम्भ किया जाय और रामायण के अन्त में लोगों को संगठन के लिये समझाया जाय।'

'आप के गाँव से श्रीगणेश करना रहेगा तो उत्तम।' मित्र से कहा। 'यहाँ आपका प्रभाव अच्छा है और कुछ उत्साही युवक भी हैं। जो कार्य कर्ता के रूप में मिल जायेंगे। स्थान है ही आपके पास तथा प्रारम्भ में व्यय भी कुछ पड़ना नहीं है।'

'रामायण की कथा के नाम पर लोग एकत्र हो जायेंगे।' बद्रीप्रसाद जी का सोचना ठीक ही था। 'कथा कीर्तन के लिये प्रसाद की व्यवस्था भी लोग सहर्ष कर देंगे और उतने से अभी काम चल निकलेगा।'

गाँव में रामायण की कथा के प्रति आदर भाव है। कभी-कभी लोग मंगलवार को हनुमान जी के पास एकत्र होकर रामायण गाते भी है। बड़ा पवित्र मनोविनोद है यह ग्राम के भोले कृषकों का।

आप जानते ही हैं कि अर्थ की प्रधानता अब गाँवों में भी अपना प्रभाव बढ़ाती जाती हैं और ग्रामीणों की सरलता, श्रद्धा, ईमानदारी को वह धीरे-धीरे निगलती जा

रही है। रात में कोई पशु न खोल ले जाय, खेत चरा न ले, खड़ी फसल चोर न काट लें – इस प्रकार खेत, खलिहान और घर पर कृषक को सदा सचेत रहना पड़ता है। उसके पसीने की कमाई पर उसी के सहचरों की आँखें रात-दिन लगी हैं। मार-पीट, थाना-कचहरी बराबर चलता रहता है।

'यह सब बंद होना चाहिये।' बद्रीप्रसाद तथा उन के मित्र अभी युवक हैं। उनके रक्त में यौवन की उष्णता है। 'यह होना चाहिये।' इसके आगे वे सोचना नहीं चाहते कि वैसा होने मे कितनी बाधाएँ है। युवक का ओज बाधाओं की गणना पसन्द नहीं करता।

'ग्राम के लोग संगठित हो जाय', बद्रीप्रसाद जी ने मित्र से कहा, 'तो सारी घूसखोरी, सारी लूट-खसोट और न्यायलयों की पूरी धाँधली समाप्त हो जाय।'

'हम ग्राम-संगठन कर लें – भले वे चार गाँव ही हों।' मित्र का रोष नेताओं पर था; क्योंकि उनके सुहृद् इन बद्रीप्रसाद जी को चुनाव में कांग्रेस-टिकट मिला नहीं था। 'तो इन नेताओं का सिर अपने आप ठिकाने आ जायगा।'

'उनकी चिन्ता कौन करता है, बद्रीप्रसाद जी को भी संगठन की बात टिकट न मिलने की प्रतिक्रिया के रूप में ही सूझी थी। वे यह समझ नहीं सके थे कि देश के उच्च नेता तो चाहते ही हैं कि लोग ग्रामों में जाकर जन सेवा एवं जन संगठन का कार्य करें।

इस बात को आज सात दिन हो गये। आज मङ्गल वार है। दोनों युवकों का श्रम सफल रहा है। हनुमान जी पर रामायण गान में तीन चौथाई ग्राम के लोग एकत्र थे। अन्त में बद्रीप्रसाद जी के समझाने पर दस युवक ग्राम कार्यकर्ता बनने को प्रस्तुत हो गये। यह अकल्पनीय सफलता थी उनके लिये।

× × ×

'एक वर्ष में यहाँ का संगठन कार्य पूरा हो जायेगा।' बद्रीप्रसादजी जी तोड़ श्रम कर रहे थे। 'लोगों को खेत खलिहान की चोरी से निश्चिंतता प्राप्त हो जायेगी। वे अपनी बहुत-सी आदत सुधार लेंगे। नशों के साथ पुलिस तथा न्यायालय को भी यह गाँव नमस्कार कर लेगा।'

गाँव में काम हो रहा था, यह मानना पड़ेगा। सरकार के आर्थिक सहयोग से गाँव की गलियाँ ईंटों से पाट दी गयीं। चार पक्के कुएँ बन गये। बद्रीप्रसाद जी स्वयं एक रात्रि पाठशाला चलाते हैं और एक पुस्तकालय तथा औषधालय भी उनके उद्योग से स्थापित हो गया है। अधिकांश किसानों ने खाद के व्यवस्थित गड्ढे बना लिये हैं।

'हमारे दस कार्यकर्ता वर्षभर में दक्ष हो जायेंगे।' मित्र का स्वप्न बहुत बड़ा है। 'उन्हें अगले वर्ष पाँच गाँवों में भेजा जा सकेगा और एक वर्ष में वे हमें पचास दक्ष कार्यकर्ता दे देंगे। इस प्रकार प्रतिवर्ष पाँच गुने अधिक ग्राम हम हाथ में ले सकेंगे।'

इस उत्साह में दोनों मित्रों को यह दिखायी नहीं पड़ता था कि मनुष्यों के सम्बन्ध में इस प्रकार अङ्कगणित का हिसाब कभी सच नहीं निकला है।

दो महीने भी पूरे नहीं हुए थे कि ग्राम के लोगों का उत्साह शिथिल पड़ने लगा था। बद्रीप्रसाद जी और उनके मित्र पर कार्य का भार बढ़ता चला जा रहा था।

'मुझे अपनी बहिन की ससुराल जाना है।'

'मुझे ज्वर आ रहा है।'

'इस समय तो बीज बोने की शीघ्रता है।'

जो कार्य कर्ता ग्राम सेवा के लिये प्रस्तुत हुए थे, उनमें एक ने भी पूरा समय कभी नहीं दिया -आरम्भ के आठ-दस दिन छोड़कर। कभी बीज बोना है, कभी फसल काटना है, कभी खलिहान सम्हालना है। किसान के पास कार्य की कमी कहाँ है। फिर उसे कभी रिश्तेदारी में जाना पड़ता है और कभी घर के किसी सदस्य के रोगी होने पर उसकी सेवा भी करनी पड़ती हैं।

कार्यकर्ताओं ने पहले समय देना कम किया, फिर दो-चार दिन लगातार सेवा कार्य से अवकाश लेने लगे और अन्त में एक-एक करके वे सब तटस्थ होते गये।

'उसने मेरा खेत चुरा लिया है। मैं उसे देख लूँगा।'

जहाँ चार आदमी रहते हैं, कहा-सुनी हो ही जाती है। पशु यदा-कदा छूट ही जाते हैं। जो समझदारी एक बार आयी थी, धीरे-धीरे समाप्त होने लगी।

'बद्रीप्रसाद उसका पक्ष करता हैं। वह उससे मिला हुआ है।' जब स्वार्थ या द्वेष बलवान् होता है और सहिष्णुता नहीं रह जाती, मनुष्य अपने हितैषी को भी शत्रु मानने लगता है।

संगठन स्वार्थ की इस चट्टान से टकराकर टूटता जा रहा था। बद्रीप्रसाद एवं उनके मित्र पर वे लोग आक्षेप करने लगे थे, जिनका स्वार्थ रुकता था या जो अपने मनोनुकूल निर्णय कहीं करा पाते थे। इक्के-दुक्के मुकदमें भी प्रारम्भ हुए और उन्होंने फूट को बढ़ाने में सहायता की।

'हम दोनों कब तक इस गाड़ी को पेल सकेंगे?' अन्त में बद्रीप्रसाद के मित्र हताश होने लगे। उन्हें अपने भीतर स्पष्ट थकावट का अनुभव होने लगा। सच तो यह है कि उनका उत्साह एक स्वप्न को लेकर था - ग्राम, परगना, तहसील, जिले के कम से

कुछ गिनेचुने वर्षों में सुदृढ़ अखिल भारतीय किसान संगठन और उसका वह सर्वोच्च नेता– इतना महान् स्वप्न जिसका भग्न हो जाय, वह हिमालय के शिखर से नीचे नहीं गिरेगा? उसका उत्साह चूर–चूर होकर बिखर जाय तो क्या आश्चर्य।

× × ×

'हम दोनों ही अब यहाँ से बाहर चले जाना चाहते हैं।' बद्रीप्रसाद जी ने अपने सबसे श्रद्धेय उन वृद्ध कर्मठ महापुरुष से प्रार्थना की। 'आप कुछ कर सकें तो इस गाँव के लिए भी कीजिये।'

'सेवा का कार्य वही कर सकता है, जिसकी कर्म में निष्ठा है, जो अपने उद्योग को – अपने श्रम को ही अपना सबसे सुन्दर फल और महान पुरस्कार मानता है।' उन वृद्ध ने कहा। 'मेरे बच्चो !'

फलाशा के सुनहले स्वप्न तथा निराशा के प्रबल झोंके, ये दोनों कर्म के राजमार्ग के दो ओर हैं। एक उत्तुङ्ग शिखर है, दूसरा गहरा खड्ड – इन दोनों से बचकर चलना है तुम्हें।'

'कार्यकर्ता सब–के–सब बहाने बनाकर पृथक हो गये।' बद्रीप्रसाद ने स्थिति का स्पष्टीकरण किया। 'जिनके लिये दिन–रात श्रम करते हैं, वे पक्षपाती, स्वार्थी और पता नहीं क्या–क्या कहते हैं।'

'ऐसी स्थिति में कोई कब तक लगा रहे, यही कहना चाहते हो न!' तनिक हँसे वे वृद्ध। 'सफलता, सुयश एवं सम्मान तुम्हारा पुरस्कार नहीं है। इन्हें पुरस्कार के रूप में पाने की कामना हो तो तुम्हारा सेवा कार्य से पृथक होना ही अच्छा, अन्यथा तुम्हारे द्वारा अनजान में ही कुसेवा होने लगेगी, तुम परार्थ के स्थान पर स्वार्थ चाहोगे। और जहाँ स्वार्थ, छल, पार्टीबंदी, असत्य, द्वेष, द्रोह, आक्षेप, हिंसा, प्रतिहिंसा आकर रहते हैं।'

'आप कहना क्या चाहते हैं?' बद्रीप्रसाद गम्भीर हुए। वे समझने लगे थे कि उनसे कहाँ भूल हुई है।

'स्वप्न मत देखो! कर्मिष्ठ व्यक्ति भूमि पर रहता है। वर्तमान से संतुष्ट और निराश मत हो। यह तो अन्धकूप में कूदने के समान है।' वृद्ध ने भी पूरी गम्भीरता पूर्वक समझाया। 'तुम जो श्रम, जो उद्योग कर रहे हो – वही तुम्हारा पुरस्कार है।'

'उस श्रम को नष्ट करने वाली शक्तियाँ बढ़ रही हैं।' बद्रीप्रसाद की यही मुख्य कठिनाई थी।

'वे तो सदा से हैं तुम्हारा उत्साह प्रबल था तो वे दीख नहीं रही थी। उत्साह शिथिल हुआ तो वे ऊपर आ गयीं। अब वे वृद्ध एक गम्भीर दार्शनिक की भाँति बोल रहे थे। 'देखो, सृष्टि में विनाश तो सदा सक्रिय है। उसके लिए कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता। एक भवन, एक पदार्थ, एक संस्था या एक अन्तःकरण किसी एक की सुरक्षा एवं स्वच्छता का प्रयत्न शिथिल कर दो, वह मलिन होता जायगा, क्षीण होता जायगा, नष्ट हो जायेगा। नवनिर्माण एवं निर्मित को बनाये रखने के लिए स्वच्छता के लिये निरन्तर जागरूक एवं कर्मशील रहना है। यह कर्म ही हमारा पुरस्कार है।

'जहाँ कर्म जाग्रत् नहीं रहेगा – वह मर जायेगा?' बद्रीप्रसाद ने पूछा।

'बच्चे ! यह सृष्टि ब्रह्मा के संकल्प से चलती है। वे जब अपना संकल्प त्यागकर सो जाते हैं, यहाँ प्रलय हो जाती है।' वृद्ध ने सूत्र सुना दिया। 'लोक- मंगल हो, आत्मकल्याण हो या और कुछ हो, उसमें प्रयत्न की निश्चिन्तता का कुछ अर्थ नहीं। जब तक प्रयत्न है, तभी तक सुरक्षा एवं स्वच्छता है। इसी से कहता हूँ – भागो मत। कहीं भी जाओगे, सेवा में सब बाधायें आयेंगी ही। तुम्हारा कर्म में ही अधिकार है। कर्म को ही अपना पुरस्कार मानो। उसी में तुम स्वतन्त्र हो।'

आगे क्या हुआ, पता नहीं। उस दिन तो वे दोनों युवक उत्साह लेकर लौट आये थे।

❑❑

भाग – 10

मा फलेषु कदाचन

'आप यहाँ!' नगर का प्रतिष्ठित डाक्टर- वह डाक्टर जिसे स्नान-भोजन को ठिकाने से समय नहीं मिलता, इस प्रकार अपनी जमी-जमाई चिकित्सा की दुकान छोड़कर सुदूर देहात में एक नन्हा-सा तंबू डालकर आ टिकेगा, इसकी कोई कैसे सम्भावना कर सकता है।

'मैं चिकित्सक हूँ- अतः इस समय मुझे यहाँ होना ही चाहिये था।' डाक्टर अवधेश जी चटपट उठ खड़े हुए। उन्होंने दोनों हाथ जोड़कर आगन्तुक को नमस्कार किया।

केवल तीन रावटी पड़ी हैं। एक में कम्पाउंडर तथा एक और सेवक है। एक में डाक्टर साहब का अस्पताल है और उसी के पिछले भाग में उनके रहने की भी व्यवस्था है। तीसरा तंबू भोजनालय का काम देता है। उसी का एक भाग सामान रखने के भी काम आता है।

'आप सरकारी चिकित्सक तो हैं नहीं।' आगन्तुक एक टीन की कुर्सी पर बैठते हुए बोले- 'नगर में भी आप सेवा ही कर रहे थे। वहाँ के रोगियों को भी तो चिकित्सक चाहिये।' दो-तीन टीन की कुर्सियाँ और एक छोटी मेज-जितने कम सामान में काम चल सके, बस, उतना सामान डाक्टर के पास था। वैसे एक चिकित्सक होने के कारण चिकित्सालय का ही सामान बहुत अधिक होना स्वाभाविक था।

'नगर के रोगियों की सेवा करने वाले पर्याप्त चिकित्सक वहाँ हैं।' डाक्टर ने शीघ्रतापूर्वक अपना इंजेक्शन का सामान ठीक करते हुए कहा। उनके पास रोगी आ रहे थे और उन्हें तुरन्त इंजेक्शन देना था- 'सरकारी चिकित्सक पर्याप्त नहीं हो रहे हैं, यह आप देख ही रहे हैं। यह सरकारी चिकित्सक का ही कर्त्तव्य नहीं है। रोग जहाँ अदम्य बनता है, किसी भी चिकित्सक का कर्त्तव्य वहाँ उसे पुकारता है।'

'तब आप मुझे भी अपना सहकारी बना लें।' आगन्तुक ने किंचित् हँसते हुए कहा- 'मैं भी तो चिकित्सक ही हूँ।'

'सच पूछिये वैद्यजी! तो मैं स्वयं आपसे यह प्रार्थना करना चाहता था; किन्तु

हिचक रहा था।' डाक्टर अवधेश एक क्षण स्थिर दृष्टि से वैद्य जी की ओर देखते खड़े रहे ..... 'हम अँधेरे में ढेला फेंक रहे हैं। रोग नया है और उसकी कोई परीक्षित औषधि अभी किसी के पास है नहीं; किन्तु रोग संक्रामक है और अत्यन्त उग्र भी। किसी मित्र को ऐसे स्थान पर रहने को कहना.... वैसे सम्भव है कि आयुर्वेद की सहायता कुछ कर सके।'

'रोग तो हमारे लिए भी नया है; किन्तु आयुर्वेद की पद्धति में कोई रोग नया नहीं होता।' वैद्य जी गम्भीर हो गये- 'और रोग के संक्रामक तथा उग्र होने का भय तो जैसा मेरे लिए है, वैसा ही आपके लिए भी है।'

एक ही शिविर में- उसी दिन दो अच्छे चिकित्सक एक साथ कार्य करने लगे। यद्यपि दोनों की पद्धतियों में कोई ऐक्य नहीं था, किन्तु चिकित्सकमात्र-भले वे किसी पद्धति के हो... सब एक स्थान पर एक हैं, सबका लक्ष्य रोग को दूर करके रोगी के कष्ट को घटाते हुए मिटा देना है।

× × ×

भारत में पहली बार प्लेग आया था। कोई औषधी तब तक अविष्कृत नहीं हुई थी। अनेक घर सूने हो गये। गाँव-के-गाँव उजड़ गये। ज्वर, गिल्टी और मृत्यु-जैसे मृत्यु ने अपना भयानक पंजा चारों ओर फैला रक्खा था और प्राणियों को शीघ्रतापूर्वक समेटे ले रहा था- ठीक इस प्रकार जैसे क्षुधार्त बंदर दोनों हाथों बिखरे चने उठा-उठाकर मुख में भरता है।

'अमुक को ज्वर आ गया है।' समाचार अकेला नहीं आता था- 'उसके लड़के को गिल्टी निकल निकल आयी है। उसके भाई की दशा बिगड़ रही है। पड़ोस के मकान में अमुक मर गया। उसका शव उठाने वाला कोई नहीं है।'

न डाक्टर को अवकाश था, न वैद्य जी को। किसी को दवा दी, किसी को इंजेक्शन। किसी को पुल्टिस बाँधी, किसी को चूर्ण फँकाया। न स्नान का ठीक समय, न भोजन का।

बात यहीं तक नहीं थी। चिकित्सा के अतिरिक्त मृतकों को गङ्गा पहुँचाने का भी प्रश्न था और नित्य नहीं तो, दूसरे-तीसरे ऐसा अवसर आता ही था कि वैद्य जी और डाक्टर साहब, दोनों ही शव को कन्धा लगाये गङ्गा तट चले जा रहे हैं। वैसे यह कार्य उन कम्पाउंडर, रसोइया तथा नौकर को अधिक करना पड़ता था। और जब वे अपना कार्य छोड़कर कोई मृतक लेकर चल देते तो वैद्य जी चूल्हा फूँकते दीख पड़ते और डाक्टर साहब कम्पाउडंर का स्थान भी ले लेते।

'आज चपरासी को ज्वर आ गया है।' यह होगा, पहले से जानी-समझी बात होने पर भी जब हुई- बहुत भयनक लगी। वैद्य जी ने डाक्टर साहब से कहा- 'कम्पाउडंर, रसोईया, आप और मैं.....।' आगे बोला नहीं गया उनसे।

'हम सभी खतरे में हैं।' डाक्टर ने बिना हिचके कहा- 'मैंने सबसे यह बात पहले ही बता दी है और रसोइया या कम्पाउंडर अपने घर जाना चाहें तो मैं उन्हें प्रसन्नता पूर्वक छुट्टी दे दूँगा। मेरी प्रार्थना मानें तो आप भी.....।'

'मैं दूसरी बात कह रहा था।' वैद्य जी बीच में बोल उठे....।' न कम्पाउडर जायगा इस प्रकार और न रसोइया। इनके बिना आपका काम भी नहीं चल सकता। लेकिन मैं ठहरा वैद्य, मुझे किसी कम्पाउंडर, चपरासी, रसोइये की आवश्यकता नहीं होती। मैं दवा भी घोट लेता हूँ, रोगी भी देख लेता हूँ और अपने लिए दो टिक्कर भी ठोक लेता हूँ।'

'तो यह कहिये कि आपकी नीयत अच्छी नहीं है।' डाक्टर खुलकर हँस पड़े- 'आप यहाँ से हमें भगा देना चाहते हैं। यह क्यों भूलते हैं आप कि यहाँ आप हमारे अतिथि होकर आये और अब भी उसी स्थिति में हैं।'

'तो आप इस ब्राह्मण अतिथि को अपना यह आवास दान कर दीजिये।' वैद्यजी भी हँसे- 'अपने संगी-सेवक लेकर नगर का मार्ग देखिये।'

'आपने ठीक यजमान नहीं चुना' डाक्टर ने उसी विनोद के स्वर में उत्तर दिया- 'मुझमें इतनी श्रद्धा नहीं है।'

'तब मुझे यमराज को यजमान बनाना पड़ेगा।' वैद्यजी गम्भीर हो गये; किन्तु किसी के भी नगर लौटने की चर्चा यहीं समाप्त हो गयी।

× × ×

'वैद्य जी मैं निराश हो चला हूँ।' अन्ततः एक रात-आधी रात के बीत जाने पर जब डाक्टर अपने बिस्तर पर लेटे, उन्होंने समीप के बिस्तर पर लेटे वैद्यजी से कहा- 'हम न रोगियों को बचा पाते हैं और न उनका कष्ट ही कुछ कम कर पाते है उलटे हमने अपने आश्रितों के प्राण भी संशय में डाल रक्खे हैं।'

'वे जाना चाहें - आग्रह करने पर भी चले जायँ तो उन्हें सबेरे ही भेज दीजिये। वैद्यजी डाक्टर साहब के शिविर में, उनकी ही रावटी में रहने लगे थे, यह तो कहने की आवश्यकता ही नहीं है। वे कह रहे थे- 'मैं आपकी रसोई भी बना दूँगा और पूरा नहीं तो भी, कुछ काम कम्पाउंडर का भी कर दूँगा आपके।'

'लेकिन इससे लाभ?' डाक्टर का स्वर खिन्न था।

'लाभ?' वैद्य जी झटके से उठ बैठे अपने बिस्तरे पर-

'आप इसमें कुछ लाभ नहीं देखते? नगर लौट जाने की इच्छा हो रही है क्या?'

'मैं अकेला कहाँ जा रहा हूँ।' डाक्टर और खिन्न हो गये थे– 'आपको साथ लेकर जाना चाहता हूँ।'

'देखो अवधेश!' इस बार वैद्य जी मित्रता के स्तर पर आ गये– 'मैं प्रारम्भ से आग्रह कर रहा हूँ कि तुम नगर चले जाओ। अपने सेवकों को और इन शिविरों को भी ले जाओ। मुझे इनमें-से किसी की आवश्यकता नहीं। मैं सबेरे ही जमीदार की खाली छावनी के बैठक में डेरा डालूँगा।'

'करेंगे क्या आप?' डाक्टर भी उठकर बैठ गये।

'दवा घोटूँगा। रोगी देखूँगा। उन्हें दवा दूँगा। आश्वासन दूँगा।' वैद्य जी के स्वर में विनोद का लेश नहीं था– 'और किसी मृतक को उठाने वाला कोई न हुआ तो इतनी शक्ति इस शरीर में भगवान् ने कृपा करके दी है कि अकेले उसे कन्धे पर उठाकर गङ्गाजी में विसर्जित कर आऊँ।'

'इससे क्या लाभ?' डाक्टर ने फिर पूछा– 'मेरी औषधियों के समान आपकी औषधियाँ भी प्रभावहीन सिद्ध हो रही हैं, यह तो आप देख ही रहे हैं।'

'औषधियाँ चुनने में हम प्रमाद नहीं करते।' वैद्य जी अत्यन्त गम्भीर हो गये थे– 'हमारी जितनी योग्यता है, जितना ज्ञान है, उसका कोई भाग हमने छिपाया नहीं है और यही हम कर सकते हैं। औषधि लाभ करें ही, यह तो न मेरे बस की बात है, न आपके। इसमें उद्विग्न होने की क्या बात?'

'निष्फल उद्योग और वह भी खतरा उठाकर' डाक्टर ने वैद्यजी को समझाने के स्वर में कहा।

'उद्योग कर्त्तव्य है, इसलिए किया जाता है।' वैद्य जी इस बार तनिक जोश में आ गये– 'आपकी चिकित्सा-पद्धति की बात आप जानें; किन्तु आयुर्वेद तो आस्तिक शास्त्र है। प्रारब्ध तथा ईश्वरीय विधान में आयुर्वेद को पूरा विश्वास है। हम विश्वास करते हैं कि जिसे जितना कष्ट प्रारब्धानुसार मिलना है– मिलकर रहेगा। निश्चित मृत्यु कोई टाल नहीं सकता।'

'तब भी आप चिकित्सा करते हैं।' डाक्टर ने व्यंग किया।

'सो तो करता हूँ और यहाँ की चिकित्सा छोड़ने को प्रस्तुत नहीं।' वैद्यजी का स्वर स्थिर-दृढ़ था– परिणाम अपने वश में नहीं है, अतः उसका प्रभाव अपने उद्योग पर क्यों पड़ने दिया जाय।'

'इस उद्योग का प्रयोजन?'

'कर्त्तव्य-पालन' वैद्य जी कह रहे थे– 'रोगी को आश्वासन मिलता है। हममें

दया, मैत्री, करुणा, सेवा-भाव का संचार होता है। प्रमाद को प्रश्रय नहीं मिलता। सेवा का सात्विक आनन्द, रोगी को आश्वासन एवं कर्त्तव्य-पालन का पुण्यमय आत्मप्रसाद- इससे महान् और कोई पुरस्कार आपको सूझता है।'

'आप मेरे गुरु!' डाक्टर साहब ने उठकर भाव-विभोर होकर वैद्य जी के चरण पकड़ लिये।

'स्वस्तिरस्तु' वैद्यजी हँसे- 'ब्राह्मण का चरण-वन्दना करना आपको आया तो सही।'

'चिकित्सक का ठीक कर्त्तव्य सुझाया आपने।' डाक्टर परिहास-ग्रहण करने की मनोभूमि में इस समय थे नहीं।

'चिकित्सक का ही नहीं- मनुष्य मात्र का ब्राह्मण को छोड़कर मानव-कर्त्तव्य का निर्देष्टा कोई है भी तो नहीं।'

वैद्य जी इस चर्चा को समाप्त कर देना चाहते थे- 'किसी भी क्रिया का फल कर्ता के वश में नहीं है। वह है भाग्य विधाता के हाथ में। तब फल में आग्रह करके अपने कर्त्तव्य को, जिसमें हमारी स्वतन्त्रता है, कुण्ठित क्यों होने दिया जाय।'

❑❑

मा कर्मफलहेतुर्भूः

'आप रक्षा कर सकते हैं- आप बचा सकते हैं मेरे बच्चे को।' वह वृद्धा क्रन्दन कर रही थी। 'आप योगी हैं। आप महात्मा है। मेरे ओर कोई सहारा नहीं है।'

उस वृद्धा का एकमात्र पुत्र रोगशय्या पर पड़ा था। आज तीन महीने हो गये, कुछ पता नहीं चलता कि उसे हुआ क्या है। उसे भूख लगती नहीं, मस्तक में भयंकर पीड़ा होती है। पड़े-पड़े कराहता तो क्या, आर्तनाद किया करता है।

वृद्धा के और कोई नहीं। उसके बुढ़ापे का सहारा उसका युवा पुत्र - इसी वर्ष उसका द्विरागमन होना था- अब क्या होगा? वैद्य-हकीम सभी तो कर लिये। घर में जो कुछ था- गहने ही नहीं, बर्तन तक बिक गये। जिसने जो बताया, वही किया; किन्तु रोग है कि बीस से उन्नीस होने का नाम नहीं लेता।

झाड़-फूँक, टोने-टोटके, यन्त्र-मन्त्र-कुछ बाकी नहीं। दुःखी पुरुष इधर-उधर हाथ मारता है। बेचारी वृद्धा बहुत ही दुखी- अत्यन्त आर्त है। पता नहीं, किसके-किसके उसने पैर पकड़े हैं। आज सुना कि बंदा बैरागी आये हैं और दौड़ पड़ी। उसने सुना है कि बंदा योगी हैं। गुरु ने अपना तेज दे दिया है बंदा को। वे महापुरुष हैं। अकाल पुरुष की ज्योति उनमें उतरी है। वे अत्यन्त दयालु हैं, तब क्या उस पर दया नहीं करेंगे।

बंदा के पास पहुँचकर वह सीधे उनके पैरों पर गिर पड़ी। दोनों हाथों में उनके पैर पकड़कर लिपट गयी। जब तक महापुरुष कृपा नहीं करेंगे, वह उनके पैर नहीं छोड़ेगी।

'माँ!' बंदा चौंक पड़े। उन्होंने बड़ी कठिनाई से वृद्धा को अपने पैरों पर से उठाया। वृद्धा ने रोते हुए कहा - 'मेरा बेटा मरणासन्न हैं; आप आशीर्वाद दें, वह अच्छा हो जाय। आपके आशीर्वाद से वह अवश्य रोगमुक्त हो जायागा।'

'मैं क्या आशीर्वाद दूँगा। मेरे पास तो न कोई सिद्धि है, न तपस्या की शक्ति और न पुण्य।' बन्दा ने समझाने का प्रयत्न किया। 'कुछ कार्य मेरे द्वारा होता भी है तो वह परम पुरुष की कृपा और गुरु की प्रेरणा से। मैं कौन होता हूँ। जिसकी शक्ति कार्य करती है, कार्य के फल उसके।'

'आप एक चिटकी भस्म दे दें!' बुढ़िया इस समय उपदेश सुनने-समझने की स्थिति में नहीं थी। वह गिड़गिड़ा रही थी।

'जैसी जगदम्बा की आज्ञा!' बन्दा अत्यन्त गम्भीर हो उठे। उन्होंने उस बुढ़िया को मस्तक झुकाया- 'आप जगदम्बा ही तो हैं। बच्चे से जो कराना हो, करा लें।' और बन्दा के अनुचरों ने देखा कि उनका वह प्रसिद्ध सेनानी, आततायियों का चमत्कारी मूर्त आतङ्क आज सचमुच एक बैरागी बन गया है। एक साधु की गम्भीरता से बंदा ने वृद्धा के पैरों के पास से ही एक चिटकी धूलि उठायी, उसे मस्तक तक ले गये, एक बार दृष्टि आकाश की ओर गयी और वह धूलि उन्होंने वृद्धा के हाथ पर रख दी।

'मेरा बेटा अब जी जायेगा!' बुढ़िया उल्लासपूर्वक उठ खड़ी हुई। उसने नहीं देखा कि बन्दा के नेत्र भर आये हैं। 'तुम्हारी तपस्या पूरी हो। तुम अकाल पुरुष के प्यारे बनो!' आशीर्वादों की वर्षा करती वह लौट पड़ी अपने घर की ओर।

× × ×

'सूबेदार की सेना आ रही है। लगता है उसे आपके यहाँ होने का पता लग गया है। बहुत बड़ी सेना है।' एक घुड़सवार सिख घोड़ा दौड़ता आया था। कुछ दूर ही घोड़े से वह कूद पड़ा और बन्दा के सामने आकर मस्तक झुकाकर खड़ा हो गया। उसका घोड़ा पसीने से लथपथ हो रहा था। मुख से झाग गिरा रहा था। स्पष्ट था कि वह पर्याप्त दूरी से अत्यधिक वेगपूर्वक दौड़ाया गया है और उसे बीच में तनिक भी दम नहीं लेने दिया गया है।

'छि:!' बन्दा के नेत्रों में चमक आयी। 'अपने प्राणों के मोह से बैरागी इन ग्रामीणों को भेड़ियों की कृपा पर छोड़कर भाग जायगा? तुम्हें भय लगता है?'

'हमारे साथ इस समय केवल पचीस सैनिक हैं।' बन्दा के समीप खड़े सुदृढकाय, विशालदेह पुरुष ने बंदा की ओर देखा- 'आप आज्ञा करें तो हम लोग अब भी पर्वत तक पहुँच सकते हैं।'

'धीर सिंह कभी डरा नहीं है!' उस भीमकाय पुरुष के नेत्र भी कठोर हुए और उसने अपनी मूछों पर हाथ फेरा- 'आप सुरक्षित निकल जायँ तो हमारा नेता ही नहीं, हमारा भाग्य सुरक्षित हो गया। मेरे साथ चार सैनिक छोड़ दीजिये, मैं इन आनेवाले कुत्तों से सुलझ लूँगा।'

'अकाल पुरुष के हाथों में हम सबका भाग्य सुरक्षित है।' बन्दा ने कवच धारण करते-करते कहा। 'बैरागी अपने मित्रों को शत्रु के बीच छोड़ जायगा, ऐसी आशा तुम उससे नहीं कर सकते!'

'सूबेदार की सेना आ रही है हमें लूटने और बैरागी ने तलवार उठा ली है।' अच्छा बड़ा ग्राम था- साधारण कस्बा। बात फैलते देर नहीं लगी। पंजाबी युवक का रक्त कभी शीतल नहीं रहा है और इस समय तो बहती गंगा में हाथ धोना था- 'बन्दा बैरागी का साथ देने का हमें सौभाग्य मिला है। बैरागी-महाकाली खप्पर लिये युद्ध में जिनके आगे चलती है।'

पूरे पंजाब में बन्दा बैरागी अतिमानव- लोकोत्तर चमत्कारी महापुरुष माने जाते थे। वे पराजित भी किये जा सकते हैं, यह बात कोई सोच तक नहीं सकता था। शत्रु-सेना पाँच सौ है, पाँच हजार है या पचास हजार है- कोई सोचना नहीं चाहता। विजय तो बैरागी के चरणों में रहती है। उनके नेतृत्व में शस्त्र उठाकर यश का लाभ ही तो लेना है।

'धीरसिंह!' अपने घोड़े पर बैठते-बैठते बन्दा ने सहचर को सम्बोधित किया- 'हमारे पास केवल पचीस सैनिक नहीं हैं।'

'मैं आपके नाम का प्रताप समझता हूँ।' धीरसिंह ने देखा कि हल पकड़नेवाले हाथ अब भाला या तलवार उठाये हैं। ग्रामीण तरुणों की संख्या बढ़ती जा रही है। वृद्ध तक दौड़े आ रहे हैं।

'प्रताप तो सर्वत्र परमात्मा का!' बन्दा ने किसी अलक्ष्य के प्रति मस्तक झुकाया। 'मिट्टी के किसी पुतले का प्रताप क्या हो सकता है। तुम इन नवीन सैनिकों को सँभाल लोगे?'

'जैसी आपकी आज्ञा!' धीर सिंह ने ग्रामीण तरुणों को परिस्थिति समझायी और ब्यूहबद्ध करना प्रारम्भ किया। इतना अनुशासन-कोई दीर्घकालीन सुशिक्षित सेना भी चकित रह जाय; क्योंकि धीरसिंह कह रहे थे- 'आप सबके सेनापति इस समय बन्दा बैरागी हैं- महायोगी बैरागी। आपको उनकी आज्ञा के एक-एक अक्षर का पालन करना है।'

'हम पालन करेंगे!' बैरागी की आज्ञा तो परमात्मा की आज्ञा है। उसे अस्वीकार कोई कैसे कर सकता है।

पता नहीं था कि शत्रु किधर से आक्रमण करेगा, वह ग्राम पर घेरा डालेगा या सीधे घुस पड़ना चाहेगा; किन्तु बैरागी ने शत्रु की संख्या या उसकी ब्यूह की अपेक्षा कब की है। उनका अश्व जैसे वायु में उड़ रहा था। उनके आदेश यन्त्र की भाँति उनके सैनिक-ग्रामीण पालन कर रहे थे। घड़ी भर में तो गाँव से एक कोस दूर तक चारों ओर मोर्चा जम गया। वृक्षों के शिखर, ऊँचे टीले, गहरे खड्ड - सब कहीं बैरागी के सैनिक सावधान बैठ चुके थे और मैदान में बन्दा के साथ चुने हुए दस घुड़सवार धूलि उड़ाते दौड़ लगा रहे थे।

× × ×

सचमुच विजय बन्दा बैरागी के चरणों के पीछे चला करती है। शत्रु का सैन्य दल ठीक कितना था, पता नहीं– पाँच हजार से अधिक ही होगा। बैरागी के पास सैनिक कुल पचीस थे; और ग्रामीणों को भी गिन लें तो पाँच सौ से अधिक नहीं। किन्तु युद्ध कठिनाई से तीन घन्टे चला होगा।

सेना सूबेदार की ही थी; किन्तु वह न बैरागी को पकड़ने आयी थी न उनसे युद्ध करने को प्रस्तुत थी। वे लोग तो आये थे– गाँव के निरीह लोगों को लूटने–काफिरों को कत्ल करके गाजी बनाने, साथ ही जेबें गरम करने और हो सके तो कोई सुन्दर–सी लड़की ले जाने! उनके सैनिकों के भाव इसी प्रकार के थे। सिर का सौदा करने को उनमें कोई तैयार नहीं था। बैरागी से सामना हो जायगा, यह उन्हें पता होता तो इधर कदम रखने की भूल वे कर नहीं सकते थे।

'अल्लाह को अकबर!' की पुकार करती आततायियों की समुद्र–सी उमड़ती वह सेना; किन्तु उसने सुना– 'सत् श्रीअकाल!' 'वाह गुरु की फतह!' 'बन्दा बैरागी की जय!' और उनके मुखों से 'अल्लाह हो अकबर!' बन्द हो गया। वे 'या खुदा! या अल्लाह!' चिल्लाने लगे।

'बन्दा बैरागी– शैतान का फरिश्ता या काफिर!' हवाइयाँ उड़ने लगी शत्रु–सैनिकों के मुख पर– 'शैतान इसके तीरों को सौगुना कर दिया करता है। मल्कुल मौत इसके साथ दौड़ती है।'

सचमुच मौत दौड़ रही थी बन्दा के अश्व के साथ। उनका अश्व जिधर से निकल जाता था, उनके बाणों की बौछार उधर भूमि को लाशों से ढ़क देती थी।

'बैरागी आ गया! कयामत उतर आयी उसके साथ!' बहुत शीघ्र शत्रु के पैर उखड़ गये। अपने घायलों तक को कराहते छोड़कर वे भागे और भागते चले गये। उन्होंने बन्दा नहीं, बन्दा का भय खदेड़े चला जा रहा था; क्योंकि भागते शत्रु को तो न बैरागी कभी खदेड़ते न उन पर चोट करते।

× × ×

'आपकी कृपा से हमने विजय प्राप्त की!' बन्दा युद्ध से लौटे थे और अपने सदा के नियम के अनुसार वे किसी पवर्त पर अकेले ध्यान करने जाना चाहते थे। धीरसिंह ने आग्रह किया– 'शत्रु से छीनी सामग्री के वितरण का तो आप आदेश दे जायँ।'

'आप साक्षात भगवान् हैं! आपने मेरे पुत्र को जीवित कर दिया!' सहसा वृद्धा आ गिरी बैरागी के चरणों पर। उसके साथ आया था उसका पुत्र। अब भी वह बहुत दुर्बल था, किन्तु उसके मुख पर आरोग्य की चमक आ चुकी थी।

'माता, परमात्मा को धन्यवाद दो! तुम्हारे पुत्र को उस दयामय ने अच्छा किया है।' बन्दा बैरागी ने धीरसिंह की ओर मुख किया– 'और भाई तुम भी। विजय उस प्रभु की हुई और उसी की शक्ति से हुई।'

'फल हुआ– वह प्रभु की कृपा, उनका प्रसाद।' बैरागी अश्वपर बैठते बोले– 'उसे अपने कर्म का फल मानकर पूरे कर्म का उत्तरदायित्व क्यों सिर पर लेते हो। अपने को – कर्मफल का उत्तरदायित्व क्यों सिर पर लेते हो। अपने को–कर्मफल का कारण कभी मत बनाओ, फल को भगवान् पर छोड़ दो। कोई कर्म तुम्हें बाँध नहीं सकेगा।'

बैरागी का अश्व उड़ चला। विजय में प्राप्त श्रेय तथा सम्पत्ति न कभी वे लेते थे, न उसकी व्यवस्था का आदेश करते थे। वे वीतराग.....

❑ ❑

मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि

'जीवन का उद्देश्य क्या है?' जिज्ञासा सच्ची हो तो वह अतृप्त नहीं रहती। भगवान् की सृष्टि का विधान है कि कोई भी अपने को जिसका अधिकारी बना लेता है, उसे पाने से वह वंचित नहीं रखा जाता।

'आत्मसाक्षात्कार या भगवत्प्राप्ति?' उत्तर तो एक ही है। यही उत्तर उसे भी मिलना था और मिला– 'यह तो तुम्हारे अधिकार एवं रुचिपर निर्भर करता है कि तुम किसको चुनोगे। यदि तुम मस्तिष्क प्रधान हो तो प्रथम और हृदयप्रधान हो तो द्वितीय।'

वह राजपूत है– सच्चा राजपूत और यह समझ लेना चाहिये कि सच्चा राजपूत लगन का सच्चा होता है। वह पीछे पैर रखना नहीं जानता– किसी क्षेत्र में बढ़ने पर। सौभाग्य से पिता साधु सेवी थे और सत्सङ्ग ने उसे सिखा दिया था कि संसार के भोग तथ्यहीन हैं, उनमें सुख की खोज चावल के लिये तुस कूटने जैसा है।

'परमार्थ का मार्ग तो वह दिखला सकता है, जिसने स्वयं उसे देखा हो।' उसका निर्णय आप भ्रान्त तो नहीं कह सकते। कोई भी मार्ग वही दिखा बता सकता है, जो उस पर चला हो। सुन–सुनाकर बतानेवाले भूल कर सकते हैं। किसी की भूल से जब पूरे जीवन के भटक जाने की आशङ्का हो, ऐसा भय कौन आमन्त्रित करे। उसने निश्चय किया– 'समर्थ स्वामी रामदास के श्रीचरण ही मेरे आश्रय हो सकते हैं।'

कहाँ ढूँढ़े वह श्रीसमर्थ को। उन दिनों वे कहीं टिककर रहते नहीं थे। उन्होंने देश–भ्रमण प्रारम्भ कर दिया था। यह ठीक है कि वर्ष–दो–वर्ष में वे 'सातारा' आ जाते थे; किन्तु जीवन के साथ जुआ तो नहीं खेला जा सकता। जीवन वर्ष–दो वर्ष रहेगा ही– मृत्यु कल ही धर नहीं दबायेगी, इसका आश्वासन?

'स्वामी! मैं आपके समीप से उठने वाला नहीं हूँ!' उसने श्रीपवन कुमार के श्रीविग्रह के चरणों के पास आसन लगाया। 'श्रीसमर्थ आपके हैं, मैं उन्हें कहाँ ढूँढ़ने जा सकता हूँ।'

बात सच थी, संत ढूँढ़ने से मिलते होते तो देवर्षि नारद अपने भक्तिसूत्र में न कहते–

'लभ्यतेऽपि तत्कृपयैव' (४०)

किन्तु उन्होंने ही यह भी तो कहा है-

'तस्मिस्तज्जने भेदाभावात्।' (४१)

श्रीमारुति के चरणों में पहुँची आर्तपुकार कभी निष्फल नहीं लौटी है। इस बार भी उसे नहीं लौटना था। पता नहीं कहाँ से घूमते हुए श्रीसमर्थ आ पहुँचे और किसी ग्राम या नगर में पहुँचने पर वे पहले वहाँ के श्रीमारूति मन्दिर में प्रणाम करने पहुँचे, यह तो निश्चित ही रहता है।

'मैं तुम्हें ढूँढ़ने आया हूँ।' श्रीसमर्थ ने पवनकुमार को साष्टाङ्ग प्रणिपात किया और अपने पदों में प्रणत उस राजपूत युवक को उठा लिया।

'कृपामय ढूँढे तो अज्ञ असमर्थ जन उन्हें कहाँ कैसे प्राप्त कर सकता है।' युवक के नेत्रों से अश्रु झर रहे थे।'

'तुम इस प्रकार यहाँ क्यों बैठे हो?' समर्थ की ओजपूर्ण वाणी गूँजी। 'तुम्हारे-जैसे समर्थ तरुणों की सेवा आज जनता रूप में विद्यमान श्री जनार्दन माँग रहे हैं।'

'मनुष्य-जीवन बार-बार प्राप्त नहीं होता, यह आप महापुरुषों से ही सुना है।' युवक अपनी जिज्ञासा पर आ गया था। 'आप कृपा करें! यह जीवन आपकी कृपाकोर प्राप्त करके कृतकृत्य हो जायगा।'

'श्रीरघुवीर समर्थ अनन्त करुणावरुणालय है।' समर्थ स्वामी अभ्य दे रहे थे। कृपाकी क्या कृपणता है वहाँ! उनके श्रीचरणों से कृपाकी अजस्र स्रोतस्विनीं त्रिभुवन को आप्लावित करती झर रही है। तुम अपने को उन श्रीचरणों में अर्पित कर दो।'

× × ×

'मुझे आज्ञा दें प्रभु!' वह युवक अब एक आश्रम का मुख्य प्रबन्धक था। अब वह साधु है- समर्थ का साधु। समर्थ के साधु का अर्थ है- दीनों का सेवक, रोगियों का उपचारक एवं पीड़ितों का मूर्तिमान् आश्वासन, किन्तु वह स्वयं आज आर्त्त हो रहा है। श्रीसमर्थ की प्रतीक्षा कर रहा है वह गत महीनों से और आज जब उसके गुरुदेव पधारे हैं, वह उनके श्रीचरणों पर गिर पड़ा है।

'तुम बहुत उद्विग्न दीखते हो!' श्रीसमर्थ ने आसन स्वीकार कर लिया था।

'अपने को अयोग्य पाता हूँ मैं इस आश्रम के लिए।' वह खुलकर रो पड़ा।' 'श्रीचरण आज्ञा दें तो एकान्त में कुछ दिन प्रयत्न करूँ।'

'कौन-सा प्रयत्न करोगे तुम!' समर्थ स्वामी के मुख पर स्मित आया- अपार वात्सल्यपूर्ण स्मित।

'मन की चञ्चलता को रोकने का प्रयत्न?' युवक ने उत्तर दिया। 'श्रीचरणों ने ही आदेश दिया था कि नैष्कर्म्य की सिद्धि ही आत्मदर्शन का उपाय है।'

'उपाय नहीं- नैष्कर्म्यसिद्धि तथा आत्मदर्शन एक ही बात है।' श्रीसमर्थ ने संशोधन किया। 'किन्तु नैष्कर्म्य का तुम सम्पादन कैसे करोगे? कर्म का त्याग करके?'

'यदि प्रभु आज्ञा दें!' युवक ने अपना मन्तव्य स्पष्ट किया। 'आश्रम में रहकर तो नित्य कार्यव्यग्र रहना ही पड़ता है।'

'एकान्त में जाकर तुम श्वासक्रिया बन्द कर दोगे?' समर्थ समझाने के स्वर में बोल रहे थे। 'आहार एवं जल भी तथा शरीरस्थ यन्त्रों की क्रियाओं को भी? यदि यह कर भी ले तो उस पत्थर में और तुम में अन्तर क्या होगा?'

'प्रभु!' युवक अपने मार्गद्रष्टा के चरणों पर गिर पड़ा। उसे लगा कि कोई घने अन्धकार का पर्दा उसके सम्मुख पड़ा था और अब वह उठने ही जा रहा था।

'आत्मतत्त्व अक्रिय है। उसकी अनुभूति- समस्त क्रियाशीलता के मूल में जो एक निष्क्रिय सत्ता है, जिसमें क्रिया का आरोपितमात्र है, उससे एकत्व का अनुभव।'

सहसा श्रीसमर्थ रुक गये। उन्होंने देखा कि उनका यह अनुगत इस पद्धति को हृदयंगम नहीं कर पा रहा है। उन्होंने दिशा बदली - 'क्रिया के संचालक एवं उसके फल के दाता-भोक्ता श्रीरघुवीर हैं। हम-तुम सब उन समर्थ-के हाथ के यन्त्र है। हमें उनके चरणों में अपने-आपको पूर्णतया अर्पण कर देना है।'

'श्रीचरणों में मैंने अपने को उसी दिन अर्पित कर दिया।' युवक के स्वर में विश्वास था।

'यन्त्र तो नित्य निष्क्रिय है। उसकी क्रिया तो संचालक की क्रिया है।' श्रीसमर्थ ने वह अज्ञान की अन्धयवनिका उठा दी। 'सचमुच तुमने अपने को अर्पित कर दिया है तो नैष्कर्म्य स्वतः प्राप्त है। मन के चाञ्चल्य के निग्रह के कर्ता बनने की इच्छा तुममें क्यों आती है?'

'यह अशान्ति- उस आनन्दघन की अनुभूति जो नहीं पा रहा हूँ।' बात सच है। यदि आन्तरिक शान्ति और आनन्द नहीं मिलता तो अवश्य हमसे भूल हो रही है, हमारे साधन में कहीं त्रुटि है।

'अपने तो कर्ता मानना छोड़ दिया होता तुमने!' वह त्रुटि जो स्वयं साधक नहीं पकड़ पाता, उसका मार्ग-द्रष्टा सहज पकड़ लेता है। श्रीसमर्थ से वह त्रुटि छिपी नहीं रह सकती थी। तुम न उद्धारक हो, न सहायक। इन रूपों में आनन्दघन श्रीरघुवीर तुम्हारी सेवा लेने आते हैं।

तुम पर कृपा करके उनकी सेवा करके तुम कृतार्थ होते हो।'

युवक ने भूमि पर मस्तक रखा और उसके वे गुरुदेव उठ खड़े हुए। उन्हें अब प्रस्थान करना था।

× × ×

'तुम जा सकते हो, यदि तुम्हें एकान्त में जाने की आवश्यकता प्रतीत होती हो !' श्रीसमर्थ स्वामी रामदास जब दूसरी बार उस आश्रम पर लौटे, स्वागतसत्कार समाप्त हो जाने पर अपने चरणों के पास बैठे आश्रम के प्रधान की ओर उन्होंने सस्मित देखा।

'मुझसे कोई अपराध हो गया?' प्रधान ने मस्तक रखा श्रीचरणों पर। अन्य आश्रमस्थ साधु सशङ्क हो उठे। उनके निष्पाप प्रधान ने ऐसा क्या किया कि उन्हें दण्ड प्राप्त हो? किसी अपने चरणाश्रित साधु को समर्थ स्वामी आश्रम से पृथक् होकर एकान्त-सेवन का आदेश तभी देते है, जब वह कोई अक्षम्य अपराध करता है। यह तो उनका सबसे बड़ा दण्ड है।

'अपराध की बात मैं नहीं कहता!' समर्थ स्वामी प्रसन्न थे। 'यह तो तुम्हारी आवश्यकता की बात है। आन्तरिक शान्ति एवं निरपेक्ष आनन्द की उपलब्धि के लिए यदि तुम्हें एकान्त की आवश्यकता प्रतीत होती हो.....।'

'श्रीचरणों को छोड़कर मेरी और कोई आवश्यकता कभी न बने!' आश्रम के प्रधान का स्वर भाव-विह्वल हुआ। 'अज्ञानी आश्रित से त्रुटि होती ही है और दया-धाम शरण्य उसे क्षमा करते हैं। सेवकों को सेवा का प्रभु ने सौभाग्य दे रखा है, उसे आनन्द का अभाव कैसे हो सकता है।'

'यही कहने इस बार मैं आया हूँ।' समर्थ रामदास स्वामी ने एक दृष्टि समस्त शिष्य वर्ग पर डाली। 'जो इस विश्व का निर्माता, संचालक एवं संरक्षक है, वह न दुर्बल है न असमर्थ। उसे हमारी सेवा की आवश्यकता नहीं है। यह झूठा अहंकार है कि किसी की सेवा करेंगे या हम लोकोपकार करेंगे।'

'तब हमारा यह आश्रम....।' एक नवीन साधु कुछ कहना चाहता था; किन्तु स्वयं उसे अपनी भूल ज्ञात हो गयी। समर्थ स्वामी बोलते जा रहे थे-

'उन प्रभु ने हमें अपनी सेवा प्रदान की, यह उनकी कृपा। प्रत्येक जीव पर उनकी यह अहैतुकी कृपा है। सबको उन्होंने एक कार्य देकर यहाँ भेजा है और यदि अपने कार्य का वह ठीक सम्पादन करता है तो सर्वेश की आराधना करता है। इसी आराधना से वह उनकी प्राप्ति करता है।'

हमारा कर्त्तव्य

'अवश्य प्रत्येक को इसे समझने में कठिनाई होती है।' समर्थ की अमृतवाणी प्रवाहित हो रही। 'किन्तु तुम्हें क्यों कठिनाई होनी चाहिए? तुममे बल है, शौर्य है, शस्त्रचालन की निपुणता है। ये साधन तुम्हे समर्थ श्रीरघुवीर ने दिये हैं। आसपास जो आर्त, अत्याचार-पीड़ित हैं, उनकी पुकार- वह प्रभु की पुकार तुम्हारा कर्त्तव्य-निर्देश करती है।'

'कर्म करने के तुम्हें साधन मिले हैं- अतः उनका उपयोग करो।' उपदेश का उपसंहार हुआ। 'कर्म का त्याग अर्थात् अकर्म में आसक्ति करके तो तुम अपने को उस सर्वात्मा की सेवा से वञ्चित कर लोगे।'

अकाम

'असंकल्पाज्जयेत् कामम्'

काम जानामि ते मूलं संकल्पात् सम्भविष्यसि।
न त्वां संकल्पयिष्यामि ततस्ते प्रभवः कुतः।।

जो कुछ उसे देखता है, देखता रहता है। यह आयु, यह सुन्दर शरीर और यह वेश! यह कोई साधुवेश भी होता तो एक बात थी; किन्तु अब उसे इसी प्रकार रहना था तो साधु क्यों नहीं हो जाता?

इकहरा गोरा शरीर, साँचे में ढ़ले-से अंग, उन्नत ललाट, पतले लाल अधर, बड़ी-बड़ी भावभरी आँखें और कोमल कलाकार-सी अँगुलियाँ। कठिनाई से पच्चीस वर्ष पूरे किये होंगे। मैली आधी बाँह की कमीज, खादी की मैली कुछ फटी एक ही धोती, एक कम्बल, लोटा और गीता की छोटी-सी पुस्तक- कुल इतना परिग्रह उसके समीप।

सिर के घुँघराले केश धूसर हो गये हैं, उलझ गये हैं और अस्त-व्यस्त तो रहते ही हैं। छोटी-सी दाढ़ी बढ़ आयी हैं। जिसे अपने शरीर को रगड़कर स्नान करके स्वच्छ करने का ध्यान नहीं रहता, वह वस्त्र और केशों- का ध्यान कहाँ तक रखेगा।

शरीर का सौन्दर्य अपना एक आकर्षण रखता है- महत्त्वपूर्ण आकर्षण। उसे बिना माँगे आग्रहपूर्वक भोजन करा देती हैं। माताएँ, जहाँ वह बस्ती में निकल जाता है। साधुवेश न होने पर भी बहुत-से लोग उसे महात्मा मानकर अनेक बार उसके पीछे पड़े हैं।

'मैं साधु नहीं हूँ- मैं साधु होने योग्य भी नहीं हूँ।' वह थक गया है यह कहते-कहते; किन्तु लोग तो अपनी मानता कहना जानते हैं। वे सुनना जानते ही नहीं। अतः वह कहीं टिकता नहीं, टिक पाता नहीं। एक से दूसरे स्थान में भटक रहा है।

'मैं साधु होने योग्य नहीं हूँ। अपने भीतर कामना का कलुष लिये साधुवेश ले लूँ

तो वेश कलंकित होगा। आपको और संसार को धोखा देना मुझसे बनेगा नहीं।' उसे शिष्य बनाने को तत्पर ही नहीं, समुत्सुक हुए अनेक – कई प्रसिद्ध और गद्दीधारी भी। इतना सुन्दर युवा, सुपठित शिष्य मिले तो कौन गुरु न बनना चाहे; किंतु वह शिष्य बनने को जो प्रस्तुत नहीं है।

उसमें श्रद्धा नहीं है, साधुवेश के प्रति आस्था नहीं है, यह किसी को कभी अनुभव नहीं हुआ; किन्तु वह दूसरे-की कहाँ सुनता है? उसे भी अपनी ही धुन है और अब उसने किसी साधु के स्थान में ठहरना बन्द कर दिया है। वहाँ उसका जो पहुँचते ही स्नेह-सत्कार होता है, उसका तात्पर्य वह जान गया है। किसी की आशा पूर्ण करने की स्थिति अपनी न हो तो किसी को आशा में रखा ही क्यों जाय।

वह भटक रहा है, एकसे दूसरे स्थान में भटक रहा है।

× × ×

'किसी को आशा क्यों बँधायी जाय!' बड़े कसक भरे भाव हैं। 'मेरा दोष? अनन्ततः कलुष की परम्परा प्रस्थापित करने से संसार का क्या उपकार हो सकता है?'

बात मुझे स्पष्ट कर देनी चाहिये; क्योंकि उसकी कहानी आपको मैं बताने चला हूँ। वह सम्पन्न घर का है, सुशिक्षित है। पिता को उसने रोका था कि वह विवाह अभी नहीं करेगा; किन्तु माता का मन- बहू का मुख देखने की उतावली माता को होती ही है। पिता ने एक सम्बन्ध स्वीकार कर लिया और तब वह घर से निकल भागा।

उसे विवाह नहीं करना है? ऐसी बात तो नहीं है। किन्तु पिता की प्रेरणा से ही उसने रामबाण पढ़ना प्रारम्भ किया था। गीता पढ़ता है। श्रीमद्भागवत की कथा में भी उसे पिता ही ले गये थे।

पुत्र में अच्छे संस्कार हों, वह सदाचारी एवं आस्तिक बने, इस प्रकार प्रयत्न करने वाले पिता को आप दोषी नहीं कह सकते और उसका क्या दोष था। उसने कथा ध्यान से सुनी और ग्रहण की। यह दोष तो नहीं हैं।

'सृष्टि के आदि में भगवान् ब्रह्मा ने अपने पुत्रों से कहा- 'सृष्टि करो!' और वे ब्रह्मपुत्र तपस्या में लग गये।' कथावाचकजी ने अपनी व्याख्या में कहा था- 'काम-कलुषित व्यक्ति की संतान सृष्टि में कलुष बढ़ावेगी, यह बात आदियुग के उन निसर्ग ज्ञानमूर्तियों को समझाना आवश्यक नहीं था। अन्तःकरण की शुद्धि प्रत्येक व्यक्ति की प्रथम आवश्यकता है और जितनी वह भगवत्प्राप्ति के लिए आवश्यक है, उनती ही गृहस्थ के लिए भी आवश्यक है।'

'काम-कलुषित व्यक्ति की संतान संसार में कलुष ही बढ़ावेगी।' यह बात उसने हृदय में रख ली। एक कान से सुनकर दूसरे से निकाल नहीं दी। आप इसे उसका दोष मानें या गुण।

'कितनी निराशा हुई होगी उस कन्या के पिता को और उस भोली बालिका को!' वह कम दुखी नहीं है; किन्तु... कौन जाने इस हठधर्मी ने, इस अपराध ने ही उसके हृदय को क्षुब्ध कर दिया हो। किसी निरपराध बालिका की अवमानना-अपराध तो है यह और यह सत्य है कि उसका चित्त घर छोड़ने के पश्चात् अधिक चञ्चल रहने लगा है। उसके मन के विकार- देह की जितनी उपेक्षा वह कर लेता है, कहीं मन की भी उतनी ही कर पाता।

× × ×

भगवती भागीरथी का पावन पुलिन, वट का सुमनोहर आश्रय। उसने नहीं देखा। वट के समीप की मढिया को जिसमें दो भग्नप्राय मूर्तियाँ थीं। महर्षि शुकदेव एवं महाराज परीक्षित की। उस समय शुक्रताल पर न आज-जैसा भव्य मन्दिर था, न आस-पास साधु-आश्रम एवं निवास-भिक्षा की व्यवस्था। जंगल था आसपास- रात्रि में वन्य पशु वट के नीचे आनन्द से गुर्रा सकते थे। किन्तु उसमें यह सब देखने-समझने की शक्ति नहीं थीं। वह गङ्गा-किनारे चलता आया और वट-वृक्षों के नीचे गिर पड़ा।

गिर ही पड़ा था वह तीव्र ज्वर के कारण। उसका कम्बल सिर के नीचे पड़ा था। लोटा लुढ़क गया था और वह मूर्छितप्राय पड़ा था। सहसा मस्तक पर किन्हीं करों का सुखद शीतल स्पर्श हुआ और उसने नेत्र खोले।

कोई ग्रामीण कन्या आ गयी थी उस ओर उसके समीप बैठ गयी थी। मूर्छित अस्त-व्यस्त पड़े युवक के प्रति सहानुभूति उमड़ आयी थी उसके कोमल चित्त में। वह झुकी पूछ रही थी- 'पानी पिओगे भैया?'

बड़े-बड़े नेत्र, खिले कमल के समान मुख और धूलि-धूसर केशराशि- वह देखता रहा दो क्षण और फिर उसने नेत्र बंद कर लिये।

'मैं संकल्प नहीं करूँगा। मैं जानता हूँ कि काम संकल्प से उत्पन्न होता है। मैं संकल्प करूँगा ही नहीं!'

व्यर्थ बात- पिछले कई सप्ताह से वह इस प्रयत्न में विफल रहा और आज- 'बड़े-बड़े सुमनोहर नेत्र, विकच कमल-सा मुख और धूलिधूसर केशराशि...' मस्तक-पर मृदुल करों का स्पर्श हो रहा है, संकल्प रोक देना क्या बहुत सीधी बात है।

'करूणामय! पतितपावन!' वह लगभग चीख पड़ा और आप जानते हैं कि आर्तकी पुकार अनसुनी कर देने की शक्ति उसे सर्वशक्तिमान् में भी नहीं है।

'सङ्गात्संजायते कामः' जैसे किसी ने पूरे हृदय में प्रकाश का विस्फोट कर दिया हो। मुझे लिखने में देर लगेगी- एकदम, एक साथ उसके चित्त में आलोक फूट पड़ा- 'काम उत्पन्न होता है आसक्ति से। संकल्प ही रोक देना अशक्य है। संकल्प की दिशा बदल देनी है। आसक्ति को दूर करके संकल्प करो न!'

'बहिन, पानी!' उसने नेत्र खोल दिये और वह कन्या उसका लोटा उठाकर भगवती भगीरथी का जल लेने झपटी।

'बड़े-बड़े सुमनोहर नेत्र, खिले कमल-सा परम सुन्दर मुख, धूलि भरी केशराशि!' यह उसने देखा ही नहीं, कहा भी और कहकर उमुक्त भाव से हँस पड़ा।

बात यह हुई कि वह कन्या जल लेकर लौटी और उसके कण्ठ में गङ्गाजल पहुँचा, तब ज्वर की ज्वाला घट गयी। उसे अपनी ओर एकटक देखते देखकर उस ग्रामीण कन्या ने संकोचपूर्वक पूछा- 'क्या देखते हो?'

'देख रहा हूँ जगद्धात्री जगदम्बा को।' वह पहले गम्भीरतापूर्वक बोला- 'जो जगन्माता प्रत्येक जीव का पालन करती हैं, वे ही करुणामयी आज अपने एक विपन्न पुत्र के समीप आ बैठी हैं।'

'क्या?' बालिका की समझ में कुछ नहीं आया। यह बात वह तत्काल समझ गया और तब हँसा।

'अपनी बहिन की ये बड़ी-बड़ी सुन्दर आँखें, कमल-के समान खिला मुख और ये धूलि से भरे बाल देख रहा हूँ।' वह हँसता हुआ बोला।

'तुम बड़े दुष्ट भाई हो।' वह भी हँस पड़ी। युवक-के नेत्रों में जो निष्कलषु भ्रातृत्व था, उसने उस सरला बालिका को भी संकोचहीन कर दिया था; क्योंकि हृदय हृदय के सत्य को शीघ्र पहचान लेता है।

× × ×

अब कहने को अधिक कुछ नहीं है। वह उस बालिका के घर चला गया; क्योंकि बालिका ने अपने पिता को घर जाकर भेज दिया था उसे उठा लाने को और किसान की सेवा ने बहुत शीघ्र उसे स्वस्थ कर दिया।

आप आश्चर्य करेंगे, वह साधु नहीं बना। वह घर लौट गया उसकी आशा सफल करने, जिसकी आशा भंग कर आया था और उस किसान को अपनी पुत्री के साथ उसके विवाह में सम्मिलित होने का आग्रह स्वीकार करना पड़ा

अक्रोध

'क्रोधं कामविवर्जनात्'

हम सब उन्हें दादा कहते थे। सचमुच वे हमारे दादा-बड़े भाई थे। सगे बड़े भाई भी किसी के इतने स्नेहशील कदाचित ही होते हों। उनका ध्यान हम सबों की छोटी-छोटी आवश्यकता पर रहता था। किसे कब क्या चाहिये। किसे क्या-क्या साथ ले जाना चाहिये।

'तुम अपना झोला, बाक्स और बिस्तर दिखलाओ तो सही।' हममें से कोई ही कभी दस-पाँच दिन निवास-स्थान पर रह पाता था। प्रायः यात्रा करनी थी। दादा भी रह नहीं पाते थे; किन्तु दादा हों तो यात्रा को उद्यत होने वाले का बिस्तर बँध जाने पर वे अवश्य उसे खोलने को कहते और फिर उनकी स्नेहभरी झिड़की- 'पता नहीं तुम सबों में कब सावधानी और समझ आयेगी। न मार्ग में काम आने को मिट्टी रक्खी, न दातोन और न कम्बल। जहाँ जा रहे हो, वहाँ का मानचित्र तक साथ नहीं।'

वह कोई सुख-सुविधा का जीवन नहीं था। हमारे पास आवश्यक वस्त्र एवं बर्तनों तक का प्रायः अभाव रहता था। जिसे सबसे अधिक आवश्यकता हो, कम्बल, चद्दर, लोटा उसका होना चाहिये। प्रायः प्रत्येक को लगता कि दूसरों को उससे अधिक आवश्यकता है। फलतः हमारी यात्रा के समय दादा को बँधा सामान, अपर्याप्त लगना ही था और दादा के लिए अपनी तो जैसे कोई आवश्यकता थी ही नहीं।

बात उन दिनों की है, जब देश स्वतन्त्र नहीं हुआ था। अंग्रेज सरकार का दमन-चक्र पूरे वेग पर था। उस समय देश में कुछ ऐसे भी लोग थे, जिनका विश्वास अहिंसा में नहीं था। उन क्रान्तिकारियों की मान्यता ठीक नहीं थी, यह कहा जा सकता है; किन्तु उनकी देश-भक्ति में कहीं कुछ कमी थी, यह कहने का साहस किसी को नहीं हुआ।

अभाग्यवश कहिये या परिस्थितिवश, देश के सभी क्रान्तिकारी दल एक संगठन में कभी नहीं आ सके। यह असम्भव भले न रहा हो, अत्यन्त कठिन था। जितना संशक, सतर्क एवं गुप्त उन्हें रहना था, उसे देखते हुए वे अनेक दलों में बिखरे रह गये, यह कोई अद्‌भुत बात नहीं है।

देश में बिखरे उन दलों में से ही एक छोटा-सा दल हमारा था। हमारे दल में कभी

पूरे सौ युवक नहीं रहे और वह कार्यशील भी कुछ वर्ष ही रहा। हमारा कार्यक्षेत्र स्थानीय नहीं था। पूरे देश में हम सक्रिय रहते थे। बिना सम्पर्क एवं परिचय के दूसरे दलों को और जहाँ तक हो सके सत्याग्रह आन्दोलन को भी स्थानीयरूप में अपने ढ़ंग से सहायता देने का प्रयत्न करते थे। हम अपने कार्य से संतुष्ट थे। हमें न यश अभीष्ट था न सत्ता का स्वप्न हमने देखा। मातृभूमि के लिए अपना मस्तक अर्पित कर देना और वह भी अज्ञात रहकर, यह हमारी अभिलाषा थी।

दादा हमारे निर्देशक थे, संचालक थे, नायक थे। दल एक शरीर था और उसमें दादा का मस्तिष्क तो थे ही, हाथ-पैर का काम भी सबसे अधिक करते थे। किंतु वे हमारे साथ अधिक दिन रह नहीं सके। उनको हमसे स्वेच्छापूर्वक पृथक् होना पड़ा। हम इतने अबोध एवं उद्धत थे कि उन स्थितप्रज्ञ को हमारे मध्य रहना ठीक नहीं लगा।

दादा ही तो दल थे। दादा पृथक् हुए और दल कुछ दिनों में छिन्न-भिन्न हो गया। पृथक् होते समय दादा ने कहा था- 'अब इस सबकी आवश्यकता सम्भवतः नहीं है।'

मैं अपने उन दादा का ही एक दिन का संस्मरण सुनाने चला हूँ। पृथक् होने के बाद वर्ष, दो वर्ष तक उनका पता मुझे था, किन्तु अब वे कहाँ होंगे- वर्षों से मुझे पता नहीं।

× × ×

'दादा! मुझे गोली मार दो। मैं अयोग्य सिद्ध हुआ। मैंने एक उत्तम अवसर खो दिया। माधव व्याकुल होकर फूट-फूटकर रो रहा था। बाहर जब नगर में पुलिस उसे पकड़ने के लिए गली-गली दौड़ती फिर रही थी, इस झोपड़ी में वह दादा के पैर पकड़े कह रहा था- 'आप दण्ड नहीं देंगे तो मैं अपने को स्वयं गोली मार लूँगा।'

'तुम न अपने को गोली मार सकते और न पुलिस के सामने जा सकते।' दादा का स्वर स्थिर गम्भीर था- 'तुमने अपने आपको मातृभूमि के लिए दे दिया है। अपने सम्बन्ध में तुम कोई निश्चय नहीं कर सकते। तुम्हारे सम्बन्ध में निश्चय मैं करूँगा और जब मेरे निर्णय से तुम लोग सहमत न हो सको, मुझे दल के नायकत्व से पृथक् कर देना।'

'मैं उस कुत्ते को जीवित छोड़ आया और ....' माधव फटे-फटे नेत्रों से दादा की ओर देखता रहा। उसे यहाँ के सिटी-मजिस्ट्रेट को गोली मार देने का कर्त्तव्य दिया गया था। सिटी-मजिस्ट्रेट अंग्रेज है और उसने जो निर्मम दमन-चक्र चला रक्खा है, उसे देखते हुए दल ने निर्णय किया था कि उसे अब जीवित रहने का कोई अधिकार नहीं।

दादा की योजनाओं ने दल के किसी सदस्य को कभी पुलिस के हाथ पड़ने नहीं

दिया। हममें-से किसी को फाँसी के तख्ते या अपराधी के कठघरे में दर्शन का सौभाग्य नहीं मिला। इसलिए भी हमारे दल के सम्बन्ध में लोगों को कोई जानकारी नहीं हुई।

आज ही क्या हुआ था। क्रिकेट मैच देखने सिटी मजिस्ट्रेट साहब पधारे थे। मैच जब जम चुका था, अचानक खेल के मैदान में कहीं से एक बम गिरा। धुएँ से मैदान भर गया। सर्वथा अहानिकर बस- एक बड़ा-सा पटाखा मात्र था; किन्तु उसमें भीड़ में भाग-दौड़ मच गयी थी।

पुलिस दौड़ी उधर जिधर बम गिरा था और उसी क्षण एक युवक की जेब से पिस्तौल निकली। उसने सामने-मजिस्ट्रेट साहब पर लगातार तीन गोलियाँ चलायीं और भीड़ में कहाँ चला गया, कोई जानता नहीं। घबराहट में गोरा मजिस्ट्रेट अपनी कुर्सी पर से लुढ़क गया। युवक ने समझा कि वह गोली खाकर लुढ़का है।

'यदि माधव सरलता से न निकल सके' दादा की योजनाओं में ऐसी अनेक सम्भावनाएँ पहिले से रहती हैं। आप अनुमान नहीं कर सकते कि मैदान में लगातार कई ओर से डेढ़ दर्जन बम गिरने पर क्या अवस्था होती। स्वयं दादा उपस्थित थे वहाँ और उनके साथ पूरे अठारह साथी और थे। उनके झोलों में बम थे और जेंबों में दो-दो पूरी भरी पिस्तौलें। साथ ही प्रत्येक को सुरक्षित वहाँ से निकल जाने की व्यवस्था थी।

केवल दादा और माधव को आना था उस झोपड़ी में। दूसरे साथी नगर से बाहर जा चुके थे। स्टेशन से दो ट्रेनें विपरीत दिशा जा चुकी थीं इसी समय।

माधव को भीड़ में से निकलते-निकलते पता लग गया कि वह सफल नहीं हुआ; किन्तु अब लौटने का समय नहीं था। दादा उसे लगभग घसीट लाये थे। झापेड़ी के भीतर और वह अब फूट-फूटकर रो रहा था।

× × ×

'तुम अब भी नहीं जानते कि क्यों तुम सफल नहीं हुए।' दादा ने समझाने का प्रयत्न सफल न होता देखकर कहा- 'मैं यह खतरा ले लूँगा। एक गोली तुम चलाओ और उस वृक्ष के उस फूल को उड़ा दो।'

आश्चर्य, माधव असफल हुआ। वह माधव असफल हुआ जिसका निशाना 'हम सबमें सबसे अधिक अचूक माना जाता है।

'तुम जब तक क्रोध में रहोगे, ऐसा होगा।' दादा ने बताया - 'उस समय भी तुम अत्यधिक क्रुद्ध थे।'

'उस कुत्ते पर क्रोध नहीं आयेगा तो क्या दया आयेगी!' माधव सचमुच अब भी क्रुद्ध था।

'पहली बात तो यह कि हमने उसे मारने का निर्णय किया किन्तु जो सबके जीवन का नियन्त्रक है वह उसे जीवित रखना चाहता था।' दादा अत्यन्त गम्भीर हो गये। 'दूसरी बात यह कि हमने उसे मार देने का निर्णय किया, उस पर क्रोध करने का निर्णय नहीं किया। वह अपनी समझे से अपना कर्त्तव्य कर रहा है। अपने देश के प्रति ईमानदार है। तीसरी बात यह कि क्रोध करके तुम स्वयं दुखी एवं असफल हुए। जिस पर तुमने क्रोध किया, उसकी कोई हानि नहीं हुई। अतः अब से यह समझ लो कि तुम्हें क्रोध कभी नहीं करना है।'

'क्रोध नहीं करना है?' माधव ने आश्चर्य से दादा की ओर देखा। वह स्वभाव से अत्यन्त क्रोधी है। उसके लिए क्रोध न करना क्या सम्भव होगा।

'हाँ, क्रोध नहीं करना है। केवल कर्तव्य का पालन करना है।' दादा कहते गये- 'मैं जानता हूँ कि तुम्हारे लिए यह बहुत कठिन है; किन्तु यह करना है तुम्हें। हम सब निष्काम कर्म के साधक हैं। अपना लक्ष्य तो हमें सिद्ध ही करना है।'

'मुझमें कौन-सी कामना आ गयी?' कुछ चिढ़ उठा था माधव।

'कामात्क्रोधऽभिजायते' अथवा 'लोभात्क्रोधोऽभिजायते।' दोनों बातें कहीं गयी हैं। हम कुछ चाहते हैं और वह नहीं होता, नहीं मिलता तो क्रोध होता है या हमें कुछ मिला है, वह कोई माँगे या छीने तो क्रोध होता है। हम चाहते हैं कि अमुक अधिकारी अमुक ढंग से व्यवहार करें और वह नहीं करता तो हमें क्रोध आता है।' दादा के ये उपदेश कभी हमारे गले के नीचे उतरे नहीं, यह सत्य मुझे यहाँ स्वीकार कर लेना है।

'हम कुछ नहीं चाहते तो व्यर्थ पिस्तौल लिये घूमते हैं।' माधव खीझ उठा।

'हम देश को स्वाधीन करके अपने कर्त्तव्य का पालन करने चले हैं।' दादा शान्त बने रहे- 'तुम केवल इतना स्मरण रखो। शेष सब मुझ पर छोड़ दो और कर्त्तव्य मानकर आदेश का पालन करो तो आज-जैसी असफलता नहीं आयेगी।

'क्रोध आयेगा नहीं, यदि कामना नहीं आयेगी।'

दादा के स्नेह भरे वचन - 'तुम क्रोध मत करो चाहो कुछ मत। केवल कर्त्तव्य का पालन करो। जहाँ, जिस कर्त्तव्य में लगे हो उस कर्त्तव्य का पालन करो।'

❑❑

अलोभ

'अर्थानर्थेक्षया लोभम्'

वे दोनों मित्र थे। सगे भाइयों में भी ऐसा सौहार्द कम ही देखा जाता है। यद्यपि दोनों की प्रकृति उनके शरीर की बनावट के समान सर्वथा भिन्न थी; किन्तु इस वैषम्य का उनकी मैत्री पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

दुबला-पतला पतली अँगुलियों और लंबे मुखवाला जेम्स एक छोटी-सी दाढ़ी रखता था और दार्शनिकों के समान प्राय: गम्भीर रहता था। उसके साथ कहते थे कि उसे किसान न होकर पादरी होना चाहिये था; किन्तु वह कहता था- 'मैं धर्मोपदेशक नहीं, उनके उपदेश पर चलने का प्रयत्न करने वाला हूँ।'

विलियम मोटा था, मोटी और दृढ़ थीं उसकी अँगुलियाँ और उसका मुख गोल तथा चौड़े जबड़े वाला था। गंजे सिर का विलयिम न दाढ़ी रखना पसन्द करता था, न मूँछ। यद्यपि वह भी साधारण किसान ही था; किन्तु उसके स्वप्न असीम थे। अरबपति बनने से कम की कल्पना उसने कभी नहीं की।

'मेरे हल्के-फुल्के दोस्त' प्राय: वह अपने अत्यन्त घनिष्ठ मित्र जेम्स से कहता- 'हम चूहें या गुबरैले नहीं हैं कि सदा मिट्टी खोदते रहेंगे। हमें आगे बढ़ना ही होगा! 'हाउस आफ लार्डस' में भी हमारे-जैसे मनुष्य ही बैठते हैं।'

'मैंने उन्हें देखा है मित्र!' जेम्स में कभी उत्साह नहीं आया ऐसी बातों से। 'वे पाइप या सिगार पीकर, फलों का रस पीकर या डॉक्टरों की गोलियाँ खाकर जीवन के दिन काटते हैं। गुस्से में भरी बिल्लियों के समान झगड़ते हैं। तकिये के नीचे रिवाल्वर रखकर भी उन्हें नींद लेने के लिए डॉक्टर की दवा लेनी पड़ती है। अपनी पत्नी और बच्चों से भी सशङ्क रहते हैं और उनकी पत्नी तथा पुत्र उन्हें धोखा देते हैं। वे ईश्वर से तो बहुत दूर है ही, सुख-शान्ति-संतोष ने भी उन्हें अस्पृश्य मान लिया है। ऊँचा बड़ा मकान, सुन्दर मोटरकार, अच्छे भड़कीले कपड़े और कई सेलूट ठोकने वाले अर्दली इन पर खुश होने वाले वे भोले बच्चों के समान है।'

'अब तुम अपना लेक्चर बन्द तो करो!' विलियम खुलकर हँस पड़ता बीच में ही। 'हम अपने खेतों में खड़े हैं। तुम गिरजाघर की वेदी के सामने नहीं खड़े हो।'

कदाचित् दोनों की जीवन-गाड़ी इसी प्रकार चली चलती; किन्तु पूरे यूरोप में उन्हीं दिनों साम्प्रदायिकता का उन्माद छा गया। मनुष्य पिशाच बन गया। मनुष्य की हत्या करके वह अपने को धर्मात्मा मानने लगा। पृथ्वी मानवरक्त से लाल होकर काली हो गयी और आकाश चीत्कार से सिर धुनने लगा। विलियम पहिले से उत्सुक था दक्षिण अमेरिका जाकर स्वर्ण की खदान ढूँढ़ने के लिए। जेम्स को मनुष्यों के इस उन्माद ने मातृभूमि छोड़ने को विवश कर दिया।

× × ×

दोनों मित्र जब अमेरिका पहुँचे, आज का उन्नत अमेरिका उस समय कहाँ था। वह 'नयी दुनियाँ' अभी-अभी ढूँढ़ी गयी थी। ब्रिटेन ने उसे अपना उपनिवेश बनाया था। पूरे देश में वन थे- सघन वन, जिनमें भयंकर वन्य पशु रहते थे। कुछ स्थानों पर आदिवासी थे। नवीन यूरोपीय परिवार प्रतिदिन जहाजों से उतरते जा रहे थे।

स्थानीय अधिकारी उत्सुक थे कि उपनिवेश की जनसंख्या बढ़े। भूमि खाली पड़ी थी और आगतों को आर्थिक सहायता भी दी जाती थीं कि वे उस भूमि में आवास बना लें तथा भूमि को इस योग्य बनावें कि वह भयंकर वन्य जन्तुओं को आश्रय देने के स्थान पर मनुष्यों को आहार दे सके।

विलियम और जेम्स भी औरों के समान सपरिवार आये थे। औरों के समान ही इनके पास भी केवल अपने उद्योगशील शरीर की ही पूँजी थी।

दोनों ने ही दूसरों के समान भूमि तथा आवश्यक सहायता प्राप्त हो गयी। दोनों ने ही पड़ोस में भूमि ले ली, पड़ोस में आवास बनाये। दोनों ने ही खेती से अपने कार्य का श्रीगणेश किया।

'मैं सुअरों की भाँति सदा थूथन से भूमि खोदने और जड़ों के बदले आलू निकालने यहाँ आया हूँ।' विलियम बार-बार झुँझला उठता था। 'तुम मार्था की भली प्रकार देख-रेख कर सकते हो। वह अपने खेत सम्हाल लेगी। मुझे इसी फसल की चिन्ता है। इसके बाद मैं दक्षिण चला जाऊँगा। मैं लौट आँऊ, तब तक धैर्य रक्खो। यह भूमि भी तुम्हारी है। मैं राजधानी में भवन बनाना पसन्द करूँगा।'

किन्तु विलियम को कई फसलों की प्रतीक्षा करनी पड़ी। उस समय मशीनें कहाँ थीं। मजदूर मिलते ही नहीं थे। जो गुलाम आते थे, दक्षिण में सोने की खादानों में खप

जाते थे। अकेली मार्था खेत नहीं सम्हाल सकती थी और वह अब अकेली भी कहाँ थी। नन्हें हैनरी को भी तो उसे ही सम्हालना था।

'मेरा हैनरी किसान नहीं बनेगा!' विलियम का निश्चय एक दिन भी शिथिल नहीं हुआ। 'वह युनिवर्सिटी में पढ़ेगा और अमेरिका का सबसे बड़ा उद्योगपति होगा।'

जैसे ही फसल अनुकूल हुई, पाला ने उसे खा नहीं लिया, विलियम ने अपना झोला उठाया। वह कब से इस दिन की प्रतीक्षा कर रहा था।

'मित्र जेम्स! मार्था का ध्यान रखना।' अपनी पत्नी से बहुत प्यार है विलियम को और दक्षिण के दुर्गम वनों में- डाकुओं से भरी भूमि में वह मार्था तथा नन्हें हैनरी के लिए ही तो जा रहा है।

'ईश्वर तुम्हारी रक्षा करे!' जेम्स ने मित्र को खेद के साथ विदा दी। एकमात्र वह था जिसे दक्षिण का स्वर्ण आकर्षित नहीं करता था और अब विलियम को समझाने में अपने को असमर्थ पा चुका था- 'मेरे भोले बच्चे! बहुत उलझना मत। शीघ्र लौटना।' इतना ही कह सका वह विलियम से।

× × ×

'उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी!' पिछली घटना को बीते अब दस वर्ष हो चुके हैं। जेम्स अब भी किसान है; किन्तु उसके पड़ोस में अब दूसरा परिवार आ बसा है। विलियम अपनी भूमि, आवास तथा पशु बेचकर नगर चला गया कई वर्ष पूर्व।

सचमुच राजधानी के नगर में अब विलियम का विशाल भवन है। नन्हा हैनरी अब स्कूल में पढ़ता है और विलियम अपनी कम्पनी खड़ी कर चुका है। उसके स्वप्न साकार हो गये।

जेम्स के परिवार में भी वृद्धि हुई है। उसका पुत्र भी स्कूल जाता है और उसकी पत्नी अब नन्हें एलेन को सम्हालने में खेत पर कम सहयोग दे पाती है। उसका टाइगर मर चुका और अब उसने 'टामी' कुत्ते को पाल लिया है। अब उसका घोड़ा भी बूढ़ा होने लगा है।

अब भी विलियम और जेम्स की मैत्री है। जेम्स अनेक बार नगर जाता है। अपने घोड़े पर वह ताजे फल और सब्जी ले जाता है अपने मित्र को उपहार देने के लिए।

आज तो विलियम की कार जेम्स के दरवाजे पर आयी है। वह नगर का प्रख्यात उद्योगपति आज इस देहात में अपने मित्र से मिलने आया है।

'कितने स्वस्थ और प्रसन्न हो तुम जेम्स!' विलियम के स्वर में कोई ईर्ष्या नहीं

थी। 'अब भी तुम दस वर्ष पहले की भाँति दीखते हो। तुम्हारी छोटी दाढ़ी के सब केश पहले जैसे काले और सुन्दर हैं।'

'तुम्हारे खिलौनों की क्या दशा है मेरे भोले बच्चे!' जेम्स विलियम को प्रायः इसी प्रकार पुकारता आया है। उसे आरम्भ से सनक है कि बड़े भवनों, मोटरों, मशीनों, आभूषणों आदि को खिलौने कहता है।

इन दस वर्षों में विलियम और भी मोटा हो गया है। उसकी तोंद बढ़ आयी है। उसका मुख शरीर के अनुपात-में छोटा लगने लगा है और उसके गंजे सिर के बचे-खुचे केशों में आधे से अधिक सफेद हो चुके हैं। उनकी अँगुली की अँगूठी में बड़ा-सा हीरा चमक रहा है।

'वे सब ठीक हैं और बढ़ रहे हैं!' इस बार विलियम ने जेम्स की बात हँसी में नहीं उड़ायी। वह सदा का हँसमुख आज गम्भीर बन गया था- 'तुम ठीक कहते हो कि ये सब खिलौने हैं और ये खिलौने भी शैतान के दिये हैं। ये आदमियों को अपने में बुरी तरह उलझा लेते हैं।'

'बात क्या है?' जेम्स चौंका। विलियम जैसा व्यक्ति ऐसी बातें करें तो चौंकना स्वाभाविक है।

'मैं किसी भी मूल्य पर अपनी भूमि वापस खरीद लेने आया हूँ। मैं समझता हूँ कि कोई बड़ी कठिनाई नहीं होगी।' विलियम ने कहा- 'हैनरी अपना उद्योग सम्हालने योग्य हो जाय, इतनी प्रतीक्षा मैं नहीं कर सकूँगा।'

'तुम किसान बनोगे?' जेम्स आश्चर्य से मुख देखता रह गया अपने मित्र का।

'वर्ष के कुछ महीने तुम्हारे पड़ोस में बिताऊँगा।' विलियम ने शान्त स्वर में कहा.... 'तुम देख रहे हो कि मेरे खिलौने मुझे खाये जा रहे हैं। मुझे अब तीसरे दिन डाक्टर बुलाना पड़ता है। कई बार नींद की दवा लेनी पड़ती है। मार्था तक अब मेरा विश्वास नहीं करती। मैंने सम्पत्ति के रूप में पाया है- रोग, चिन्ता, श्रम, आशङ्का और स्वजनों का अविश्वास!'

'तुम अब ठीक हो।' जेम्स भी गम्भीर हो गया। 'धन के दोष जिसे दीखने लग जायँ, लोभ को वहाँ से भागना ही पड़ेगा।'

❑❑

अमोह

"मेरा पुत्र ही सिंहासनासीन हो, यह मोह है वत्स!' आज सातवीं बार कुलपुरोहित समझा रहे थे। मद्राधिपति को- 'सम्पूर्ण प्रजा ही भूपति के लिए अपनी संतान हैं और उसकी सुरक्षा संदिग्ध नहीं रहनी चाहिए।'

मद्र नरेश के कुमार बाल्यकाल से कुसंग में पड़ चुके थे। वे उग्र स्वभाव के तो थे ही, दुर्व्यसनों ने उन्हें अत्यधिक लोक-अप्रिय बना दिया था। प्रजा चाहती थी कि उत्तराधिकारी कुमार भद्रबाहु हों, जो मद्र नरेश के भ्रातृ-पुत्र थे; किन्तु पिता की ममता भी दुर्बल कहाँ होती है !

'तुम क्या अपने त्याग का सुफल प्राप्त कर सकोगे, यदि तुम्हारे ही कर्म तुम्हारी प्रजा को संतप्त करें?'

कुल पुरोहित ने गम्भीरतापूर्वक समझाया- 'अरण्य का तपस्वी जीवन तुम्हें कैसे शान्ति देगा जब तुम्हें यह समाचार मिलेगा कि तुम्हारा पुत्र प्रजा को उत्पीड़ित कर रहा है।'

'मैं नहीं चाहता था कि मेरे किसी वाक्य से इस समय तुम्हें क्षोभ हो।' कुलपुरोहित का स्वर गद्‌गद् हुआ। राज्य का त्याग कर तारुण्य एवं वार्धक्य की संधि में ही जो यजमान तपका पावन-पथ स्वीकार करके बनवासी हो जा रहा हो, उसे क्लेश देना ब्राह्मण को कैसे अभीष्ट हो सकता है। मैं चाहता था कुमार का भी मङ्गल और तुम्हारा भी।'

'कुमार का मङ्गल?' महाराज समझ नहीं सके थे कुलपुरोहित का तात्पर्य।

'बेन का चरित तुम जानते हो। उत्पीड़ित प्रजा की सहनशक्ति जब समाप्त हो जाती है , उसके असन्तोष से ध्वंस का अट्टहास उठता है और'- अत्यन्त गम्भीर स्वर था- 'अरण्यगमन से पूर्व यदि नव-तापस मोह को मन से दूर न कर चुका हो तो उसका तप अनेक बार उसे आबद्ध करने की शृंखलाओं का सृजन करता है। तप संकल्प को सबल बना देता है। और आसक्ति उसे अनर्थ का दिशा में उन्मुख नहीं कर देगी, कैसे कहा जा सकता है।'

'श्रीचरण की आशङ्का अनाधार नहीं होगी; किन्तु....।'

'मोह मानता नहीं, यही तो कहना चाहते हो?' महाराज के वाक्य को कुलपुरोहित ने सम्पूर्ण किया।

'आशङ्काकुल चित्त ने सदा इन चरणों में समाधान पाया है।' पुरोहित और गुरु के पास भी यदि यजमान के मन के दौर्बल्य को दूर करने का यत्न न हो तो उनका पौरोहित्य किस काम का। मद्र नरेश ने जब स्वीकार कर लिया कि वे अपने मोह की विवशता अनुभव करते हैं, अब उत्तरदायित्त्व कुलपुरोहित पर आ गया।

'मैं रात्रि के प्रथम प्रहरान्त में पुनः राजसदन आऊँगा।' दो क्षण मौन रहकर कुलपुरोहित ने कुछ निश्चय कर लिया और वे उठ खड़े हुए।

× × ×

'अब हम दोनों के मध्य यह एक सुकुमार प्राणी आ गया है।' एक नारीकण्ठ किसी से कहा रहा था– 'यह इस कठोर शीत को कैसे सह सकेगा।'

'मैं भी कई दिनों से यही सोच रहा हूँ।' पुरुष स्वर ने कहा– 'तुम तनिक और खिसक आओ और मैं भी समीप हो जाता हूँ। हमारे शरीर की गरमी से इसे ठण्ड से बचायेगी।'

'नहीं, तुम तनिक दूर ही रहो।' नारीस्वर कह रहा था– 'तुम इसके सुकोमल हाथ-पैरों को कुचल डालोगे। निद्रा में कितने सावधान रहते हो, यह मुझे पता है।'

बहुत पुराना वृक्ष था वट का। वह फैलता रहा, शाखाओं से जटाएँ फूटकर जड़ें बनती रहीं और वृक्ष बढ़ता रहा। शाखाएँ जीर्ण होकर मध्य से टूटती गयीं। नवीन वृक्ष बनते गये। अब लगभग कोस की चौथाई भाग भूमि वटवृक्ष की परम्परा ने घेर ली है। ग्रीष्म में शीतल छाया और शीत में उष्णता देने वाला यह अकिञ्चनों का सखा- भिक्षुकों के एक पूरे समूह ने आश्रय ले रक्खा है यहाँ।

पतली टेढ़ी-सी लकड़ियाँ भूमि में गाड़कर उनके चारों ओर जीर्ण वस्त्र लपेट लिये गये हैं और एक घेरा बन गया है। इसे आप घर समझें, झोपड़ा समझें, डेरा समझें- भिक्षुक का यही राजसदन है। उसका पूरा परिवार उसके चिथड़े और मिट्टी के घड़े-सकोरे-ठीकरे सब इसी घेरे में आश्रय पाते हैं।

वट वृक्ष के नीचे थोड़ा-थोड़ा स्थान छोड़कर अनेक घेरे हैं जीर्ण वस्त्रों के। रात्रि का अन्धकार वट की छाया के नीचे और भी सघन हो गया है। भिक्षुकों के घेरों में से अधिकांश में द्विपाद प्राणी पेट में घुटने दबाये सिकुड़े सो गये हैं या सो जाने के प्रयत्न

में हैं। केवल कुछ घेरों में कभी-कभी फुसफुसाहट होती है।

'मैंने देखा है कि आज कहीं से वह बूढ़ा मंडल एक कम्बल ले आया है।' उसी घेरे में पुरुष-स्वर फुस-फुसाहट में कह रहा था 'वह है तो छोटा और फटा हुआ ही, किन्तु....।'

मैंने देखा है। अपने मुन्ने पर दुहरा आ जाय इतना बड़ा है।' नारी-स्वर फुसफुसाया 'किन्तु मंडल पूरा कृपण है। अपने सब चिथड़ों के बदले भी देगा नहीं।'

'उससे माँगता कौन है? पुरुष-स्वर फुसफुसाया - 'थोड़ी देर और रूको और फिर....।' भीतर कोई बात संकेत में कहीं गयी।

'नहीं, नहीं !' नारी-स्वर में कुछ कम्प था भय का।

'उहँ, उसे वैसे भी अब तक मर जाना चाहिए था।' पुरुष-स्वर ने उपेक्षापूर्वक कहा- 'जीकर कौन-से सुख भोगने हैं उसको और अपना मुन्ना....।'

लगता था कि नारी ने प्रस्ताव को मौन स्वीकृति दे दी। इसी समय दो पुरुषाकार छाया-मूर्तियाँ उसे घेरे के समीप से हटीं और वट वृक्ष की सघनता से बाहर आकर उनमें-से-एक ने दूसरे से कुछ कहा।

एक और व्यक्ति थोड़ी दूर दो घोड़े पकड़े खड़ा था। दोनों छायामूर्तियों-से एक ने उस घोड़े पकड़ने-वाले को कोई आदेश दिया और वे दोनों घोड़ों पर बैठ गये। घोड़ा पकड़ने वाला वट वृक्ष की छाया में अदृश्य हो गया।

× × ×

'मैं कर्त्तव्यच्युत होता यदि श्रीचरण मुझे वहाँ न ले जाते।' मद्र नरेश राजसदन में लगभग अर्ध रात्रि को अपने एकान्त कक्ष में राजपुरोहित के चरणों के समीप बैठे थे- 'वृद्ध भिक्षुक की प्राण रक्षा किसी प्रकार न हो पाती। किन्तु इस दुरवस्था में भी यह पाप-संकल्प?'

'वे अनेक शीतकाल इसी प्रकार व्यतीत कर चुके हैं। उन्हें अब भी अपने लिए कम्बल की आवश्यकता नहीं है।' राजपुरोहित ने कहा- 'लेकिन, इस शीतकाल के प्रारम्भ में उनके मध्य एक सुकुमार प्राणी आ गया है। वे दण्ड के पात्र नहीं है।'

'उस सुकुमार प्राणी को, उन्हें, और सभी भिक्षुओं को पूरे वस्त्र कल प्रातः मिल जायँगे।' नरेश ने खिन्न स्वर में कहा- 'उनके प्रति अपने कर्त्तव्य की उपेक्षा का मुझे खेद है। उनके आवास की व्यवस्था राज्य करेगा; किन्तु इस दरिद्रता में भी दाम्पत्य और हिंसा को उद्यत मोह....।'

'राजन् ! वे अपनी उदर-ज्वाला को ही पूर्ण नहीं कर पाते। उनके समीप शीत-

निवारण के लिए पर्याप्त चिथड़े तक नहीं। विचार का उदय हो, इसके लिए अवकाश कहाँ है उनके समीप। किन्तु' स्वर अत्यधिक गम्भीर हो गया। 'जहाँ अवकाश है जहाँ शास्त्र का अध्ययन एवं श्रवण है, वहाँ भी मोह कहाँ कम दुर्बल रहता है? वहाँ भी विवेक को कहाँ अवकाश देता है वह?'

'देव !' नरेश ने कातर भाव से मस्तक रख दिया ब्राह्मण के चरणों पर।

'केवल तुम्हारा विवेक ही तुम्हारे मोह को दूर कर सकता है।' राजपुरोहित अब स्वस्थ स्वर में बोल रहे थे- 'तुम उचित समय पर तप करने जा रहे हो; किन्तु तप का अर्थ है देह से ऊपर उठना। देह मैं नहीं हूँ, देह मेरा नहीं है- यह समझ तप से न आवे तो तप सिद्धियों के बन्धन में बाँधेगा अथवा भोगेच्छा के प्रलोभन उसे भङ्ग कर देंगे।'

'देह और मैं !' नरेश गम्भीर हो गये।

'मैं देह हूँ, यह अभिनिवेश ही शोक और मोह की जड़ है। तुम देह नहीं हो तो तुम्हारा पुत्र कहाँ से आया?' राजपुरोहित की दृष्टि नरेश के मुख पर स्थिर हो गयी- 'जीव किसी का पिता-पुत्र नहीं हुआ करता। सम्बन्ध सब देह का है, जड़ का है और उसमें ममत्व तुम्हें जड़ के साथ आवश्यक बाँध रक्खेगा। तुम कौन हो- देह या चेतन आत्मा? विचार को उद्‌बुद्ध होने दो और वह मोह को नष्ट कर देगा।'

'मैं देह?' राजपुरोहित मौन हो गये और नरेश के हृदय में मन्थन चलने लगा था। विवेक केवल बौद्धिक तर्क नहीं है, वह प्रकाश है और जब वह अन्तःकरण में अनन्त-अनन्त जन्मों के पुण्य से कभी प्रकट हो जाता है- अन्धकार की युगयुगीन राशि प्रकाश की नन्हीं किरण को भी श्रीहीन करने में कभी समर्थ नहीं हुई।

'मैं देह नहीं हूँ।' महाराज ने मस्तक उठाया और पुनः श्रद्धासमन्वित उसे राजपुरोहित के चरणों पर रक्खा।

× × ×

प्रातःकाल मद्र-प्रजा ने शोकाकुल चित्त सुना-महाराज रात्रि में ही अरण्य जा चुके हैं। परम साध्वी महारानी ने पति का पदानुसरण किया। महामन्त्री को आदेश है- 'कुमार भद्रबाहु को सिंहासन दे दिया जाय और राजकुमार यदि कुलगुरु के निर्देश में रहना न स्वीकार करें तो राज्य से निर्वासन-दण्ड दिया है स्वयं महाराजने।'

अदम्भ

अवस्था उनकी सत्तर वर्ष से ऊपर की हो गयी है– कदाचित् अस्सी के लगभग हो। दुबला शरीर है पर्याप्त लम्बा गौर वर्ण, श्वेत केश और अब झुर्रियाँ तो पड़नी हैं। सिर उठाकर जिसकी ओर देख लें, सौभाग्य उसका, अन्यथा मस्तक झुका ही रहता है सदा और दृष्टि जैसे अपने पदों से दो पद आगे तक ही सीमित रहती है।

'आप इतना श्रम क्यों करते हैं?' उन सम्मान्य संत को मैंने भी देखा है कीर्तन में तीव्रता से घूम-घूमकर घण्टा बजाते। वे अनेक बार स्वेद में भींग जाते हैं। उनसे मैं कुछ पूछ सकूँ, इतना न मेरा सामीप्य है और न मुझमें इतनी धृष्टता है। पूछा एक सन्त ने ही जो पूछ सकते हैं।

इस प्रश्न का कारण है। कोई भी उन्हें कीर्तन करते देखकर इस भ्रम में कभी नहीं पड़ेगा कि वे भावावेश में घूम रहे हैं। वे न अश्रु बहाते हैं, न लम्बी श्वास खींचते हैं और न ऊपर आँखे चढ़ाकर जिस-तिसके ऊपर मूर्छित होकर गिरते हैं। उनकी सहज सरलता को स्पर्श करने का साहस दम्भ का देवता भी नहीं कर सकता।

'वृद्ध शरीर है, वायु बढ़ी रहती है, थोड़ा व्यायाम हो जाने से ठीक रहता है।' उन्होंने बड़ी सरलता से उत्तर दिया था– 'यह मुझे बहुत दिनों से सात्त्विक व्यायाम लगता है।'

'सात्त्विक व्यायाम' मैंने सुना और सोचता रहा। शरीर की इतनी प्रबल क्रिया के साथ मन नहीं रहेगा, यह सम्भव नहीं है। जो इस प्रकार घूम-घूमकर, कूद-कूदकर संकीर्तन करेगा, पूरा शरीर और शरीर की शक्ति लगा देगा, उसका मन उस समय उस कीर्तन को छोड़कर जा कहाँ सकता है? मन लग जाता है भगवन्नाम में और तन का परिश्रम भी पूरा हो जाता है। इससे उत्तम व्यायाम और क्या होगा?

'किन्तु आपके साथ जो सब लोग खड़े होते हैं। दूसरों की चर्चा उन्हें कभी अच्छी नहीं लगती, यह सब जानते हैं; किन्तु जिनके मन में प्रश्न उठे, वे पूछें नहीं तो समाधान कैसे हो– 'वे सब लोग तो व्यायाम को ही उत्सुक नहीं होते। उनमें-से अनेक बार आवेश में आते हैं।'

'आप जानते हैं यह सब!' वे उत्तर देने के बदले तनिक मुस्करा पड़े और चर्चा समाप्त हो गयी।

चर्चा समाप्त भले हो गयी हो, प्रश्न कहाँ समाप्त हो गया। मुझे तो अनेक दृश्य स्मरण आ रहे हैं। अनेक स्थानों के, अनेक दृश्य स्मरण आ रहे हैं। अनेक स्थानों के, अनेक सन्तों के समीप के लोगों के, अनेक कीर्तन-उत्सवों तथा दूसरे अवसरों के। रुदन-क्रन्दन, हाथ-पैर बचाकर मूर्छित होकर गिरना अथवा ध्यान की प्रगाढ मुद्रा- मैं आक्षेप नहीं कर रहा हूँ; किन्तु मैंने यह सब देखा है, साधकों में देखा है और देखा है उन श्रद्धेय सन्तों के समीप रहने वाले लोगों में जिन सन्तों में मेरी असंदिग्ध श्रद्धा रही है।

'क्या यह सब?' मन पूछता है बार-बार सन्तों के साथ भी ऐसे लोग दम्भ करते हैं। उन्हें भी वञ्चना में रखना चाहते हैं।

किन्तु ठहरिये- अभी वे औघड़ साधु आ रहे हैं। मुझे लिखते देखेंगे तो गाली देंगे या तो कौन जाने सीधे पीठ पर डंडा फटकार दें। बड़े विकट होते हैं ये अलमस्त औघड़ भी। अतः अभी उनका स्वागत करना है मुझे।

× × ×

'राम! तू अभी क्या सोच रहा था?' बैठने से पूर्व प्रश्न कर लिया साधु ने। कदाचित् मेरे मुख पर अपने चिन्तन की कोई छाया रही होगी। ये महापुरुष सब को ही 'राम' सम्बोधन करते हैं। पशु पक्षियों तक को भी।

'मैं अभी नैपाल से लौटा हूँ।' अपने प्रश्न का उत्तर पाने की अपेक्षा उन्होंने नहीं की- 'इस बार गुरु गोरखनाथ के अनुयायियों का साथ हो गया था।'

'आपकी उनसे पट जाती है?' मैंने हँसकर पूछा। अनेक बार मिलने से मैं धृष्ट हो गया हूँ और इन महापुरुष का भी मुझ पर स्नेह है। इसका अटपटा स्वभाव- किसी मण्डली के साथ कैसे पटेगी इनकी। अतः मेरा कुतूहल स्वाभाविक था।

'राम का क्या पटना।' वे भी हँसे- 'किन्तु वे सब जानते थे कि औघड़ बिगड़ जाय तो पूरे 'संसार को भारी पड़ता है।'

'मैं जानता हूँ कि अघोर-पंथ और नाथ-पंथ दोनों में अच्छे सिद्ध हुए हैं और यह भी जानता हूँ कि इन महापुरुष की अपने साम्प्रदाय के उन सिद्धों में कितनी गौरव-बुद्धि है। इस समय वे अपनी चर्चा नहीं कर रहे थे।

'औघड़ बच्चा सच्चा हो तो सदा गुरु की गोद में रहता है।' वे उत्साह में थे- 'सिंहनी के शावक को उसके सामने छेड़कर मरना है क्या किसी को।

बात तो सच्ची है और निष्ठा की है। भाव सच्चा हो तो भक्त क्या नित्य भगवान् की गोद में नहीं रहता? देखा तो था दुर्वासा ने ऐसे एक भक्त को छेड़कर।

'नाथ साधुओं में भी सच्चे होते हैं।' मैंने धीरे से कहा।

'होते हैं- अच्छे योगी होते हैं और उन पर सिद्ध गुरु का सदा हाथ रहता है।' महापुरुषों में पक्षपात देखा- सुना गया नहीं। वे खुले हृदय से कह रहे थे- 'औघड़ों में भी भ्रष्ट दम्भी होते हैं। राम! किसी वन में सब सिंह ही नहीं होते। सिंह तो गिने-चुने होते हैं।'

'आप मुझे कोई यात्रा का अनुभव सुना रहे थे। बात अन्य दिशा में जा रही थी, अतः मैंने उन्हें स्मरण दिलाया।

'वही तो सुना रहा था।' वे गम्भीर हो गये- 'लौटते समय एक रात को एक बूढ़े साधु ने मुझे धीरे से जगाया और अपना झोली-खप्पर उठाकर जंगल में चल पड़ा। मैं उसके संग हो लिया। उसे स्वप्न में गुरु का आदेश हुआ था कि शेष लोगों का साथ छोड़ दे और मुझे भी उनसे अलग हो जाने को कह दे।'

'वह कहाँ गया, मुझे पता नहीं; किन्तु सुना कि दल के शेष साधुओं को बहुत कष्ट हुआ। वे अगले गाँव में रुक गये और दूसरे दिन चले तो वर्षा, ओले, पत्थर और अन्त में, एक रीछनी ने भी जंगल में उन पर आक्रमण किया। कइयों को उसने नोच डाला।' वे खेदपूर्वक कह रहे थे।

'आप वन में उसके साथ नहीं गये?' मैंने पूछा।

'नहीं' वे कहने लगे- 'उसने मुझे तत्काल मार्ग से ही आगे चले जाने को कहा। उसे जब सिद्ध गुरु का आदेश था अकेले जोने का, मैं क्या साथ जाने का हठ करता।'

'अन्ततः वे लोग भी उसी सम्प्रदाय के साधु थे।' मैंने पूछा- 'उनकी रक्षा भी होनी चाहिये थी।'

'राम! गुरु और ईश्वर में पक्षपात नहीं होता' वह बोले- 'वेश का दम्भ करने से कोई उनका नहीं हुआ करता।'

'दम्भ जाता भी नहीं उनकी शरण लेने से?' मैं अपने मूल प्रश्न पर अचानक आ गया।

मुझे लगा कि वे उत्तर नहीं देंगे। अनेक बार वे उत्तर नहीं देते। किसी प्रश्न का उत्तर देना न देना उनकी इच्छा है। एक चलती चर्चा को आधे वाक्य पर छोड़कर सर्वथा भिन्न चर्चा वे कभी भी प्रारम्भ कर देते हैं, यह मैंने अनेक बार देखा है। आज भी यही हुआ।

× × ×

कल वे औघड़ सन्त पधारे थे यहाँ।' मैं गङ्गा-किनारे प्रायः जाता हूँ एक साधु के पास। वे साधु हैं; किन्तु किसी सम्प्रदाय में उन्होंने कभी दीक्षा ली या नहीं, कोई नहीं जानता। वृद्ध हैं, फूस की झोंपडी में रहते हैं और निःस्पृह हैं। वे क्या साधन-भजन करते हैं, यह भी किसी-को कुछ पता नहीं। आज उनके चरणों में प्रणाम करके बैठा तो बोले- 'तुमने उनसे कुछ पूछा था?'

'उन्होंने तो उत्तर दिया ही नहीं।' मैंने कहा ! मुझे कुतूहल हुआ कि वे यहाँ क्यों मेरे प्रश्न की चर्चा कर गये।

'जैसे वृत्तका केन्द्र-बिन्दु होता है; भगवान् सबके केन्द्र हैं। परिधि से भीतर चली सब सीधी रेखा केन्द्र तक जाती हैं।' वे कह रहे थे- 'सब साधन भगवान् तक पहुँचते हैं।' यदि सीधे दृढ़तापूर्वक उन पर चला जाय और वे अन्तर्मुख हों।'

अघोर पंथ घृणा पर विजय का मार्ग लेकर चलता है।' दो क्षण रुककर बोले वे- 'वह गिने-चुने अपवाद-जैसे लोगों का मार्ग है और जब तुम किसी से कुछ पूछते हो, प्रश्न का समाधान बौद्धिक उत्तर मात्र से नहीं हुआ करता। कसाई अहिंसा की बात करें तो क्या वह चित्त में बैठेगी?'

मैं चुप सुनता रहा, किन्तु अब भी बात मेरी समझ में आयी नहीं थी।

'चित्त का समाधान होता है जब समाधान कर्त्ता के शब्दों में साथ उनके ऐसे संस्कार हों जो श्रोता के चित्त के अनुकूल हों। किसे किस प्रश्न का उत्तर किसको देना चाहिये, यह बिना समझे उत्तर देने से कुछ दिनों में वह श्रोता भूल जायगा और उसका प्रश्न चित्त में ज्यों-का-त्यों बना रहेगा।'

मुझे अब कुछ कहने को नहीं था। मैं जानता हूँ कि लोग मुझसे ही एक प्रश्न बार-बार करते हैं। जब मिलते हैं, वही प्रश्न। समाधान पाकर जाते हैं और दो-चार महीने बाद केवल प्रश्न रहता है उनके पास।

'प्रशंसा की इच्छा ही दम्भ बनती है।' वे बोले- 'बड़ी दुर्जय वृत्ति है यह। साधन करने से भी कदाचित् ही जाती है। महापुरुषों के पास रहने से- जीवन भर पास रहने से भी न जाय, ऐसा देखा गया है। जाती है महापुरुष की और सबसे महान् भगवान् की उपासना से। उपासना की निष्ठा जब तक हृदय में न आवे- दम्भ जायगा नहीं। दम्भ दूर करना है तो महत्तम की उपासना करो।

मैं समझ गया कि औघड़ सन्त गुरु की उपासना ही बता सकते थे, जो मेरे गले कदाचित् ही उतरती; अतः उन्होंने उत्तर नहीं दिया था।

❑❑

अहिंसा

'बात बहुत पहले की है- इतने पहले की कि मनुष्य तब आज के दानवाकार यन्त्र बनाने की बात सोच भी नहीं सकता था। उस युग में भी एक वैज्ञानिक था। आज के वैज्ञानिक मुझे क्षमा करेंगे- मुझे लगता है कि अभी उस वैज्ञानिक के ज्ञान तक आज का मनुष्य नहीं पहुँच सका है।

'मैं अपने यन्त्रों के सब रहस्य आपको बतला दूँगा। मेरे सेवक उनके निर्माण में निपुण हैं और वे आपके आज्ञानुवर्ती रहेंगे। उस वैज्ञानिक ने एक दिन भारत के एक वरिष्ठ पुरुष के सम्मुख प्रस्ताव किया- 'आप दिव्यास्त्रों के श्रेष्ठतम ज्ञाता हैं। मेरे आविष्कारों को प्राप्त करके त्रिभुवन में अजेय हो जायँगे।

वैज्ञानिक कभी डींग नहीं हाँकता। उस वैज्ञानिक की प्रतिभा का लोहा देवता भी स्वीकार करते थे। उसने गगन में उड़ते पूरे नगर निर्माण कर दिखाये थे। ऐसे नगर जो पृथ्वी ही नहीं, समुद्र पर या जल के नीचे भी उतरकर, जब तक चाहें रह सकें और गनन में शब्द की गति से नहीं, प्रकाश की गति से चाहे जहाँ जा सकें। उन नगरों को किसी प्रकार का आघात नहीं पहुँचाया जा सकता था और उनके निवास स्थिर हो या गतिमान, उसी प्रकार रहते थे, जैसे भूमि पर स्थित नगर में आप रहते हों। क्या हुआ कि उन नगर को नष्ट होना पड़ा। जो सृष्टि का संहार कर देता है, उसे भी उन नगरों को ध्वस्त करने में स्वेद आ गया था।

वह महावैज्ञानिक- कोई भी उसकी कृपा प्राप्त कर कृतार्थ हो सकता था; किन्तु यह स्वयं प्रार्थी हुआ कि उसके आविष्कार कृपा पूर्वक स्वीकार कर लिये जाँय। उसने अपने सेवक- आज की भाषा में अपने निपुणतम इञ्जिनियरों का समूह अवैतनिक सेवकों के रूप में सदा के लिए देने का स्वयं प्रस्ताव किया।

वैज्ञानिक कभी अकृतज्ञ नहीं रहा है। वह भी वैज्ञानिक था। वह उस समय कर भी क्या सकता था जबकि उसके चारों ओर वन में प्रचण्ड दावाग्नि भड़क चुकी थी।

उसने प्राणदान माँगा और किसी आर्य शूर ने शरणागत को अभय देने में अभी अस्वीकार सीखा नहीं। अब वैज्ञानिक की बारी थी कि वह अपने जीवन-रक्षक के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन करें।

'मेरे लिए मेरे दिव्यास्त्र पर्याप्त हैं।' अकल्पनीय उत्तर मिला वैज्ञानिक को- 'तुम्हारे आविष्कृत यन्त्रों की शक्ति प्रयोक्तता के नियन्त्रण में नहीं रहती। प्रयोग के पश्चात् उनसे कितनी हिंसा होगी, प्रयोक्ता भी नहीं जानता। महायन्त्र सामान्य स्थिति में भी प्राणियों की हिंसा करते हैं। अनजान में जो क्षुद्र जीव उनसे मरते हैं, उन्हें बचाया नहीं जा सकता है। तुम कुछ अन्यथा मत सोचो मैं तुम पर प्रसन्न हूँ। तुम्हारा मङ्गल हो।'

यह उत्तर- किन्तु आप जानते हैं कि बाबा नन्द के लाडले की जिसे कृपा-कोर भी मिल जाती है, त्रिलोकी का वैभव उसके चरणों की ठोकर पाने योग्य भी नहीं रह जाता। वैज्ञानिक के प्रस्ताव को अस्वीकार करनेवाले थे उस मयूर मुकुटी के अभिन्न सखा अर्जुन और वे महावैज्ञानिक थे दानवेन्द्र मय।

'पार्थ! आपके विवेक एवं त्याग ने श्रीकृष्ण को अपना बना रक्खा है; किन्तु, मय वैज्ञानिक ही नहीं है, भगवान् शंकर के परम प्रिय भक्त हैं और तत्वज्ञ हैं। अपना प्रस्ताव अस्वीकृत हो जाने का उन्हें खेद नहीं हुआ। किन्तु अर्जुन के चित्त को वे एक प्रश्न दे गये- 'आपने अभी-अभी खाण्डव वन अग्निदेव को अर्पित कर दिया है और आपके दिव्यास्त्र आपको हिंसा का निमित्त बनाये बिना रहेंगे, ऐसी आशा आप भी करते नहीं होंगे।'

× × ×

'अच्युत! आपके आदेश मेरे लिए सदा शास्त्र रहे है।' गाण्डीवधारी के प्रश्न का समाधान जहाँ प्राप्त हो सकता था, वहीं पहुँचा वह प्रश्न- 'हमने खाण्डव अतिथि अग्निदेव को अर्पित कर दिया; किन्तु वन के जो असंख्य प्राणियों की हत्या हुई।'

'बहुत प्राणी मेरे बाणों से ही मारे गये, यह बात भी पूरी कर दो।' मञ्जु स्मित आया मोहन के श्रीमुखकमल पर 'जो प्रजा का त्राता है, वह अहिंसक बन जायगा तो सम्पूर्ण प्रजा नष्ट हो जायेगी। प्रजा के प्राण एवं धन की रक्षा के लिए तुम्हारे हाथ में धनुष रहता है। वन्य पशु एवं प्राणी जब मानव के प्राण एवं उत्पादन के लिए संकट बन जायँ, पालन के लिए उनकी हिंसा अनिवार्य हो जाती है।'

अर्जुन ने मस्तक झुका लिया। अनेक की हिंसा रुकती हो कुछ थोड़े प्राणों की बलि से तो उन थोड़े प्राणों की बलि अहिंसा भले न हो, कर्त्तव्य अवश्य हो जायगी, यह

पार्थ को समझना नहीं था। उन्हें यह भी समझना नहीं था कि सम्पूर्ण प्रजा अपने अहिंसा-धर्म का पालन कर सके, इसलिए अनिवार्य हिंसा का कर्त्तव्य क्षत्रिय अपने सिर लेता है। उसका धनुष उस कर्त्तव्य-पालनरूप हिंसा का प्रजा की रक्षा का और अभय का प्रतीक है।

'अहिंसा क्या इस प्रकार सापेक्ष धर्ममात्र है?' मय ने अर्जुन के मन में प्रश्न तो यह जगाया था और इसी का उत्तर वे अपने नित्य सखा से चाहते थे।

'देव!' इसी समय दारुक ने आकर मस्तक झुकाया अञ्जलि बाँधकर।

'अभी कहीं यात्रा करनी है आपको?' अर्जुन ने श्रीकृष्णचन्द्र के सारथि की ओर देखा और फिर देखा अपने उन अद्‌भुत मित्र की ओर। इस यात्रा की तो उनसे कोई चर्चा हुई ही नहीं थी।

'मैं एकाकी कहाँ जा रहा हूँ। तुम भी मेरे रथ से ही चलो।' श्रीकृष्णचन्द्र ने उठते हुए अर्जुन को भी हाथ पकड़कर उठा दिया- 'समीप के अरण्य में अवधूत श्रेष्ठ चण्डकेतु पधारे हैं। तुम उनके नाम से परिचित हो- सुह्म के भूतपूर्व प्रतापी नरेश। राजसदन वे आने से रहे। हममें उन्हें प्रणिपात कर आवें।'

'चण्डकेतु- वे अप्रतिभट महाशूर, जिनसे जरासंध को भी मैत्री की याचना करनी पड़ी थी और वे अब अवधूत हैं।' अर्जुन के मन में अनेक स्मृतियाँ आयीं। अनेक विचार उठें- 'उनका सख्य था पिताश्री से; किन्तु आज उन वीतराग के लिए पुराने स्नेह-सम्बन्ध कहाँ स्मरणीय हैं। वे तो इन मयूरमुकुटी के भी दर्शनार्थ नहीं आ रहे नगर में।

× × ×

'वासुदेव! तुम सचमुच करुणा-वरुणालय हो।' अवधूत चण्डकेतु ने प्रणाम करते श्रीकृष्ण को भुजाओं में भर लिया था और अपने नेत्र-प्रवाह से उनकी घुँघराली अलकें सींचते जा रहे थे- 'आज मेरा शरीर-धारण सार्थक हुआ। धन्य हो गये मेरे नेत्र।'

'धूलि-धूसर देह, अस्त-व्यस्त केशराशि, कौपीन-मात्र वस्त्र-कोई पागल हो ऐसे प्रतीत होते अवधूत देर-तक हृदय से द्वारिकेश को लगाये रहे और अन्त में वहीं भूमि पर अर्जुन ने अपना उत्तरीय डाल दिया। तीनों ही बैठ गये उस आसन पर।

'एक एकाकी अकिञ्चन कहाँ तुम्हारे दर्शन की तृष्णा नेत्रों में सँजोये है, तुम इसे सावधानी से स्मरण रखते हो।' अवधूत के अश्रु थमते नहीं थे।

'पार्थ के मन में प्रश्न है कि महाराज ने यह वेश क्यों स्वीकार किया?' श्यामसुन्दर ने प्रसङ्ग परिवर्तित किया– 'महाराज धर्म के ज्ञाता हैं और प्रजा-रक्षणरूप धर्म क्षत्रिय को परमगति देने में असमर्थ नहीं है।'

'तुम्हारे कृपा से मैं धर्म का कुछ मर्म समझ सका हूँ; क्योंकि धर्म के प्रभु तुम्हीं हो।' अवधूत ने अपने हाथों से ही नेत्र पोंछ लिये– 'तुम चाहते हो कि अहिंसा की बात अवधूत ही करे।'

दो क्षण रूककर वे अवधूत बोले– 'प्राणियों को पीड़ा दिये बिना भोग प्राप्त नहीं होते। पदार्थ असीम नहीं हैं और प्राणियों की कामनाएँ अनन्त हैं। मैंने देखा– मेरे कुछ शस्त्रों के सहारे मकड़ी ने जाल बना लिया है। कई दिन से वे शस्त्र प्रयोग में आये नहीं थे। उस क्षुद्र जीव का भवन नष्ट किये बिना मैं वे शस्त्र उठा नहीं सकता था।'

'वत्स! व्यवहार हिंसा की एक सीमा के औचित्य का स्वीकार करके चलता है। तुम जिन पदार्थों का उपयोग करते हो, वे सभी अन्य प्राणियों के अभिलषित हो सकते हैं। उनकी कामना को नष्ट करके हम भोग पाते हैं।' मेरे पूछने पर कुलगुरु ने कहा था– 'तुम जानते ही हो कि तुम्हें अनेक रोगोत्पादक क्षुद्र जन्तुओं के विनाश की व्यवस्था राज्य में रखनी पड़ती है। अन्न-फल के कृमिवर्ग- को नष्ट करना पड़ता है। अपने एवं अपने आश्रितों की जीवन-रक्षा के लिए एक सीमा तक हिंसा को स्वीकार करना अधर्म नहीं है।'

'कर्त्तव्य की भी एक सीमा होती है। उस सीमा से आगे कर्त्तव्य की मान्यता भी मोह ही है।' मैंने कुलगुरु से जिज्ञासा की– 'युवराज का अभिषेक करके तुम अब कर्त्तव्य-मुक्त हो सकते हो।'

'जब तक शरीर की सार्थकता है, शरीर के धारण के कर्त्तव्य शेष हैं, अन्तःकरण की शुद्धि के लिए कर्त्तव्य-कर्म आवश्यक हैं, अहिंसा सम्यक सम्पूर्ण नहीं हो सकती।' अवधूत ने कहा– 'इस शरीर के रहने-न-रहने का आग्रह जब पूर्णतः छूट जाता है, शरीर की अपेक्षा नहीं रहती, तब सम्पूर्ण प्राणियों को अभयदान देकर संन्यास परिपूर्ण होता है।'

'माधव! मैंने भूल नहीं की, इसका प्रमाण है कि तुम मुझे इस अरण्य में दर्शन देने स्वयं आये।' फिर अवधूत का स्वर गदगद हुआ– 'और पार्थ! तुम तो साधनों का फल पहले ही प्राप्त कर चुके हो। ये श्रीकृष्ण तुम्हारे सखा है; तुम्हारे लिए कहाँ कुछ कर्त्तव्य एवं प्राप्तव्य रह गया है?'

❑❑

अचौर्य

'श्रीपशुपतिनाथ का दर्शन तब इतना सुलभ नहीं था, जितना आज हो गया है। तब पक्की सड़क नेपाल तक नहीं बनी थी। कुछ दूर रेलवे यात्रा, कुछ दूर मोटरों से और फिर पैदल।

मुझे कल्पना भी नहीं थी कि रेलवे इंजिन में पत्थर के कोयले के स्थान पर लकड़ी का ईंधन उपयोग करने से क्या कठिनाई आती होगी। शिवरात्रि के अवसर पर कुछ दिनों के लिए तीर्थयात्रियों को भारत से काठमाण्डू जाने की बिना छानबीन अनुमति दी जाती है। वैसे ही अनुमतिपत्र उस समय भी दिये गये; और उन्हें एक नेपाली अधिकारी ने उदारतापूर्वक सबको बाँट दिया। मार्ग में एक स्थान पर अनुमति-पत्र की जाँच भी साधारण ही हुई।

मेले के अवसर पर भीड़ की ठेलमठेल सर्वत्र होती है। बड़ी कठिनाई से हम रेलवे के एक मालगाड़ी के डिब्बे में घुस सके और किसी प्रकार दबे-सिकुड़े खड़े हो गये। ट्रेन चली और साथ ही यात्रियों की आँखों से आँसू आ चले। इंजिन में लकड़ी जल रही थी। उसका धुआँ बहुत कष्ट दे रहा था। मिनट-दो-मिनट पर कोई-न-कोई चौंकता था। इंजिन में लकड़ी के जलने से चिनगारियाँ उड़ रही थीं और वे यात्रियों के शरीर या वस्त्रों पर पड़ती थीं।

कइयों के फफोले पड़े, कइयों के वस्त्र में लगी आग बुझानी पड़ी।

लकड़ी बहुत कम ताप दे पाती है। ट्रेन इस गति से चल रही थी कि कोई भी चाहे जब उतर सकता था या दौड़कर चढ़ सकता था। स्टेशन आया और डेढ़-दो घंटे इंजिन में लकड़ी चढ़ायी जाती रही। इस प्रकार लगभग २४ मील की यात्रा सायंकाल चार बजे जो प्रारम्भ हुई थीं रात्रि के लगभग ग्यारह बजे पूरी हुई।

यदि मार्ग होता और घोर जंगल न पड़ता होता तो इतनी देर में हम पैदल भी यह यात्रा कर ले सकते थे। बैलगाड़ी की सवारी तो उस समय की उस ट्रेन से शीघ्रगामी सिद्ध होती।

हमें मालगाड़ी के डिब्बों से छुट्टी मिली। किस दूकानदार ने दो हाथ रात्रि के

तीन-चार घंटे व्यतीत करने को प्रदान करने की कृपा की, अब स्मरण नहीं। प्रातः चार बजे से पूर्व ही समान ढोनेवाली एक मोटर ट्रक में हम सब लद गये और भीमफेड़ी पहुँचे।

पहाड़ी चक्करदार मार्गों पर कुछ यात्रियों को चक्कर आता है, वमन होता है। ट्रक में यात्री अधिक बैठे थे। यह अच्छा हुआ था; क्योंकि परस्पर सटे होने से शरीर हिल नहीं पाते थे। इससे चक्कर एक दो यात्रियों को ही आया था। विशेषकर सबसे पिछले भाग में बैठे उन यात्रियों को, जिन्हें बैठने का स्थान कुछ अधिक मिल गया था।

भीमफेड़ी से आगे पैदल यात्रा करनी थी। वहाँ दो घंटे विश्राम, नित्य कर्म, स्नान और भोजन - इतना ही कार्यक्रम था; किन्तु वहाँ जो छोटी-सी धर्मशाला थी, उसके घेरे में जाते ही चित्त खिन्न हो गया। घेरे में चलने की पगदंडी मात्र स्वच्छ थी। पूरा घेरा यात्रियों ने शौच बैठकर गंदा कर दिया था। जबकि समीप ही मैदान था; नाला था और कुछ गज आगे जंगल भी था।

'यात्री-तीर्थयात्री इतने असावधान क्यों होते हैं?'' सोचता रहा। मन्दिर में स्थित देवता के दर्शन ही पुण्य नहीं हैं। पुण्य है उनकी कृपा प्राप्त करना और देवता की कृपा तप से, सेवा से, श्रद्धा से तथा भजन से मिलती है। हम दूसरे देवदर्शनार्थ आने वाले श्रद्धालुओं को धक्का देकर, उनके लिए असुविधा उत्पन्न करके मन्दिर में घुस भी जायँ, तो क्या देवता प्रसन्न होंगे? उनकी कृपा मिलेगी हमें?

जहाँ यात्री रुकते हैं, जहाँ से चलते हैं, जहाँ बैठते, जल पीते या स्नान, भोजन करते है, उसके आसपास अथवा जलधारा के समीप गंदगी करके हम भक्तापराध ही तो करते हैं। दूसरे श्रद्धालु यात्रियों के लिए असुविधा ही तो उत्पन्न करते हैं और हम जानते हैं कि भगवान् भी भक्तापराध क्षमा नहीं करते।

यात्रियों की सेवा, उनके उपयोगी स्थलों की स्वच्छता और देव-दर्शन में दूसरों की सुविधा का ध्यान- यह ऐसी पूजा है जो देवता को किसी भी बहुमूल्य उपचार से कहीं अधिक प्रिय होती है।

मैं यह सब सोचता रहा और ढूँढ़ता रहा कि कहीं बैठने को स्थान मिल जाय तो स्नान-संध्या का क्रम प्रारम्भ हो।

× × ×

यात्रा में मेरे साथ दो और यात्री हो गये थे। वे मुझे मुजफ्फरपुर स्टेशन पर मिले थे और काठमाण्डू तक साथ रहे। हम तीनों धर्मशाला के पीछे की ओर उसके पक्के चबूतरे पर बैठ गये। बारी-बारी से नित्यकर्म एवं स्नान हमने किया। अब मैं नित्य के पाठ-पूजन में लगा और वे दोनों साथी भोजन करने में लग गयें।

हमें कुलियों के एक समुदाय ने घेर लिया था। पर्वतीय दूरस्थ ग्रामों के ये गरीब लोग इस आशा में इस समय यहाँ आ जाते हैं कि यात्रियों का सामान ढोकर दो पैसे अपने बाल-बच्चों के लिए ले जा सके। वर्ष भर के लिए वस्त्र तथा घरेलू खेती आदि के औजार वे मजदूरी के पैसों से ही ले जाते हैं।

प्राय: सभी यात्रियों के पास उन्हें घेरे कुलियों का समूह खड़ा था। हम तीनों के पास इतना ही सामान था कि हमने सम्मिलित रूप से एक कुली करना निश्चय किया था। वे दोनों साथी मेरी ओर संकेत करके कह रहे थे- " इन बाबू को पूजा कर लेने दो तो ये तुमसे बात करेंगे।'

हमको बताया गया था कि यहाँ अपने सामान से सावधान रहना चाहिये; किन्तु ऐसी सावधानी, पता नहीं, मुझमें कभी आयेगी भी या नहीं। संध्या-पूजा के समय भी सब सामान आगे रखकर उसकी चौकीदारी की जाय तो कोई पूजा-पाठ क्या करेगा। मैंने सामान समेटकर पीछे कर दिया था। कम्बल के एक भाग में मेरे कपड़े और सामान लिपटा था। दूसरा भाग आगे बढ़ाकर मैंने आसन बना लिया था।

मेरे दोनों साथी प्राय: मेरे पास एक पंक्ति में बैठे थे। मैदान की गंदगी दृष्टि में न आवे, इसलिए हमने मुख धर्मशाला की दीवार की ओर कर रक्खा था। अपना पूरा सामान और वस्त्र गोद में रक्खे वे मेरे साथ के यात्री उसी पर पूड़ियों की पत्तले रक्खे भोजन कर रहे थे।

'ले गया! ले गया! हाय, ले गया!' सहसा साथ के दोनों यात्री चिल्ला उठे। उनमें-से एक खड़े होकर भी बैठ गये और दूसरे दौड़े, कुछ मिनट में वे भी लौट आये। कोई कुली उनकी गोद-से उनका कोट खींचकर भाग गया था और वह जंगल में निकल गया। अब ढूँढ़ना सम्भव नहीं था।

× × ×

'वैसे ही क्या कम दरिद्रता का मारा है वह चोर! चोरी तो उसे और कंगाल करेगी!' मुझे पता नहीं क्यों एक सनक है। बचपन में पिताजी से पाये संस्कार कह लीजिये। मेरी धारणा तर्कसंगत मैं कैसे कहूँ, किन्तु धारणा है कि 'चोरी का धन आया और मनुष्य विपत्तियों में पड़ा। रोग, मुकदमे और कुछ न हो तो कोई दुर्व्यसन घर की पूँजी भी अवश्य ले जायगा।'

मेरी कोट की जेब में इनके भी पच्चीस रूपये थे।' मेरे साथी ने बताया। उन दोनों एक व्यापारी थे और दूसरे किसी दफ्तर में काम करते थे। अब संतोष करने के अतिरिक्त कोई उपाय भी क्या था।

'उसकी मौज हो गयी। एक अन्य यात्री ने कहा– 'एक बढ़िया ऊनी कोट और पचास–साठ से कम नकद तो क्या रहे होंगे जेब में।'

'लेकिन मौज नहीं, विपत्ति गयी उनके पास।' मैंने कहा– 'नेपाल में रूकना नहीं है, अन्यथा आप चार महीने बाद उसकी दशा देख सकते थे। जो धन सच्ची कमाई का है, उसे कोई चोर चुरा नहीं सकता और जहाँ चोरी का धन आया, वह किसी–न–किसी रास्ते स्वयं जायगा और घर की पूँजी भी ले जायगा।'

यह घटना पिछले महासमर से पहले की है। तब 'ऊपर की आमदनी' गौरव की वस्तु नहीं थी और व्यापार में भी इतना छल नहीं घुस सका था। उस समय तक 'ब्लैक मार्केट' शब्द ने जन्म नहीं लिया था।

'मैं तो व्यापारी हूँ और व्यापार में आप जानते ही हैं कि कुछ 'कच्चा–पक्का' करना पड़ता है।' जिनका कोट गया था, वे कुछ रुष्ट से स्वर में बोले– 'किन्तु इनके रुपये भी मेरी जेब में थे। और अपने कार्यालय में इनके–जैसा हाथ का शुद्ध कर्मचारी दूसरा नहीं है। इन्होंने वेतन के अतिरिक्त प्रसन्नता पूर्वक आये उपहार भी कभी स्वीकार नहीं किये।'

मैं अपनी भूल समझ गया। जो बात मैंने कोट चुराने वाले को लक्ष्य कर कही थी, उसका आघात मेरे साथी को लगा। इस समय उनसे ऐसी बात कहना सर्वथा अशोभनीय था। साथ ही उन्होंने जो तथ्य उपस्थित किया, उसने मेरी धारणा को झकझोर दिया।

'आप सचमुच प्रशंसनीय है।' उन ईमानदार कर्मचारी की ओर मैंने देखा– 'आपकी अर्थ–हानि है आश्चर्य की ही बात। अपने कार्यालय में आप सम्भवत: सबसे अधिक परिश्रम करने वाले भी होंगे।'

'परिश्रम तो मैं सबसे कम कर पाता हूँ।' वे बोले– 'परिवार बड़ा है। प्राय: समय पर पहुँच नहीं पाता और थोड़ा सुस्त भी हूँ; किन्तु हमारे मैनेजर बड़े अच्छे स्वभाव के है। वे मुझे मानते भी बहुत हैं।' 'तो यह बात है, आप श्रम की चोरी करते हैं।' मेरा समाधान हो गया था। वैसे मैं इतना अशिष्ट नहीं था कि यह बात मुख से कहता। मुझे तो अपने दोनों साथियों को आश्वासन देना था और वह उस समय मेरा कर्त्तव्य था।

'चोरी तो चोरी है।' धन चुराया तो और उचित श्रम किये बना पारिश्रमिक ले लिया तो, चोरी तो बिना अनुमति एक इलायची उठा लेना भी है।' मेरे मन ने कहा– 'जो किसी प्रकार की चोरी नहीं करेगा, उसे जीवन में आर्थिक संकट नहीं सहना पड़ेगा।' मेरी इस धारणा के प्रतिकूल अभी तक मुझे कोई प्रमाण नहीं मिला।

❑ ❑

अभय

गङ्गोत्तरी से गङ्गाजी नहीं निकली हैं, यह बात वे सब लोग जानते हैं जो वहाँ गये हैं अथवा जाने वालों से मिले हैं, उनके विवरण पढ़े हैं। गङ्गाजी गोमुख से प्रकट हुई हैं। वैसे वे निकली तो हैं नारायण के चरणों से- भौतिकरूप में भी उनका हिमस्रोत (ग्लेशियर) नारायण पर्वत के चरणों से चलकर शिवलिङ्गी शिखर के ऊपर होता गोमुख तक आया है। गङ्गोत्तरी में तो गङ्गाजी की मूर्ति है।'

गोमुख गङ्गोत्तरी से गत वर्ष 18 मील दूर था। कुछ वर्ष पूर्व यह दूरी 12 मील थी। हिमालय का हिम पिघल रहा है, इसलिए गोमुख पीछे हट रहा है। हो सकता है कि कुछ शताब्दी पूर्व गोमुख गङ्गोत्तरी में रहा हो। गङ्गा जी तब गङ्गोत्तरी में हिमस्रोत से प्रकट होती हों।

'यह ऊनी चद्दर मैंने रीछ से झपट ली है। यह बात एक साधु ने बतलायी। वे गङ्गोत्तरी से चार-छः मील ऊपर गोमुख की ओर रहते हैं। गोल छोटे-बड़े पत्थरों पर लाठी के सहारे कूदते-उछलते वहाँ तक जाना पड़ता है। गोमुख के लिए कोई मार्ग नहीं है। गङ्गा जी के किनारे-किनारे पत्थरों पर होकर ही जाना पड़ता है।

उधर रीछ बहुत हैं वन में और रीछों से भी भयंकर है शीत। पत्थरों पर से पैर फिसले तो केवल सिर फूटेगा या शरीर गङ्गार्पित हो जायगा, कोई कह नहीं सकता। दिन चढ़ते ही शिखरों से मनों भारी हिमशिलाएँ तोप से छूटे गोलों के समान गड़गड़ाती गिरने लगती हैं।

इतना सब है; किन्तु प्रतिवर्ष दस-पाँच साहसी यात्री गङ्गोत्तरी से गोमुख हो आते हैं। इच्छा रहते हुए भी मैं नहीं जा सका। मेरे एक साथी को गङ्गोत्तरी में न्यूमोनिया हो गया। उनका ज्वर दूर होने तक मुझे वहीं रुकना पड़ा एक सप्ताह।

उसी सप्ताह युवकों का एक समुदाय गोमुख जाकर लौटा। उन्होंने बताया कि मार्ग में ऊपर एक साधु कुटी बनाकर रहते हैं। लौटते समय वे रात्रि-विश्राम वही करके आये हैं।

रीछ ने किसी यात्री का ऊनी चद्दर छीन लिया होगा या हिम के आखेट किसी यात्री का चद्दर उसे पड़ा मिल गया होगा। ऐसे वस्त्र को रीछ वृक्षों की डालियों में लपेटकर अपने लिए आवास बना लेता है। साधु लकड़ी एकत्र करने गये तो वृक्ष पर लिपटी ऊनी चद्दर देखकर चढ़ गये और उतार लाये। रीछ की अनुपस्थिति में ही वे चद्दर ला सके थे।

किन्तु उन साधु से अधिक अद्‌भुत साहसी हैं हमारे मार्ग-दर्शक है। वे इधर से सीधे दो बार बद्रीनाथ गये हैं। इस वर्णन ने मुझे आकृष्ट किया। मैं गङ्गोत्तरी में उनसे परिचित हो चुका था। अतएव उनसे ही सब विवरण सुनने का मैंने निश्चय किया।

× × ×

'द्वतीया-द्वै भयं भवति।' संन्यासी के लिए यह श्रुति उद्‌धृत कर देना सहज स्वाभाविक है; किन्तु उनके जैसा सचमुच निर्भय संन्यासी जब यह श्रुति उद्‌धृत करता है तो श्रुति का अर्थ सहज बोधगम्य हो जाता है।

वे तरुण हैं, सुशिक्षित हैं, विनम्र हैं। सुदृढ़ शरीर, साँवला रंग, बड़े-बड़े नेत्र। पहिले उनका आश्रम था कश्मीर के उस भाग में जो अब पाकिस्तान के हाथ में है।

'नारायण, उस समय मनुष्य धर्मोन्माद में रीछ से अधिक भयंकर हो गया था।' उन्होंने बताया 'मुझे अकेले पैदल आना पड़ा। मैंने भारतीय सीमा में पहुँचने तक जो कुछ देखा- छूरे रक्त सने और उन्माद में दौड़ती-चिल्लाती हत्या के लिए आतुर भीड़। उस समय मनुष्य में पता नहीं कहाँ के दानव घुस गये थे।'

'आपको किसी ने कुछ कहा नहीं?' मैंने पूछा।

'तुम जानते ही हो कि संन्यासी के चोटी नहीं होती!' वे खुलकर हँसे- 'मेरे कपड़े मैले हो रहे थे। दाढ़ी बढ़ रही थी। मेरी और किसी ने आँख उठाकर देखना आवश्यक नहीं माना।'

'आपको भय नहीं लगा एकाकी उन्मत लोगों के बीच में से निकलने में?'

'भय तो दूसरे से लगता है।' उन्होंने समझाया- 'वे अपने स्वरूप ही तो थे। अपने से भिन्न कोई हो तो भय लगे। देह के लिए ही लोगों को भय लगता है; किन्तु देह तो मैं नहीं हूँ और देह मैं चाहूँ तो क्या सदा बना रहेगा? दो बार तो देह नष्ट नहीं होता। वे तो फिर भी मनुष्य थे- पर्वतों से लुढ़कती हिमशिलाएँ....।'

'आप दो बार गोमुख होकर सीधे बद्रीनाथ गये हैं?' मैंने उन्हें बीच में ही रोक दिया। क्योंकि मैं उनसे मिला ही था वह यात्रा-वर्णन जानने। बात भिन्न प्रसंग पर जा लगी थी।

'एक बार- पहिली बार अपने कुतूहलवश और दूसरी बार कुछ अन्वेषकों के साथ उनके आग्रह के कारण।' उन्होंने बताया- 'मार्ग इधर गोमुख से ऊपर तक और उधर स्वर्गारोहण से ब्रदीनाथ तक कठिन है। इतने विकट मार्ग की यात्रा दोनों ओर से यात्री प्रायः करते हैं। जहाँ-तक वे पहुँचते हैं, वहाँ से मील-दो मील आगे बढ़कर मार्ग सरल हो जाता है। ऊपर सपाट पठार है। सीधे गोमुख से बद्रीनाथ के मार्ग में स्वर्गारोहण के नीचे दूसरे दिन ही मैं पहुँच गया था।'

जिस मार्ग में कुछ गज चलना भारी हो जाता है, उसमें मील-दो मील की चर्चा वे ऐसे कर रहे थे, जैसे मैदान के मील-दो-मील हों।

'शिखरों से हिमशिलाएँ गिरती ही रहती है। कच्चे पर्वत भी हैं, जिन पर पेट के बल सरककर चढ़ना पड़ता है। छोटे-बड़े पत्थरों पर कूदते चलने का तो मार्ग ही है। कहीं-कहीं रीछ भी मिल जाते हैं।' वे बड़े आनन्द से सुना रहे थे- 'यह भगवती पार्वती के पिता का गृह है। यहाँ तो शिला, हिम, जल और वन्य पशु। किन्तु दिव्य धरा है। यहाँ कहीं गिरकर, हिमखण्ड से दबकर या रीछ के हाथों देह नष्ट भी हो जाय- हिमालय की गोद में मृत्यु सौभाग्य से ही मिलती है। हस्तिनापुर का राजसदन छोडकर धर्मराज भाइयों के साथ यहीं मरण का वरण करने आये थे।'

'मरण का वरण' किसी कमरे में अग्नि के समीप ऊनी कपड़े ओढकर, कम्बल में लिपटे बैठे मेरे समान इस बात को सुनने में मन को उत्सुकता हो सकती है; किन्तु सचमुच गिरती शिलाओं के मध्य चट्टानों पर कूदते-उछलते जाने वाले यात्री-मैंने एक सिहरन अनुभव की इस स्मरण से।

× × ×

भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्या-

दीशादपेतस्य विपर्ययोऽस्मृतिः।

उन्होंने कदाचित मुझे श्रीमद्भागवत का पाठ करते किसी दिन देख लिया था। हो सकता है कि वे स्वयं भी भागवत का पाठ करते हो; क्योंकि मैं उनकी कुटिया में छोटी चौकी पर त्रिभङ्ग-सुन्दर, मयूर मुकुटी का चित्र देख आया हूँ।

'मनुष्य परमात्मा को छोड़कर दूर हट गया, उसने अपना मुख ईश्वर की ओर से दूसरी ओर कर लिया, अतः उसकी स्मृति उल्टी हो गयी। उसने अपने से सर्वथा भिन्न को अपना स्वरूप मान लिया और इसीलिए सर्वत्र वह डरने लगा।' उन्होंने गम्भीरता पूर्वक मेरी ओर देखा।

'स्मृति उलटी हो गयी? मैंने पूछा।

'तत्व ज्ञान की बात छोड़ भी दें तो भी इस देह में तुम्हारा क्या है? इसके परमाणु क्या प्रतिपल बाहर नहीं जा रहे हैं? यह कोई बात है कि पेट में रही विष्ठा मैं और बाहर निकला अपवित्र। इस शरीर के अतिरिक्त और किसी को कोई मार सकता है?'

'नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।'

उनके बिना कहे ही मुझे गीता के कई श्लोक स्मरण हो आये।

'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' जीव ईश्वर का सखा है, इसमें भी कोई संदेह है क्या?' वे बोलते जा रहे थे- 'कोई ऐसा भी स्थान है जहाँ ईश्वर नहीं है? ईश्वर सर्वज्ञ है, सर्वशक्तिमान है और सर्वत्र है। तब उसके सखा के लिए कहीं किसी परिस्थिति में कोई आपत्ति किसी गुफा से निकलेगी?'

मैं क्या उत्तर देता? कोई भी क्या उत्तर दे सकता है? वे ठीक नहीं कह रहे थे, यह कैसे कहा जा सकता है?

'मूर्खता की बात- शिष्ट शब्द में अज्ञान कहो।' वे अब उठ रहे थे कहीं जाने के लिए। मैं भी उठ खड़ा हुआ। खड़े-खड़े उन्होंने अपनी बात का उपसंहार किया- 'परमात्मा के सम्बन्ध में हम सोचते नहीं, अपने सम्बन्ध में भी नहीं सोचते, इसी से यह मूर्खता सिर पर सवार है। भगवान् से दूर रहने के कारण वह उलटी बुद्धि हो गयी है कि जिसमें अपना कुछ नहीं है, उस देह को अपना मान लिया है और इस देह में अभिनिवेश के कारण ही सारे भय हैं।'

मैंने उन्हें प्रणाम किया और लौट आया। अब भी मुझे उनके शब्द स्मरण आते हैं- 'देह के सम्बन्ध में, अपने सम्बन्ध में, परमात्मा के सम्बन्ध में विचार करो। भय तो मूर्खता है। ठीक-ठीक देह के भी तत्व पर विचार करोगे, प्रारब्ध को भी समझ लोगे तो भय भाग जायगा सदा सर्वदा के लिए।'

'तत्त्व का ठीक विचार करने से भय भाग जाता है।' बड़ा सुन्दर सूत्र है और मेरे मानस नेत्रों के सम्मुख हैं वे अभय पुरुष।

तामसी श्रद्धा*

'आपको वह मानता है। आप उसे समझा दीजिये। वे मेरे सम्मान्य हैं, पढ़े-लिखे हैं, समझदार हैं। उनके चरित्र पर कभी किसी ने कोई शङ्का नहीं की है और सत्सङ्ग में उनकी रुचि है।' वे मेरे पास अपने पुत्र की बात लेकर आये थे- 'वह किसी और की बात नहीं सुनता।'

'बात क्या है?' उनके पुत्र सुशील हैं, पितृभक्त हैं। उनके जैसा सच्चरित्र व्यक्ति मिलना कठिन है। वे कोई अयोग्य हठ करेंगे, यह बात सोचना भी कठिन था मेरे लिए।

'घर की स्थिति ठीक नहीं है।' मैं जानता था कि आज कल वे आर्थिक कष्ट में हैं। एक सम्भ्रान्त परिवार एक सीमा से अधिक अपना व्यय घटा नहीं पाता। पिता तथा घर के दूसरे सदस्य बहुत सम्पन्न जीवन व्यतीत करने के अभ्यस्त हो चुके थे और अपना स्तर कम करना उनके लिए बहुत कठिन था। घर की व्यवस्था का भार था उनके ज्येष्ठ पुत्र पर और वे अत्यन्त सादगी के पक्ष पाती थे।

'बात तो आपकी ठीक है।' मैंने नम्रतापूर्वक निवेदन किया। 'किन्तु भाई श्री... कोई आपको कष्ट देने वाली बात कहेंगे या आपको अप्रिय लगनेवाला कोई कार्य करेंगे, यह आशङ्का मुझे नहीं है।'

'ऐसी कोई बात नहीं है।' वे पुत्र की प्रशंसा करने लगे और कोई भी पिता अपने ऐसे सच्चरित्र, उदार, विनयी एवं विद्वान् पुत्र पर गर्व कर सकता है। 'वह मेरे सामने तो मुख ही नहीं खोलता। स्वयं टाट-जैसे मोटे कपड़े पहिनता है; घर में जिसे जो चाहिये, वह लाने में कभी इधर-उधर नहीं करता। उसमें न कोई हठ है और न कोई दूसरा दुर्गुण। वह तो गाय के समान सीधा है।'

'तब मैं उन्हें क्या समझा दूँ?' मुझे आश्चर्य भी हुआ और कुतूहल भी।

'देखिये, तीन कन्याएँ हैं और हमारे समाज में कन्या के विवाह का जो व्यय है, उसे आप जानते ही है।' वे बोले- 'दूसरे भी व्यय बड़ी कठिनाई से चल रहे है। ऋण हो गया है अपने ऊपर, यह आपसे कहने में कोई संकोच की बात तो है नहीं।'

*तामस्यधर्म या श्रद्धा

'मैं बहुत कुछ परिचित हूँ परिस्थिति से।' इतना घनिष्ठता हो गयी थी उनसे कि उनके बताने से बहुत पूर्व मुझे इस स्थिति का आभास हो चुका था।

'उसे इन सबकी चिन्ता ही नहीं है।' यही बात कहने वे आये थे, यह अब स्पष्ट हो गया।

'चिन्ता तो उन्हें है, किन्तु चिंता करके वे कर क्या सकते हैं?' मैंने पूछा। 'अपने प्रयत्न में तो वे कोई त्रुटि करते नहीं।'

'आजकल तो कपड़े के व्यवसाय में लक्ष्मी की वर्षा हो रही है!' अब वे खुल गये। 'वह चाहे तो लाख-दो-लाख छः महीने में बन जायेंगे। जो काम सभी कर रहे हैं, उसमें क्या अनुचित रहा है? व्यापार में तो झूठ भी बोलना पड़ता है, कुछ इधर-उधर भी करना पड़ता है। आप जानते ही है कि राजा हरिश्चन्द्र बनने से व्यापार नहीं चल सकता। आज इतने कर सरकार ने लगा दिये हैं कि कर-विभाग को बनावटी बही खाता न दिखाया जाय तो घर से ही कुछ देना पड़े।'

'चोर बाजारी, छल एवं असत्य के भाई श्री... कितने विरुद्ध है!' मैंने दबे स्वर में कहा। 'उनकी ईमानदारी तथा सत्य प्रियता की तो पूरा नगर प्रशंसा करता है।'

'इस प्रशंसा से तो पेट भरता नहीं।' वे तनिक उत्तेजित स्वर में बोले। 'बड़े-बड़े आदर्श पुरुष भी आज यही करते अथवा कराते हैं; किन्तु वह है कि इस विषय में मेरी कुछ सुनता ही नहीं। कुछ कहो, कितना भी बिगड़ो- गूँगा बना रहेगा। आप उसे समझा सकेंगे, इस आशा से आपके पास आया हूँ।'

'मैं प्रयत्न करूँगा!' वे मेरे सम्मान्य है। उनसे विवाद करने का मैं साहस नहीं कर सकता। उन्होंने उदाहरण के रूप में ऐसे श्रद्धेय पुरुषों के नाम लिये थे- उस बात ने मुझे स्तब्ध कर दिया था। उन्हें किसी प्रकार आश्वासन देकर विदा करने के अतिरिक्त मेरे पास और उपाय भी क्या था।

× × ×

'भाई! आपके पिताजी आये थे मेरे पास। मिलने-पर मैंने भाई श्री..... से निवेदन किया। 'आप उनकी कुछ बातें नहीं मानते। वे चाहते हैं कि मैं आपको समझाऊँ, किन्तु आपको समझाने-जैसी योग्यता मुझमें हैं, यह मैं देख न रहा हूँ। अब आप जैसा कहें।'

'सबके भरण-पोषण का भार विश्व के संचालक पर है। वह जगन्नियन्ता मङ्गलमय है, सर्वज्ञ है, दयामय है, हमारा सुहृद् है और सत्यसंकल्प है।' वे पर्याप्त गम्भीर होकर बोल रहे थे। 'मैंने तो आपसे ही सुना है, ग्रन्थों में भी यही सब लिखा है, सत्पुरुष भी यही कहते हैं। इसलिए मैंने इस पर विश्वास कर लिया है।

'आपका विश्वास सत्य नहीं है, यह कहने वाला तो अनीश्वरवादी ही हो सकता

है।' मेरे स्थान पर आप होते तो आपके समीप भी यह उत्तर था।

'सत्य-संकल्प भगवान् का संकल्प अन्यथा नहीं किया जा सकता- मनुष्य के किसी प्रयत्न से नहीं।' उन्होंने उसी गम्भीरता से कहा। 'हमारे मङ्गल के लिए उनका संकल्प होगा ही।'

'पुरुषार्थ को मैं प्रधान मानता हूँ।' मैंने एक मार्ग निकाला। 'कर्म करने में मनुष्य की स्वतन्त्रता भगवान् ने स्वयं गीता में स्वीकार की है।'

'आप ही मुझे बहकाना चाहेंगे तो सहायता कौन देगा।' उनका स्वर उलाहना भरा था। 'कर्म का फल पाने में तो मनुष्य स्वतन्त्र है नहीं। 'बीज-वृक्षन्याय' कर्मवाद का प्रख्यात है। इस वर्ष बोयी फसल का फल आगे और पहले फसल का फल अब। इसी तरह पूर्व के कर्मों के उस अंश का जो प्रारब्ध के हेतु है, इस जन्म में फल भोगना पड़ता है और इस जन्म के कर्मों का फल आगामी जन्मों में।'

'आपसे विवाद करके जीता नहीं जा सकता।' मैंने हंसकर प्रसङ्ग टालने का प्रयत्न किया।

'बहुत-से लोग आज घूसखोरी, चोरबाजारी या छल-कपट से बहुत अधिक धन कमा रहे हैं; यही बात हमें प्रलोभित करती है। किन्तु उन्हें जो सम्पत्ति मिल रही है, वह उनके पूर्व पुण्य का फल है।' उन्होंने उसी गम्भीरता से कहा- 'बहुत से ऐसे लोग भी तो हैं- सम्भवतः वे पहिलों से अधिक हैं- जो झूठ-कपट, चोर-बाजारी चोरी या दूसरे सभी अधर्म करने में कुछ उठा नहीं रख रहे हैं, किन्तु बिल्कुल कंगाल बने हैं। भरपेट रोटी की भी ठीक व्यवस्था वे नहीं कर पाते।'

'बात आप सवा सोलह आने ठीक कह रहे हैं।' उस समय तक सरकार ने सौ पैसे का रुपया घोषित नहीं किया था और न आनों की सत्ता समाप्त करने का निर्णय किया था, अन्यथा वह लोकोक्ति किसी दूसरे रूप में प्रयुक्त होती।

'पिताजी की आज्ञा मान लूँ- इसका अर्थ तो हुआ कि मैं स्वयं उस आज्ञा से जो अधर्म करूँगा, उसके प्रेरक होने के कारण मुख्य पाप के भागी वे होंगे।' उन्होंने बड़े भाव भरे स्वर में कहा। 'उनकी आज्ञा का उल्लंघन करने से कोई पाप होता भी है तो मुझे होता है; उसका फल मैं भोग लूँगा। किन्तु मेरे साथ वे भी पाप के भागी बनें ऐसा काम करने को आप मुझे नहीं कह सकते।'

'मैं आपको कुछ कह सकूँ, ऐसा मैं स्वयं नहीं हूँ।' वे बहुत संकुचित होते हैं मेरी ऐसी बातों से; किन्तु बात तो यही सच है। हम लोगों की उस दिन की चर्चा यही समाप्त हो गयी। शाम हो रही थी और वे लाख काम छोड़कर संध्या के समय ही संध्या करने के अभ्यासी हैं।

× × ×

'आप भगवान् पर तो विश्वास करते हैं?'

'करता तो हूँ।'

'पुनर्जन्म पर भी विश्वास करते हैं?'

'करता हूँ।'

'प्रारब्ध पर भी?'

'जी; किन्तु आज आप यह सब क्यों पूछ रहे हैं?' उनका प्रश्न स्वाभाविक था। वे मेरे सम्मान्य हैं। उनके घर मैं स्वयं गया, इसमें तो कोई आश्चर्य की बात नहीं; किन्तु उनसे मिलते ही मैं ऐसे अटपटे प्रश्न करूँ- यह धृष्टता ही तो है। वैसे उनका मुझपर इतना स्नेह है कि मेरी धृष्टता से वे कभी रुष्ट नहीं होते। उनके इस स्नेह ने ही मुझे इतना धृष्ट बनाया भी है।

'मान लीजिये कि संसार के सब लोग ईश्वर को न मानें।'

'भले न माने। कलियुग में यह असम्भ्व नहीं है।' वे बोले। 'किन्तु विश्व के समस्त उलूक सूर्य की सत्ता नहीं मानते तो क्या सूर्य की सत्ता असिद्ध होती है? ईश्वर सत्य हैं, अत: हैं। किसी की मान्यता क्या कर सकती है इसमें।'

'और यदि विश्व का जनमत प्रारब्ध को न माने?' मैंने दूसरा प्रश्न कर दिया।

'सो तो आज भी नहीं मानता।' वे हँस पड़े। 'विश्व में ईसाई, मुसलमान आदि अधिक हैं। अनीश्वरवादी भी पर्याप्त है। हिन्दू ही पुनर्जन्म तथा प्रारब्ध मानते हैं और विश्व में उनकी जनसंख्या कम है। उनमें भी अब नवशिक्षितों में अधिक लोग प्रारब्ध पर विश्वास नहीं रखते, किन्तु किसी की मान्यता से सत्य बदला नहीं करता। प्रारब्ध सिद्धान्त तो एक सत्य है।'

'कुछ लोग- बहुत गिने'चुने लोग हैं, जो भगवान् पर तथा प्रारब्ध पर श्रद्धा करते हैं।' मैंने कहा। 'जो लोग इनको मानते भी है उनमें भी अधिक ऐसे ही हैं, जो केवल मुख से इन्हें मानते हैं। व्यवहार में तो वे भगवान् या प्रारब्ध की अपेक्षा पाप पर- असत्य, छल-कपट, बेईमानी आदि पर श्रद्धा करते हैं।'

'इसी का नाम तो अज्ञान है।' वे खेदपूर्वक बोले। 'माया मोहित मनुष्य नहीं समझता कि पाप पर आस्था करके वह केवल अपने पतन का मार्ग बना रहा है।'

'मैंने भाई श्री.... से आपके आज्ञानुसार बात की थी।' अब मैं अपने मूल विषय पर आ गया। 'वे कहते हैं कि मैं पाप की अपेक्षा प्रारब्ध पर तथा भगवान् के विधान पर अधिक श्रद्धा करता हूँ।'

'वह ठीक कहता है।' वे अब समझे कि मैं आज उनसे अटपटे प्रश्न क्यों कर रहा था। किन्तु वे विद्वान् हैं, समझदार है, सत्सङ्गी हैं। ऐसा व्यक्ति दुराग्राही नहीं हुआ

करता। बड़ी सरलतापूर्वक वे बोले- 'मेरे चित्त की दुर्बलता है कि मैं उसे बार-बार दूसरों के समान अनुचित मार्ग अपनाने को कहता हूँ। आज आपने मेरी भूल सुझा दी है। अब मैं उससे कभी कुछ नहीं कहूँगा।'

'जो सत्य एवं ईमानदारी पर स्थिर रहते हैं, वे कष्ट ही पाते हैं।' यह लोकधारणा मिथ्या सिद्ध हो गयी। थोड़े ही समय में कुछ ऐसे कार्य उन्हें अकस्मात् प्राप्त हो गये, जिनसे उनका आर्थिक संकट तो दूर हुआ ही, वे पर्याप्त सम्पन्न गिने जाने लगे।

❑❑

राजसी श्रद्धा*

'भारत की जनंसख्या बराबर बढ़ती जा रही है। इस बढ़ती हुई जनसंख्या को भोजन देने की समस्या कम विकट नहीं है।' मैं यात्रा कर रहा था। रेल के द्वितीय श्रेणी के डिब्बे में। उसमें एक स्वच्छ खद्दरधारी पुरुष सामने की बैठक पर विराजमान थे। और बड़े उत्साह से वे अपने पास बैठे एक दूसरे सज्जन को समझा रहे थे कि अन्न के उत्पादन के लिए सरकार की क्या-क्या योजना है।

'आप बुरा न मानें तो मैं एक घटना सुनाऊँ।' एक गैरिक वस्त्रधारी संन्यासी बीच में बोल उठे।

'इसमें बुरा मानने की तो कोई बात नहीं।' उन खद्दरधारी महोदय को कुछ बुरा अवश्य लगा; क्योंकि नहर-बाँध-योजना से लेकर चकबंदी तक की सब सरकारी योजनाओं एवं उनके लाभ वे समझा देना चाहते थे; किन्तु उनके श्रोता को उनके व्याख्यान की अपेक्षा साधु से घटना सुनना अधिक आकर्षक जान पड़ा और वे उन संन्यासी महोदय के अभिमुख हो गये।

यात्रा लंबी थी। हमारे डिब्बे में कोई खड़ा नहीं था। और न कोई लेट लगाने को ही स्थान पा सका था। इस प्रकार बैठे-बैठे कई घण्टे व्यतीत करने का कुछ अच्छा साधन नहीं था। जो पुस्तकें तथा समाचारपत्र लिये गये थे, वे पढ़े जा चुके थे। अब और पढ़ने की इच्छा नहीं हो रही थी। सब संन्यासी जी की घटना सुनने को उत्सुक हो गये थे।

'हम सब सुनना चाहते हैं।' एक साथ कई स्वर आये। इसका अर्थ था कि कुछ उच्च स्वर से बात कही जाय।

'घटना मेरी नहीं है।' संन्यासी महोदय बोले। 'एक बार मुझे एक बहुत बूढ़े जटाधारी वैष्णव साधु मिले थे। नासिक-कुम्भ के अवसर पर उन्होंने यह घटना मुझे सुनायी थी।

'वे कहते थे कि अपनी युवावस्था में एक बार वे बद्रीनाथ की यात्रा करने गये थे। लौटते समय पाण्डुकेश्वर से भुशुण्डिकुण्ड की ओर चले गये और कोई मार्गदर्शक न होने से उधर पहाड़ों में भटक गये।' संन्यासीजी ने एक बार सबकी ओर देखा- 'चार दिन भटकते रह गये पर्वतों में। वहीं उन्हें महर्षि लोमश के दर्शन हुए।'

*कर्मश्रद्धा तु राजसी

अब सब लोग बहुत उत्सुक हो गये थे। कुछ लोग कुछ झुक आये थे और एक सज्जन तो अपने स्थान से उठकर संन्यासी जी के पास पड़ी हुई सन्दूक पर ही आ बैठे।

'उन साधु ने सत्सङ्ग की बात तथा अपने अकस्मात् एक गुफा में शयन की बात सुनायी। यह भी सुनाया कि उन्हें महर्षि ने एक दिव्य कन्द दिया, जिसे भोजन कर लेने से भूख तो गयी ही, थकावट भी सर्वथा चली गयी।

'सबसे मुख्य बात तो साधु ने बतायी'– एक क्षण संन्यासी जी रुके– 'उन्होंने महर्षि लोमश से पूछा था कि पृथ्वी पर यह जो कीड़े–मकोड़ों के समान मनुष्य बढ़ते जा रहे हैं, इनके भोजन की क्या व्यवस्था होगी?'

अब हम सबमें जो उत्सुकता जाग्रत हुई, वह मत पूछिये। वे खद्दरधारी सज्जन, जो अब तक कुछ खीझे हुए–से चुपचाप बैठे थे अपना समाचारपत्र उलटते, उन्होंने भी समाचारपत्र एक ओर रख दिया था।

'आप सब जानते ही हैं कि महर्षि लोमश अमर हैं।' संन्यासीजी बोले– 'प्रलय में भी उनका नाश नहीं होता। उन्होंने उन वैष्णव साधु को किसी प्राचीन कल्प की एक बात सुना दी। अब महर्षि की बात आप सुन लें।'

× × ×

समुद्र के मध्य में एक महाद्वीप था। बड़े बुद्धिमान् एवं उद्योगशील पुरुष थे वहाँ के। उन बुद्धिमान लोगों की प्रतिभा ने जो चमत्कार दिखलाये थे, आज के मनुष्य उसका अभी स्वप्न भी नहीं देख पाते हैं। वे मृत्यु पर विजय तो नहीं पा सके थे; किन्तु रोगों एवं बुढ़ापे को उन्होंने अपने महाद्वीप से सदा के लिए विदा कर दिया था। इसका फल यह हुआ कि मृत्यु–संख्या बहुत थोड़ी रह गयी महाद्वीप की जनसंख्या प्रति पाँचवे वर्ष दुगुनी होती चली गयी।

'बाप रे!' वे खद्दरधारी महोदय चौके।

'महाद्वीप में वृक्ष बचे ही नहीं, केवल भवनों की छतों पर खिड़कियों में लगाये कुछ पुष्प–लताओं के पौधे रह गये। महाद्वीप का एक कौतुकालय था और वहीं पशु–पक्षी देखे जा सकते थे। पूरे महाद्वीप में गगनचुम्बी भवन तथा स्नान के लिए आवश्यक जलाशय रह गये थे। यानों के संचालन की व्यवस्था उन बुद्धिमान् लोगों ने भूमि के नीचे कर दी थी और उनके आकाशचारी यान भवनों की छतों पर उतरे तथा वहीं से उड़ते थे। भूमि के ऊपर बहुत कम पथ रह गये थे। केवल इसलिए कि उनसे समीप के भू–गर्भ में स्थित किसी यान को पाने के लिए जा सके।'

'वे भोजन क्या करते थे?' उन खद्दरधारी महोदय ने पूछा।

'मैं महर्षि लोमश की कही बात सुना रहा हूँ।' संन्यासी जी बोले। 'आप कुछ क्षण धैर्य रक्खें।' और वे फिर महर्षि की बात सुनाने लगे-

'वे इस प्रकार के वस्त्र पहनते थे जो न फटते थे, न मैले होते थे। केवल रुचि के कारण वे वस्त्रों को बदल लिया करते थे। वैसे उनके वस्त्र विभिन्न रंगों के और उत्तम थे।

'उन्होंने अद्भुत यन्त्र लगा रक्खे थे। महाद्वीप का एक भाग विभिन्न प्रकार के यन्त्रों से भरा था। उनके यन्त्र दूध, दही, घी, फल, मेवे और वे सब आवश्यक वस्तुएँ बना देते थे, जिनकी उन लोगों को आवश्यकता थी।

'उन अद्भुत मनुष्यों ने कुछ ऐसी व्यवस्था कर ली थी कि उनके यहाँ न आँधी आ सकती थी, न प्रबल वर्षा होती थी। वे जब चाहते थे- मेघ उत्पन्न करके रिमझिम वर्षा करा लेते थे। शीत कितना पड़ा चाहिये और उष्णता कितनी होगी, यह उनकी इच्छा पर निर्भर था।'

'उनके यन्त्रों के लिए कच्चा माल कहाँ से आता था?' खद्दरधारी महोदय ने पूछा।

'आपने फिर बीच में बाधा दी है।' संन्यासी जी तनिक असंतुष्ट हुए। 'महर्षि ने जो बताया है- मैंने साधु से सुना और वह बता रहा हूँ। किसी प्रश्न का उत्तर मेरे पास नहीं है।'

'आप वही बतावें !' दूसरे लोगों ने विनय की।

'उन लोगों की कर्म में प्रबल निष्ठा थी। उद्योग को ही वे जीवन का सर्वस्व मानते थे। उद्योग, अथक उद्योग इसकी परम्परा बन गयी थी उनमें। परिश्रम करने में उन्हें सुख मिलता था। उनके यहाँ 'आलस्य' शब्द ही नहीं था।

'अनन्त समुद्र उनका उत्पादन-क्षेत्र था। उनके यान समुद्र के जल के भीतर, सतह पर एवं आकाश में आबाध चलते थे। समुद्र में उनके गहरे डूबनेवाले यान घूमते रहते थे और वहाँ उनकी कृषि होती थी- विचित्र प्रकार की कृषि। इन समुद्री पौधों एवं प्राणियों के उत्पादन-पालन से उनके यन्त्रों के लिए सामग्री उपलब्ध होती थी और उस सामग्री से वे यन्त्र दूध, घी, वस्त्र, फल, मेवे, अन्न एवं धातु- सभी उत्पन्न किया करते थे।

उन लोगों की जनसंख्या बढ़ती जा रही थी। महाद्वीप उनके लिए छोटा होता जा रहा था; किन्तु उनका उत्साह अदम्य था। उनके यान अब चन्द्र, मङ्गल, बुध आदि ग्रहों में पहुँचने लगे थे और उन्होंने अन्वेषण प्रारम्भ कर दिया था उपनिवेश बनाने योग्य भूमिका।

'उन लोगों की यह चरमोन्नति का वर्णन है।' संन्यासीजी ने फिर तनिक विश्राम लिया।

× × ×

'उनके यहाँ साधु-संन्यासी निश्चय नहीं रहे होंगे।' खद्दरधारी महोदय ने व्यङ्ग किया।

'एकदम नहीं!' संन्यासीजी ने बिना अप्रतिभ हुए उत्तर दिया। 'वे कर्म को ही आराध्य मानने वाले लोग थे तो उनके यहाँ कर्मत्यागी कोई हो ही कैसे सकता था। वैसे महर्षि लोमश ने बताया था कि उनके यहाँ भी उपासना थी। वे लोग प्रायः समुद्र गर्भ में निहित रत्नों की प्राप्ति के लिए अपने यन्त्रों की अपेक्षा अपनी उपासना पर अधिक निर्भर करते थे। उनके उपास्य थे- यक्ष। यक्षिणी-सिद्ध अनेक थे उस महाद्वीप में। उनकी यह सिद्धि उनके उद्योग में बहुत सहायक होती थी।'

'वे लोग सम्भवतः पृथ्वी छोड़कर किसी दूसरे लोक में जा बसे?' एक सज्जन ने पूछ लिया।

'उन लोगों का हुआ क्या?' यह प्रश्न हम सभी के मन में था।

'महर्षि लोमश ने बताया-' संन्यासी जी कह रहे थे कि 'कर्म की प्रवृत्ति राजसी प्रवृत्ति है। रजोगुण प्रारम्भ में बहुत सुखद जान पड़ता है, वैभव के बहुत स्वप्न दिखलाता है। यश-ऐश्वर्य का लोभ न हो तो प्रवृत्ति में प्राणी क्यों पड़े; किन्तु रजोगुण का अन्तिम परिणाम है दुःख एवं विनाश 'परिणमे विषमिव।'

महर्षि ने बताया था कि 'उन्होंने ऐसी व्यवस्था कर ली थी कि उनके समाज में न युद्ध सम्भव रहा और न डकैती, चोरी आदि अपराध ही।

'तब तो न वे दुखी हो सके, न उनका विनाश ही सम्भव दीखता!' खद्दरधारी महोदय बोले।

'किन्तु हुआ यही!' संन्यासी जी ने बताया। 'महर्षि का कहना था कि एक रात्रि में उस महाद्वीप के उस भाग में, जो महाद्वीप का यन्त्रालय था, पृथ्वी फट गयी। एक ज्वालामुखी फूट पड़ा अचानक और यन्त्रों को जिस प्रकाण्ड शक्ति से वे बुद्धिमान मनुष्य चलाते थे, उस शक्ति के भण्डार में विस्फोट हो गया। दूसरे दिन जब सूर्योदय हुआ, उस महाद्वीप के ऊपर समुद्र हिलोरें ले रहा था। पूरा महाद्वीप उस विस्फोट से विलुप्त हो गया था।'

'ओह!' हम सभी धक्-से रह गये। एक बड़ा स्टेशन समीप आ गया था। गाड़ी की गति कम होने लगी थी। संन्यासी जी अपने स्थान से उठे। उन्होंने अपना बिस्तर ऊपर से उतारकर नीचे रक्खा और कमण्डलु हाथ में ले लिया। उन्हें यहीं उतरना था।

'उन वैष्णव साधु ने बताया था कि इतनी ही कथा सुनाकर महर्षि लोमश पर्वतों में कहीं चले गये थे और फिर ढूँढ़ने पर भी उन्हें मिले नहीं।' संन्यासी जी ने ट्रेन रुकते-रुकते कहा- 'अतः मुझे भी और कुछ ज्ञात नहीं!'

वे वहीं उतर गये। उनकी सुनायी घटना सत्य है या कल्पित, इस सम्बन्ध में डिब्बे में बैठे लोगों के विभिन्न मत थे। अपना मत स्वयं स्थिर करें।

सात्त्विक की श्रद्धा

'मैं एक प्रार्थना करने आया हूँ।' जिन्हें लोग 'सरकार' 'अन्नदाता' कहते थकते नहीं थे, वे नरेश स्वयं आये थे एक कंगाल ब्राह्मण की झोपड़ी पर। उन्हें भी- जिनकी आज्ञा ही उनके राज्य में कानून थी और जिनकी इच्छा किसी को भी उजाड़-बसा सकती थी, उन्हें उस मुट्ठी भर हड्डी के दुर्बल ब्राह्मण से अपनी बात कहने में भय लगता था।

'क्या कहना है तुम्हें?' न सरकार, न अन्नदाता- वह ब्राह्मण इस प्रकार बोल रहा था जैसे नरेश वह है और जो नरेश उसके सामने खड़े हैं, वे उसके भिक्षुक अथवा सेवक हैं। उसे कोई आश्चर्य नहीं हुआ था, जब नरेश उसकी झोपड़ी पर पधारे थे। उसने उनके स्वागत-सत्कार की कोई व्यस्तता नहीं दिखलायी थी।

त्यागी, स्वधर्मनिष्ठ ब्राह्मण देवताओं द्वारा भी वन्दनीय है। कोई उसके यहाँ आता है, उसे प्रणाम करता है तो उस पर कोई कृपा नहीं करता। वह कृपा करता भी है तो अपने आप पर करता है; क्योंकि उस तपस्वी के दर्शन एवं अभिवादन से वह स्वयं पवित्र होता है। उसके अशुभ-अमङ्ग नष्ट होते हैं।

नरेश आये, उन्होंने चरणों में मस्तक रखा। यह तो उन्हें करना ही चाहिये था। ब्राह्मण ने आशीर्वाद दिया- 'कल्याणमस्तु!'

सचमुच नरेश के लिए ही यह सौभाग्य की बात थी कि उन्हें दर्शन हुआ था इन विप्रदेव का। प्रातः सूर्योदय के समय संध्या-हवानादि करके जो ग्राम से मील भर बाहर चला जाय और लौटे भी दोपहर में तो फिर स्नान-संध्या में लगे। भोजन किया और ग्राम से बाहर। लौटेंगे तो सायंकाल और उस समय भी नित्यकृत्य से पहर रात गये उन्हें अवकाश मिलेगा। ऐसे किसी दिन नरेश आ गये होते तो दर्शन भी नहीं होना था। यह तो आज पुराण-पाठ के अनध्याय का दिन है, इससे वे घर पर ही मिल गये।

'मेरी बहुत दिनों की लालसा है कि आपके श्रीमुख से श्रीमद्भागवत सुनता।' नरेश ने दोनों हाथ जोड़कर बड़ी नम्रता से प्रार्थना की। 'राजभवन श्रीचरणों से पवित्र हो जायगा। आप जब सुविधा देखें और जिन विधियों की आज्ञा करें....।'

'अच्छा बहुत हो चुका।' ब्राह्मण के तेज से उद्दीप्त मुख पर रोष की किंचित् झलक आयी। 'तुम मेरे यहाँ आये हो, इसलिये मैं तुम्हें शाप नहीं देता। तुम्हारा इतना साहस हो गया है कि तुम त्रिभुवन के स्वामी भगवान् शंकर के कथावाचक से कथा सुनाने को कहा। सुनो, चन्द्र-मौलि को छोड़कर न मैंने किसी को कथा सुनायी है, न सुना सकता हूँ।'

'मुझे क्षमा करें।' नरेश के पैर काँप रहे थे। जिसकी भौहों पर बल पड़ने पर लोगों का रक्त सूख जाता था, उसका मुख सूख चुका था। उससे ठीक रीति से बोला नहीं जा रहा था- 'मुझसे भूल हुई।'

'अच्छा जा !' ब्राह्मण तो क्षमा का साकार रूप है। उसका रोष कितने क्षण का।

'मैं कृतार्थ हो जाता।' नरेश ने हाथ जोड़कर प्रार्थना की यदि कोई सेवा प्राप्त हो जाती।'

'अन्नपूर्णा के आराध्य का सेवक हूँ मैं।' ब्राह्मण हँसे। 'तूने कंगाल समझा है मुझे? चल- झटपट चला जा यहाँ से।'

नरेश ने बहुतों को अपने दरबार से निकलवाया था- राज्य से भी निकलवाया होगा, किन्तु एक दरिद्र ब्राह्मण ने उन्हें आज अपने द्वार पर से झिड़क कर भगा दिया था और चले जाने के अतिरिक्त कोई मार्ग नहीं था उनके पास।

× × ×

शहर में पं० श्रीरामप्रकाश जी को पूछना नहीं पड़ता था वे न सबसे बड़े धनी थे, न अफसर या लोकनेता; किन्तु शहर का बच्चा-बच्चा उन्हें जानता था। वे सबके परम श्रद्धा-भाजन थे।

वैसे पण्डित रामप्रकाशजी को अपने घर का ही पता नहीं रहता था, बस्ती का तो क्या रहेगा। वे बहुत कम लोगों को पहचानते थे। सच बात तो यह है कि उन्होंने जिनकों पहचान लिया था, उन्हें पहचान लेने पर और किसी से जान-पहचान करना आवश्यक नहीं रह जाता।

आज से तीस वर्ष पूर्व की बात है। पण्डितजी के पिता का देहावसान हो चुका था, उनकी अन्त्येष्टि-क्रिया समाप्त हुई और पण्डितजी को उदरपूर्ति की दैनिक क्रिया की चिन्ता करनी पड़ी। ब्राह्मण पूजा-पाठ करायेगा, कथा सुनायेगा, दूसरा भी कुछ कार्य वह कर सकता है, यह बात पण्डितजी की समझ में आने से रही। कलियुग में वे उत्पन्न भले हुए हों, सत्ययुग के सीधे सरल ब्राह्मण थे।

पूजा-पाठ तो किसी को कराना हो और वह बुलावे तब किया जाय। पण्डितजी ने श्रीमद्‌भागवत की पोथी उठायी और यजमान ढूँढ़ने निकले।

'आजकल तो अवकाश नहीं है। ये व्यापारी के दो महीने मुख्य हैं। आप फिर कभी पधारें।'

'इस समय तो हाथ खुले नहीं हैं। लड़की का विवाह करना है। अगले वर्ष आप पधारें तो सोचा जायगा !'

पण्डित जी जहाँ कही गये- वे उन सब सम्पन्न लोगों के पास गये, जिनकी उदाहरण उन्होंने सुनी थी और जिनसे उन्होंने कुछ आशा कर रक्खी थी; किन्तु कोई व्यापार में उलझा था, कोई मुकदमे में। किसी को बेटी का ब्याह करना था, किसी को मकान बनवाना था। किसी को भी श्रीमद्‌भागवत सुनने की सुविधा नहीं मिली उस दिन।

पूरे बारह कोस भटककर शाम को लौट रहे थे पण्डित रामप्रकाश जी। दिनभर के भूखे-प्यासे, चार-पाँच सेर की पोथी का बस्ता बगल में दबाये, हताश ! यजमानों को तो दो-तीन महीने या वर्ष भर अवकाश नहीं था; किन्तु उनका और उनकी पत्नी का उदर क्या इतना अवकाश देगा? पेट के गड्ढे में तो नित्य अन्न की आहुति देनी ही पड़ेगी।

'मृत्यु किसी क्षण आ सकती है। परलोक की तैयारी हजार काम छोड़कर करनी चाहिये।' यजमानों को अवकाश नहीं था। यह समझने का और भूखे ब्राह्मण के पास इस लोक में दो रोटी का उपाय नहीं दीखता था। भिक्षा वह माँग नहीं सकता। इससे तो भूखों मर जाना उसे पसन्द आयेगा।

'बाबा ! आपको तो अवकाश है !' शहर से लगभग एक मील बाहर निर्जन में एक शिव-मन्दिर था। पण्डित रामप्रकाश जी लगभग संध्या को सर्वत्र से निराश लौट रहे थे। मन्दिर में वे दर्शन करने गये और प्रणाम करके पृथ्वी से मस्तक उठाते हीं उनको कुछ सूझ गया- 'आप सुनिये मेरी कथा। आप मेरे यजमान और मैं आपका कथावाचक।'

उन्होंने स्वयं मन्दिर स्वच्छ किया। एक और आसन लगाया और पोथी सम्मुख रखकर कथा बाँचने बैठ गये। जैसे कोई कथावाचक सैकड़ों की भीड़ को कथा सुना रहा हो- पूरे उच्च स्वर से, भली प्रकार दृष्टान्तादि देकर, समझाकर अपने योग्यतानुसार पूरी व्याख्या करते हुए पण्डित जी कथा सुनने लगे।

'अल्पारम्भा क्षेमकरा' उस दिन संध्या हो रही थी, अतः एक श्लोक का मङ्गलाचरण करके ही कथा समाप्त हो गयी; किन्तु दूसरे दिन सबेरे ही पण्डित जी वहाँ

पहुँचे पाथी लेकर। तभी से अब तक वे उसी क्रम से कथा सुनाते आ रहे हैं उन उमाकान्त आशुतोष को।

× × ×

आज घर में केवल इस समय के लिए भोजन-सामग्री है।' बेचारी ब्राह्मणी क्या करें, उसे कभी-कभी पण्डित जी को, जब वे अपनी पोथी लेकर मन्दिर जाने को उद्यत होते हैं, यह सूचना देनी ही पड़ती है।

'अच्छा, आज बाबा से कहूँगा।' पण्डितजी का एक बँधा उत्तर है।

उस दिन कथा समाप्त होने पर पण्डित जी जब पोथी समेट लेंगे तो भगवान् शंकर को प्रणाम करके कहेंगे-

'बाबा! ब्राह्मण को कथा सुनाते इधर कुछ दिन हो गये। अब घर में कुछ भोजन नहीं रहा।'

पण्डित जी इतनी प्रार्थना करके निश्चिन्त हो जाते हैं सदा। उन्होंने घर आकर पत्नी से कभी नहीं पूछा कि सायंकाल की क्या व्यवस्था है अथवा कल का प्रबन्ध कैसे होगा? ब्राह्मणी कैसे घर की व्यवस्था करती है, क्या पदार्थ कहाँ से आता है, इसका उन्हें कुछ पता नहीं। इन बातों को जानने की इच्छा है उन्हें कभी नहीं हुई और उनकी साध्वी स्त्री ने पति को यह सब सुनाकर प्रपञ्च में ले आना कभी भी उचित नहीं माना।

पण्डित जी अपने त्याग एवं भजन-निष्ठा के कारण पूरी बस्ती ही नहीं, दूर-दूर तक के लोगों के श्रद्धाभाजन थे। अतएव लोग उनके यहाँ अपने उपहार पहुँचाते ही रहते थे। लोग समझते थे कि पण्डित जी के सामने कुछ ले जाने पर सम्भव है, वे स्वीकार न करें, अतः उनकी अनुपस्थिति में उनकी पत्नी को ही वे अपनी भेंटें चुपचाप दे जाया करते थे।

घर का काम इस प्रकार चल रहा था। एक दिन ब्राह्मणी ने रात्रि को पण्डितजी से नवीन ही प्रार्थना की- 'कन्या बड़ी हो रही है! उसके विवाह की चिन्ता तो आपको ही करनी पड़ेगी। कहीं लड़का देख आइये और विवाह में व्यय भी तो होगा।'

'कल बाबा से कहूँगा।' पण्डितजी ने अपना निश्चित उत्तर दिया। ऐसे एक नहीं, अनेक श्रद्धालु थे जो पण्डितजी की कन्या का विवाह अपने व्यय से करा देने में अपना सौभाग्य मानते; किन्तु पण्डितजी जब यह होने दें। यह दान तो ऐसा नहीं था कि उनकी ब्राह्मणी के चुपचाप ले लेने से काम चल जाय।

'बाबा! कन्या बड़ी हो रही है। उसका विवाह करना है। में वर ढूँढूँ या कथा सुनाऊँ?' दूसरे दिन पण्डितजी ने अपने उस औढरदानी यजमान के सामने प्रार्थना की।

'पण्डितजी! मैं आपसे याचना करने आया हूँ।' मध्याह्न में पण्डितजी घर लौटे तो उनके यहाँ एक सम्मानित वृद्ध ब्राह्मण अतिथि के रूप में मिले। वे आसपास में सबसे सम्पन्न एवं प्रतिष्ठित ब्राह्मण कह रहे थे-

'यह मेरा पुत्र है। इसे साथ लाया हूँ। आप यदि इसमें कोई दोष न देखते हों तो मुझे आपकी पुत्री चाहिये पुत्र-वधु बनाने के लिए।'

विवाह हुआ और खूब धूम-धाम से हुआ। नगर के लोगों ने तन से सेवा की और धन से सेवा करने में भी कोई कृपणता नहीं की; किन्तु किसी की समझ में नहीं आया कि वह व्यय कैसे पूरा होता गया जो स्वयं पण्डित रामप्रकाश जी करते गये। वे तो इस प्रकार लुटा रहे थे जैसे कुबेर का कोष उनकी झोंपड़ी में ही रहता हो।

❑ ❑

तामस त्याग

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः।।

(गीता १८।७)

लंबा, दुबला, तनिक साँवला शरीर, गोल मुख, कुछ भीतर गड्ढे में धँसे मटमैले छोटे नेत्र। वे खादी पहिनते हैं; किन्तु वह दूध-सी उजली कभी नहीं रहती। अपने हाथ साबुन लगाने से जितनी सफेद हो जाय और साबुन भी चौथे-पाँचवे ही तो मिल पाता है। अवस्था कितनी है, मुझे पता नहीं; किन्तु सिर, दाढ़ी और मूँछों के अधिकांश केश श्वेत हो चुके हैं। विद्वान् हैं- हिंदी, संस्कृत और अंग्रेजी तीन भाषाएँ जानते हैं। मैंने कभी नहीं पूछा कि कोई चौथी भाषा भी जानते हैं या नहीं। केवल खादी ही नहीं पहिनते, स्वाधीनता-संग्राम में भाग लेकर कारागार की चहारदीवारी के भीतर भी रह आये है।

उन पर रोष आना कठिन है। उन्हें देखकर दया आती है; किन्तु उनसे दूर-दूर रहना ही अच्छा है। पता नहीं किस बात पर वे रुष्ट हो जायँ। जहाँ जायँगे- 'यहाँ यह होना चाहिए। तुम लोग यह क्यों नहीं करते? यह असावधानी, यह बेईमानी....' पता नहीं दर्जनों दोष उन्हें एकदम एक साथ दीख कैसे जाते हैं। दोष कहाँ नहीं होते, किसमें नहीं होते? हमारी असावधानी, अपूर्णता और परिस्थिति-जन्य विवशता- किन्तु वे कुछ सुनना नहीं चाहते।

'मैं यह सब क्षमा नहीं कर सकता। समाचारपत्रों में लिखूँगा। अधिकारियों को सूचित करूँगा। किसी ने न सुना तो मेरे व्याख्यान जनता को बौखला देंगे। तुम लोगों को मैं निकलवाकर छोडूँगा।' भय और चिन्ता की कोई बात नहीं, वे इनमें-से कुछ करने वाले नहीं। वे यह कुछ कर नहीं सकते, यह मैं नहीं कह रहा हूँ। करने की योग्यता और शक्ति उनमें है; किन्तु तत्परता नहीं है। आप निश्चिन्त रह सकते हैं। किन्तु बोलना उनका स्वभाव है, उसे रोका नहीं जा सकता।

जहाँ रहेंगे- रहने की बात तो दूर, जहाँ घंटे-दो-घंटें को पहुँच जायँगे, सबको क्षुब्ध कर देंगे। कोई व्यक्ति हल्ला मचाकर किसी की त्रुटियों का वर्णन आसपास

प्रारम्भ कर दे, एक बार वातावरण को प्रतिकूल तो बना ही देता है। आप अपनी ऐसी आलोचना पसंद करेंगे?

'यहाँ यह होना चाहिये। यहाँ ऐसा प्रबन्ध होना चाहिए! यह बात एकदम नहीं होनी चाहिये। यह काम यहाँ न होकर वहाँ होना चाहिये। यह आदमी इस कार्य से अविलम्ब हटा दिया जाना चाहिये।' आप पूछेंगे, इसकी अपेक्षा उन्हें नहीं। अपने सुझाव देंगे ही और इतने उच्च स्वर में देंगे कि आपके साथ दस आदमी और सुन लेंगे। उनके सुझावों को चरितार्थ करने की क्षमता तो कदाचित् ही किसी में निकले।

बड़े त्यागी हैं वे। कोई संग्रह नहीं उनके पास। शरीर पर पूरे वस्त्र तक नहीं। एकाध पुस्तक कदाचित् कभी रख लेते हैं, कितने दिन रहेगी। पैसा है नहीं। मिल जाय तो रह नहीं पाता। अमुक वस्तु प्राप्त हो जाय, ऐसा भी कोई आग्रह नहीं दीखा उनमें। किसी पर लगातार कई दिन रुष्ट रहते हों सो भी नहीं। उनका क्रोध क्षणों का भले न होता हो, बद्धमूल भी नहीं होता।

निद्रा उन्हें आती नहीं। क्यों नहीं आती, कह पाना मेरे लिए कठिन है। यद्यपि मैं साधारण चिकित्सक हूँ- मैंने चेष्टा की और एकाध दिन निद्रा उन्हें आ भी गयी; किन्तु वे तो इस तमोगुण को स्वीकार ही नहीं करना चाहते। निद्रा को समय का दुरुपयोग मानते हैं।

कोई साधु वेश उन्हें स्वीकार नहीं किया है। गृहस्थ उन्हें आप कह नहीं सकते; क्योंकि गृह का त्याग कर दिया है उन्होंने। पत्नी की मृत्यु के पश्चात् घर उन्हें रहने के लिए उपयुक्त नहीं जान पड़ा। अब दस-पाँच दिन या महीने-दो-महीने एक स्थान में, फिर दूसरे स्थानों में- घूमते ही अवस्था व्यतीत हो रही है। अच्छा ही है यह उनके लिए। वे कहीं जमकर रहने लगें, उस स्थान के दूसरे लोगों को निश्चय बाध्य कर देंगे कि वे घर-द्वार छोड़कर भाग खड़े हों।

सुना है, पढ़ा भी है कि त्याग से शान्ति प्राप्त होती है। राग अशान्ति का हेतु है, यह निर्विवाद तथ्य है। जब हेतु नहीं रहा, अशान्ति क्यों रहनी चाहिये? किन्तु सच मानिये, इतना अशान्त मनुष्य मैंने नहीं देखा। स्वयं रात-दिन अशान्त और जहाँ रहे, दूसरे आस-पास के लोगों की शान्ति को फटकार कर दूर भगा देने वाला।

निरन्तर व्यग्र, निरन्तर दुखी व्यक्ति आपने नहीं देखा होगा। उनके मुख पर कभी-कभी प्रसन्नता दीखती है; किन्तु बहुत कम। उनके क्रोध से भी भयंकर है उनका रुदन। वे किसी बात पर क्रोध करेंगे और किस पर फूट-फूटकर रोते हुए अपने भाग्य को, अपनी असमर्थता को कोसने लगेंगे, कहना कठिन है। मुझे उन पर दया आती है; किन्तु मैं उनसे दूर-दूर रहना ही पसंद करता हूँ।

× × ×

'आपने घर छोड़ा तो कोई आप पर आश्रित नहीं था?' एक दिन मैंने उनसे पूछा। प्रायः आ बैठते हैं और इनकी-उनकी इतनी त्रुटियाँ, इतने अपराध-विवरण उनके समीप सदा रहते हैं कि आप रात्रि-जागरण पसन्द कर लें तो भी उनकी सामग्री समाप्त नहीं होगी। मैं अल्पप्राण मनुष्य हूँ। बहुत थोड़ा, धैर्य, बहुत कम सुनते रहने की शक्ति मुझमें है। इन्हें रोकने-टोकने का अर्थ है उनके रोष या रुदन को आमन्त्रण देना। इसलिए मैं अपनी ओर से कोई चर्चा चलाने का प्रयत्न करता हूँ और यदि इसमें असफल हो गया, नेत्र बन्द करके बिना निद्रा के सो जाने का अभिनय एकमात्र मेरा सहारा है।

'छोटे दो बच्चे थे।' उन्होंने इतनी तटस्थता से उत्तर दिया, मानो वे बच्चे उनके नहीं, किसी मनुष्य के भी नहीं, बकरी या मुर्गी के उपेक्षणीय शिशु थे।

'उनका पालन-शिक्षण....।'

'आप इन व्यर्थ की बातों की चिन्ता क्यों करते हैं।' मुझे बीच में ही उन्होंने रोक दिया- 'सब अपना-अपना प्रारब्ध लेकर आते हैं। अपने भाग्य का भोग उन्हें भोगना चाहिये। उनके लिए गृह में बँधे रहने को तो मनुष्य का जन्म नहीं मिला है।'

मनुष्य का जन्म किसलिए मिला है' यह प्रश्न करने का साहस मुझमें नहीं था। जानता था कि इसके उत्तर में वे जो प्रवचन प्रारम्भ करेंगे, वह कई घण्टे अविराम चलता रहेगा। वे ऐसे वक्ता नहीं जो बोलते-बोलते थक जाते है। सामान्य वक्तृत्व की बात तो दूर, किसी को कोसने में भी उन्हें बीच में पानी नहीं पीना पड़ता।

'मनुष्य-जन्म किस प्रकार सफल कर रहे हैं।' मुझे पागल कुत्ते ने नहीं काटा था कि में उनसे इस प्रकार पूछकर उनके क्रोध का पात्र बनता। क्रोध यदि उस समय उनको न आता- कोई सौभाग्य की बात नहीं होती। तब वे फूट-फूटकर क्रन्दन करने लगते और उनका रुदन मुझे उनके क्रोध से अधिक कष्टदायी लगता है।

'आप नियमित संध्या करते हैं?' जब भी वे मेरे पास आ बैठते हैं, उनकी अविराम वाग्धारा को अटकाने के लिए मुझे अपने मस्तिष्क पर दबाव डालना पड़ता है। किन्तु यह बात आपसे कह दी, उनसे मत कहिये। वे निजी प्रश्नों से कतराते हैं। जिन प्रश्नों के उत्तर में उनके पिछले जीवन का विवरण हो, उनके कर्तव्याकर्तव्य की पूछताछ हो, उन प्रश्नों का उत्तर वे दो शब्दों में देना चाहते हैं। जब देखते हैं कि आज उनसे ऐसे ही प्रश्न पूछे जायँगे, उन्हें कोई अत्यावश्यक कार्य स्मरण आ जाता है। आप समझ गये होंगे कि मैं उनसे प्रायः कैसी बातें पूछता होऊँगा।

'मैं इन कर्मकाण्डों को महत्त्व नहीं देता।' उनके स्वर में ऊबने का भाव स्पष्ट था। वे ब्राह्मण हैं, पर बड़ी-सी चुटिया रखते नहीं; शिखाशून्य भी आप उन्हें नहीं कह सकते। सिर के केश छोटे रखते हैं, अतः शिखा के स्थान पर जो दस-पाँच कुछ बड़े बाल हैं, वे उन्हें हिन्दू बताते हैं। वैसे जनेऊ खादी के सूत का खूब मोटा पहनते हैं वे।

'मैंने एक आदमी को अभी मिलने का वचन दिया है।' वे उठ खड़े हुए। मुझे तो इसकी आशा ही थी। मैं उनसे निजी प्रश्न न करूँ, उनको कभी अपना किसी को दिया वचन स्मरण नहीं आ सकता।
आशा है, पर्याप्त होगा।'

× × ×

'तुम दूसरों के दोष देखने में जितना समय देते हो, उतना यदि भजन करने में लगाओ।' उस दिन मैं एक वीतराग महात्मा के पास गया था। देखा, वे वहाँ बैठे लोगों में सबसे आगे बैठे हैं। महात्मा उनको समझा रहे हैं- 'उन्हें भी शान्ति मिले और दूसरों को भी तुमसे उद्वेग न हो।'

'मैं दूसरों के दोष देखता हूँ और आप सबके गुण-ही-गुण देखते हैं। मुझमें कोई गुण नहीं दीखता आपको।' वे बिगड़ उठे।' लोग मनमानी करते रहें, पर किसी को बोलना नहीं चाहिये। जनता के पैसे और सार्वजनिक स्थानों का दुरुपयोग लोग कर रहे हैं, मैं उसे चलने नहीं दे सकता। जनता-जनार्दन की सेवा भगवान् का भजन नहीं है, यह कहने वाला शास्त्रों का तात्पर्य तनिक भी नहीं समझता।'

वे खड़े हो गए आवेश के मारे और बोलते रहे। वहाँ बैठे लोगों-में से एक समझदार सज्जन उठे। बड़ी नम्रतापूर्वक वे उन्हें साथ लेकर चले गये एक ओर। सबका समय नष्ट न हो, सबके सत्संग में बाधा न पड़े, इसलिए उन्होंने अपने सत्संग का समय उनको पृथक् ले जाने में लगाया।

'त्याग से शान्ति मिलनी चाहिए।' मुझे जब अवसर मिला, मैंने महात्माजी से पूछा।' 'इनमें न संग्रह की प्रवृत्ति है, न वस्तुओं का मोह दीखता है। किन्तु इतना अशान्त पुरुष.....।'

'नारायण, त्याग सात्त्विक हो तो उससे निश्चय शान्ति प्राप्त होती है।' महात्मा ने मुझे बताया। परन्तु राजस त्याग शान्ति नहीं देता। वह तो निष्फल ही जाता है। त्याग राजस न होकर यदि तामस हो जाय तो अशान्ति का उद्‌भव बन जाता है।'

'त्याग से अशान्ति उत्पन्न होती है?' मैंने आश्चर्य के साथ पूछा। आपको भी यह बात सरलता से गले उतरती नहीं जान पड़ेगी।

'नारायण, यदि तुम स्नान का त्याग कर दो अथवा अपने वस्त्रों को स्वच्छ करने का प्रयत्न त्याग दो, महात्मा ने स्नेहभरे स्वर में समझाया- 'क्या होगा, जानते हो?'

'वस्त्र मैले हो जायँगे, देह मैल से ढक जायगा।' मुझे स्वीकार करना पड़ा। 'दुर्गन्धि आयेगी और रोग आ सकता है।'

'इस त्याग ने तुमको और तुम्हारे समीपस्थों को क्या दिया- शान्ति या अशान्ति?' महात्मा का प्रश्न सीधा था। उत्तर बिना दिये ही दिया गया। मुझे।

'नियत कर्त्तव्य का त्याग किसी अवस्था में उचित नहीं है। अज्ञान या कुतर्कवश कोई इसका त्याग कर ही दे' साधु कह रहे थे– 'इस तामस त्याग से उसके मन का मल बढ़ता जायगा। कर्तव्य का पालन तो चित्त की नित्य स्वच्छता का हेतु है। वह स्वच्छता अवरुद्ध हुई, मल एकत्र होने लगा। जहाँ मल होगा, वहाँ दुर्गन्धि और रोग होंगे। स्वयं तथा दूसरों को भी अशान्ति तथा कष्ट के अतिरिक्त और क्या मिलेंगे, ऐसी स्थिति में।

वे त्यागी हैं– बेचारे... किन्तु उन्हें समझाने का साहस मुझमें नहीं है। आपमें–से यदि कोई साहस कर सकते हो.....। ❑❑

राजस त्याग

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत्।।

(गीता १८।८)

'बम् शंकर, काँटा गड़े न कंकर!' दोनों हाथों में एक विशेष मुद्रापूर्वक चिलम पकड़कर मुख से लगा ली गयी। पूरी शक्ति से खींचने का फल हुआ कि चिलम के ऊपर छः अंगुल ऊँची लौ उठी। मुख ओर नाक से धुआँ उड़ाते उन्होंने चिलम दूसरे की ओर बढ़ा दी।

पाँच जटाधारी बैठे थे। प्रायः सभी कृशकाय, लाल-लाल नेत्रवाले। कम्बल लपेटकर लंगोटी से बाँध लिया गया था और इस समय कंधे में लटकाने के बदले उसे उन्होंने अपने पास भूमि पर रख लिया था। तीन के पास बड़े-बड़े चमकीले लोटे थे और दो ने खूब बड़े तुम्बे समीप रख छोड़े थे। चिमटे थे, कुल्हाड़ी थी और एक के पास परशु भी था।

सभी भस्मधारी थे। यों इस समय शरीर पर से भस्म छूट चुकी थी और अब उसका चिह्न ही लक्षित हो सकता था। मस्तक पर, भुजाओं पर, वक्ष पर, उदर पर भी रामानन्दी तिलक लगा था। कौपीन और अचला-भस्मधारी के वस्त्र उज्ज्वल होने की आशा की नहीं जानी चाहिये।

बड़ी-बड़ी पूरे गट्ठर-जैसी जटा थीं दो के सिर पर और सभी के गले में तुलसी की माला थी। किन्तु एक के गले की माला दर्शनीय थी इतने बड़े-बड़े, लम्बे तुलसी के दाने जिनमें छोटी सीगों-जैसी शाखाएँ भी रक्खी गयी थीं; साधुओं के समाज में भी कम ही देखने में आया करते हैं। एक साधु के गले में चौकोर ताबीजों-जैसे तुलसी के दानों की माला थी। उन दानों पर 'सीताराम' गोदा गया था,

मैं गङ्गास्नान करने गया था। घाट के ऊपर ही मार्ग से तनिक हटकर एक बरगद का वृक्ष है। कभी उस वृक्ष के नीचे एक फूस की झोपड़ी थी। उसमें एक साधु रहा करते

थे। एकान्तसेवी, भजनानन्दी साधु थे वे। उन्होंने बरगद के नीचे कच्चा चबूतरा बना रक्खा था। समीप ही कुछ फूल-तुलसी के पौधे लगा रक्खे थे। कभी-कभी मैं उनकी समीप थोड़ी देर को जा बैठता था। गङ्गा की बाढ़ आयी और झोंपड़ी को जल छूने लगा तो वे कहीं आसन बाँधकर चले गये। अब वहाँ महीनों से झोंपड़ी नहीं है। दो-चार तुलसी और दो कुन्द के पौधे अभी हरे हैं। आज स्नान करके घाट पर ऊपर आया तो वृक्ष के नीचे साधुओं को देखकर दृष्टि उधर उठ गयी। देखने लगा कि कहीं वे भी तो इस समूह में नहीं है?

'भगत ! इधर आ।' एक साधु ने पुकारा। मैं अपने मार्ग से जाने को मुड़ चुका था। दम लगवाने वालों में भी अच्छे संत हो सकते हैं, किन्तु मेरे मन में अरुचि है इस वर्ग के प्रति। जिसने सत्याग्रह-आन्दोलन में गाँजे-भाँग की दूकान पर महीनों धरना दिया हो और इस वर्ग की गालियाँ खायी हों, वहाँ से जेल गया हो, उसके मन में यदि दम लगानेवाले के प्रति अरुचि स्थिर बैठ गयी हो तो आपको यह दुर्बलता क्षमा कर देनी चाहिये।

'क्या बात है?' मैं कुछ दूर ही जाकर खड़ा रहा उन लोगों से। केवल हाथ जोड़कर सामान्य नमस्कार किया गया। मुझे उस साधु का पुकारना बुरा ही लगा था।

'आ बैठ तो !' उसी साधु ने कहा। 'सन्तों के समीप बैठने से कल्याण ही होता है।'

'आपकी कृपा के लिए धन्यवाद!' रुखे स्वर में मैंने कहा। 'मेरे पास अवकाश नहीं है और मैं किसी प्रकार की कोई सेवा आप लोगों की कर नहीं सकूँगा।'

'सुनिये तो !' मैं मुड़ा ही था कि एक दूसरा स्वर सुनायी पड़ा। कुछ पहचाना लगा यह स्वर और उसमें जो शिष्टता थी, वह मुझे अच्छी लगी। मैं समीप चला गया उन लोगों के। वैसे मुझे तम्बाकू के धुएँ से कष्ट होता है, जी घुटता-सा लगता है। इसलिए भी मैं उन लोगों के समीप नहीं जाना चाहता था।

'आपने मुझे पहिचाना नहीं लगता।' एक साधु उनमें-से उठ खड़े हुए। अब तक मैंने उनके मुख की ओर ध्यान से देखा नहीं था। किन्तु देखकर भी मैं उन्हें पहिचान नहीं सका। उन्होंने मेरी स्मृति को सहायता दी- 'अवधराम तिवारी को आप भूल ही गये।'

'अवधरामजी !' मैं चौका, किन्तु न पहिचानने का कारण तो था ही - 'क्षमा करें, यह भारी जटा और यह लम्बी दाढ़ी मेरे अनुमान में भी नहीं थी।'

'अब दास को लोग अवधदास कहते हैं।' उन्होंने देख लिया कि मैं अब वहाँ बैठने को उद्यत नहीं हूँ। 'आपसे मिलने की इच्छा बहुत दिनों से थी; किन्तु इस समय तो आप शीघ्रता में जान पड़ते हैं।'

'मुझे अभी अपना नित्य का स्नानोत्तर कर्म सम्पन्न करना है।' मैंने भी संकोच

नहीं किया। 'आप यदि मध्याह्न के बाद पधारे घर पर किन्तु अकेले आइये।'

'हम सब मन्दिर पर आसन रक्खेंगे।' उन्होंने स्वीकार कर लिया। 'मैं अकेले ही आऊँगा।'

मैं प्रणाम करके लौटा तो अवधदास जी से उनके साथी मेरा परिचय पूछ रहे थे।

× × ×

श्रीअवधरामजी मेरे परिचित्त लोगों में हैं। ऐसे युवकों में जो कुछ समय मेरे साथ रहे हैं। सबसे पहले मैंने उन्हें अपने शिविर में पाया सत्याग्रह-आन्दोलन के दिनों में। वे स्वयं ही आये थे स्वयं सेवकों में भर्ती होने। किन्तु वहाँ वे टिक नहीं सके। उन्हें और तो कोई कठिनाई नहीं हुई थी किन्तु भोजन बनाने, बर्तन मलने, स्थान की स्वच्छता में वे योग नहीं दे पाते थे। जहाँ सब एक स्तर के, एक बराबर के हों, वहाँ एक को श्रम के कार्यों से छुट्टी कैसे दी जा सकती थी? उनकी दूसरे लोगों से पटी नहीं। वे चले गये एक दिन बिना किसी को सूचना दिये।

अच्छा खाता-पीता कृषक का घर; किन्तु घर पर भी अवधराम की किसी से पटती नहीं। वे दिनभर पड़े-पड़े रामायण, सुखसागर अथवा उपन्यास पढ़ा करें, यह उनके परिश्रमी भाइयों से नहीं देखा जाता। पाठशाला को उन्होंने पहिले ही नमस्कार कर लिया है। अब किसान के घर का लड़का खेत-खलिहान नहीं देखेगा तो उसे भाई-भाभियों की खरी-खोटी सुननी तो पड़ेगी ही।

कांग्रेस-आन्दोलन में अवधरामजी का सम्मिलित होना उनके भाइयों को अच्छा नहीं लगा था। केवल इसलिए अच्छा नहीं लगा था कि वे अपने घर के समीप के ही शिविर में थे। यहाँ से पकड़े जाने पर पुलिस को उनका नाम-पता ढूँढ़ना नहीं पड़ता। घर के लोग यह कैसे पसन्द कर सकते थे कि अवधराम पर हुए अर्थदण्ड को प्राप्त करने के लिए घर के गाय-बैल नीलाम करें। हो यही रहा था। उन दिनों कि जिसका भी पता लग जाता, उस पर न्यायालय कसके अर्थदण्ड करता और पुलिस उसके घर जो कुछ मिल जाता, वही उठा ले जाती। स्वयं मेरे घर के किवाड़ अर्थदण्ड प्राप्त करने के लिए पुलिस के लोग द्वार में से निकाल ले गये थे।

हमारे शिविर में सूर्योदय से पहिले ही उस दिन अवधराम चले गये थे। पीछे पता लगा कि वे घर गये हैं। उन दिनों सत्या-ग्रह-आन्दोलन पूरे वेग में था और अंग्रेज सरकार का दमन भी अपनी सीमा पर था। मुझे समय कहाँ था कि किसी के समाचार रखता।

मैं कारागार में छः महीने रहकर बाहर आया। थोड़े ही दिनों में सामूहिक सत्याग्रह-आन्दोलन महात्मा जी ने स्थगित कर दिया। व्यक्तिगत सत्याग्रह अन्ततः व्यक्तिगत ही तो रहता। उसमें वैसे व्यापकता नहीं थी।

स्थिति शान्त हुई तो किसी विशेष चर्चा के मध्य पता लगा कि अवधराम घर से चले गये हैं। वे सचमुच अवधराम बन गये हैं अयोध्या जाकर उन्होंने किसी बाबाजी से दीक्षा ले ली है। समय के पग तो रुकते नहीं। बात आयी-गयी हो गयी। कई वर्ष व्यतीत हो गये। सम्भवतः अब भाइयों को भी स्मरण नहीं होगा कि उनके अनुज का क्या हाल है।

इतने दिनों के बाद आज आकस्मात् अवधरामजी इस वेश में मिलेंगे, यह कल्पना भी मन में कैसे आती। मैं घर लौट आया; किन्तु मन में कई बाते उठती रहीं। इतने दुबले हो गये अवधराम- भूल रहा हूँ, अब मुझे अवधदास कहना चाहिये। ब्राह्मण के बालक इधर चिलम छूना भी पसंद नहीं करते और यह गाँजे की दम! संग का प्रभाव क्या नहीं कर सकता।

सब बात तो ठीक; किन्तु मनुष्य के केश इन कुछ वर्षों में इतने बढ़ जाते हैं कि उनसे बनी जटा खुली होने पर डेढ़-दो हाथ पृथ्वी में खड़े होने पर घसीटती चले और बाँधने पर मस्तक पर बड़ा-सा गट्ठर बन जाय, यह बात समझ में नहीं आती।

× × ×

'आइये!' मैं भोजन करके लेटा हूँ। लेटे-लेटे ही कुछ पढ़ता हूँ। आज भी यही क्रम चल रहा था। अवधदासजी को आते देखकर मैं उठ खड़ा हुआ। 'आप चारपाई पर तो बैठेंगे नहीं।'

'आप लेटिये! मैं कुर्सी पर बैठता हूँ।' वे कुर्सी समीप खींचकर बैठ गये तो मैं भी चारपाई पर बैठ गया।

'आपके साथी सम्भवतः मन्दिर में ही होंगे? मैने शिष्टाचार वश ही पूछा।

'अभी तो मन्दिर में ही हैं, पर शाम को आगे चले जायँगे!' मुझे उन्होंने बताया। 'मैं काशी से चला तो दो संत साथ हो गये। मार्ग में दो और मिल गये। अब वे लोग श्रीजगन्नाथ जी जायँगे।'

'आप लोग पैदल ही यात्रा करते हैं?'

'नहीं तो!' वे निःसंकोच बोले। 'रेल तो रामजी की है; किन्तु काशी में हम लोगों को एक टी-टी ने उतार दिया था। इधर दम लगाने का सामान भी समाप्त हो रहा था,

सबने सोचा कि कुछ दूर तक गाँवों में घूमते चले जायँ।'

'अयोध्या आपने क्यों छोड़ा?'

'चार-छः दिन तो वहाँ ठीक व्यवस्था रही, उसके बाद गुरुजी ने भंडार की सेवा दे दी।' वे बोले- 'मुझे गोबर उठाना होता, चारा काटना हो तो घर ही न रहता। साधु हुआ था भजन करने को खाद ढ़ोने, हंडे-कड़ाहे मलने और झाड़ू लगाने को। मैंने फिर भस्म धारण कर लिया, इससे भंडार में चूल्हा फूँकने से छुट्टी मिल गयी; किन्तु बर्तन, गोबर, और न जाने क्या-क्या बखेड़ा आ गया। इसलिए मैंने स्थान छोड़ दिया। कुछ दिन जमात के साथ रहा; किन्तु वहाँ भी यही खटपट, अतः अब अपने रमते राम हैं।'

'चलिये, अब सब बखेड़े छूट गये। अब तो भजन-ही-भजन है।' मैंने सहज भाव से कह दिया।

'भजन ही तो तो नहीं बनता।' अब तो वे कुछ खिन्न स्वर में बोले। 'गप्पे लड़ाना, यहाँ-वहाँ घूमना, बस होता यह है। किसी-न-किसी के साथ हो लेता हूँ, अतः टिक्कर सेंकने नहीं पड़ते। किन्तु भजन बनने का कोई मार्ग नहीं दीखता। आपकी स्मृति आयी अनेक बार। सोचा कि आपसे मिलकर सब बातें कहूँगा। दूसरे किसी से कुछ कहने-पूछने में तो यह वेश का संकोच बड़ी बाधा है।'

'मैं एक स्थान जानता हूँ। आप चाहें तो पत्र दे दूँगा।' मैंने सीधे प्रस्ताव किया। 'नियमित रूप से छः घण्टे प्रतिदिन रामायण का पाठ करना पड़ेगा रहने को कुटिया और सादा-रूखा भोजन आपको वहाँ मिल जायगा। जब तक चाहें, वहाँ रहें।'

'छः घण्टे नियम से बँधकर पाठ करना अपने वश का नहीं।' वे बोले। 'जब सब कुछ त्याग दिया तो पेट के लिए नौकरी कौन करे।'

'सब कुछ त्याग दिया...।' उनके चले जाने पर मैं सोचता रहा, इस त्याग का क्या अर्थ। यह त्याग हुआ भी या नहीं और यदि त्याग हो- भजन क्यों नहीं बनना चाहिये। किन्तु शरीर को कष्ट मिलेगा, इस भय से किया गया त्याग राजस त्याग है-निष्फल है वह।

❑❑

सात्त्विक त्याग

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
संग त्यक्त्वा फलं चैव त्यागः सात्त्विको मतः।।

(गीता १८।९)

'कुमार! आखेट एक व्यसन है- दुर्निवार व्यसन!' जब कमर पर त्रोण कसकर, हाथ में धनुष लेकर परिकरों के साथ राजकुमार ने अरण्य की ओर प्रस्थान से पूर्व अपने अस्त्रगुरु के चरणों में मस्तक झुकाया, वे रजतकेश महाधनुर्धर बोले- 'व्यसन सदा त्याज्य है; क्योंकि वह पतन का हेतु होता है। साथ ही कर्त्तव्य से पराङ्मुख होना का पुरुषता है।'

'श्रीचरणों के आदेश मुझे प्रकाश प्रदान करेंगे।' युवक राजकुमार ने अनुमति प्राप्त की और दो क्षण बीतते-न-बीतते उनका अश्व अपने सब अनुगतों को पीछे छोड़ चुका था। आखेट-सहायक दल प्रयत्न कर रहा था कि वह साथ ही रहे और आखेट-निर्देशक ने अन्त में राजकुमार को पुकार ही लिया। प्रथम आखेट के समय अनुभवहीन युवकों को एकाकी वन कैसे जाने दिया जा सकता है?'

'इधर दो वर्ष से श्रीमान् नहीं पधारे हैं!' अभी कल एक वन्य जनपद के प्रतिनिधि ने आकर नरेश से प्रार्थना की। 'हमारे खेतों के लुटेरे वनपशु, सम्भव है, हमें भूखों मरने के लिए विवश कर दें। इधर हमारे गृह-पशुओं को पशुशाला की परिखा कूदकर वे उठा ले जाते हैं और पिछले तीन महीने से एक शेर मानव-भक्षी हो गया है। उसने अकेले पड़ने वाले घसियारों को तो मारा ही था, कल ग्राम के पास से वह किशोर को उठा ले गया।'

नरेश ने समाचार सुना और उनके नेत्र भर आये। वे वृद्ध हो गये हैं। रोगों ने जर्जर कर दिया है। पूरे वर्षभर से अश्व की पीठ का स्पर्श नहीं कर सके थे। सेनापति जायँगे; किन्तु पुत्र के समान प्रजा की रक्षा का भार सेनापति पर छोड़कर क्या निश्चिन्त रहा जा सकता है? आज यदि उनका शरीर थोड़ा भी साथ दे पाता...।

'राजकुमार कल आपके जनपद की ओर प्रस्थान करेंगे?' राज्य के अस्त्र-शिक्षक ने जो घोषणा की, उसने महाराज को, राजसभा को ही नहीं, स्वयं राजकुमार को भी चकित कर दिया। 'जब तक वन्य पशुओं का उपद्रव शान्त न हो जाय, उनका आखेट-शिविर आपके जनपद के समीप रहेगा किन्तु वे पूरी ध्यान रखेंगे कि उनके शिविर के कारण आप लोगों को कोई असुविधा न हो।'

'वे हमारे स्वामी'- वन्य प्रतिनिधि उठ खड़ा हुआ। 'उनसे हमें असुविधा क्या होगी। हमारे भाग्य ऐसे नहीं कि हम उनका स्वागत कर सकें। इतनी ही उनकी क्या कम कृपा है कि वे हमारे जनपद की ओर पधारेंगे!'

'राजकुमार आखेट करने जायँगे!' आशंका नरेश को थी, ऐसा ही नहीं- प्रत्येक का चित्त सशङ्क था।

'हिंसा का यह घोर कर्म मुझे करना पड़ेगा?' राजसभा से उठते ही राजकुमार अपने अस्त्र शिक्षक के सम्मुख उपस्थित हुए। बहुत सम्मान करते हैं राजकुमार इन वृद्ध महाधनुर्धर का। किन्तु ऐसा आदेश पाने की आशा उन्हें नहीं थी।

'तुम न जाओ तो मुझे जाना होगा और मैं समझ लूँगा कि जीवन में प्रथम बार अनधिकारी को शिक्षा देने की भूल मैंने की।' अस्त्र शिक्षक ने राजकुमार के मुख पर नेत्र स्थिर कर दिये। 'जो आपत्तिग्रस्त जनों का अभय देने आगे न बढ़ सके, धिक्कार है उसके क्षत्रिय होने को। अस्त्र-शिक्षा का और उपयोग भी क्या होगा। कर्म अपने आप में कहाँ शुभ या अशुभ है। यों तो तुम श्वास लेते हो, तब भी सहस्रो जीव मरते हैं।'

'मैं अवज्ञा करने की धृष्टता नहीं कर सकता।' राजकुमार ने मस्तक झुका दिया। 'आखेट के औचित्य की बात-हिंसा मुझे ही नहीं, श्रीचरणों को भी अत्यन्त अप्रिय है!'

'वत्स! तुम जानते ही हो कि इस वृद्ध ने अहिंसा का व्रत ले लिया है, किन्तु तुम प्रस्तुत न हो तो मेरा धनुष अब भी वन में मृत्युवर्षा करने में समर्थ है।' स्नेहपूर्ण स्वर- 'यह हिंसा हो भी तो उसका फल हम भोग लेंगे। जो अपने जीवन तथा आजीविका की रक्षा के लिए तुम्हारी ओर देखते हैं, उन्हें अभय देने के लिए ही तुम्हारे हाथ में धनुष है। तुम्हारा कर्त्तव्य तुम्हें वन में पुकार रहा है।'

'मैं प्रातः प्रस्थान करूँगा।' राजकुमार ने सादर आदेश स्वीकार कर लिया। उसके आखेट के लिए शेष बातों की व्यवस्था स्वयं महाधनुर्धर ने अपने हाथ में ली। प्रातः सूर्योदय के कुछ काल पीछे ही वन्य प्रतिनिधि के साथ राजकुमार का पूरा दल प्रस्थान कर चुका था।

× × ×

'ठहरो!' व्रजकठोर स्वर। आखेट-प्रमुख के कर धनुष की प्रत्यञ्चा पर जैसे स्तम्भित हो गये। बलाबलपूर्वक खींचने से अश्व लगभग दो पैरों पर खड़ा हो गया। पीछे मुड़कर देखने की आवश्यकता नहीं हुई। पूरे वेग में राजकुमार का अश्व आया और ठीक सम्मुख खड़ा हो गया- 'एक शिशुवती माता की हत्या आप नहीं कर सकते।'

'आखेट के कुछ नियम होते हैं कुमार!' आखेट-प्रमुख ने अपने अश्व को सँभाला और धनुष से बाण उतार लिया। 'आप ठीक मेरे धनुष के सम्मुख आ खड़े हुए हैं और मनुष्य सदा सावधान नहीं रहता। सिंहनी बिफर नहीं उठेगी- क्या आश्वासन!'

'मानवता के नियम आखेट के नियमों से अधिक महत्त्वपूर्ण हैं।' राजकुमार के स्वर में अब भी आवेश था। वे देख रहे थे कि आखेट प्रमुख के नेत्र दूर लक्ष्य पर थे और उनके दक्षिण का बाण अभी त्रोण में नहीं गया था। 'मेरे प्राणों की अपेक्षा उस माता के जीवन का अधिक मूल्य है; जिसके ऊपर उसके तीन शिशु निर्भर करते हैं।'

'हमने एक नर सिंह मार दिया है। वह मानवभक्षी था।' आखेट-प्रमुख ने अपने अनुभव का परिचय दिया। 'यदि वह इसी परिवार का हो, ये शिशु भी मानव-मांस का स्वाद पा चुके होंगे और कुछ महीनों में ही भयप्रद हो जायँगे।'

'अपने अपूर्ण अनुमान के आधार पर हम हत्या करने तो आये नहीं।' राजकुमार ने अब आगे देखा। सिंहनी इतनी देर में अपने शावकों को लेकर गुफा में जा चुकी थी। 'हम यहाँ निरीक्षक रख दे सकते हैं। यदि यह परिवार मानव-भक्षी भी हो गया हो तब भी शिशुओं को और उनकी माता को मारा नहीं जा सकता। हम उन्हें अपनी जन्तुशाला में ले जायँगे।'

'कुमार! क्षमा करें।' आखेट-प्रमुख का स्वर गद्‍गद हो उठा। 'जीवन में आज एक सच्चे आखेटक के दर्शन हुए मुझे। आखेट-शास्त्र में पढ़ा मैंने भी यह सब है; किन्तु वन में इन सब बातों का पालन भी किया जाता है, आज यह जीवित शिक्षा प्राप्त हुई। मैं आखेटक का प्रमुख निर्देशक भले होऊँ, उसके आदर्श की प्रेरणा मुझे आपसे लेनी चाहिये, यह समझ गया।'

'शूर हत्यारे नहीं हुआ करते!' राजकुमार ने किंचित् संकोच का अनुभव किया। 'मुझे तो आपसे शिक्षा लेनी है। पिता ने भी आपके संरक्षण में मुझे भेजा है। मैं चाहता यहीं हूँ कि एक भी निरपराध पशु न मारा जाय। जहाँ-तक सम्भव हो, वन्य पशुओं को भयभीत करके हम जनपद से दूर घने वनों में चले जाने को विवश कर दें। ऐसी व्यवस्था यहाँ कर जायँ कि वे शीघ्र इधर लौट न आवें।'

'अब तक मैंने यही सीखा था कि आखेट का सम्मान अधिक-से-अधिक

पशुचर्म प्राप्त करने-विशेषतः दीर्घाकार व्याघ्र एवं सिंह के चर्म प्राप्त करने में है। दोनों ही आखेटक अपने अश्वों को मोड़ चुके थे। आखेट-प्रमुख अपनी बात कह रहे थे- 'आज दूसरी बात कुमार ने हमें दी।'

'सम्पूर्ण जीवन ही एक आखेट-क्रीड़ा है। यह मेरे शस्त्रगुरु ने एक बार कहा था।' कुमार गम्भीर हो गये। 'हम हत्या का व्यसन पाल लेंगे आखेट में, तो जीवन में भी उत्पीड़न एवं परस्व-हरण के पाप से बच नहीं सकेंगे। कर्त्तव्य है, इसलिए कर्म करना है। उसमें आसक्ति-आखेट में आसक्ति व्यसन है, यह चेतावनी शस्त्र गुरु ने चलते समय दी है मुझे।'

× × ×

'कुमार! कल तुमने मुझे मारा है।' विशाल-वपु केशरी खड़ा था सम्मुख; किन्तु आज उसके नेत्रों से अङ्गार नहीं झड़ते थे और उसका भयानक मुख भी खुला नहीं था। उसकी दिगन्तकम्पी गर्जना तो कल ही सदा को सो चुकी। 'मैं तुम्हें उपालम्भ नहीं देता। मैं आक्रमणकारी था, पर मुझे मार न देते तो मैं तुम्हें अवश्य मार देता।'

आखेट से श्रान्त राजकुमार अपने शिविर में तृणशय्या पर सो रहे थे। प्रगाढ़ निद्रा आयी थी उन्हें; किन्तु इस समय अब वे स्वप्न देख रहे थे। सदा की भाँति आज रात्रि के चतुर्थ प्रहर में वे जाग्रत् नहीं हो सके। पता नहीं, कल की श्रान्ति का परिणाम था यह, अथवा जो स्वप्न वे देख रहे थे, उसे विश्वविधायक को अवकाश देना था।

'दोष मेरा भी नहीं है। मेरे आवास के समीप कोलाहल सुनकर मेरे शिशुओं की जननी चिन्तित हो उठी थी।' केहरी कहता गया। 'मेरा शौर्य सहधर्मिणी को चिन्तित नहीं देख सकता था। धाता ने स्वभाव से ही मेरी जाति को असहिष्णु बनाया है।'

शिविर के बाहर प्रहरी शान्त पदों से टहल रहा था। आखेट-प्रमुख ने उसे आदेश दिया था कि राजकुमार यदि विलम्ब से भी उठें, तब भी उनको स्वतः उठने दिया जाय। आज उनकी निद्रा में व्याघात नहीं पड़ना चाहिये। कल कानन में वे अत्यधिक श्रान्त हो चुके हैं।

'तुम्हारें बाणों ने मुझे सद्गति दी। मैं तुम्हारा कृतज्ञ हूँ। अत्यधिक कृतज्ञ इसलिए हूँ कि कल ही तुमने मेरी संतानों की रक्षा की। मेरी सिंहनी को तुमने आखेट का लक्ष्य होने से बचाया।' राजकुमार स्वप्न में भी आश्चर्य कर रहे थे कि इतना क्रूर प्राणी भी कितना कृतज्ञ हुआ करता है। सिंह आगे बोला- "मैं इस वेश में केवल इसलिए आया हूँ कि तुम मुझे पहिचान सको। नियम-निष्ठ आखेट के शस्त्रों से मृत-पशु पवित्र होकर स्वर्ग में स्थान प्राप्त करता है।'

'तुमने मुझे सद्गति दी और मेरे शिशुओं को बचाया। मैं इस समय समर्थ हूँ। मेरा प्रसाद व्यर्थ नहीं जाना चाहिए।' स्वप्न में राजकुमार ने देखा कि सिंह सहसा एक ज्योतिर्मय दिव्य-देहधारी मनुष्याकृति में परिवर्तित हो गया है। वह रत्नाभरणभूषित निश्चय कोई देवता है। अब वह देवता कह रहा था- 'प्रातः निद्रात्याग के पश्चात् सोच लेना कि तुम्हारे जीवन में क्या चाहिये। अपनी नियमित अर्चा के उपरान्त आधे मुहूर्त तक तुम जो भी कामनाएँ करोगे, वे सब पूर्ण होंगी।'

'मैंने कोई सत्कार्य तो किया नहीं। निद्रा से उठते ही राजकुमार ने मन में पहिली बात आयी। 'केहरी निरपराध था। उसके आवास के समीप हम लोग गये न होते, वह आक्रमण करने हमारे शिविर पर तो आ नहीं रहा था। मेरा अपराध उसके मन में नहीं आता- देवता का यह सहज औदार्य; किन्तु मैंने आगे जो किया, वह मेरा कर्त्तव्य-मात्र था।'

राजकुमार देर से उठे थे आज। नित्यकर्मों से निवृत्त होने में उन्हें देर होनी ही थी। आखेट-प्रमुख को कोई शीघ्रता नहीं थी। आज तो यहाँ से राजधानी प्रस्थान करना था। यहाँ का कार्य तो समाप्त हो चुका। प्रस्थान कुछ देर से भी हो तो वनमार्ग की छाया आपत का कष्ट नहीं होने देगी।

'पशु और मानव सब अपनी मर्यादा में रहें। सबका मङ्गल हो!' आप इसे कामना कह सकते हों तो अर्चा समाप्त करके यह कामना राजकुमार ने अवश्य की थी। इसके पश्चात् वे पुनः ध्यान करने में लग गये थे। पूरा मुहूर्त भर अधिक लगाया उन्होंने उस दिन ध्यान में।

'हम सब किसी सेवा के योग्य नहीं।' प्रस्थान को प्रस्तुत राजकुमार के सम्मुख वन्य जनपद के कुछ लोग उपस्थित हुए थे। वे अद्भुत औषधियाँ, दुर्लभ वीरुध तथा अन्य उपहार ले आये थे- 'यह घासफूस स्वीकृति पा जाय, हम अपने को धन्य मानें।'

'आपके स्नेह ने हमें धन्य किया।' राजकुमार ने उपहार लौटाये नहीं; किन्तु लानेवालों को पुरस्कार स्वीकार करना पड़ा और वह अल्प नहीं था। 'हम तो यहाँ कर्त्तव्य का एक अंश पूर्ण कर सके, यही सबसे बड़ा उपहार।'

सुनते हैं, नगर लौटने पर शस्त्र गुरु ने अपने शिष्य को सच्चा त्यागी कहकर हृदय से लगाया था।

❑❑

दरिद्र कौन? जिसको सन्तोष न हो

'सचमुच पारस कोई पदार्थ है?' अलबर्ट मॉरीसन रसायन-शास्त्री हैं। प्रत्येक वैज्ञानिक को एक सनक होती है। कहना यह चाहिये कि प्रतिभा का प्रसाद उसी को प्राप्त होता है, जो अपनी सनक का पक्का हो। मॉरीसन को प्राचीन पदार्थशास्त्र के अन्वेषण की सनक थी और विषय कोई हो, उसका प्राचीनतम साहित्य तो भारत के अतिरिक्त अन्यत्र उपलब्ध है नहीं। अल्बर्ट मॉरीसन भारतीय पदार्थ-शास्त्र का अन्वेषण कर रहे थे। उन्होंने पुराण, ज्योतिष तथा अन्य अनेकों सूत्र एवं कारिकाग्रन्थ एकत्र कर लिये थे।

'केवल कल्पना है पारस?' अनेक बार यह विचार आता था- 'एक भव्य कल्पना- भारतीय कल्पनाप्रवण होते हैं। कितनी पूर्ण-कल्पना की है उन्होंने।'

'कोई सामाजिक अव्यवस्था उत्पन्न नहीं होती। कोई लोभी कभी पारस नहीं पाता।' अल्बर्ट का मन उन्हें सन्तुष्ट नहीं होने देता- 'केवल परम संतुष्ट संत उसे पाते या देखते हैं, वह उनके संतोष की परीक्षा-मात्र बन सकता है। एक रहस्य से बाहर आकर फिर रहस्य हो जाता है वह।'

'परमात्मा के लिए कुछ असम्भव तो नहीं है।' वैज्ञानिक अल्बर्ट आस्तिक हैं- 'जिन्हें भी पारस मिला वे सच्चे अर्थों में संत थे। अपने लाड़ले बच्चों पर प्रभु अपना कोई रहस्य प्रकट कर दे- कोई कठिन बात तो नहीं है।'

"पारस पदार्थ है या कल्पना?" साहित्यिक या समालोचक झटके से 'कल्पना' कह देगा; किन्तु एक रसायन-शास्त्री ऐसा कर नहीं पाता। 'लोहे के अणुओं में केवल एक परिवर्तन उसे स्वर्ण बना देगा। यह परिवर्तन उसमें भार और रंग दोनों दे देगा। अवश्य उसका विस्तार आकार संकुचित हो जायगा। पारस यदि कोई ऐसा पदार्थ हो, जो अपने स्पर्श से लोहे के अणुओं में अपेक्षित परिवर्तन कर देता हो?'

'पारस प्राप्त हुए बिना तो समस्या सुलझती नहीं।' वैज्ञानिक का काम कल्पना से नहीं चलता। वह प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानता है। अल्बर्ट को पारस की आवश्यकता

थी। पारस यदि कहीं हो- भारत में ही हो सकता है, जहाँ अनेक बार पाया गया है अथवा उसे पाने की कल्पना की गयी है।

भारत की यात्रा कुछ कठिन नहीं थी वैज्ञानिक के लिए। वे केवल भ्रमण करने आने वाले यात्री बनकर ही आये। उन्हें पता था कि पारस कभी जनसामान्य की जानकारी में नहीं आया। आज उसे पाने की चर्चा भारत में भी पागलपन ही कही जाएगी।

'कहाँ से कैसे अन्वेषण प्रारम्भ हो?' कुछ ठीक उपाय सूझता नहीं था। अवश्य ही अलबर्ट ने भारतीय साधुओं के प्रति अपना आकर्षण व्यक्त कर दिया था। वे प्रायः पता लगाकर अच्छे कहे जानेवाले साधुओं के दर्शन करने पहुँचते थे।

'मुझे बड़े आश्रमोंवाला बड़ा साधु नहीं चाहिये।' बहुत शीघ्र उन्हें अनुभव हो गया कि जो प्रख्यात साधु हैं, वे सम्पन्न हैं और जहाँ सम्पत्ति स्वीकृत होती है, पारस का पता वहाँ पाने की आशा भी नहीं की जा सकती। 'कौपीनधारी-जिसके पास कुछ न रहता हो, जो देने पर भी पैसा न ले, ऐसा साधु चाहिये मुझे।'

भारत में ऐसे अकिंचन वीतराग महापुरुषों का कभी अभाव नहीं रहा। प्रारम्भ में कठिनाई हुई; किन्तु शीघ्र ही अल्बर्ट ऐसे महत्-पुरुषों से परिचय करने का मार्ग पा गये।

× × ×

'तुम पारस क्यों चाहते हो?' एक वृक्ष के नीचे अपने कमण्डलु पर मस्तक धरे एक कौपीनधारी अलमस्त लेटे थे। अब अल्बर्ट को घास या धूलि में ऐसे साधुओं के समीप बैठने में संकोच नहीं होता। पतलून के 'क्रीज' की चिन्ता कब की छूट चुकी है।

'वह ऐसा पदार्थ नहीं हैं कि कुतूहल-निवृत्ति के लिए उसे पाया जा सके।' संत समझा रहे थे- 'मुझे वह प्राप्त नहीं। किसी को आज प्राप्त है या नहीं, मुझे पता नहीं; किन्तु तुम क्यों नहीं सोचते कि उसे पा लेने पर कितनी अव्यवस्था हो जायगी समाज में?'

'आप चाहें तो उसे पा सकते हैं?' अल्बर्ट ने पूछा। उनकी जिज्ञासा अभी तर्क से तृप्त होने को प्रस्तुत नहीं थी।

'परमात्मा परम दयालु है।' साधु का स्वर गद्गद हुआ। 'उसका कोई बच्चा कोई हठ कर ही ले तो वह दयामय उसे अवश्य पूर्ण कर देगा। पारस पदार्थ न भी हो तो उसे पदार्थ बना देने में उस सर्वशक्तिमान् को क्या देर लगेगी।'

'एक बार मैं उसे देख पाता।' रासायनिक की उत्कण्ठा आतुर हो उठी।

'क्या करोगे उसका?' साधु हँसे। 'उसका आविष्कार संसार के लिए सबसे बड़ा

विध्वसंक बम सिद्ध हो सकता है।'

'आज कितने कंगाल हैं लोग।' अल्बर्ट ने प्रार्थना के स्वर में कहा- 'दरिद्रों पर दया नहीं आती आपको? उनका दु:ख- उनके अभाव दूर करने के लिए केवल कुछ घण्टों को पारस का प्राप्त होना भी पर्याप्त हो सकता है।'

'बहुत भावुक हो तुम! वैज्ञानिक भावुक नहीं हुआ करते।' साधु खुलकर हँसे- 'आज की समाज-व्यवस्था, आज की शासन-व्यवस्था- तुम पारस प्राप्त कर लो तो स्वर्ण बनाने के लिए छिपते फिरोगे। पारस पता लगने पर तुमसे छीन लिया जायगा। तुम जेल में बंद होओगे या तुम्हारी हत्या कर दी जायगी। आगे पारस का क्या होगा- तुम कोई आश्वासन नहीं दे सकते। तुमने स्वयं सोचा है?'

'आपके सत्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।' वैज्ञानिक ने मस्तक झुका दिया- 'सब आपत्तियाँ झेलकर भी यदि मैं कुछ कंगालों की सेवा कर सकूँ- आप मुझ पर विश्वास कर सकते हैं कि मैं आपके देश के दरिद्रों की ही सेवा करूँगा। पारस या उससे बना स्वर्ण इस देश से बाहर नहीं जायगा। मैं अपने उपयोग में भी उसे नहीं लाऊँगा।

'तुम इस प्रकार कह रहे हो, जैसे पारस मेरे पास पड़ा है।' साधु फिर हँसे।

'आप उसे पा सकते हैं।' वैज्ञानिक निराश नहीं हुआ। वह अपने आग्रह पर स्थिर रहा- 'दरिद्रों का दु:ख दूर करने में आप मेरी सहायता करेंगे।'

'जिनका चित्त सम्पत्ति के अभाव में दुखी है, वे दरिद्र हैं।' साधु ने समझाने का मार्ग लिया- 'जिनके पास सम्पत्ति नहीं है, वे दरिद्र हैं- ऐसा तो तुम नहीं मानते होंगे; क्योंकि मेरे पास एक कौड़ी नहीं और मुझे दरिद्र मानकर मेरी सहायता करने की बात तुम सोच भी नहीं सकते।'

'सम्पत्ति के अभाव में जो दु:खी हैं, वे दरिद्र हैं।' अल्बर्ट ने साधु की परिभाषा स्वीकार की- 'उनकी ही मैं सेवा करूँगा। आपके समान सन्तुष्ट महापुरुषों की कोई क्या सेवा कर सकता है?'

'आज तुम बम्बई चले जाओ!' साधु ने आज्ञा की। 'दो दिन वहाँ रहो। इसके अनन्तर यदि पारस की आवश्यकता प्रतीत हो तो यहाँ आ जाना।'

× × ×

'बड़ा दु:खी है यह, पता नहीं बेचारे का कौन मर गया है।' अल्बर्ट मॉरीसन प्रथम

श्रेणी में रेल में यात्रा कर रहे थे। उनके डिब्बे में केवल एक यात्री थे। कोई भारतीय व्यापारी होंगे। उनके वस्त्र, कोट में लगे हीरों के बटन, अँगूठी में जड़ा बड़ा-सा नीलम- अवश्य वे कोई सम्पन्न व्यक्ति होंगे; किन्तु उनका श्रीहीन मुख, बार-बार लंबी श्वास लेना, बार-बार नेत्र पोंछना- कोई बहुत बड़ा दु:ख उन पर आया जान पड़ता था।

'बाबू! एक पैसा!' स्टेशन पर गाड़ी रूकी थी। गोद में नवजात शिशु लिये मैले-फटे वस्त्रों में शरीर छिपाये एक कङ्कालप्राय भिक्षुणी आ खड़ी हुई। दैन्य की साकार मूर्ति दीखती थी वह।

'चल! भाग यहाँ से!' भारतीय व्यापारी ने उसे दुत्कार दिया। वह तो जैसे इसकी अभ्यस्त हो गयी थी। बड़ा खेद हुआ अल्बर्ट को। उसने अपनी जेब से मनीबेग निकाला; जो पहिला नोट आया, उस भिखारिन के हाथ पर रखकर खिड़की बंद कर ली उसने।

'ये भिखारी अब भी पिंड नहीं छोड़ते।' व्यापारी महोदय अपने आप बड़बड़ा रहे थे- 'इन्हें अपने से मतलब; कोई जीये या मरे, इन्हें पैसा चाहिये।'

'क्या कष्ट है इन्हें?' इच्छा हुई अल्बर्ट को जानने की; किन्तु बिना प्रयोजन किसी अपरिचित की व्यक्तिगत बातों में बोलना असभ्यता है। अपने समाज के शिष्टाचार के कारण चुप रहना था और व्यापारी महोदय समझते नहीं थे कि साहब हिन्दी जानता है। स्वयं वे अंग्रेजी बोलने में असमर्थ थे। गाड़ी सीटी देकर चल चुकी थी।

पर्याप्त समय तक उस डिब्बे में दो ही यात्री रहे। ट्रेन जब बोरीबन्दर स्टेशन पहुँच गयी, तब भी दो ही यात्री उतरे उसमें से। अल्बर्ट मॉरीसन मार्ग में अपनी पुस्तक के पन्नों में उलझ गये थे। उन्हें याद भी नहीं आयी कि वे डिब्बे में एकाकी नहीं हैं।

'हैं!' दूसरे दिन प्रातः काल होटल के अपने कमरे में अल्बर्ट ने जब तक प्रात:काल अखबार उठाया, वे चौक पड़े। एक बार उनके हाथ से अखबार छूटकर गिर पड़ा।

'भारत के प्रसिद्ध व्यापारी श्री... ने कल रात आत्म हत्या कर ली।' समाचार के प्रथम पृष्ठ पर मोटा शीर्षक था अल्बर्ट को स्मरण आया- यह नाम तो उन्होंने कल अपने साथ यात्रा करने वाले व्यापारी महोदय के बक्स पर लिखा देखा था। तब क्या उन्होंने।

'उन्हें अपने सट्टे के व्यापार में बहुत बड़ा घाटा लगा था।' समाचार-पत्र ने विवरण दिया था- 'अनुमान किया जाता है कि घाटा एक अरब के लगभग है। उसे दे

डालने पर उनकी केवल अपने रहने की एक बड़ी कोठी और दस-बारह करोड़ की सम्पत्ति बच रहेगी। उनकी श्रीमती जी के समीप।'

अल्बर्ट को स्मरण आया, वे भारतीय व्यापारी बड़बड़ाते हुए कल कह रहे थे- मैं कंगाल हो गया! केवल कुछ करोड़ बचेंगे मेरे पास! आज का अरबपति दरिद्र हो गया!'

'दरिद्र!' अल्बर्ट फिर चौंके- 'दस-बारह करोड़ और विशाल कोठी होने पर भी अपने को ऐसा दरिद्र समझता था कि मर गया आत्महत्या करके।'

'सम्भवतः वह आनन्द से खिल उठी होगी एक रुपये का नोट पाकर।' कल की वह भिखारिन स्मृतिपट पर आयी- 'दोनों में दरिद्र कौन?'

'जिनका चित्त सम्पत्ति के अभाव में दुखी है, वे दरिद्र!' साधु के वचन स्मरण आये और मन ने कहा- 'सम्पत्ति के अभाव की कोई सीमा है? कुछ ही करोड़ रहने से आत्महत्या कर लेने वाला सेठ- असंतोष जिसे है, वह दरिद्र। यही तो अर्थ हुआ। ऐसे दरिद्रय की दवा पारस कैसे कर सकता है।'

वैज्ञानिक ने टेलीफोन डायरेक्टरी उठा ली थी। वे पूछना चाहते थे कि योरप के लिये वायुयान कब जा रहा है। पारस पाने की कोई उत्कण्ठा अब उनमें रह नहीं गयी थीं।

❑❑

हारे को हरिनाम

'नदी घड़ियालों से भरी थी, आकाश मच्छरों से, तटीय प्रदेश लम्बी घासों से, जिनमें विषैले सर्पों की गणना नहीं और वन में हाथी, शेर, तेंदुए, चीते। वृक्षों पर भी निरापद शरण लेना सम्भव नहीं था। वहाँ भी सर्प और तेंदुए स्वच्छन्द छलाँग ले सकते थे।

उसने सोचा भी नहीं था कि बर्मा के इस प्रदेश मे उस रात्रि व्यतीत करनी पड़ेगी। सूर्यास्त के पूर्व ही वे लौट जायँगे, ऐसा उनका विचार था। लेकिन सूर्य पश्चिम में पहुँच चुके थे और अब भी पता नहीं है कि वह स्वयं कहाँ है? अपने शिविर से कितनी दूर है।

किसी भी मानचित्र में इधर की नदी के मोड़ों एवं उसकी धाराओं पर स्पष्ट अङ्कन नहीं है। इस दलदल से पूर्ण प्रदेश में आने का साहस कोई नहीं करता। जब प्रातःकाल वह चला था, सबने रोका था उसे। एक अज्ञात प्रदेश में केवल अनुमान के भरोसे से जाना अच्छा नहीं, यह चेतावनी उसे अनेक बार मिली थी; किन्तु वह शिकारी कैसा जो इस प्रकार डर जाय।

केवल एक मल्लाह प्रस्तुत हुआ था चलने को। वह मल्लाह इस ओर एक बार आ चुका था। आया वह भी था दुर्घटनावश ही; किन्तु मार्ग उसने देख लिया था। दूसरे लोगों में सब हतोत्साह करने वाले ही थे।

'नदी की कई धाराएँ हैं। मुख्य धारा से चलें तो दोपहर तक समुद्र के समीप पहुँच जायँगे और जब समुद्र में ज्वार आयेगा, नौका अपने आप ऊपर बह निकलेगी। हम दोनों संध्या तक यहीं आ जायँगे!' उस मल्लाह ने बताया था।

'शिकार के लिए मगर, शेर, और दूसरे जानवर सरलता से मिलेंगे!' यह बात पक्की थी- 'नदी की इस धारा का मानचित्र ठीक बनाया जा सकेगा!' यही बड़ा प्रलोभन था; क्योंकि वह वन-प्रदेश का अधिकारी भी तो है। देश को ठीक मानचित्र देना उसके कर्त्तव्यों में आता है।

इस ओर उसका पड़ाव आया था सात दिन पूर्व। वन का सर्वेक्षण चल रहा है। साथ में डाक्टर है, कई दूसरे कर्मचारी है और हेलीकाप्टर यान है। दलदलीय प्रदेश में सर्वेक्षण का काम आकाश से ही करना पड़ता है; किन्तु इधर वन बहुत सघन है। पानी में भी सर्वत्र ऊँची घास खड़ी है। आकाश से नदी की धारा का पता ही नहीं लगता। इन सब कारणों से और शिकार के प्रलोभन से वह इतना हठ नहीं करता। मुख्य प्रलोभन था नदी के मार्ग का अङ्कन करने वाला वह माना जायगा और जब एक मल्लाह मार्गदर्शक है, साहस क्यों न किया जाय।

एक स्थान पर दो छोटी नौकाएँ पसन्द की उसने। दोनों नौकाओं में पीने का पानी, दोपहर का भोजन, दूरबीन तथा अन्य आवश्यक सामान। लेकिन प्रस्थान करने के दो–ढ़ाई घण्टे बाद ही दोनों ने समझ लिया कि उनके सब अनुमान ठीक नहीं है। नदी में बहुत मोड़ थे– अनुमान से बारह मोड़। धूप में तेजी आयी तो शरीर का चमड़ा जैसे भस्म होने लगा। दोनों नौकाएँ एक में बाँध दी गयीं और उन्होंने बारी–बारी से खेना प्रारम्भ किया।

मच्छरों का आक्रमण चल रहा था। उनसे बचना कठिन था। घड़ियाल मिले– अच्छे बड़े भी मिले; किन्तु मल्लाह ने सलाह दी कि 'अभी कारतूस उपयोग में न लाया जाए। पता नहीं कब कैसी परिस्थिति आ पड़े।' अब उसे भी अपने मार्गज्ञान पर भरोसा नहीं रह गया था। उसे जो कुछ मार्ग के विषय में स्मरण था, वह बहुत धुँधला एवं अपूर्ण था। नदी के आगे चलकर दो धाराओं में विभक्त हो गयी थी और उसे यह पता नहीं था कि उनमें मुख्य धारा कौन–सी है। वह धारा से परिचित है।

'तुम एक धारा से जाओ और मैं दूसरी से।' अन्त में उन्होंने निर्णय किया– 'नदी की दोनों धाराएँ अवश्य आगे मिल गयी होगी। प्रत्येक दशा में हम तीसरे प्रहर लौट पड़ेंगे और यहाँ आकर दूसरे साथी की प्रतीक्षा करेंगे !'

दोनों नौकाएँ पृथक्–पृथक् चल पड़ीं। अब न मच्छरों को भगाने का अवकाश था और हाथों को नौका खेने से विश्राम मिलना था। नदी से घास के सड़ने की गन्ध आ रही थी। ऊँची घास को चीरते ही नौका को मार्ग बनाना था। साथ का भोजन समाप्त हो गया और पानी भी। दोपहर ढलने के लगभग है। प्रत्येक मोड़कर लगता है कि अब आगे दूसरी धारा आ मिलेगी; किन्तु मोड़ बीतते ही दूसरा मोड़ दीखने लगता है।

संयोग से तट पर सूखी भूमि दृष्टि पड़ी। कुछ फल के वृक्ष भी थे। पके मधुर फलों ने आकृष्ट किया। नौका तट से बाँध दी एक घास के झुरमुट में और कूद पड़े। राइफल भूमि में पटक दी वृक्ष पर चढ़ते समय। बड़े स्वादिष्ट फल– भरपेट जमकर खाया। शाखा पर बैठकर शरीर को विश्राम दिया; किन्तु जब उतरने की इच्छा की– 'हे भगवान् !'

नीचे राइफल की नाल पर सूर्य की किरणें चमक रही थीं और एक कछावर शेर उस पर पंजे रखकर गुर्रा रहा था। वह राइफल के सर्वेक्षण में लगा था। वृक्ष पर भी कोई है, इस ओर उसका ध्यान नहीं था।

'अब क्या हो?' वृक्ष पर शिकारी का रक्त जमा जा रहा था। उसकी पतलून की दोनों जेबों में रिवाल्वर हैं; किन्तु रिवाल्वर की गोली वनराज को कुद्ध करने के अतिरिक्त और कर भी क्या सकती है।

विपत्ति अकेले नहीं आती। तटकी ओर दृष्टि गयी और नौका नदारद। नदी का पानी अब पूरे वेग से नीचे बह रहा था। समुद्र में सम्भवतः भाटा आ चुका था। नदी उतर रही थी। पानी में प्रवाह आने के कारण नोका नीचे बह गयी थी। घास उसे रोकने में समर्थ नहीं हुई। अपनी असहायता का अनुभव करके उसके मुख से चीख निकल गयी।

कभी-कभी अनचाही बात भी सहायक हो जाती है। शेर गुर्राया चीख सुनकर। उसने सिर उठाकर ऊपर देखा और उठ खड़ा हुआ। पता नहीं क्या सोचा उसने, किन्तु धीरे पदों से वन में चल गया। शिकारी की जान में जान आयी। वह उतरा वृक्ष से। नदी के किनारे-किनारे नौका ढूँढ़ने चलने के अतिरिक्त कोई उपाय नहीं था उसके पास। एक आशा थी- 'कदाचित् कहीं घास में या मोड़पर वह अटक-उलझ जाय।'

कितनी दूर गया वह, स्वयं उसे पता नहीं। दिन छिपने को आ गया। नौका का पता न मिलना था, न मिला। अब अंधकार होने से पहिले उसे कोई ठीक स्थान रात्रि व्यतीत करने को ढूँढ़ लेना चाहिये। समुद्र में ज्वार आयेगा तब नौका स्वतः ऊपर लौट आयेगी- यही आशा थी।

उसने लकड़ियाँ इकट्ठी कीं। अन्धकार होने से पूर्व अग्नि जला ली। अब अग्नि के सहारे रात्रि व्यतीत कर सकता है वह। लेकिन सूर्यास्त के साथ बादल छा गये। अन्धकार ऐसा कि अपना हाथ भी दिखायी न दें। अग्नि में बार-बार लकड़ियाँ डालता रहा। यही एक आश्रय था प्राण रक्षा का। उसे लगा कि लकड़ियाँ थोड़ी हैं। आधी रात भी अग्नि के प्रकाश में इधर-उधर दृष्टि दौड़ायी तो नदी के समीप एक बड़ा काला कुन्दा दीख पड़ा। वह गया और घसीटते हुए कुन्दे को ले ही आता- पर कुन्दा उसके समीप पहुँचते ही पानी में सरक गया। 'घड़ियाल!' काँप गया उनका शरीर।

अग्नि स्वतः बुझनेवाली थी, वर्षा ऊपर से प्रारम्भ हो गयी। राइफल का सहारा लिए वह वृक्ष के तने के समीप खड़ा हो गया। अब अन्धकार में राइफल भी व्यर्थ थी। दूसरी ओर नदी का पानी बढ़ रहा था। वह जहाँ खड़ा था, वह भूमि धीरे-धीरे जल के भीतर होने लगी।

वृक्ष पर कोई कूदा- कोई भारी वनपशु और नदी में भारी ध्वनि हुई। तेंदुआ और घड़ियाल- मृत्यु ने अब झपट्टा मार दिया था उसके ऊपर। एक कड़ा झटका पीठ पर लगा और राइफल हाथ से छूटकर पानी में छपाक करती गिरी।

'हे भगवान्!' प्राण जाते समय प्राणी के कण्ठ से जो आर्तनाद फूटता है- बिना अनुभव के कोई उस स्वर को समझ नहीं सकता। कोई आशा, कोई युक्ति, कोई बल जब नहीं रह जाता और मृत्यु का कराल खुला जबड़ा सम्मुख दिखायी पड़ता है- अहोभाग्य उसका जो उस समय भी उस परम सहायक को पुकार सके! उस सर्वसमर्थ को पुकारकर तो कोई कभी निराश नहीं हुआ है।

सहसा आकाश की घटा में से चन्द्रमा की किरणें निकल पड़ी। उसने उस ज्योत्स्नाधौत जल में जो कुछ देखा- अद्भुत, रोमाञ्चकारी और चकित कर देने वाला दृश्य था वह। उसके ठीक पीछे तेंदुआ कूदा और अब उससे घड़ियाल का युद्ध चल रहा था। सम्भवतः घड़ियाल ने जब स्वयं उसका पैर पकड़ना चाहा, तेंदुआ वृक्षपर से कूदा। घड़ियाल के मुख में तेंदुए का पैर आ गया था। घड़ियाल उसे खींच रहा था और वह एक पैर पर किसी जल में डूबी वृक्ष की जड़ में अड़ाये तेंदुआ दूसरे पैर के पंजे घड़ियाल पर फटकारे जा रहा था। घड़ियाल पूँछ फटकार रहा था जिससे तेंदुआ उसे मुख पर न मार सके और इस युद्ध में उछलते छींटे समीप खड़े मनुष्य को भिगा रहे थे।

उसने झुककर पानी में अपनी राइफल उठायी। कण्ठ से फिर निकला - 'दयामय प्रभु! और सिर उठाता है तो देखता है कि काली लम्बी वस्तु नीचे से ऊपर नदी में ज्वार के वेग से बहती चली आ रही है। दो क्षण में स्पष्ट हो गया कि वह उसकी नौका है।

× × ×

'मैं सायंकाल यहाँ पहुँचा था!' मल्लाह ठीक वहाँ प्रतीक्षा कर रहा था, जहाँ से वे पृथक् हुए थे। 'नदी की मुख्य धारा वह है, जिससे आप गये थे। किन्तु यह शाखा छोटी है। ज्वार ने जब मुझे यहाँ पहुँचाया- अँधेरा घिर आया था। किसी प्रकार मैं रस्सी वृक्ष में उलझाकर यहाँ रात्रि में टिका रहा।'

'मैं सर्वथा असहाय हो चुका था।' अरुणोदय के समय के मल्लाह से मिले थे और नाव में साथ चलते हुए बता रहे- 'नदी के मार्ग की शोध और मेरी रक्षा उसने की जो सदा से असहाय की रक्षा करता आया है। अब मेरा बल थक गया, शस्त्र गिर गया, वह दयाधाम मेरी रक्षा करने आ पहुँचा था।'

भाग - 11

भक्ति पञ्चम पुरुषार्थ

योगिनामपि सर्वेषां मदगतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स में युक्ततमो मतः

(गीता-६.४७)

मन्दराचल पार्थिव पर्वत नहीं है। इस दिव्य गिरि पर सुर भी संकोच एवं श्रद्धा के साथ ही उतरते हैं। काकभुशुण्डि की अनेक कल्पों से यह साधना-स्थली-माया का आच्छन्न करनेवाला प्रभाव इसके समीप नहीं आता। त्रेता के अन्त में जब मर्यादापुरुषोत्तम अपने दिव्यधाम पधारे, पवनकुमार ने भी पृथ्वी की अपेक्षा इस पर्वत पर ही अधिक रहना प्रारम्भ कर दिया। वे भी इसकी गुफाओं में, सघन काननों में आराध्य का चिन्तन करते नित्य तन्मय रहने लगे। वैसे तो जहाँ-जहाँ धरा पर श्री राम का यशोगान होता है, अपने एक रूप से वे उपस्थित रहते ही है।

दिव्य लता-तरु, पुष्पित-पल्लवित, फलमधुर वन-भूमि और रत्नोज्ज्वल गुफाएँ। अब तो न केवल पशुओं का नाद, पक्षियों का कलरव, भ्रमरों का गुञ्जन ही, अपितु निर्झरों का शब्द भी एक ही स्वर अहर्निश उठाया करता है-

राम राम राम सीता राम राम राम।
राम राम राम सीता राम राम राम।

पुलक-प्रफुल्लित-स्वर्णाङ्ग, अजस्र-स्रवित-लोचन पवन- पुत्र आजकल इस क्षीराब्धिधौतचरण उत्तुङ्ग शिखर को धन्य करते हैं। जैसे उनके अन्तर का आह्लाद पर्वत के कण-कण को रसार्द्र किये दे रहा है। पत्ता-पत्ता आनन्द नर्तन कर रहा है उनके स्वर के साथ।

गगन से जैसे मयंक भूमि पर आ जाय, इस प्रकार मन्दर के शिखर पर उतर आया अमितौजा। वह उतर तो आया किन्तु उसे स्मरण नहीं कि क्यों आया है वहाँ। उसके पद कब नृत्य करने लगे, कब उसका कण्ठ उस संकीर्तन-ध्वनि का साथ देने लगा-

उसे कुछ स्मरण नहीं। वह तो आत्मविस्मृत हो गया क्षणार्ध में।

'तुम्हारा जन्म अयोध्या में हुआ है।' भगवान् ब्रह्मा ने उससे कहा था। 'ज्ञानियों के मुकुटमणि श्रीआञ्जनेय ही तुम्हारे गुरु हो सकते हैं। मन्दराचल पर तुम उनके दर्शन कर सकते हो।'

वह हिमालय के गर्भ में स्थित दिव्यपुरी कलापग्राम से ब्रह्मलोक गया था और सृष्टिकर्त्ता ने उसे मन्दाचल पर भेज दिया। किन्तु वह तो भूल ही गया कि क्यों वह यहाँ आया और उसे क्या करना है। मन्दराचल का वायुमण्डल वैसे भी हृदय को भक्ति-विभोर कर देने वाला है। काक-भुशुण्डिजी का प्रभाव ही वहाँ एक अद्‌भुत उन्मद वातावरण बनाये रखता था और जब से श्रीरामदूत वहाँ आये हैं देवताओं और गन्धर्वों में तो यह प्रवाद प्रसारित हो गया है- 'स्वर्ग में रहना हों तो मन्दरगिरि का प्रकाश जहाँ तक जाता है, उतने क्षेत्र से दूर रहो। वहाँ जो गया वह कदाचित् ही लौटकर आयेगा। देवर्षि नारद – जैसे परिव्राजकों का सम्प्रदाय वह पर्वत बढ़ाने लगा है।'

कलापग्राम का अविचल योगी अमितौजा, वह ब्रह्म लोक से चला था तो किसी अप्सरा ने कहा था- 'मुनिवर! यह गाम्भीर्य बनाये रखना हो तो मन्दर का मार्ग मत अपनाना!'

अप्सरा- अपवर्ग के साधकों के पथ में विघ्न के रूप में ही अमितौजा इस वर्ग को जानता है। उसने दृष्टि उठाकर देखा तक नहीं कि उसे चेतावनी किसने दी। उसका गाम्भीर्य, उसकी शान्ति, उसकी स्थिरता क्या कृत्रिम है कि उनके भङ्ग होने का भय हो

अप्सरा का कार्य ही विघ्न करना है।' अमितौजा को चेतावनी केवल विघ्न का प्रयत्न जान पड़ी थी। लोक स्रष्टा ने उसे मन्दराचल पर ही जाने की आज्ञा दी थी। अब इस अद्‌भुत गिरि पर पहुँचकर उसे स्वयं का ही पता नहीं तो उसके द्वारा क्या हो रहा है, इसको वह कैसे समझ सकता है।

× × ×

जब मर्यादा-पुरुषोत्तम के आत्मज कुश ने अपनी राजधानी अयोध्या बनायी, उस समय उसका जन्म हुआ था। ब्राह्मण का पुत्र बचपन से ही शान्त और गम्भीर हो, उचित ही था। पाँच वर्ष की अवस्था में ही उपनयन-संस्कार करके माता-पिता ने गुरुकुल भेज दिया उसे। अपनी सेवा से श्री वशिष्ठनन्दन महर्षि शक्ति को संतुष्ट किया उसने।

महाराज कुश को यज्ञ करना था। गुरुदेव शक्ति यज्ञिय ऋत्विक् कलापग्राम से ले आना चाहते थे। स्वयं अपनी योग शक्ति से तो वे उस दिव्य क्षेत्र में गये ही, साथ में

बालक अमितौजा को भी लेते गये; क्योंकि उसका आग्रह गुरुदेवके साथ युग जीवी उन महापरुषों के दर्शन करने का था।

'इसे तुम यहीं रहने दो!' महायोगी वृद्ध श्रुत ने आदेश दे दिया अकस्मात्। 'इस बालक में योगसिद्ध पुरुषों के लक्षण हैं। संसारी इसे बनना नहीं है।'

महर्षि शक्ति को उन ज्ञान-वय-तपोवृद्ध का आदेश स्वीकार करना पड़ा। बालक अमितौजा को बहुत प्रसन्नता हुई कि वह इस अतिमानव क्षेत्र में निवास का सुयोग प्राप्त कर सका।

आरम्भ के केवल तीन दिन महायोगी वृद्धाश्रवा के उसे दर्शन हुए। उसकी खोज-खबर इससे अधिक रखने की आवश्यकता नहीं थी। कुछ दिव्यौषधियों का सेवन कराया गया उसे आवक्ष अलकनन्दा के हिम-प्रवाह में स्थित करके और कुछ सामान्य आदेश दिये गये।

कलापग्राम दिव्यदेही योगियों की भूमि है। स्थूल-वाग्-व्यवहार वहाँ चलता नहीं। अमितौजा को जब आवश्यकता हुई, उसे सदा ऐसा लगा कि कोई उसके भीतर ही बैठा उसे समझाता है, उसे आदेश देता है, उसे सम्हालता है। अध्ययन और साधन साथ-साथ चलते रहे; किन्तु दैहिक दृष्टि से अपनी गुफा में वह एकाकी ही था। काल का उसके लिए महत्त्व नहीं रह गया था। क्षुधा-पिपासा, आलस्य-तन्द्रा-निन्द्रा, रोग-शोक का प्रवेश उस दिव्य क्षेत्र में नहीं है। देह जहाँ क्षण-क्षण क्षीण होता है, आयु को लेकर ही काल-गणना वहाँ होती है। कलापग्राम में तो काल जैसे स्थिर हो गया है।

'आत्मतत्त्व की अपरोक्षानुभूति क्या है?' अन्तःकरण निर्मल हुआ, विक्षेप-विरहित हुआ और श्रुति-शास्त्र का सम्यक् अध्ययन हुआ तो जिज्ञासा को जाग्रत ही होना था। आश्चर्य यह था कि जैसे अन्य सभी प्रश्नों के उत्तर उसे अपने भीतर मिल जाते थे, जैसे वहाँ अलक्ष्य रहनेवाले महापुरुष संकल्प की भाषा में अब तक उसके अध्ययन एवं साधन का संचालन करते आ रहे थे, वैसे इस जिज्ञासा का उत्तर उसे नहीं मिला। किसी ने उसे उत्तर देने की अनुकम्पा नहीं की।

'आत्मा प्रतिशरीर भिन्न है तो कोई सर्वव्यापक सत्य सम्भव कैसे है?' वह चिन्तन क्रके किसी निश्चय पर पहुँच नहीं पा रहा था। 'आत्मा विभु है, श्रुति कहती तो यही है, किन्तु इस तथ्य का अपरोक्ष क्यों नहीं होता?'

लगता था कि उसे यहाँ के महापुरुषों ने एकाकी छोड़ दिया है। कलाप-ग्राम में किसी का भी दैहिक अन्वेषण व्यर्थ है, यह वह जानता था। जब तक वे योग सिद्धवपु स्वयं दर्शन देना न चाहें, उनका दर्शन पाया नहीं जा सकता। उसने मानसिक रूप से आर्त पुकार की; किन्तु लगता था कि उसका संकल्प उनमें-से किसी तक पहुँच नहीं

रहा था। सब-के-सब महापुरुष साथ ही समाधि में स्थित हो गये हो, यह भी असम्भव नहीं था।

'तब श्रुति के परमोपदेष्टा ही मेरा मार्ग-दर्शन करेंगे।' उसने सीधे ब्रह्माजी के दर्शन करने की इच्छा की। दीर्घकालीन साधना ने उसे समर्थ बना दिया था। ब्रह्मलोक पहुँचना उसके लिए कोई समस्या नहीं थी।

'मुझसे क्या त्रुटि हुई कि मेरा प्रश्न अनुत्तरित रह गया है?' उसने भगवान् ब्रह्मा से पूछा- 'किस अपराध के कारण महात्माओं ने मेरा त्याग किया है?'

'कोई त्रुटि- कोई अपराध नहीं।' पितामह ने सस्नेह उसकी ओर देखा। 'प्रत्येक साधक का एक अधिकार होता है। साधन के कुल हैं, जो जिस कुल का है, उस कुल का परमाचार्य ही उसका पथ-प्रदर्शक है। तुम कलाप-ग्राम के योगनिष्ठ कुल के नहीं हो। तुम्हारे परिमार्जन-परिशोधन तक की सहायता ही वहाँ से उपलब्ध हो सकती थी।'

'आप सृष्टि के परमगुरु है। समस्त कुलों के आप कुलपति हैं।' अमितौजा ने स्रष्टा की स्तुति करके प्रार्थना की। ''इस अज्ञ शरणागत पर आप अनुग्रह करें।'

लोकपितामह बहुत व्यस्त रहते हैं। स्रष्टा का कर्म सहज नहीं है। अनन्त-अनन्त जीव, उन जीवों के पृथक्-पृथक् कर्म-संस्कार और फिर उनका परस्पर सम्बन्ध बड़ा जटिल है। किसी को जिसका पुत्र बनाना है, उसके कर्म किसी और से उलझे हैं। जीव को देह देने में भी सृष्टिकर्त्ता पूरे सावधान रहते हैं। जड़ यन्त्र का निर्माण सदा एक-सदृश होता है; किन्तु स्रष्टा तो चेतन हैं। दो प्राणी-दो मनुष्य सृष्टि के आदि से अन्त तक एक आकृति के उन्हें नहीं बनाने हैं। दो व्यक्तियों के अँगूठे की रेखाएँ तक एक-जैसी नहीं। इस व्यस्तता में उपदेश देने का अवकाश कहाँ से निकालें वे? उन्होंने अमितौजा को मन्दराचल पर श्रीहनुमान् जी के समीप जाने को कह दिया।

× × ×

'भद्र तुम?' जहाँ काल की कला नहीं चलती, वहाँ समय कितना बीता व्यर्थ प्रश्न है। श्रीहनुमानजी स्वयं सावधान न होते, उनकी तन्मयता इतनी प्रबल थी कि अमितौजा को बाह्यसंज्ञा आती नहीं थी।

'सृष्टिकर्ता ने मुझे श्रीचरणों में भेजा।' पद-वन्दन के अनन्तर परिचय देकर अमितौजा ने कहा। 'धन्य हो गया यह जन।'

'अनन्त का स्वभाव ही है कि वह स्वयं को भी सम्पूर्ण रूप में देख नहीं सकता और चेतन होने से प्रकाशित करना भी उसका स्वभाव है।' श्रीरामदूत ने समझाया। 'जब अपने को ही अपूर्ण रूप में वह प्रकाशित करता है, 'अहं-इदं' की भ्रान्ति

अवकाश पा जाती है। 'इदं' के रूप में प्रतीयमान समस्त प्रपञ्च 'अहं' से अभिन्न है।'

आवरण हो तो निवृत्त हो। अपरोक्षानुभव शब्द से जिसका संकेत किया जाता है, वह स्थिति अर्थात् अविद्या-निवृत्ति तो तभी हो गयी थी, जब वह इस आश्रम की सीमा में आया था। दो क्षण मौन बना रहा- जैसे उस शब्दातीत स्थिति में पुनः तन्मय हो गया हो।

'यह निर्गुणबोध बहुत कुछ बुद्धिगम्य है।' अमितौजा ने अब नवीन जिज्ञासा प्रकट की। 'किन्तु स्वयं सृष्टिकर्त्ता जिन्हें ज्ञानियों के मुकुटमणि कहते हैं, उनका यह भक्ति तन्मयभाव बुद्धिगम्य नहीं हो रहा।'

'भद्र ! तुम स्वयं प्रमाण हो इस सम्बन्ध में।' श्रीराम दूत ने कोई व्याख्या नहीं की।

'अपरोक्षानुभव शब्दातीत स्थिति है।' अमितौजा गम्भीर हो रहा था। 'किन्तु आपके सान्निध्य में आकर जिस उच्छलित आनन्द का-जिस तन्मयता का अनुभव हुआ, वह अपूर्व है, अचिन्त्य है। इसकी किसी कला की भी तुलना नहीं। यह क्या है प्रभु? कैसे प्राप्त हो यह अवस्था?'

'यही भक्ति है, भद्र !' गद्गद स्वर हुआ वायुनन्दन का। 'भक्ति की नहीं जाती। जो की जाती है, वह तो साधना है। भक्ति के लिए और साधना भी क्या? भक्ति साधन-साध्या नहीं है। वह स्वयं फलरूपा है। वे करुणा-वरुणालय श्री राघवेन्द्र प्रदान करें तो उनके चरणों में भक्ति होती है। भक्ति की साधना- कुछ तो करना ही है मनुष्य को; अतः उनके नाम, रूप, लीला, अर्चा-विग्रहादि का सेवन करता है वह। उसका यह प्रयास - शिशु का प्रयास उसके अनुसार ही तो होगा। वे तो अनन्त कृपासिन्धु हैं। भक्ति तो उनका प्रसाद है।

'यह सगुण तत्व-सगुण परमेश्वर में ही भक्ति सम्भव है; किन्तु अमितौजा कहते हुए भी स्वयं संकुचित हो रहा था। 'विचार करने पर सगुण की उपलब्धि बहुत कठिन लगती है।'

'तुम संकोच कर रहे हो, वत्स !' स्नेह से हनुमान् जी ने समझाया। 'बुद्धि के द्वारा परमतत्त्व के रूप में सगुण की उपलब्धि नहीं होती, यह तुम्हारा मन्तव्य उचित है। निर्गुण बोधगम्य है, अतः उसमें बुद्धि का प्रवेश है। सगुण बोधगम्य नहीं है, श्रद्धैकगम्य है और श्रुति-शास्त्र उसमें प्रमाण हैं। सगुण-निर्गुण-उभय अभिन्न रूप एक अद्वितीय सच्चिदानन्द परमतत्त्व है। सत् के रूप में उसकी उपलब्धि का अर्थ है अपरोक्षानुभव- ज्ञान में अवस्थिति; किन्तु आनन्द के रूप में उपलब्धि तो श्रद्धा के माध्यम से ही सम्भव है।'

'आनन्द ही तो प्राणिमात्र का परमप्राप्तव्य है।' अचानक अमितौजा चौंका। उसे

अर्थ, धर्म और काम कभी पुरुषार्थ जान नहीं पड़े थे। पुरुष का अर्थ-प्राप्तव्य धन नहीं हो सकता। धन धर्म के लिए या भोग के लिए। भोग विषयी, पामर, पशुओं का- अज्ञानियों का प्राप्तव्य होता है। भोग का फल दुःख है। दुःख किसी का प्राप्तव्य नहीं है। धर्म का फल धन या भोग- व्यर्थ बात। धर्म का फल अन्तःकरण की शुद्धि और इस शुद्धि का फल आत्मज्ञान-मोक्ष। मोक्ष ही एकमात्र मनुष्य का पुरुषार्थ है- प्राप्तव्य है, अब तक वह यही मानता आया है। लेकिन मोक्ष-परमशान्ति ही क्या जीव चाहता है? जीव तो चाहता है आनन्द-उच्छलित, अभङ्ग, अखण्ड आनन्द।

'पुरुषार्थ- पुरुष के श्रम से- साधन से जो प्राप्त हो सके, वह परमाभीष्ट मोक्ष ही है।' श्री हनुमानजी ने उसके प्रश्न की अपेक्षा नहीं की। अतः लौकिक दृष्टि से शास्त्र चार ही पुरुषार्थ कहता है। अपने व्यक्तित्त्व को उन कृपामय के चरणों पर उत्सर्ग करके उनके प्रसाद रूप से प्राप्त होने वाली भक्ति पुरुष के प्रयत्न से साध्य नहीं है। इतना होने पर भी परमाभीष्ट होने से भक्ति पञ्चम एवं परम पुरुषार्थ है।'

❑❑

भगवान् की पूजा

एक साधारण कृषक है रामदास। जब शुक्र तारा क्षितिज पर ऊपर उठता है, वह अपने बैलों को खली-भूसा देने उठ पड़ता है। हल यदि सूर्य निकलने से पहले खेत पर न पहुँच जाय तो किसान खेती कर चुका। दोपहर ढल जाने पर वह खेत से घर लौट पाता है। बीच में थोड़े-से भुने जौ या चने और एक लोटा गुड़ का शर्बत- यही उसका जलपान है। जाड़े के दिन सबसे अच्छे होते हैं। उन दिनों जलपान में हरी मटर उबालकर नमक डालकर घर से आ जाती है खेत पर और गन्ने का ताजा रस आ जाता है।

दोपहर में थोड़ा-सा विश्राम मिलता है कृषक को। भोजन करने वह आध घड़ीही बैठ या लेट पाता है। उसे खेत गोड़ने हैं, मेड़ ठीक करनी है, बैलों के लिए चारा काटना है। ये कार्य चलते रहते हैं रात्रि तक। वह रात्रि को भी निश्चिन्त कहाँ सो पाता है। रात्रि में पशुओं का, घर का, खेत का, खलिहान का, पता नहीं किन-किन चीजों का उसे ध्यान रखना पड़ता है। कई बार उसे घर का, खेत का रात में चक्कर काटना पड़ता है।

किसान की चिन्ता, किसान का परिश्रम, किसान की निरन्तर सावधानी नगर में रहकर नहीं समझी जा सकती। लेकिन रामदास तो साधारण किसान से भी अधिक व्यस्त रहता है। पहले भी भूखे, गरीब लोग यदा-कदा दूसरों के खेत से दो-चार मुट्ठी अन्न चोरी से काट लेते थे। पहले भी चारा न रहने पर लोग रात में अपने पशु दूसरों का खेत चरने छोड़ देते थे। लेकिन यह जो पिछली लड़ाई बीती है- पता नहीं क्या हो गया है इस लड़ाई से। मनुष्य-मनुष्य रहा ही नही, वह तो जैसे धन के लिए रात-दिन हाय-हाय करने वाला प्रेत हो गया है। न धर्म का विचार, न दीन-दुःखी का ध्यान, न उचित-अनुचित की चिन्ता। अब तो अच्छे-अच्छे पेट भरे लोग भी दूसरों का खेत कटवा लेते हैं। दूसरों के पशुओं को रात में खोल ले जाते हैं और पता नहीं कितनी दूर बेच डालते हैं। चोरी, डाका, हत्या- गाँव के सीधे लोगों में भी यह सब नित्य की बात हो गयी। आज किसी का खेत पूरे का पूरा कट गया चोरी से, आज किसी के घर डाका

पड़ा, आज किसी के पशु खोल लिये गये। बेचारे किसान रात-रात भर जागकर खेतों का चक्कर काटते हैं। गाँव भर के पशु एक स्थान पर बाँधे जाते हैं और वहाँ बारी-बारी से गाँव के लोग जागते हैं। घरों में सदा यही चिन्ता रहती है- 'पता नहीं कब क्या हो जाय।'

रामदास बहुत सीधा है। उसका सीधा स्वभाव उसके लिए कठिनाई का कारण है। सीधे का मुँह कुत्ता भी चाट जाता है। लोग दिन में ही रामदास के खेत से अन्न काट लेते हैं। उसके खेत में लोग अपने पशु हाँक देते हैं। वह किसी को उलाहना देता है तो उलटे उसे डाँटा जाता है। लोग झगड़ा करने को उतारू हो जाते हैं। रामदास क्या करे, वह मन मारकर रह जाता है। किस-किस से वह झगड़ा करें। कहाँ-कहाँ की वह रात-दिन सम्हाल करें। जहाँ से दो क्षण को हटता है, वहीं लोग घात लगाये बैठे रहते हैं।

रामदास के घर में पत्नी है, दो बच्चे हैं। भरपेट रूखा-सूखा भोजन किसान को मिलता जाय तो वह अपने को बड़ा भाग्यवान् मानता है। वैसे कोई घूमते-फिरते बाबाजी रामदास के यहाँ आ जायँ तो उनको वहाँ से भूखे नहीं जाना पड़ता। गाँव के लोग कोई गाँव में भूला-भटका साधु या भिखारी आवे तो उसे रामदास का घर बता देते हैं और रामदास है कि चाहे उसके घर में उपवास ही हो रहा हो, आने वाले को तो वह कहीं-न-कहीं से भोजन करायेगा ही। आये दिन उसके यहाँ कोई-न-कोई टिका ही रहता है।

गाँव के लोग समझते हैं, रामदास ऊपर से ही फटे हाल रहता है। उसके खपरैल के घर में कहीं-न-कहीं अवश्य बड़ी रकम गड़ी होगी। अनेक बार लोग उस पर व्यंग करते हैं इस बात को लेकर। वह कुछ भी कहे कौन विश्वास करेगा कि जो इस मँहगाई के दिनों में इस प्रकार साधु-भिखारी टिकाये रहता है, उसके घर में कोई बड़ी पूँजी नहीं होगी।

पत्नी झल्लाती है, बच्चे अनेक बार रोते हैं अच्छे पदार्थों के लिए। उन्हें अच्छे वस्त्र भी नहीं मिल पाते। घर में किसी प्रकार गाय का कुछ घी एकत्र भी हो जाय तो वह बच्चों के कण्ठ से नीचे कहाँ पहुँच पाता है। वह तो कोई साधु खा जायँगे। वैसे घी निकलने की नौबत ही कम आती है। दूध या दही घर में हो और अतिथि को न दिया, यह रामदास के घर तो होने से रहा। रामदास तो 'पित्तमरू' है। बाहर के लोग, गाँव के लोग उसके खेत काट लें चरा ले, उसे चार बात कह लें तो घर में पत्नी झकझक कर ले, रो ले तो- रामदास को जैसे कुछ सुनायी ही नहीं पड़ता। वह तो ऐसा बना रहता है, जैसे कोई दीवार को डाँटता या उलाहना देता हो। पत्नी बेचारी जब बहुत दुखी होती है, तभी कुछ कहती है। वह भी जानती है कि उसके कुछ कहने का कोई अर्थ ही नहीं है।

'दाने-दाने पर मुहर लगी है। जो जिसका है, वह उसे ले जाता है। मेरा और तेरा हाय-हाय करना क्या काम आयेगा? रामदास कभी-कभी पत्नी को समझाता है। बड़े विचित्र हैं उसके तर्क। वह कहता है कि उसे एक सच्चे संत मिले थे। तब वह बहुत छोटा था। संत ने कहा था- 'सब भगवान-ही-भगवान् हैं। तू जो कुछ करता है, उससे भगवान् की ही पूजा होती है।' रामदास ठहरा देहाती खड्डूस। उसने उस महात्मा की बात गाँठ बाँध ली। वह कहता है- चाहे सामने ले,चाहे चोरी से लें। चाहे अतिथि बनकर खायँ, चाहे डाकू बनकर ले जायँ, लेते तो भगवान् ही हैं। मेरी खेती तो भगवान् की पूजा के लिए है।'

यह हल जोतना, खाद फेंकना, खेत गोड़ना, घास काटना भगवान की पूजा है, यह बात रामदास की स्त्री नहीं समझ सकती। रामदास भी इसे कुछ ठिकाने से नहीं समझता। वह इतना ही जानता है कि संत ने कहा है- 'तू जो करता है, सब भगवान् की पूजा है।'

'मैं तुम्हारी पूजा कहाँ रोकती हूँ।' स्त्री समझती है कि उसका पति जो थोड़ी-सी रामायण की पोथी पढ़ लेता है, दो-चार भजन बोल लेता है, शंकर जी की पिण्डी पर एक लोटा जल डालकर कनैर के दो फूल चढ़ा देता है, पूजा तो यही है। इस पूजा में स्त्री को भला क्या आपत्ति हो सकती है। 'तुम डाँटते क्यों नहीं चरवाहों को। कल कल्लू कह रहा था कि मोहन की भैंसें आधा खेत चर गयीं।'

कभी भैंसें, कभी गायें, कभी बैल, कभी बकरियाँ खेत तो आदमी तक 'चर-चोंथ' जाते हैं। रामदास की पत्नी अपने पति पर इसलिए झल्लाती है- क्यों उसका पति दूसरों की भाँति अपने खेत की रक्षा नहीं करता।

'मैं भगवान् से नहीं झगड़ूँगा।' रामदास कदाचित् ही कभी बोलता है। वह तो सिर झुकाकर सुन लेना ही जानता है।

'भगवान्, भगवान्, भगवान्....।' उसकी पत्नी कभी-कभी डर जाती है- उसका पति पागल तो नहीं होने लगा है?

× × ×

(2)

वे एक साधु हैं। बहुत दिन हो गये उस बात को जब उन्होंने घर छोड़ा था। बड़ा सच्चा वैराग्य था उनका। उनके भाग्य ने उनका साथ दिया, उन्हें किसी ऐसे-वैसे के चक्कर में नहीं पड़ना पड़ा। एक अच्छे संत ने उन पर कृपा की।

बाबा रामदास जी- अब यही उनका नाम है। घर पर भजन करने की कोई सुविधा नहीं थी। वे पूजा करने बैठते थे तो कमरे के बाहर बड़े भाई के बच्चे परस्पर लड़ते-झगड़ते या खेल-कूद में हँसते-चिल्लाते थे। कभी भाई कोई ऐसा काम बता देते थे जो उन्हें पंसद नहीं था और कभी कोई परिचित मित्र या सम्बन्धी कोई आग्रह करने लगते थे। उनको इच्छानुसार सात्त्विक भोजन तक नहीं मिलता था। क्रोध करके, थाली पटककर, उपवास करके वह हार थके थे; किन्तु उनकी भाभी की समझ में यह बात नहीं आयी कि तनिक-सा मसाला साग में डाल दिया तो हो क्या गया।

कोई उनकी बात नहीं सुनता था। छोटे बच्चे तक उनकी हँसी उड़ाते थे। कोई वस्तु ठीक समय पर, ठीक तरह से उन्हें नहीं दी जाती थी। भला इतनी प्रतिकूलता में कहीं भजन हो सकता है। वे भजन करना चाहते थे। इस मनुष्य जीवन को व्यर्थ खो देना तो बड़ी भारी हानि है। घर पर भजन हो नहीं सकता, यह उन्होंने निश्चित समझ लिया। एक दिन चुपचाप घर से निकल पड़े और साधु हो गये।

भजन के लिए एकान्त चाहिये। आश्रम में तो वहाँ के अध्यक्ष मजदूर से भी अधिक सेवा कराना चाहते हैं। वन में न फल हैं, न कंद, और वृक्षों के नीचे रह भी लिया जाय तो पाँच दिन में ही दर्शन करने वालों की भीड़ लगने लगती है। संसार के लोगों का तो स्वभाव है कि वे जिससे प्रेम करते हैं, उसे नष्ट कर देते हैं। जिस काम पर श्रद्धा करते हैं, उस काम के करने का अवकाश करने वाले को नहीं देना चाहते।

पत्तिया, बेर, कड़वे-कसैले कंद- भला इनसे कोई कै दिन पेट भरेगा? क्षेत्रों की रोटियाँ मिल सकती हैं; किन्तु बहुत कदन्न होता है वह। पेट में दर्द, ज्वर, कब्ज-अनेक रोग हैं भोजन-सम्बन्धी संयम न रखने के साथ। जब शरीर ही स्वस्थ नहीं रहेगा तो भजन कहाँ से होगा। भिक्षा, मधुकरी-लेकिन अब लोगों में श्रद्धा रही नहीं। साधु को एक टुकड़ा भी बहुत-से लोग देना नहीं चाहते। बहुत अपमान सहना पड़ता है। बहुत भटकना पड़ता है, पेट की चिन्ता में ही बहुत -सा समय नष्ट हो जाता है।

यह सब पुरानी बातें हैं। बाबा रामदास जी अब वृद्ध हो चले हैं। वृद्धावस्था में शरीर को कुछ सुविधा चाहिये ही। एक पक्की कुटिया भक्तों ने बनवा दी है। एक कुआँ है। सामान रखने और सत्सङ्ग के लिए दो कमरे और बन जायँ तो पूरी सुविधा हो जाय। भक्त लोग आते हैं, कहा भी जाता है। धीरे-धीरे यह भी हो जायगा। ये पास के खेतवाले, ये सरकारी कर्मचारी-आज युग ही बड़ा अद्‌भुत है। ये सब एक साधु को भी तंग करते रहते हैं। कोई-न-कोई झगड़ा इनका खड़ा ही रहता है। क्या हुआ यदि आश्रम की गाय ने मुँह कहीं मार लिया। साधु की गाय है न। दर्शन करने आने वालों के बच्चे- भला बच्चों को कैसे रोका जाय। वे खेत से चने या मटर के चार दानें तोड़ ही लेते हैं तो इसमें ये लोग इतना लाल-पीले क्यों होते हैं। ये सरकारी कर्मचारी साधु से भी भूमिकर चाहने लगे हैं। इनकी सेवा-सत्कार न की जाय तो....।

दो फूस की झोपड़ियाँ पड़ गयी हैं। आगे-पीछे उन्हें पक्की करा देना है। ये साधक न रहें तो आश्रम की स्वच्छता, भंड़ारा, गो-सेवा आदि की व्यवस्था कैसे हो? यह सब तो करना ही पड़ता है। इतनी सब सुविधा न हो तो भजन कैसे हो। इसमें दोष क्या है कि भोजन और आवास (घर) की ओर से निश्चिन्त होकर मनुष्य भजन में लग जाय। लेकिन भजन-भजन तो होता ही है। बाबा रामदास जी की यह प्रशंसा करनी होगी कि वे बड़े भजन-निष्ठ संत है। उनके हाथ में सुमिरनी घूमती ही रहती है। उनका जप प्रायः- चलता रहता है। एकान्त में भी नियम-पूर्वक वे डेढ़-दो घंटे बैठते हैं। उस समय वे क्या करते हैं; यह तो कोई बताने की बात नहीं हैं। जप, ध्यान, पाठ, ठाकुर-सेवा-साधु एकान्त में भजन करने बैठेगा तो और क्या करेगा।

कुटिया के बनवाने का प्रयत्न, पड़ोस के खेतवालों का झगड़ा, सरकारी कर्मचारियों का स्वागत-सत्कार, आश्रम में रहने वाले साधक-सेवकों की सम्हाल, उनको यदा-कदा भूलों के लिये डाँटना-डपटना- यह सब तो आवश्यक कर्त्तव्य है। इनको न किया जाय तो आश्रम रहे कैसे। आश्रम की सारी सामग्री की पूरी खोज-खबर बड़ी सावधानी से रखनी पड़ती है। ये साधक-सेवक बड़े उड़ाऊ और निश्चिन्त होते हैं। जिधर से दृष्टि हटी, उधर ही कुछ-न-कुछ गड़बड़ अवश्य हो रहेगी।

सत्सङ्ग की बात तो कहनी ही नहीं चाहिये। साधु जो कोई चर्चा करे, वही तो सत्सङ्ग है। वैसे दर्शनार्थी भक्त आते हैं, उनका सुख-दुःख सुनना पड़ता है। उनकी रूचि का ध्यान रखकर उनकी बातें सुनना और उनसे बोलना पड़ता है। उन्हें आशीर्वाद देना पड़ता है, अनुष्ठान या उपासना बतलानी पड़ती है। भगवत्चर्चा भी बीच-बीच में होती ही है। इन आगत लोगों में बहुत-से प्रतिष्ठित, सम्पन्न, सम्मानित, अधिकारी लोग भी होते हैं। अपने यहाँ आनेवाले का स्वागत-सत्कार तो करना ही चाहिये। जो जिस श्रेणी का होता है, उसका सम्मान भी उसी प्रकार किया जाता है। यह सब सत्सङ्ग का अङ्ग ही तो है।

बाबा रामदासजी बहुत व्यस्त रहते हैं। वे बहुत सबेरे उठ जाते हैं। रात को भी देर तक भक्त लोग उनके पास बैठे रहते हैं। दोपहरी में केवल दो घण्टे वे बड़ी कठिनाई से विश्राम कर पाते हैं। कभी-कभी तो उस समय भी कोई सत्सङ्गी भक्त आ जाते हैं। भक्तों के आने का तो कोई समय नहीं है, वे आते ही रहते हैं। आश्रम के सभी कामों की खोज-खबर रखना और भक्तों को सत्सङ्ग से सन्तुष्ट करना क्या थोड़ी उलझन का काम है।

एक बात है- बाबा रामदास जी सीधे हैं। उनमें किसी के नाम-यश से डाह नहीं है। बड़ा भारी मठ बनाने या शिष्यों की संख्या बढ़ाने का लोभ नहीं है। बहुत अधिक धन आता रहे, यह भी लालसा उनमें नहीं। उन्होंने अपनी किसी सिद्धि का भी कभी

वर्णन नहीं किया। वे बड़ी सरलता से कभी-कभी कहते हैं, 'मेरा जीवन व्यर्थ ही गया। रघुनाथ जी के चरणों में मेरी भक्ति हुई नहीं। भजन बनता नहीं मुझसे।'

लोग कहते हैं- 'बाबा रामदास जी बड़े अच्छे साधु है। वे बहुत अधिक भजन करते हैं।

× × ×

(3)

बाबा रामदास जी के आश्रम पर उनके गुरुदेव पधारे हैं। बड़ी भारी जटा, लंबा-तगड़ा गोरा शरीर। कोई नहीं जानता कि वे कितने वर्ष के हुए। उनके सारे शरीर के रोम श्वेत हो गये हैं। पूरे शरीर में झुर्रिया पड़ गयी हैं। उनका न कहीं मठ है, न मढिया। रमतेराम संत हैं। घूमते-घामते आज बाबा रामदास जी की कुटिया पर आ गये, इधर-उधर देखा और बोले- 'रामदास! तू तो अब बड़ा साधु हो गया है। तेरा आश्रम तो अच्छा बन गया है।;

'मैंने ये ईंट-पत्थर ही बटोरे है। मेरा हृदय तो अब भी वैसा ही अशान्त है। मैं क्या सचमुच कभी साधु बन सकूँगा? मुझसे क्या सचमुच कभी भगवान् की आराधना होगी?' बाबा रामदास जी गुरुदेव के चरणों में मस्तक रखकर फूट-फूटकर रोने लगे।

'तू जप तो करता है। पाठ भी करता है, ध्यान भी...।' गुरुदेव पता नहीं और क्या-क्या कहने वाले थे।

बाबा रामदास जी बीच में ही बोले- 'सब करके भी नहीं किये जैसा है। मेरे मन में अब भी वैसा ही क्रोध, लोभ आदि भरा है। श्रीरघुनाथ जी के चरणों में मेरी प्रीति नहीं हुई सो नहीं ही हुई।'

'तू रघुनाथजी की प्रीति कहाँ चाहता था। तुझे भजन करना कहा था। तू तो सुविधा चाहता था। असुविधा से ऊबकर घर से भागा था। सुविधा चाहिये थी तुझे सो मिल गयी।' गुरुदेव सहज भाव से बोलते गये। 'रामनाम तो कल्पवृक्ष है। नाम का जप और भगवान् का भजन व्यर्थ नहीं जाता। लेकिन तू सुविधा चाहता था न?'

बाबा रामदास जी से बोला नहीं गया। उनके नेत्र फटे-से रहे। एकटक गुरुदेव के मुख की ओर देखते रह गये थे। गुरुदेव जैसे उनकी ओर देखते ही नहीं थे। वे कहते जा रहे थे- 'तुझे तो घर में असुविधा थी, साधु होने पर असुविधा थी। जब तुझे रघुनाथजी के व्यवहार से ही असुविधा हो तो रघुनाथजी मिले कैसे?'

'रघुनाथजी के व्यवहार से असुविधा?' बाबा रामदास जी चौंके।

'क्यों? तू चौंकता क्यों हैं? सब कहीं रघुनाथ जी नहीं है क्या? प्राणियों की सब

चेष्टायें उनकी ही सत्ता और प्रेरणा से नहीं होती क्या?' अबकी गुरुदेव ने डाँट दिया।

'लेकिन घर में तो सेवा-पूजा, भजन हो ही नहीं पाता था।' बाबा रामदास जी को बहुत पुरानी बात स्मरण हुई।

'तू क्या जानता है कि माला घुमाना ही पूजा है? यह जप और पूजा तो पूजा है; किन्तु इससे भी बड़ी पूजा है एक। सारे जीवन को ही रघुनाथ जी की पूजा बना देना। जब तक पूजा के कुछ घण्टे हैं रघुनाथ जी के लियेऔर जीवन के अधिकांश घंटे है अपने लिये, तब तक जीवन अपने लिए है। वह रघुनाथ जी के लिए है ही नहीं तो उसमें रघुनाथजी का प्रेम आवे कहाँ से।' गुरुदेव के नेत्रों में वात्सल्य आ गया था।

'सारा जीवन पूजा बन जाय- कौन-सी विधि है वह?' बाबा रामदास जी ने घुटनों के बल बैठकर दोनों हाथ जोड़ लिए।

'कोई विशेष विधि नहीं। तू देखेगा उस विधि को?' बिना उत्तर की प्रतीक्षा किये वे महापुरुष चल खड़े हुए।

× × ×

(4)

'रामदास का घर है न इस गाँव में?' महात्मा ने एक ग्रामीण से पूछा। बाबा रामदास जी चौके; किन्तु उनके चौंकने का कोई कारण नहीं था। यह उनकी जन्मभूमि नहीं है। यह तो दूसरे ही किसी रामदास की बात हो रही है।

'महाराज! वह पागल हो गया है। उसके बच्चे भूखें मर जायँगे। उसकी स्त्री रो-रोकर पछाड़ खा रही है। आप उस पर दया कीजिये। यह सब हत्या हम लोगों को लगेगी।' ग्रामीण संत के चरणों पर गिर पड़ा।

'वह पागल तो पहले से है।' संत हँसे- 'किन्तु तुम लोगों को हत्या क्यों लगेगी?'

'महाराज! पाप तो हमने ही किया है।' ग्रामीण के नेत्रों से झर-झर आँसू झरने लगे। इस साल ओले पड़े थे, खेतों में बहुत कम अन्न हुआ। उसका खलिहान मेरे पास ही था। अब उसके अन्न की राशि तैयार हुई, मेरे मन में पाप आ गया। मेरे पास भी अन्न बहुत थोड़ा हुआ थ। उसकी आँख बचाकर उसका सब-का-सब अन्न मैंने अपनी ढ़ेर में डाल दिया। वह मुझसे झगड़ सकता था, उसके मुँह खोलते ही सारा गाँव मुझे धिक्कारता; किन्तु वह तो एक शब्द कहना जानता ही नहीं।'

'क्या हो गया इससे, तुम उसका अन्न उसे लौटा दो!' संत ने उसी सरल भाव से कह दिया।

'महाराज! मैं दो मन अपना भी दे दूँगा; किन्तु आप उसे ठीक कर दीजिये। वह

पागल हो गया है। उछल रहा है, कूद रहा है और बार-बार पृथ्वी में लोट रहा है। वह ठीक नहीं होगा तो उसके बाल-बच्चे भूखों मर जायँगे। दूसरा कोई उसके घर में करने-धरने वाला नहीं।' ग्रामीण ने साधु के पैर पकड़ लिये।

'तुम डरो मत! वह ठीक हो जायगा। जो श्रीरघुनाथ के लिए पागल होता है, उसके बाल-बच्चों का पालन अयोध्या के चक्रवर्ती महाराज को करना पड़ता है।' साधु की पूरी बात ग्रामीण की समझ में भले न आवे, उसे आश्वासन मिल गया।

साधू जब रामदास के घर गये, वह सचमुच नाच रहा था, कूद रहा था, पृथ्वी में लोट-पोट हो रहा था। हँस रहा था वह बार-बार। उसे एक ही धुन थी- 'राम ने गेहूँ खाये! राम ने गेहूँ खाये मेरे।'

'लेकिन अब तुम श्रीराम को फिर गेहूँ नहीं खिलाओगे क्या? खेती ही नहीं करोगे तो श्रीराम को गेहूँ खिलाओंगे कैसे? भला कहीं हँसने और नाचने से खेती होती है।' साधु हँसते-हँसते बोले।

'श्रीराम! गुरुदेव!' एक क्षण में उसका उन्माद दूर हो गया। वह संत के चरणों में लेटा पड़ा था- मैं खेती करूँगा गुरुदेव! खेती ही तो मेरी पूजा है।

संत ने मुख पीछे घुमाकर बाबा रामदास जी की ओर देखा और गीता की भगवद्वाणी उनके मुख से उद्घोषित हुई-

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।।

(१८।४६)

❑❑

दाता की जय हो!

कुएँ पर रक्खा पत्थर पानी खींचने की रस्से से बराबर रगड़ता रहता है और उस पर लकीरें पड़ जाती है; इसी प्रकार कोई एक ही शब्द बराबर रटा करे तो उसकी जीभ या मस्तिष्क पर कोई विशेष लकीर पड़ती है या नहीं, यह बताना तो शरीरशास्त्र के विद्वान् का काम है। मैं तो इतना जानता हूँ कि जहाँ वह नित्य बैठा करता था, वहाँ का पत्थर कुछ चिकना हो गया है। श्री बाँके बिहारी जी के मन्दिर के बाहर कोने वाली सँकरी सीढ़ी के ऊपर वह बैठता था और एक ही रट थी उसकी– 'दाता की जय हो!'

मैं अनेक बार दर्शन खुलने से पर्याप्त पूर्व पहुँचा हूँ। वैसे भी श्री बाँके बिहारी जी बड़े मनमौजी ठाकुर हैं। कभी उठेंगे तो साढ़े नौ बजे ही उठ जायँगे और नहीं तो बारह बजे तक भी दर्शनार्थी गर्भगृह के फाटक की ओर टकटकी लगाये रहेंगे। अनेक बार मुझे एक घंटे से भी अधिक दर्शन की प्रतीक्षा में बैठना पड़ता है। इतने पर भी कभी ऐसा नहीं हुआ कि मैंने उसे उस सीढ़ी के ऊपरी भाग पर अनुपस्थित पाया हो। वह कब वहाँ आकर बैठता था और कब वहाँ से उठता था, यह मुझे पता नहीं। इतना महत्त्वपूर्ण वह नहीं था कि कोई भी उसके आने या चले जाने पर ध्यान दे। मुझे आशा नहीं कि सीढ़ी के पास या सामने की दिशा में जो तनिक हटकर दुकान है, उसके दुकानदार भी उस भिखारी के वहाँ बैठने तथा वहाँ से जाने का समय बता सकें।

जैसे दीमकों ने किसी मिट्टी के ढ़ेले को चारों ओर से खा लिया हो या चूहों ने किसी फल को ऊपर-ऊपर से कुतर लिया हो, भगवती रासभवाहिनी ने उसके मुख को ऐसी आकृति दे दी थी। शीतलादेवी ने उसकी आकृति ही नहीं बिगाड़ी थी, उसके नेत्र भी हर लिये थे। उसके नेत्रों-में-से एक तो बाहर निकल-सा आया था और दूसरा धँसकर लाल रंग का पतला गड्ढा मात्र रह गया था। उन नेत्रों की ओर देखना किसी के लिए भी अरूचिकर था और इसीलिए यदि मैं उसकी पूरी हुलिया ठीक-ठीक न बता पाऊँ तो मुझे पूरी आशा है कि आप मुझे क्षमा कर देंगे; क्योंकि आप समझ ही सकते हैं कि वह कोई

दर्शनीय पुरुष नहीं था। मैंने तो जितना एक दृष्टि में देखा जा सकता है, अनिच्छापूर्वक उसे देखा है और क्योंकि ऐसा बार-बार करना पड़ा है, इससे मुझे इतना और पता लग गया है कि उस पर लकवे ने भी कभी कृपा की थी। उसका एक हाथ और पैर लगभग तभी से पेंशन पाने योग्य हो गये। वह घसिटता हुआ ही चल पाता था।

मन्दिर के मुख्य द्वार के सामने की सीढ़ी पर्याप्त चौड़ी है; किन्तु भिखारी बैठना चाहते हैं और बैठते हैं कोनेवाली सीढ़ी के पास। वह सीढ़ी बाजार की ओर से आनेवालों को पहले मिलती है, अतः लोग उसी से ऊपर चढ़ते हैं और उसी से उतरते भी हैं। सँकरी है वह सीढ़ी और भीड़ भी उस पर अधिक रहती है। उसके ऊपरी भाग में दोनों ओर कठिनता से दो-दो मनुष्य दब-सिकुड़कर बैठ सकते हैं। दो वृद्धा बंगाली भिखारिनें बैठती हैं, एक कोई और भिक्षुक तथा एक वह अन्धा बैठा करता था।

मैले फटे चिथड़े थे उसके शरीर पर और जो बायाँ हाथ काम कर सकता था, उसमें अल्मोनियम की एक पिचकी मैली कटोरी रहती थी। अपनी कटोरी वह प्रायः आगे बढ़ाये रहता था और जैसे जप करता हो, एक ही रट लगाये रहता था- 'दाता की जय हो!"

बाबू लोग और बाबा लोग दोनों ही उस गंदे भिखारी को छू जाने के भय से वहाँ पहुँचकर झिझक उठते थे और उनके एक ओर हटने के प्रयत्न में वहाँ दूसरे यात्रियों को धक्का लगाना एक सहज क्रिया हो गयी थी। चटक-मटक करती, चप्पलें चटकाती महिलाएँ उसे देखकर मुख फेर लेती। उनकी नाक से अकारण ही रुमाल जा टकराता था। कभी कोई श्रद्धालु बाबू या कोई वृद्धा उसकी कटोरी में एक पैसा या कोई फल अथवा किसी अन्न के कुछ दाने डाल भी देते थे और तब उसके कण्ठ में उत्साह आ जाता था। वह अधिक उच्चध्वनि से कहता था- 'दाता की जय हो!'

लोग उससे घृणा करते थे, उसे देखकर दूर हटते थे, नाक-भौं सिकोड़ते थे; किन्तु उसे इससे क्या? सभी बातों में कुछ-न-कुछ अच्छाई होती है। उसके अन्धे होने में भी यह अच्छाई थी कि वह लोगों के इस घृणाभाव एवं तिरस्कार को देख नहीं पाता था। नेत्रों की शक्ति ने स्वयं नष्ट होकर उसे अपमान से असम्पृक्त बना दिया था। वह तो एक समान सभी पदध्वनियों को समझता था। उसके लिये तो बालक और बूढ़े, स्त्री और पुरुष, उजले और मैले, सुन्दर और कुरूप, सब एक-जैसे थे। वह तो सभी पदध्वनियों का स्वागत करता और कहता- दाता की जय हो!'

(2)

'वह कौन है?' आज जब वह अन्धा भिखारी अपने स्थान पर बैठा दिखायी नहीं पड़ा, तब नित्य की अभ्यस्त आँखें वहीं रूक गयी। उसके बैठने का स्थान कुछ सूना-

सूना लगा, कुछ ऐसा जो अनुभव होता है; किन्तु कहा नहीं जा सकता। पैर स्वतः वहाँ रूक गये और तब जिज्ञासा हुई– 'वह आज यहाँ क्यों नहीं है?'

यात्री सीढ़ी से धड़ाधड़ ऊपर जा रहे थे या नीचे उतर रहे थे, दूकानदार ग्राहकों को सामान दे रहे थे और थोड़ी दूरी पर चबूतरे पर बँधी बछिया पागुर करती हुई आने-जाने वालों को अधखुले नेत्रों से यदा-कदा देख लेती थी। किसी को स्मरण नहीं आया कि एक मनुष्य आज अनुपस्थित है। किसी का ध्यान अन्धे भिखारी के रिक्त स्थान की ओर नहीं गया। किसी को ध्यान देने का अवकाश नहीं था और वह स्थान अब रिक्त भी कहाँ था। वहाँ एक-दूसरा अन्धा भिखारी अभी-अभी आकर बैठ गया है। यह उससे तगड़ा है। इसके नेत्र और मुख उतने कुरुप नहीं। इसके दोनों हाथ और दोनों पैर स्वस्थ हैं। यह 'दाता की जय' नहीं मनाता। यह कहता है– 'भैया, भैया, देते जाओ। अन्धे को कुछ देते जाओ। राधेश्याम!'

हाँ, तो उसका स्थान रिक्त नहीं रहा। उस भिखारी का स्थान भी रिक्त नहीं रहा। विश्व में किसी का स्थान रिक्त नहीं रहता। चाहे कोई कितना भी बड़ा हो, उसके न रहने पर विश्व का कोई काम दो क्षण के लिये भी अटकता नहीं। वह तो भिखमँगा था। उसकी ओर कौन ध्यान देता; लेकिन जो प्रख्यात हैं, जिनके बहुत अधिक स्वजन-बान्धव हैं, उन्हीं की ओर कौन ध्यान देता है। कौन किसके लिये अपने को व्यस्त करता है? वैसे तो नन्हें बच्चे का खिलौना टूट जाता है तो वह भी रोता है। इसी प्रकार जिनके स्वार्थ को धक्का लगता है, वे रो-पीट लेते हैं। वह अन्धा था, अपाहिज था। उससे किसी का स्वार्थ नहीं था। वह जीता हो तो और मर गया हो तो, अब उसकी खोज-खबर कौन ले? किसलिये?

'वह अन्धा कहाँ गया?' कुतूहलवश पास बैठी बुढ़िया से पूछ लिया।

'पता नहीं क्या हुआ?' बुढ़िया को भी आश्चर्य था और खेद भी था। उसने कहा– 'बाबू! बहुत सीधा था वह। मुझसे कभी झगड़ता नहीं था। दैव ने उसे भिखारी बना दिया, नहीं तो बड़े आदमी का लड़का था वह।'

'बड़े आदमी का लड़का?' कुतूहल और सहानुभूति जगी। सच तो यह है कि हमारे मन में मनुष्यों के प्रति सहानुभूति नहीं रही है। हमारी मानवता मर गयी है। बड़प्पन के प्रति, धन के लिए हमारी जो लिप्सा है, वही कभी नम्रता, कभी भय, कभी आतंक, कभी सहानुभूति और कभी अन्य कोई रूप में व्यक्त होती है।

उस अन्धे ने अपने समीप बैठने वाली इस वृद्धा भिखारिणी से अपना पिछला जीवन-परिचय बताया था। स्वाभाविक था कि समाज से उपेक्षित दो भिखारियों में परस्पर सहानुभूति हो और वे एक-दूसरे से अपनी बीती बतावें। बुढ़िया कोई इतिहास अन्वेषक नहीं थी और न अन्धे ने ही उसे एक दिन में क्रमबद्ध जीवन चरित सुनाया

होगा। यह भी सम्भव है कि अन्धे ने कुछ बातें छोड़ दी हों और कुछ सर्वथा गढ़कर सुनायी हों। अपने को गौरवशाली सिद्ध करने का प्रलोभन जिन्हें झूठ बोलने के लिए फुसला न पाये, कम-से-कम वह अन्धा ऐसे महत्तम लोगों में था या नहीं, यह कौन जानता है। लेकिन मेरे पास अब सच-झूठ का विवेचन करने का कोई साधन नहीं है। अन्धे के गत जीवन की बातों में बहुत-सी झूठी हों, तो भी आप निश्चिन्त रह सकते हैं। उससे आपकी, समाज की या इतिहास की कोई हानि नहीं होगी; क्योंकि वह बेचारा अन्धा और चाहे जो रहा हो, पर ऐतिहासिक पुरुष तो एकदम नहीं था।

बुढ़िया ने मुझे जो बताया, उसका तात्पर्य यह था कि वह कहीं पूरब का (जापान, सिंगापुर या रंगून का नहीं और कलकत्ते का भी नहीं। पूरब का अर्थ बलिया, छपरा या बिहार का) रहने वाला था। उसके पिता अच्छे जमींदार थे। गङ्गा-किनारे पक्का बड़ा मकान था। घर पर हाथी, घोड़े, गाय, बैल सभी थे। अपने पिता का वह अकेला लड़का था। माता जन्म के कुछ दिन पीछे ही भगवान् के घर चली गयी। पिता ने उसे पाला-पोसा। उसका बड़ा दुलार-बड़ा सत्कार था। बड़े होने पर वह स्कूल जाने लगा और उसे घर पर भी पढ़ाने के लिए मास्टर आने लगे। चौथी कक्षा में परीक्षा दे चुकने के पश्चात् उस पर शीतला देवी की कृपा हुई। इस रोग ने उसके नेत्र ले लिये। घर पर मुकद्दमे में पिता के लगने के कारण जमींदारी बिक गयी। बिहार के प्रसिद्ध भूकम्प में उसकी कोठी गिर पड़ी और पिताजी की उसी में समाधि हो गयी। इस शोक के समय ही उसे लकवे का धक्का लगा। भूकम्प में जो स्वयंसेवक सेवाकार्य करने आये थे, उन लोगों की सेवा तथा चिकित्सा से प्राण बच गये। कई महीने में वह घिसटकर चलने योग्य हुआ। जन्मभूमि में रहना अब उसके लिये कठिन हो गया। अपना कोई सगा-सम्बन्धी था नहीं। कोई रहा भी हो तो ऐसी दशा में क्या संसार के सम्बन्धी सहायक होते हैं? किसी प्रकार माँगते-खाते वह चल पड़ा। रेल में बाबुओं के तिरस्कार और गाली की उपेक्षा किये बिना काम कैसे चलता? अन्ततः वह श्रीवृन्दावन-धाम पहुँच गया।

बुढ़िया ने उसके घर का ऐश्वर्य बहुत बढ़ा-चढ़ाकर सुनाया। उसने कभी उसकी माता या पिता की प्रशंसा की और कभी उसके अज्ञात सगे-सम्बन्धियों को तथा रेल के टिकटबाबुओं को कोसा। उसकी सब बातें यहाँ लिखना किसी का काम नहीं है। उसे आज एक साफ-सुथरे वस्त्रवाला श्रोता मिला था। वह उमंग में आ गयी थी और इस उमंग ने ही अन्धे भिखारी के प्रति उसकी सहानुभूति और बढ़ा दी। उसकी कथा को विराम देने के लिये मैंने पूछा- 'वह गया कहाँ?'

'बाबू! मुझे क्या पता कि वह कहाँ गया?' वह कुछ खिन्न होकर बोली- 'आज पहली बार वह यहाँ नहीं आया है।'

'रहता कहाँ है वह?' मैं जानता था कि कहीं सड़क के किनारे या किसी खँडहर में उसका डेरा होगा।

'कालीदह के पास जो टूटी बुर्जी है....!' बुढ़िया ने एक पता बताया आसपास के सब चिह्नों का वर्णन करके। उसे आश्चर्य हो रहा है कि एक बाबू क्यों इस प्रकार एक भिखारी के सम्बन्ध में उत्सुक हो रहा है। मैंने उसके सामने एक दुअन्नी फेंक दी और उस भिखारी का पता लगाने मुड़ पड़ा। पता नहीं क्यों मेरे मन में उसके लिये पूरा कुतूहल जाग पड़ा था।

(3)

'बाबू! बुढ़िया भिखारिन ने मुझे पुकारा। मैं कठिनाई से दस पद गया होऊँगा।

'क्यों?' लौटकर मैंने उससे पूछा।

'कल वह अन्धा शाम को मन्दिर में चला गया था।' बुढ़िया को कभी कदाचित् ही किसी एक व्यक्ति ने दो आने पैसे दिये होंगे। उसे आज दुअन्नी मिली थी, अतः उसे जो कुछ पता था, वह सब बता देना चाहती थी।

'अच्छा ही हुआ। उसने भगवान् को प्रणाम कर लिया!' मुझे बुढ़िया ने ही बताया था कि वह अन्धा जाति से ऊँचा था। कदाचित् ब्राह्मण था वह। इसलिए मन्दिर में उसके चले जाने की बात मुझे खटक नहीं सकती थी।

'प्रणाम कहाँ किया उसने। वह तो वहाँ भी 'दाता की जय!' कहकर कटोरी आगे करके भगवान् से भीख माँग रहा था। मन्दिर के दाढ़ीवाले अधिकारी ने उसे डाँट दिया और लोगों ने ठेल-ठालकर निकाल दिया मन्दिर से बाहर।' बुढ़िया का स्वर कह रहा था कि ऐसा होना ही स्वाभाविक हुआ। भला कहीं कोई ठाकुरजी से भीख माँग सकता है।

'सभी तो माँगने ही जाते हैं। एक अन्धा भिखारी भी माँगने गया उस सर्वेश्वर के समीप तो कौन-भूल की उसने? लेकिन दूसरे मुस्टण्डे भिखारियों से यह देखा नहीं गया। उन्होंने उस दीन को दीनबन्धु के यहाँ से भी धक्का देकर निकाल दिया!' मैंने ये बातें अपने मन में कहीं; क्योंकि वह वृद्धा इनको समझेगी, ऐसी आशा नहीं की जा सकती।

'वह जो पत्थर है न, उस पर संन्यासी बाबा कल शाम को दर्शन खुलने से कुछ पहले आ बैठे थे। उनके साथ कई बाबू लोग थे। वे महात्माजी जोर-जोर से बातें कर रहे थे।' मन्दिर से बाहर चबूतरे पर कई पत्थर के चौड़े तख्ते-से बने हैं। उन पटियों पर दर्शनार्थी थोड़ा-बहुत विश्राम कर लेते हैं, आगे-पीछे छूटे साथियों की प्रतीक्षा कर लेते हैं या दर्शन खुलने में कुछ देर हो तो दो-दो चार-चार बैठकर कुछ चर्चा भी करते हैं। बुढ़िया ने उस अन्तिम पत्थर की ओर संकेत किया। जो इस सीढ़ी से सबसे समीप है।

'वे महात्माजी कह रहे थे कि भगवान् बड़े दयालु हैं। श्रीबाँके बिहारी जी से बड़ा दानी सारे संसार में और कोई नहीं। लोग झूठे ही दूसरों के आगे हाथ फैलाते हैं। बाँके बिहारी के आगे हाथ फैलाकर फिर और किसी के आगे नहीं फैलाना पड़ता। बुढ़िया कहती

गयी– "बाबू! साधु, संत तो ऐसी ज्ञान की बातें कहते ही है। कोई ऐसी बात सुनकर कहीं भगवान् से भीख माँगने थोड़े ही जाता है? लेकिन वह तो घसिटता हुआ मन्दिर में चला ही गया। मैं उसे मना करती उसके पीछे-पीछे गयी। उसने जाते ही कटोरी बढ़ा दी और चिल्लाकर बोला– 'दाता की जय!' मैं बचाकर निकाल न लाती तो लोग पीट-पीटकर उसको भरता बना देते। बाहर आकर वह बैठा नहीं, सीधे घसिटता हुआ चला गया यहाँ से।

बाबू! कहीं भिखारी का रूठना और शान दिखाना चल सकता है?'

बुढ़िया की धारणा थी कि वह अन्धा शान में आकर चला गया है और इसीलिए आज नहीं आया है। यह बात वह पहले कहना नहीं चाहती थी। मेरे लिये अब वहाँ ठहरना कठिन हो गया था। मैं तो उस मानधनी को देखने के लिए उत्सुक हो उठा था।

(4

आप क्या सोचते हैं– मुझे वह अन्धा भिखारी मिल गया? हाँ, मिल तो गया; किन्तु न अन्धा मिला और न भिखारी ही मिला। यदि बुढ़िया के बताये खँडहर में अपने चिथड़ों में लिपटा वह तब तक पड़ा न होता तो मैं उसे पहचान सकता– ऐसा सम्भव नहीं था। वही चिथड़े, वही कटोरी, वही दीमकों से खाये ढेले-जैसा मुख; किन्तु वह अन्धा नहीं था। उसकी दोनों आँखें भली चंगी थीं। उसके दोनों हाथ और दोनों पैर स्वस्थ थे, यह मैं पीछे देख सका। लेकिन यह मैंने पहुँचते ही देख लिया कि जैसे वह अन्धा नहीं है, वैसे ही वह भिखारी भी नहीं है। उसके मुख पर न दीनता है न याचना है। उस पर तो ऐसी मस्ती है, ऐसा तेज है, ऐसी सम्पन्नता है; जैसा सारा विश्व भिक्षुक है और एकमात्र दाता वह स्वयं है।

'बाबा!' कोई भी होता मेरे स्थान पर तो उसे इसी प्रकार पुकारता। आज उसकी उपेक्षा या तिरस्कार करना शक्य नहीं था। मैंने पन्द्रह-बीस मिनट चुपचाप बिताये देखने में और तब पुकारा उसे।

'बाबा!' मेरा शब्द खण्डहर में प्रतिध्वनित हुआ और वह चौंका। उसने मेरी ओर देखा और खुलकर हँस पड़ा। बड़ी देर तक हँसता रहा वह। 'तू आ गया? इतनी जल्दी आ गया तू? जा, मैं नाराज नहीं हूँ। क्या हुआ जो उन लोगों ने मुझे धक्के देकर निकाल दिया। तू इतनी दूर क्यों आया? भूखा होगा तू। थक गये होंगे तरे चरण। जा, वहाँ भोग लग रहा होगा। अरे हाँ, जब तू ही मेरा है तो लेना-देना क्या? चल, मैं ही चलता हूँ तेरे साथ।' सम्भवतः वह पागल हो गया था। उसके नेत्र मेरी ओर थे, बस इतना ही सच है; नहीं तो, वह न तो मुझे देख रहा था और न मुझसे बातें कर रहा था। वह किससे बातें कर रहा था? पागल किससे बातें करते हैं, यह क्या कभी कोई जान सका है?

वह पागल था? ना, वह पागल नहीं था। लेकिन अब यह बात कहने से लाभ

क्या? जब यह सारी बात समझ में आयी, वह जा चुका था। वह बाते करते-करते सहसा उठ खड़ा हुआ। मेरी अपेक्षा किये बिना मेरे बगल से खँडहर से निकला। पास के कुँए में उसने अपनी कटोरी में से कुछ उठाकर फेंक दिया। क्या फेंक दिया? पीली-पीली चमकीली कोई वस्तु। सम्भवतः एक अशर्फी? अशर्फी! हाँ; क्योंकि उसकी कटोरी में मैंने एक झलक पहले पा ली थी। कहाँ मिली उसे यह? सहसा स्मरण हुआ कि कल सायंकाल वह श्रीबाँकेबिहारी के सामने कटोरी करके कह आया था- 'दाता की जय!' तब उन दीनबन्धु ने उसे क्या छूछा लौटा दिया होगा?

वह किससे बातें कर रहा था? अब क्या यह भी बताने की बात है? क्या कोई और भी ऐसा है जो अपने याचक को स्वयं अपने-आपको दे डाले और इतने पर भी संकुचित ही होता रहे? लेकिन अब वह बात करनेवाला यहाँ नहीं है और जिससे वह बातें कर रहा था, उसे तो उसके जैसे भाग्यशाली के नेत्र ही देख पाते हैं। मैं उस कुएँ के पास खड़ा रह गया। कुछ क्षण ठक् से और इतने में वह दौड़ता-भागता किधर चला गया कुछ पता नहीं। बहुत ढूँढ़ा, बहुत देखा इधर-उधर; किन्तु क्या इस प्रकार कभी ऐसे लोग मिला करते हैं।

× × ×

देश में कितने मन्दिर हैं, कैसे गिना जाय और यह भी कैसे बताया जाय कि उनके सामने सीढ़ियों पर सड़कों पर कितने भिखारी बैठते हैं तथा 'दाता की जय' मनाया करते हैं। वे चाहे जो शब्द बोले, तात्पर्य एक ही है। उन भिखारियों की ही चर्चा क्यों, कोठियों में रहनेवाले, मोटरों में घूमनेवाले बाबूजी, सेठजी, लालाजी, कलक्टर साहेब, मिनिस्टर साहेब आदि कहलाने वाले भी तो भिखारी ही हैं। कोई हाथ फैलाकर पेट दिखाकर माँगता है, कोई मुख बनाकर, भौंहे मटकाकर माँगता है। सब माँगते हैं, सब चाहते हैं, सबके मुख न सही प्राण तो कहते ही हैं- 'दाता की जय हो!'

'मन्दिरों में आराध्यपीठ पर वही महादानी विराजमान है। ये भिखारी क्यों सीढ़ियों पर ही दिन-रात बैठे रहते हैं? ये क्यों भिखारियों के सामने हाथ फैलाते-फैलाते थक जाते हैं? क्यों ये मन्दिर में नहीं जाते? क्यों ये उस सच्चे दाता के आगे ही हाथ फैलाकर नहीं कहते- 'दाता की जय हो।'

कौन समझावे इन्हें? जो समझाने योग्य था, जो अनुभवी था, वह तो पता नहीं कहाँ चला गया। मैं नित्य श्रीबाँकेबिहारी जी जाता हूँ; पर वह तो फिर आया ही नहीं। वह जहाँ बैठकर भीख माँगता था, वह स्थान तो भर गया; किन्तु जहाँ उसने सच्चे दाता से माँगा था, वह रिक्त है। कोई भरेगा उसे?

❑❑

आस्तिक

(1)

'भगवान् भी दुर्बलों की पुकार नहीं सुनते!' नेत्रों से झर-झर आँसू गिर रहे थे। हिचकियाँ बँध गयी थीं। वह साधु के चरणों पर मस्तक रखकर फूट-फूटकर रो रहा था।

'भगवान सुनते तो हैं; लेकिन हम उन्हें पुकारते कहाँ हैं।' साधु ने स्नेह भरे स्वर में कहा। विपत्ति में भी भगवान् को हम स्मरण नहीं कर पाते, पुकार नहीं पाते- कितना पतन है हमारे हृदय का।'

'लेकिन प्रभु! वे सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् दयामय कहे जाते हैं।' उसकी वाणी में अपार वेदना थी। 'मेरे घर के तो सभी नित्य प्रातः-सायं पूजा करते थे।'

'लेकिन भाई! किसी मूर्ति पर दो बूँद जल डाल देना, दो फूल चढ़ा देना, दो-चार पद्य या श्लोक मुख से बोल देना ही तो पूजा नहीं है। पूजा तो तब होती है, जब हम भगवान् को सच मानें।' साधु महाराज के स्वर में कोमलता के साथ उलाहना था।

'तो क्या मैं भगवान् को मानता नहीं?' उसने मस्तक उठाया।

'भगवान् सर्वव्यापक हैं, सर्वसमर्थ है, यह हम सब जानते-मानते हैं।' साधु ने उसी शान्ति से कहा- 'लेकिन हम झूठ बोलते हैं, दूसरों को धोखा देते हैं और अनेक पाप करते हैं। संकट में घबरा जाते हैं- इतने घबरा जाते हैं कि भगवान् को पुकारने का हमें स्मरण तक नहीं रहता।'

'संकट भी संकट जैसा हो तब!' अपने नेत्र पोंछने जैसी भी उसमें शक्ति नहीं थी। गला रूँघने से अटक-अटक कर वह बोल रहा था- 'महाप्रलय एक साथ ही सिर पर टूट पड़े तो किसका चित्त ठिकाने रहे? कोई उस समय क्या करता है, यह क्या सोच-समझकर किया जा पाता है?'

'कोई क्या मानता है, क्या जानता है, किस पर विश्वास करता है, इसका उसी महासंकट में तो पता लगता है।' साधु ने स्थिर गम्भीर स्वर में कहा- 'एक नन्हें बच्चे को जब वह माँ से दूर हो, डराकर देखो। वह जानता है माँ दूर है, आ नहीं सकती,

उसकी सहायता नहीं कर सकती; किन्तु वह भागेगा पीछे, कंकड़-पत्थर तुम्हें मारने की सुध उसे पीछे आयेगी, वह पहले पुकारेगा- 'माँ! माँ!!' और हम तो जानते हैं कि सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान् परमात्मा हमारे पास है। हमें वह आधे क्षण के करोड़वे भाग में बचा सकता है। यदि हम हृदय से परमात्मा को मानें, हम आस्तिक हों तो उसे विपत्ति में पुकारना भूल जायँ, क्या यह बन सकता है।'

उसने मस्तक झुका दिया। उसका शरीर जैसे ऐंठकर शिथिल हो गया हो। उसकी वाणी खिन्न, हीन, निराश, अन्तिम श्वास लेते प्राणों की वाणी-जैसी थी- 'परमात्मा!'

'जब तुम्हारे पीछे तुम्हारे महाराज खड़े हों- भले तुमने उन्हें देखा न हो पर जान गये हो कि वे तुम्हारे पीछे दबे पैर चुपचाप चले आ रहे हैं- कोई तुम्हें एक सहस्र स्वर्ण मुहर दे तो तुम उसके लोभ में पड़कर उस समय कोई भेद बता सकोगे? तुम कोई भी बुराई कर सकोगे उस समय? कोई कर्त्तव्य तुम्हारे सामने हो तो उसमें तुमसे ढिलाई होगी? तुम्हारा कोई शत्रु तलवार लेकर तुम्हारे सामने आ खड़ा हो तो तुम जानते हो कि तुम क्या करोगे उस समय?' साधु ने बड़ी गम्भीरता से प्रश्न किये।

'मेरे उदार महाराज!' उसने एक बार मस्तक झुकाया। या तो शोक के वेग में साधू की पूरी बात उसने सुनी नहीं या उनका उत्तर देना उसे उचित नहीं जान पड़ा। वह केवल अन्तिम प्रश्न के उत्तर में बोला- 'मेरे महाराज मुझसे कुछ दूर भी हों- इतनी दूर कि मैं उन्हें पुकार सकूँ, मुझे किसका भय। मुझे आवश्यकता क्या कि मैं अपनी तलवार की मूठ पर हाथ रखूँ। कोई कैसा भी चिढ़ आवे, मैं पीछे मुख घुमाकर देख लूँ तो उसकी नानी मर जायगी।'

'निखिल ब्रह्माण्डनायक उदार-चक्रचूड़ामणि परमात्मा तुम्हारे साथ है और फिर तुम्हें भय लगता है, घबराहट होती है, इसका तो यही अर्थ है न कि परमात्मा है और सर्वत्र है, इस बात का हृदय में पूरा निश्चय नहीं!'

साधु कहते जा रहे थे- 'आस्तिक पाप नहीं कर सकता, कर्त्तव्य में प्रमाद नहीं कर सकता और भयभीत नहीं हो सकता। आस्तिकता की कसौटी ही निष्पाप, कर्त्तव्यनिष्ठ एवं निर्भय होना। आस्तिक की पूजा ही यथार्थ पूजा होती है।'

'महाराज! मैं आस्तिक नहीं हूँ! मुझमें ऐसा विश्वास कभी नहीं रहा है। वह बोल नहीं रहा था- उसके प्राण चीत्कार कर रहे थे- 'परमात्मा!'

(2)

वह राजपूत है। दूसरे राजपूतों के समान ही वह भी है; किन्तु दूसरों के बहुत-से-दोष उसमें नहीं है। वह यहाँ के ठिकानेदार का अङ्गरक्षक है। उनका विश्वासी सेवक

है। अपने ठिकानेदार को वह 'महाराज' कहता है, उसके तो महाराज ही हैं। बहुत स्नेह है उस पर उनका।

राजस्थान के राजपूतों में कुछ दोष भी हैं। दोष किसमें नहीं है। वह अपने को निर्दोष कहाँ कहता है, किन्तु आप उससे शपथ ले सकते हैं कि उसने कभी माँस या मदिरा छुआ हो। एक और दोष- यह शेष भी राजाओं, ठिकानेदारों में जहाँ-तहाँ मिलता ही था और उनके, पार्श्वचर लोगों का उसमें सम्मिलित हुए बिना निर्वाह नहीं था। उसके सामने भी बात आयी थी- केवल एक बार बात और उसने बिना सोच-संकोच के तलवार खींच ली थी- 'दूसरों की बहिन-बेटी तो मेरी बहिन-बेटी हैं!' उसका उस दिन का वह रौद्र रूप- किसको मरना था जो उससे फिर कोई ऐसी-वैसी बात कहता।

कुल परम्परा से उसे ठिकानेदार जी की सेवा मिली है, शूरता मिली है और आस-पास के राजपूतों से सर्वथा भिन्न आचार मिला है। उसके पिता जब मरण-शय्या पर थे, उन्होंने कहा था - 'बेटा! भगवान् नारायण हमारे कुलदेवता हैं। माँस और शराब हमारे कुल में किसी ने छुआ नहीं है। यह खड्ग - यह तो माँ भवानी का साक्षात् रूप है। यह तेरे पिता-पितामह के हाथ में रहता आया है। इसकी लज्जा रखना। स्वामी की रक्षा में प्राण जाते हों तो जायँ, कुल को कलंक मत लगाना!'

उसने पिता की शय्या के पास बैठकर उस कुल परम्परा से प्राप्त खड्ग को मस्तक से लगाकर शपथ ली। प्राण-त्याग के अन्तिम क्षण में उसने पिता से कहा था- 'एक बात और स्मरण रखना। नारी की गौरव-रक्षा-यह राजपूत का परम धर्म। धर्म से बड़ा कोई नहीं होता बेटा! प्राण भी नहीं और स्वामी भी नहीं। धर्म तो साक्षात् भगवान् नारायण का स्वरूप है।'

आज आप उसकी व्यथा - उसकी दारुण पीड़ा समझ नहीं सकोगे। राजपूत के जिस परम धर्म की रक्षा के लिए नारी के गौरव को उज्ज्वल रखने के लिए उसने एक दिन अपने उस स्वामी के सम्मुख भी तलवार खींच ली थी, जिनके लिए अपना मस्तक काटकर धर देने में भी उसे संकोच नहीं, उसका वही परम धर्म आज नष्ट हो गया है। आज उसके सामने उसका वह परमधर्म... वह विचार करने में भी असमर्थ हो रहा है।

परमात्मा! परमात्मा!! उसने कभी किसी नारी की ओर वासनाभरी दृष्टि नहीं उठायी। किसी की वासना-को 'हूँ कहकर भी उसने समर्थन नहीं किया। आज उसके घर की नारी- उसकी बहिन- ये नरपिशाच..... परमात्मा!' वह जैसे उन्मत्त हो गया है। उसे न पृथ्वी दीखती है, न आकाश। सारी दिशाएँ जैसे घूम रही है।

भारत का विभाजन-पता नहीं कितने अनर्थ किये इस विभाजन ने। उसका गाँव सीमा का गाँव बना और सीमा के गाँव की जो दुर्दशा होती है, उसे भी क्या बताना

पड़ेगा? दो राष्ट्रों में मैत्री हो, सन्धि हो, तब भी सीमा के ग्रामों पर तो रात-दिन कोई-न-कोई संकट चढ़ा ही रहता है और जहाँ इतना उपद्रव, इतनी कटुता, इतनी आपाधापी हो...।

था वह घर पर ही। किसी का घर पर रहना क्या अर्थ रखता है? बहुत छोटा गाँव है उसका। थोड़े से लोग रहते हैं। वे सावधान भी होते तो कुछ होना-जाना नहीं था और उस समय तो सब रात्रि में अपने-अपने घरों में सोये पड़े थे। तड़ातड़ गोलियाँ चलने लगी, चिल्लाहट सुनायी पड़ने लगी। वह चौंककर उठा तो बड़ी भारी भीड़ ने उसका गाँव घेर रक्खा था। कई घर धाँय-धाँय करके जल रहे थे। वह अपनी तलवार लेकर दौड़ पड़ा। कुछ और भी राजपूत दौड़े होंगे; किन्तु सीमा की दूसरी ओर से उपद्रवी चढ़ आये थे, उनकी संख्या बहुत बड़ी थी। राजपूत गिने-चुने थे। कुछ भी हो, जब मरना ही है सब सम्मुख युद्ध में मरने से राजपूत पीछे क्यों हटे। वह जैसे आँखे बन्द करके टूट पड़ा था। उसे पता नहीं कि पीछे वहाँ क्या हुआ। वह दूसरे दिन, दिन चढ़े नेत्र खोल सका था। कोई उसे अपने घर उठा लाया था। अनेक स्थान शरीर के जले से जाते थे। स्थान-स्थान पर पट्टियाँ बँधी थीं।

उपद्रवी केवल उपद्रवी थे। लूट-पाट और हत्या ही उनका उद्देश्य था। वे शीघ्र ही भाग गये थे। कुछ उनके लोग और कुछ गाँव के लोग खेत रहे थे। कुछ पशु, सम्पत्ति और मकान भस्म हो गये थे।

'अपना घर जल चुका है। बहुत थोड़ी सामग्री बची है।' उसकी स्त्री उसके सिरहाने बैठी थी और भरे नेत्रों से उसकी ओर देख रही थी।

'गङ्गा कहाँ है? पत्नी की बात का उत्तर दिये बिना उसने पूछा। गङ्गा- उसकी विधवा युवती बहिन, गङ्गा के समान ही पवित्र बहिन गङ्गा उसे क्यों नहीं दीखती।

'वह तो मिली नहीं।' पत्नी ने सिर झुका लिया।

'मिली नहीं? कहाँ गयी वह?' वह झटके से उठ बैठा। एक क्षण में सब बातें उसकी समझ में आ गयीं। पत्नी ने उसे रोकना चाहा; किन्तु पता नहीं कहाँ की शक्ति उसमें आ गयी थी। स्त्री को एक ओर झटककर वह बाहर आया। बिना किसी की सहायता के उसने साँडिनी कसी और उड़ चला। आज उसकी ऊँटनी को भी जैसे पंख लग गये थे। अच्छे पशु अपने आरोही की आतुरता भाँप लेते हैं।

'महाराज!' उसे और कहाँ जाना था। उसके परम आधार तो उसके महाराज ही थे।

'तुम क्या चाहते हो?' ठिकानेदारजी ने बड़े ही धैर्य से, बड़ी शान्ति से उसकी बातें सुनीं। लेकिन वे कर ही क्या सकते थे। उनके साथ ही ऐसा कुछ हुआ होता तो भी वे क्या कर सकते थे? एक ठिकानेदार की शक्ति ही कितनी होती है और यह तो अब दूसरे की बात हो गयी थी।

'मेरी बहिन!' वह तो पागल हो रहा था।

'मैं क्या करूँ? जहाँ इस समय अपने पूरे देश की शक्ति कुछ नहीं कर पा रही है, वहाँ मैं कर क्या सकता हूँ।' ठिकानेदार जी उसे बहुत मानते, बहुत स्नेह करते थे उससे, लेकिन विवश थे।

'हे भगवान! वह धम से गिर पड़ा भूमि में। उसका जो आधार था, टूट गया। उसकी आशा नष्ट हो गयी।

'भगवान्! आशा नष्ट होने पर मनुष्य कदाचित् ही जीवित रह पाता है। लेकिन मुख में भगवान् का नाम आया और एक नवीन लहर आयी हृदय में। एक आशा की दूसरी ज्योति दिखाई दी।

वह पढ़ा-लिखा कम ही है। उसे तो तलवार की और राजपूत के आत्मगौरव की शिक्षा मिली है। वह शिक्षा इस समय काम आवे, ऐसा नहीं है। उसका कुल भगवान् नारायण का उपासक रहा है। वह बचपन में साधु-संतों में श्रद्धा-रखता आया है। यहाँ से कुछ दूर एक टेकरी है। टेकरी पर एक कुटिया है। कुटिया में एक संत रहते हैं। संत सिद्ध हैं। सिद्ध संत अपनी इच्छा से ही सब कुछ कर सकते हैं। असम्भव को सम्भव कर सकते हैं। यही है उसकी आशा का आधार। उसकी ऊँटनी फिर पूरे वेग से दौड़ने लगी।

(3)

उसका दुःख, उसकी पीड़ा- मैं उसके शरीर में बँधी पट्टियों के नीचे के घावों की बात नहीं कहता। उन घावों में होती जलन की बात नहीं कहता और नहीं कहता उस रक्त की बात जो कपड़े की पट्टियों से ऊपर तक आ गया दीख रहा है। उसे स्वयं इस पीड़ा का, इन घावों का इस समय पता नहीं है। पीड़ा का हाहाकार तो हो रहा है उसके हृदय में। एक राजपूत और उसकी बहिन- गङ्गा-सी पवित्र उसकी बहिन वे क्रूर पशु.... पिशाच....

साधु की बात यह सुनता रहा। साधु की बात सुन लेनी चाहिये, यह उसने सुना है। साधु को अप्रसन्न नहीं करना चाहिये, यह वह जानता है। पता नहीं क्यों, इस टेकरी पर पैर रखते ही उसका उन्माद बहुत कुछ दूर हो गया है। उसका हृदय अपने-आप किसी अज्ञात कारण से आश्वस्त होता जा रहा है। साधु की बात सुन सके, इतना धैर्य उसमें आ गया है।

'परमात्मा!' उसने साधु की बात सुनकर बड़ी कातरता से कहा। वह आस्तिक न सही, साधु महाराज भगवान् के परम भक्त हैं। वह उन्हीं से तो दया की याचना करने यहाँ आया है।

'भगवान् दयामय हैं। वे किसी आर्त प्राणी की पुकार कभी अनसुनी नहीं करते।

कोई संकट में उन्हें पुकारे और वे उसकी पुकार न सुनें, यह तो नहीं हो सकता।' साधु पर उसकी पुकार का प्रभाव पड़ा था। उनके स्वर में वज्र जैसी दृढ़ता और सम्पूर्ण निश्चय था। उनके नेत्र आकाश में कहीं स्थिर हो गये थे।

'परमात्मा!' वह एक बार फिर चीत्कार कर उठा। साधु के आदेश का उसके हृदय पर सीधे प्रभाव पड़ा था।

'भैया!' उसकी पुकार पूरी होते-न-होते दूसरी पुकार आयी। टेकरी पर चढ़ता कोई नारी-स्वर गूँज गया।

'गङ्गा!' वह चौक पड़ा और दूसरे क्षण ही दौड़ा।

'दयामय प्रभु!' साधु ने भूमि पर मस्तक रख दिया और फिर अपने दोनों नेत्र पोंछ लिए।

गङ्गा अकेली नहीं आयी थी। उसके साथ एक लड़की थी। आज का गङ्गा का स्वरूप देखने ही योग्य था। उसके केश बिखर रहे थे। सारा शरीर रेत से भरा था। दाहिने हाथ में एक नंगी तलवार थी, जिसे अब भाई को देखते ही उसने झन से दूर फेंक दिया था। उसके मुख पर, उसके नेत्रों में अद्भुत दीप्ति थी। उसने बायें हाथ से उस लड़की का हाथ पकड़ रखा था और वह लड़की तो जैसे पुतली हो। गङ्गा के हाथ के संकेत पर चले चलने के अतिरिक्त जैसे वह और कुछ करना जानती ही न हो।

'तू यहाँ कैसे आयी बेटी! यह कौन है?' जब भाई-बहिन मिल चुके, उनका आवेग घटा, गङ्गा ने और दूसरी लड़की ने साधु के चरणों में सिर झुकाया और बैठ गयी, तब साधु ने पूछा।

'मेरे गाँव पर रात में लुटेरों ने आक्रमण किया था।' गंङ्गा ने मस्तक नीचे किये हुए कहा।

'तुम्हारे भाई ने बहुत कुछ बता दिया है।' साधु ने बीच में रोका- 'तुम लुटेरों के हाथ से छूट कैसे आयी?'

'मुझे किसने पकड़ा था? मुझे कौन पकड़ सकता था।' गङ्गा ने ऐसे दृढ़ स्वर में कहा, जिसे सुनकर उसके भाई को भी आश्चर्य हुआ। वह भी अपनी बहिन का मुख देखने लगा।

'तब तुम थी कहाँ? साधु ने ही पूछा।

'बाबा! लुटेरे बहुत बुरे होते हैं। वे किसी स्त्री के धर्म की रक्षा करना नहीं चाहते। गङ्गा के लिए यह बहुत बुरी और बहुत अद्भुत बात थी। भला कोई मनुष्य किसी स्त्री की मर्यादा को कैसे सम्मान नहीं करेगा। वे लुटेरे इस बेचारी को पकड़े लिये जा रहे थे। इसे बहुत गंदी-गंदी गालियाँ दे रहे थे। यह रो रही थी, गिड़गिड़ा रही थी, प्रार्थना कर रही थी, पर वे सुनते ही नहीं थे।'

'तू इसे बचाने गयी थी?' साधु इस स्नेह से पूछ रहे थे, जैसे अपनी सगी पुत्री से पूछ रहे हों।

'मैं बचाने नहीं जाती बाबा? यह मेरी गाँव की बहिन लगती है। कोई दुःख में हो तो बचाना नहीं चाहिये बाबा?' गङ्गा ने सहज भाव से कहा- 'मैं दौड़ी, मुझे एक कसा खाली घोड़ा मिल गया। एक कोई वहाँ मरा पड़ा था, मैंने उसकी तलवार ले ली। लेकिन बाबा! लुटेरे बड़े कायर होते हैं। मैं उनके पीछे घोड़ा दौड़ाती गयी। उन्होंने पहले तो गोलिया चलायी; लेकिन फिर पीछे डर गये। इसे घोड़े से उतारकर वे सब भाग गये। मैं इसे घोड़े पर बैठाकर घर आ रही थी, लेकिन रास्ता भूल गयी। पता नहीं कहाँ भटक गयी। वह घोड़ा भी बड़ा अड़ियल था। बार-बार पीछे ही मुड़कर भागता था। इससे मैंने उसे छोड़ दिया। बहुत भटकती-भटकाती यहाँ आयी हूँ। बहुत थक गयी हूँ बाबा!'

'उतने लुटेरों के पीछे तू अकेली दौड़ी गयी। तुझे डर नहीं लगा? वे तुझे पकड़ लेते तो क्या करती?' साधु के स्वर में उलाहना नहीं, स्नेह था।

'क्या मैं मरना नहीं जानती? वे मुझे कैसे पकड़ लेते? भगवान् नहीं हैं क्या बाबा? भगवान् मुझे बचाते न। मैं उन सबसे क्यों डरूँ? गङ्गा की वाणी में अविचल विश्वास था।

'इसका नाम है - आस्तिकता! तुमने आस्तिक देखा?' साधु ने गङ्गा के बदले उसके भाई की ओर देखा।

वह क्या कहे? उसका जी चाहता है कि अपनी इस बहिन के पैरों पर सिर रखे दे। वह गङ्गा का भाई है, यही क्या कम गौरव की बात है उसके लिये।

❑❑

भक्ति-मूल-विश्वास

'पानी !' कुल दस गज दूर था पानी उनके यहाँ से; किन्तु दूरी तो शरीर की शक्ति, पहुँचने के साधन पर निर्भर है। दस कोस भी पद जैसे होते हैं स्वस्थ सबल व्यक्ति को और आज के युग में वायुयान के लिये तो दस योजन भी दस पद ही हैं; किन्तु रुग्ण, असमर्थ के लिए दस पद भी दस योजन बन जाते हैं- यह तो सबका प्रतिदिन का अनुभव है।

'पानी !' तीव्र ज्वराक्रान्त वह तपस्वी - क्या हुआ जो उससे दस गज दूर ही पर्वतीय जल-स्रोत है। वह तो आज अपने आसन से उठने में भी असमर्थ है। ज्वर की तीक्ष्णता के कारण उसका कण्ठ सूख गया है। नेत्र जले जाते हैं। वह अत्यन्त व्याकुल है।

'पानी ! ओह, पानी देने भी आज रामसिंह नहीं आया ! उसने पड़े-पड़े ही एक ओर देखा। उसका आसन के पास पड़ा तूँबा जल रहित है और अभी तो कहीं किसी के आने की आहट नहीं मिलती।

'पानी !' पास की पहाड़ी पर कुछ घर हैं पर्वतीय लोगों के। उन भोले ग्रामीणों को श्रद्धा है इस तपस्वी में। उनमें से एक व्यक्ति रामसिंह तो प्रायः दिन में दो-तीन बार यहाँ हो जाता है और स्थान स्वच्छ कर जाता है। जल भरकर रख जाता है। कोई और सेवा हुई तो उसे भी कर सकता है। इन महापुरुष की सेवा करने का उसे सौभाग्य मिलता है, यही क्या कम है।

रामसिंह के अपने भी तो कार्य हैं। उसके पशु हैं, बाल-बच्चे हैं, कुछ खेत हैं और फिर कल रात उसे भी ज्वर हो गया था। उसे आज आने में देर हो रही है, इसमें कोई अद्‌भुत बात तो नहीं है।

'पानी !' तपस्वी का कण्ठ सूख रहा है। उसकी बेचैनी बढ़ रही है। उसे बहुत तीव्र ज्वर है और ज्वर की प्यास- 'रामसिंह नहीं आया?' दो क्षण पश्चात् ही उसने इधर-उधर नेत्र घुमाये।

'पानी ! प्यास ! रामसिंह !' लगा तपस्वी मूर्छित हो जायगा। उसका गौरवर्ण मुख ज्वर के कारण लाल हो रहा है। उसके अरुणाभ नेत्र अङ्गार-से-जल रहे हैं।

'रामसिंह ! तो तू रामसिंह का चिन्तन और उसकी प्रतीक्षा कर रहा है !' पता नहीं क्या हुआ, आप चाहें तो इसे ज्वर की विक्षिप्तता कह सकते हैं, आपको मैं रोकता नहीं। तू रामसिंह के भरोसे यहाँ आया था। धिक्कार है तुझे, नीलकण्ठ।'

हाँ, तपस्वी का नाम नीलकण्ठ है। यह दूसरी बात कि उसे यहाँ कोई इस नाम से नहीं जानता। सच तो यह कि यहाँ कोई उसका नाम या परिचय जानता ही नहीं। जानने-पूछने का साहस नहीं हुआ किसी को। किन्तु नाम की बात छोड़िये- तपस्वी सम्भवतः ज्वर से उन्मत्त हो गया है। वह बारंबार- इस कठोर भूमि पर मस्तक पटक रहा है। अपने मुख पर तमाचे मारता जा रहा है- 'तू अब रामसिंह की प्रतीक्षा करने लगा है ! तुझे अब आशुतोष प्रभु का भरोसा नहीं रहा और तू चला है उपासना करने? उपासक बना बैठा है तू इस अरण्य में।'

नेत्रों से अश्रु धारा चल रही है। मुख लाल-लाल हो गया; किन्तु विक्षिप्त हो उठा है वह तो।

× × ×

आज जिसे नीलकण्ठ कहते हैं, स्वर्गाश्रम से लगभग सात-साढ़े सात मील दूर मणिरत्नकूट पर्वत के चरणों में चारों ओर पर्वतमाला से घिरा स्थल तो वही था; किन्तु तब उसका कोई नामकरण नहीं हुआ था। बात जो शताब्दियों पूर्व की है यह।

नीलकण्ठ आज चौदह वर्ष से कुंजी भगत की निष्ठा से स्वच्छ है। उससे पूर्व आज के लोगों ने ही देखा है कि वहाँ प्रायः वन्यतरुओं के पत्तों की राशि सर्वत्र स्वच्छन्द पड़ी रहती थी। बाबा रामझरोखादासजी की साज-सज्जा कहाँ थी और कहाँ थी तब नैपाली कोठी, धर्मशाला और दूकानें।

तब की बात, जब ये पाकर-अश्वत्थ के युग्मतरु भी नहीं थे। केवल दोनों जलधाराएँ थीं, जो आज भी नीलकण्ठ के चरणों को दो ओर से धोती एक में मिलकर आगे बढ़ जाती है। तब पाइप लगाकर धारा को नल का रूप देने की व्यवस्था नहीं थी। तब तो उनमें पत्तों की राशि पड़ी रहती और सड़ा करती थी।

आज भी नीलकण्ठ में यदाकदा रीछ रात में आ जाते हैं। शेर और चीते वहाँ से सौ-दो-सो गज तक पर्यटन कर जाते हैं। उस समय तो वन्य पशुओं का आवास था नीलकण्ठ। केवल दिन में पर्वत-शिखरों पर स्थित पर्वतीय जन अपने पशुओं को लेकर वहाँ आते थे।

ऐसे अरण्य में एक दिन एक लंबे दुबले गौरवर्ण तरूण ने, पता नहीं कहाँ से, आकर आसन लगा दिया। वह वहीं आ जमा, जहाँ आज भगवान् नीलकण्ठ विराजमान हैं। उस समय तो वहाँ ठिकाने की समतल भूमि भी नहीं थी।

बिखरे घुँघराले रूखे केश, प्रलम्ब बाहु, अरुणाभ सुदीर्घ नेत्र- पता नहीं क्या था उस तरुण में कि वन्य पशुओं ने प्रथम दिन से ही उसे अपना सुहृद् मान लिया। भल्लूक शिशु रात्रि में कभी-कभी उसके तूँबे का जल लुढ़का दिया करते थे- इससे अधिक उसे किसी ने कभी तंग नहीं किया। उसके समीप शेर या चीते के जोड़े रात्रि में चाहे जब निःशङ्क आ बैठते थे।

तूँबा और कौपीन- इनके अतिरिक्त उसके पास तो कंद खोदने के लिए कुछ नहीं था। किन्तु जो इस प्रकार सर्वात्मा पर अपने को छोड़ देता है, विश्वम्भर उसकी उपेक्षा कर दे तो उसे विश्वम्भर कहेगा कौन? पर्वतीय जन उसके आस-पास का स्थान स्वच्छ कर जाने लगे और उनमें कभी किसी और कभी किसी की गाय का दूध तपस्वी की स्वीकृति पाकर सफल हो जाता था। दूध के अतिरिक्त तपस्वी ने कभी कुछ लिया नहीं।

ऋतुएँ आयी और गयीं। तपस्वी क्या करता है- भला, भजन-साधन को छोड़कर तपस्वी और क्या करेगा? इन बाबाजी के लोगों के अटपटे साधन कहाँ पर्वतीय जनों की समझ में आते हैं। हाँ, प्रारब्ध का भोग तो सभी को भोगना पड़ता है। एक वर्ष में जब जल मलिन हुआ, पत्ते सड़े, मच्छरों का अखण्ड संकीर्तन अन्य वर्षों से बहुत बढ़ा और पिस्सुओं की संख्या भी पर्याप्त हो गयी, एक दिन तपस्वी रुग्ण हो गया। उसे हड्डी-हड्डी कम्पित कर देनेवाला शीत लगा और ज्वर हो गया।

ज्वर आया और आता रहा। कई दिन से तपस्वी इतना अशक्त हो गया है कि अपने आसन से खिसक भी नहीं सकता। पास के पर्वतशिखर पर कुछ घर हैं। उनमें एक घर रामसिंह का है। रामसिंह तपस्वी के लिए जल भर जाता है, स्थान स्वच्छ कर जाता है, कुछ आवश्यक सेवा-कार्य कर जाता है; किन्तु रामसिंह के भी बाल-बच्चे हैं, पशु हैं, खेत हैं और कल रात उसे भी ज्वर हो गया। उसे आने में देर होना कहाँ कैसे अनुचित या अस्वाभाविक कहा जा सकता है।

× × ×

'आप यह क्या कर रहे हैं प्रभु!' रामसिंह स्वयं खिन्न है कि वह देर से आ सका। वह आज अपनी मैली मोटी चद्दर पूरे शरीर पर लपेटे है।

'रामसिंह!' तपस्वी ने देखा उसकी ओर से जैसे उसकी विक्षिप्तता शिथिल हो गयी। उसके अश्रु रूक गये। किन्तु उसका प्यास से सूखा कण्ठ भरा-भरा था- 'तुमको भी ज्वर हो गया दीखता है। तुम तत्काल घर लौट जाओ!'

'जल रखकर मैं अभी चला जाता हूँ!' रामसिंह ने तपस्वी के चरणों पर मस्तक रखा और फिर तूँबा लेने बढ़ा।

'उसे छूओ मत!' तपस्वी ने रोक दिया। 'मुझे जल नहीं चाहिये। दूसरे लोगों से कह देना, आज इधर कोई न आये।'

'जो आज्ञा, प्रभु!' सरल रामसिंह ने फिर प्रणाम किया और वह लौट गया। उसने तो साधु-संतों की आज्ञा मानना ही सीखा है। उसे बात का सीधा अर्थ ही समझ में आता है। महात्मा लोगों के चित्त का क्या ठिकाना- वे पता नहीं कब कैसे रहना चाहते हैं। उनकी आज्ञा बिना प्रतिवाद के मान लेनी चाहिये, यही जानता है यह रामसिंह।

'मैं रामसिंह की प्रतीक्षा कर रहा था और वह आया।' रामसिंह के पीठ फेरते ही तपस्वी धीरे-धीरे बुदबुदाया। 'मेरे प्राण आशुतोष प्रभु की प्रतीक्षा करेंगे और वे दयामय नहीं पधारेंगे। पर इस अधम नीलकण्ठ के प्राणों ने उनकी प्रतीक्षा की कहाँ है।'

'पानी!' तपस्वी के होठ से अब यह शब्द नहीं निकल रहा था; क्यों उसने तो दाँत-पर-दाँत दबा लिए थे। किंन्तु उसके भीतर ज्वर का भीषण दाह-पानी की माँग अत्यन्त प्रबल हो चुकी थी। उसके प्राणों में छटपटाहट चल रही थी।

'अब तो श्रीगङ्गाधर के सरोजारुण करों से गङ्गाजल पीना है। तपस्वी का संकल्प स्थिर हो गया। उसने दैहिक व्यथा की सर्वथा उपेक्षा कर दी- 'वह यहाँ प्राप्त हो या कैलास के दिव्यधाम में।'

जब कोई हठी इस प्रकार हठ कर बैठे, किसी के प्राण सचमुच उस चन्द्रमौलि के लिए ही आकुल हो उठें, कोई उसी विश्वनाथ पर भरोसा करके अड़ जाय- वह अपार करुणार्णव वृषभध्वज उससे पलभर भी दूर कहाँ रहता है?

रामसिंह कठिनता से अपने मार्ग में चौथाई दूर गया होगा- अरण्य वृषभ के घंट से निकली दिव्य प्रणव-ध्वनि से पूरित हो गया। बाल शशाङ्क की मृदु किरणें मूर्छितप्राय तपस्वी के भाल पर पड़ीं और साथ ही पड़ा एक अमृतस्यन्दी कर। विभूतिभूषण कृत्तिवास प्रभु स्नेहपूर्वक देखते हुए कह रहे थे- 'वत्स?'

ज्वर, ज्वरकी ज्वाला और तृषा- 'अरे, उन श्री गङ्गाधर के सम्मुख तो कराल काल की महाज्वाला भी शान्त हो जाती है। दूर भागती है त्रिताप की ज्वाला उन पार्वतीनाथ के श्रीपद से। तपस्वी के प्राण आप्लावित हो गये। उसने नेत्र खोले और वैसे ही मस्तक धर दिया उन सुरासुरवन्दित श्रीचरणों पर।

'वत्स! गङ्गाजल लाया हूँ मैं।' तपस्वी को स्तवन करने का समय नहीं मिला। श्रीगङ्गाधर के करों में उनका सुधावारिपूरित खप्पर आगे बढ़ चुका था। तपस्वी ने मस्तक उठाया और प्रभु ने खप्पर उसके अधरों से लगा दिया!

× × ×

'यह तो दिव्य भूमि है!' भगवान् आदि शंकराचार्य जब उत्तराखण्ड की ओर पधारे, ऋषिकेश आने पर पता नहीं किस प्रेरणा से वे गङ्गापार होकर चलते गये। पर्वतों में और वर्तमान नीलकण्ठ स्थान पर पहुँचे। उन्होंने दोनों पर्वतीय लघु जलधाराओं के संगम के समीप सिद्धवटी (वट, पीपल, पाकरका सम्मिलत तरु) देखा और प्रसन्न हो गये। उन्होंने आचमन किया जल में और सिद्धवटी के समीप आसीन हुए।

''यहाँ तो भगवान् नीलकण्ठ का स्वयम्भूलिङ्ग हैं।' सहसा भगवान् शंकराचार्य ने नेत्र खोले और आसन से उठ खड़े हुए। उनके निर्देश पर तरुमूल के समीप एक एकत्र मृत्तिकाराशि साथ के सेवकों ने दूर की ओर उसके नीचे से श्यामवर्ण भगवान् श्री नीलकण्ठ का बाणलिङ्ग प्रकट हो गया। आदि शंकराचार्य के करों से ही प्रथमार्चन हुआ नीलकण्ठ भगवान् का। तभी से यह क्षेत्र 'नीलकण्ठ' कहा जाने लगा।

'अपने परम प्रिय और आराधक के लिए प्रभु यहाँ व्यक्त हुए और लिङ्गरूप में उसी की श्रद्धा को स्वीकार करके सदा के लिए स्थित हो गये।' भगवान् शंकराचार्य ने साथ के जनों को उस समय सूचित किया था।

× × ×

हम तो नीलकण्ठ में ग्रीष्मवास करने गये थे। हमें एक संत ने बताया था- 'भगवान् नीलकण्ठ की स्थापना आदि-शंकराचार्य के करों से हुई है।'

स्थापना की बात में कुछ अन्तर था। वह स्थापना नहीं, अभिव्यक्ति और प्रथमार्चन था। हमें बाबा रामझरोखादासजी ने बताया था- 'भगवान् नीलकण्ठ स्वयम्भूलिङ्ग हैं।'

'वह ऊपर शिखर पर भुवनेवरी का मन्दिर है।' एक पर्वतीय भाई ने दिखाया था। अपने अनन्य विश्वासी के समीप आकर जब नीलकण्ठ प्रभु वहीं स्थित हो गये, तब अपने उन आराध्य का सतत दर्शन करती देवी भुवनेश्वरी समीप के पर्वतशिखर पर विराजमान हों, यह सर्वथा स्वाभाविक है।

❑❑

विश्वास

(1)

'मैं तीर्थयात्रा करने जाऊँगा!' बहुत दिनों की अभिलाषा है। 'भगवती अनुसूया ने अपनी गोद में जहाँ सृष्टि के कर्त्ता, भर्त्ता एवं संहर्ता ब्रह्मा-विष्णु-महेश को शिशु बनाकर लोरियाँ सुनायीं, पयस्विनी के उस पुनीत तट के दर्शन करूँगा। जहाँ श्रीराम एवं भरतलाल के मिलन-प्रेम के पुनीत प्रभाव से पाषाण भी पिघल उठे थे, उस श्री कोसल राजकुमारों के चारु चरणों से चर्चित चित्रकूट की पावन भूमि के दर्शन करूँगा।'

आज के समान उस समय तीर्थयात्रा सरल नहीं थी। न ठीक-ठिकाने से पथ थे और न पड़ाव के स्थान। पैदल यात्री वन के मार्ग से यात्रा करते थे। वन का मार्ग-अकेले दुकेले तो यात्रा की कल्पना ही नहीं की जा सकती थी। यात्रियों के चालीस-पचास के दल हों तो यात्रा करें। दिन या महीने नहीं, वर्षों लगते थे यात्रा में। घोर कानन, हिंसक पशु, लुटेरे और लुटेरों से भी भयंकर पिण्डारे, जिनका काम ही नर-हत्या था। यात्री यात्रा करने के पूर्व अपने सभी सम्बन्धियों से मिल-भेंट लेता था। उसे उसके सम्बन्धी अन्तिम विदाई समझकर ही विदा करते थे। तीर्थयात्रा से कोई जीवित लौट आवे- सौ यात्रियों में दस-पाँच पुण्यवान् यात्री ही ऐसे हो सकते थे।

यात्रा जितनी कठिन थी, उतनी ही पवित्र थी। श्रद्धा, संयम और तितिक्षा की कसौटी हो जाती थी। लेकिन जिसमें वह अदम्य इच्छा उठती थी- एक तो वही है। उसके स्वप्न बड़े भव्य है- 'जहाँ सूर्यसुता कालिन्दी जह्नुतनया भागीरथी को अङ्कमाल देती हैं, त्रिवेणी के उस भुवनवन्द्य प्रवाह में स्नान करने को तो देवता भी पधारते हैं। प्रयाग और फिर काशी- भगवान् विश्वनाथ के त्रिशूल पर बसी वह मुक्तिदात्री वाराणसीपुरी, जहाँ चन्द्रशेखर भगवान् नीलकण्ठ जीवों को दोनों हाथों संसार-सागर से पार करने में नित्य संलग्न रहते हैं।'

भगवान् विश्वनाथ के दर्शन हो जायँ और बस! फिर शरीर रहे या जाय, इसकी उसे चिन्ता नहीं। उसकी भव्य भावना पूर्ण हो, इसमें एक ही बाधा थी। उसकी वृद्धा माता उसकी तीर्थयात्रा के नाम से ही मस्तक पकड़कर बैठ जाती थीं। बहुत वृद्धा थीं वे। उसका और कोई आधार नहीं। एकमात्र पुत्र वह और माता को छोड़ जाय? मन की कामना जब मन में ही घुटती रहती है, प्रायः पुष्ट ही होती जाती है।

'भगवान् विश्वनाथ बड़े दयालु हैं।' जिस दिन वह अपनी माता के शरीर की भस्म रेवा के प्रवाह में विसर्जित करने आया, उसे लगा कि उस पर आशुतोष ने कृपा की है। माता तो वृद्धा थी, उन्हें जाना ही था।

एक वर्ष- उसे पूरे एक वर्ष क्षण-क्षण पर ऐसा लगता था कि एक पुकार आ रही है। कोई व्यक्त वाणी नहीं, किन्तु जैसे कोई उसे पुकार रहा है। भगवान् विश्वनाथ हाथ उठाकर जैसे उसे बुला रहे हों। लेकिन पण्डित कहते थे कि माता का वार्षिक श्राद्ध करके ही वह यात्रा कर सकता है। एक वर्ष उसे प्रतीक्षा करनी पड़ी।

उसकी यात्रा की सूची में एक नाम बढ़ गया है- गया। अब अपने कुल में अकेला है- अन्तिम है। गया में भगवान् गदाधर के चरणों में अपने कुलपुरुषों के लिए उसे पिण्डपात करना ही चाहिये।

उसके आगे-पीछे कोई है नहीं। थोड़ी-सी भूमि थी, एक घर था, सो सब उसने बेच दिया है। उसे कहाँ अब मालवा लौटकर आना है। काशी गया सो गया। उसे न किसी से मिलना है, न किसी से विदा लेनी है। है ही कौन उसके, जिससे उसे विदा लेनी पड़े।

कुछ मित्र, कुछ परिचित, कुछ हितैषी सभी के होते हैं। दुष्ट, अन्यायी, अत्याचारपरायण लोगों का भी एक समुदाय होता है। उनके भी मित्र होते हैं और वह तो बहुत सीधा, बहुत नम्र, सदा सबकी सेवा-सहायता में लगा रहने वाला था। वह जाय तो गाँव ही नहीं, आसपास के गाँवों का भी एक विपत्ति का सहारा चला जाय। दूसरा कौन है जो किसी के रोग में, शोक में आधी रात को दौड़ पड़े। किसी के उत्साह में घर के व्यक्ति के समान कार्य में जुट पड़े, ऐसे मनुष्य क्या बहुत होते हैं? गाँव के लोग, आसपास के लोग, सभी उसे रोकना चाहते हैं।

'अकेले कहीं तीर्थयात्रा की जाती है? इतनी भी क्या शीघ्रता है। बहुत उक्ताहट में प्राण दे देना तो कोई समझदारी है नहीं। साल-छः महीने और प्रतीक्षा करनी चाहिये। दूसरे-तीसरे वर्ष यात्रियों या व्यापारियों के दल निकलते ही रहते है। कोई दल निकले तो उसके साथ चले जाने को कोई मना नहीं करेगा। तीर्थयात्रा बहुत पुण्य का काम है,

परन्तु प्राण देने को कूद पड़ना अच्छी बात नहीं है।' गाँव के लोगों ने बहुत समझाने का प्रयत्न किया है।

'मैं भगवान् विश्वनाथ के दर्शन करने जा रहा हूँ। वे त्रिशूलपाणि मेरी रक्षा नहीं करेंगे तो भला, मनुष्य क्या रक्षा कर लेंगे। उनकी ओर चलकर मार्ग में मर भी गया, तो भी मेरा जीवन सफल हो जायगा। उनकी ओर चल देने पर यात्रा अधूरी रहती कहाँ है।' वह एक वर्ष रूका रहा, यही उसे बहुत अखरा है। जिसके प्राण अपने आराध्य की पुकार सुनने लगे, उसे कोई बाधा क्या कभी रोक पायी है या आज उसी को रोक लेगी।

(2)

मैले-से वस्त्र, बढ़े हुए केश एवं दाढ़ी के बाल, कंधे पर एक लठिया में लटकती गठरी और उसमें ऊपर ही बँधा डोरी के साथ लोटा- यही है उस समय के तीर्थयात्री की वेश-भूषा। पैर फट रहे हैं, शरीर दुबला हो रहा है। और वह चलता जा रहा है। जहाँ थक जाता है, पेड़ की छाया में बैठ जाता है। प्यास लगती है तो नदी, नाले या कुएँ से जल पी लेता है। जहाँ-तहाँ मिलनेवाले लोगों से मार्ग पूछता है। प्रायः लोग पूछते हैं कि वह कौन है और कहाँ जायगा।' 'अकेले यात्रा!' बहुत लोगों ने स्थान-स्थान पर उससे आग्रह किया कि वह रुक जाय कुछ महीने। उसकी सब व्यवस्था हो जायगी। उसे कष्ट नहीं होगा। कोई यात्री-समुदाय आवे तो वह चला जाये उसके साथ।

'भगवान् के यहाँ तो जीव अकेला ही जाता है न!' उसके लिये यह साधारण तीर्थयात्रा नहीं है। वह तो भगवान् विश्वनाथ के यहाँ जा रहा है। वे परम प्रभु उसे पुकार रहे हैं। वह रुक कैसे जाय।

'मुझे मार्गभर बता दीजिये।' इतनी दूर का मार्ग उसे बता कौन दे। उसने बीच के बड़े-बड़े कुछ नगरों, तीर्थों के नाम रट लिये हैं। उन्हीं का नाम पूछते उसे आगे बढ़ना है। अनेक बार वह थोड़ा-बहुत इधर-उधर भटक जाता है। अनेक बार उसे मार्ग पूछने पास की बस्ती तक अनावश्यक जाना पड़ता है। कई लोगों से पूछने पर कोई मार्ग बता पाता है। अनेक बार लोग उसे दूर तक पहुँचा देते हैं। बीच के मुख्य ग्रामों तथा स्थानों का पता बता देते हैं। वह तो यात्री है, सुविधाएँ और कठिनाइयों की गणना करने बैठे तो उसकी यात्रा कैसे चले। संसार का सनातन यात्री कठिनाइयों और सुविधाओं की गणना तथा सम्हाल में ही अनन्तकाल से अटका पड़ा है, यह इस बात को समझ चुका है।

वह तीर्थयात्री है। आज तीर्थयात्री का भले कोई महत्त्व न हो, एक समय था जब तीर्थयात्री देवता के समान पवित्र माना जाता था। लोग उसे भूमि पर लेटकर प्रणिपात

करते हैं। बड़ी नम्रता से, बड़ी उत्सुकता से उससे प्रार्थना करते हैं कि वह उनकी कोई छोटी-सी भेंट स्वीकार कर ले। वह आतिथ्य का सौभाग्य देकर उनके घरों को तथा उन्हें पवित्र कर दें। लेकिन वह तो यात्री है। वह भेटों का भार ढोने चले तो उसकी यात्रा कैसे चलेगी। उसे तो पेट का गड्ढा भर देने को एक समय दो सूखी रोटियाँ बस हैं।

भगवान् विश्वनाथ- उसे लगता है कि वे गङ्गाधर त्रिलोकेश उसे पुकार रहे हैं, वे उसके साथ चल रहे हैं, वे उसे लिए जा रहे हैं। दुर्गम वन, अलंघ्य घाटियाँ, दूरुह पर्वत, बड़ा दुस्तर मार्ग है उसका। नगर, ग्राम, झोपड़ियाँ घटती जा रही हैं, घटती जा रही हैं और वन गहन होता जा रहा है। लेकिन उसे तो लगता है कि वह चल नहीं रहा हैं, उसे स्वयं पिनाकपाणि भगवान् शिव लिये जा रहे हैं।

'विश्वनाथ, विश्वनाथ, विश्वनाथ उसकी वाणी को विश्राम नहीं है। उसके मन को विश्राम नहीं है। पर्वतों के शिलाखण्ड, वृक्षों की सघन नीलिमा, वनपशुओं का भयानक गर्जन- उसे सब कहीं अपने विश्वनाथ की छवि या उनकी पदध्वनि सुनायी पड़ती है। कहीं वे आशुतोष वृषभध्वज समाधि लगाये शान्त बैठे दीखते हैं और कहीं वे त्रिलोचन कपालमाली हाथ में डमरू लिए ताण्डव में मग्न प्रतीत होते हैं। वे कुछ भी करें, उसके नाथ- विश्वनाथ हैं।

फूत्कार करके सर्प सरक जाते हैं, चर्र-मर्र करते भेड़िये घूरते हैं और भाग जाते हैं, चीते, तेंदुए, बाघ लेकिन उसे कोई दीखता नहीं, उसे कोई सूँघता तक नहीं। उसे तो एक दृश्य दीखता है- भव्य उत्तुङ्ग मन्दिर, आकाश में दूसरे दिवाकर-सा दम-दम दमकता उसका स्वर्णकलश और उस पर उड़ता श्वेत वृषभध्वज। काशी का कभी का न देखा विश्वनाथ मन्दिर उसका जैसे युग-युग का देखा है। वह अविरत देख रहा है उसे। यह वन, ये पर्वत, ये हिंस्र वनपशु- लेकिन उसके विश्वनाथ गिरीश हैं न। ये तो सब उनके सहचर हैं। उनके अपने है। वह स्वयं भी तो विश्वनाथ का है।

वनपशु क्रूर होते हैं, हिंसक होते हैं; किन्तु वे कपटी नहीं होते। वे अपने अन्तर में कुछ छिपाकर कुछ दूसरा ऊपर से दिखा नहीं सकते। जब किसी का हृदय हिंसा से शून्य हो जाता है, वनपशुओं की हिंसावृत्ति उसके लिए नहीं होती। वे भी उसको देखकर प्रसन्न होते हैं। उसके आगे पूँछ हिलाकर उसका वे भी स्वागत करते हैं- 'आप भले आये!'

केवल सृष्टि में एक ही प्राणी है जो सबसे भिन्न है। वह बाहर क्या है और भीतर क्या है, कोई कह नहीं सकता। वह बने तो देवता है, बने तो दानव है और फिर तो वह ऐसा भी कुछ बन रहता है कि पिशाच भी उसके बराबर बैठने में अपना अपमान

अनुभव करें। वनों में विभिन्न वेश बनाये दल-के-दल या अकेले घूमनेवाले वे मनुष्य भी तो कम नहीं हैं, जो मनुष्यों की घात में रहते हैं। कोई हिंस्र पशु अपनी जाति के पशु को नहीं खाता- अकारण नहीं मारता। पशु ने तो विश्वासघात सीखा ही नहीं। लेकिन मध्य भारत के वनों में बसने वाले पिण्डारे- विश्वास दिलाकर हत्या कर देने को ही, जिन्होंने व्यवसाय बना लिया था, मनुष्य यहाँ मनुष्य पर विश्वास करें तो क्या हो उसका, यह आप समझ सकते हैं।

वह भयानक वनों में रात्रि में एक शिला पर एक चद्दर बिछाकर सो रहता है। उसे चिन्ता नहीं कि वहाँ रात्रि को वनराज पधारेंगे या नागराज। वर्षा में किसी गुफा में बिना सोचे आश्रय लेने पहुँच जाता है, भले वहाँ पहले से कोई चीता या रीछ घुसा बैठा हो। उसे अब लगता ही नहीं कि कोई उसका शत्रु है, कोई उसे हानि भी पहुँचा सकता है। यह सब तो ठीक; किन्तु उस दिन वह एक पिण्डारे से ही मार्ग पूछ बैठा था। पिण्डारा और मार्ग बतायेगा? उसे पता ही कहाँ था कि वह पिण्डारा है। उसे मार्ग तो किसी-न-किसी से पूछना ही था और पास कोई स्थान हो तो वहाँ रात्रि विश्राम भी करना था।

जो होना था, वही हुआ। पिण्डारे का सदा का बहाना कि वह भी उधर का ही यात्री है, जिधर यात्री जा रहा है। रात्रि-विश्राम के लिए वह जहाँ रूका- पिण्डारे की इच्छा से रूका और वह पिण्डारों का अड्डा था। वह थी कार्तिक कृष्णपक्ष की चतुर्दशी। प्रत्येक पिण्डारे को इस दिन अपनी आराधना में एक बलि देनी ठहरी- एक मनुष्य को गला घोंटना ठहरा।

(3)

'मैं उसे जगा देता हूँ।' तीर्थयात्री के साथ आये पिण्डारे को अब पहचाना जा सकता है। वह अपने साथियों से घिरा बैठा है और उनका सरदार है।

'वैसे इसमें कोई हानि नहीं है। उसके चिल्लाने को यहाँ कोई सुनने वाला है नहीं और अकेला वह हमसे बचकर जा कहाँ सकता है।' एक युवक पिण्डारे ने कहा- 'लेकिन इतनी खटपट क्यों? वह खर्राटे लेकर सो रहा है।'

उसने बिना कहे, बिना पूछे अपनी गठरी मुझे रखने के लिए दे दी। उसने मुझे बताया है कि गठरी में कपड़े, सत्तू, नमक के अतिरिक्त चार सौ सत्रह रूपये भी हैं। उसने मुझे भी तीर्थयात्री समझा और मुझ पर विश्वास किया।' सरदार ने मस्तक झुका रक्खा था। वह कुछ सोच रहा था।

'बहुत सीधा शिकार है।' एक तरुण हँसते हुए बोला। 'वैसे चौकन्ने से चौकन्ना

शिकार भी हमारे सरदार के हाथ से निकल नहीं सकता था। किसी का विश्वास कैसे पाया जाता है, यह बात तो अभी हमें सरदार से बहुत सीखनी है।'

'हम सदा विश्वास प्राप्त करते हैं और फिर उस विश्वास करनेवाले को अवसर देखकर इस लोक से विदा कर देते हैं। बचपन से ही मैंने इसे सीखा है और किया है।' सरदार के स्वर में आज उत्साह नहीं है। आज जैसे उसे अपने पिछले कर्मों पर खेद हो रहा है। 'लेकिन आज मैं इस यात्री के साथ विश्वासघात नहीं कर सकूँगा। मैं उसे जगा देता हूँ, उसे यहाँ से मेरे वन से बाहर चले जाने दो और फिर तुम हो और वह है।'

दो क्षण तो सब-के-सब सरदार की ओर देखते रह गये। एक पिण्डारा और दया की बात करे? उनमें से जो सबसे बड़ा था, दल में जो सरदार के बाद आता था, उसने कहा- 'आज चौदस की रात है। एक भी दूसरा शिकार मिला नहीं है। हम सब मन मारकर बैठे हैं कि सरदार के हाथ ही यह काम आज कर लें। आप आज के दिन यह कहाँ का राग ले बैठे।'

'तुम जो कहते हो, वह मैंने भी सोचा था। मैं जानता हूँ कि आज का दिन खाली गया तो पूरा वर्ष खाली ही जाना ठहरा। मैं गया था, उसके गले में रूमाल लपेट चुका था, एक बार अँगुलियाँ कस जातीं- एक झटका और बस।' सरदार ने अपना वह रुमाल, जिसके बीच में और दोनों छोरों पर गाँठें थीं, जेब से निकाला। इस रूमाल ने कितनी हत्याएँ की थीं, इसका कुछ ठिकाना नहीं था। कोई बोले, रोके, तब तक तो सरदार ने रूमाल की गाँठें खोल दीं। एक पिण्डारे के रूमाल की गाँठे खुल जाना उनके दल में कोई साधारण घटना नहीं थी। पिण्डारा भले टुकड़े-टुकड़े काट दिया जाय, उसके रूमाल की गाँठ न खुले। गाँठ खुली और पिण्डारे का पिण्डारापन फिर कहाँ। लेकिन सरदार के लिए जैसे साधारण रूमाल की गाँठ खोली गयी हो- 'अब जब पूरा जीवन ही खाली जाना है तो एक वर्ष के खाली-भरे की बात कौन सोचे।' उसने रूमाल को हवा में झाड़ दिया, जैसे अपने पिछले समस्त पाप झाड़े दे रहा हो।

'हो चुका!' सरदार से जो छोटा था, उसने सरदार पद सँभाल लिया- 'आप हमारे इतने दिनों सरदार रहे, इसलिए हम इतना ही कह सकते हैं कि आप भीतरी गाँवपर चले जाँय।'

पिण्डारों का एक अड्डा था घोर वन में। बूढ़े, असमर्थ, रोगी पिण्डारे वहीं रहते थे। पिण्डारों का दल वहाँ के लोगों का पालन-पोषण करता था। पिण्डारों की भाषा में वह 'भीतरी गाँव' था।

'उसने मुझे गठरी दी, तब मैंने पूछा था कि तुम मुझ पर विश्वास क्यों करते हो? मैं

पिण्डारा होऊँ तो?' सरदार के मुख की भंगी विचित्र रूप से गम्भीर और दृढ़ हो गयी थी। उसने हँसकर कहा था– 'मैं मनुष्य पर कहाँ विश्वास करता हूँ। मैं तो भगवान् विश्वनाथ पर विश्वास करता हूँ और वे तुम्हारे भीतर भी हैं ही। तुम पिण्डारे हो या और कोई हो, मुझे इस प्रपञ्च से क्या।'

'उसका क्या होगा, इस झगड़े में अब आपके पड़ने की आवश्यकता नहीं है।' नये सरदार ने आज्ञा के कठोर स्वर में कहा। अपना रूमाल उसने अपने हाथ में ले लिया। आज का दिन हम सूना नहीं जाने दे सकते।'

'मैं उसे लाया हूँ।' बूढ़ा सरदार उठकर खड़ा हो गया। 'मैं उसे जगा देता हूँ। सावधान कर देता हूँ।'

नया सरदार एक बार हिचक गया। बूढ़े के स्वर में जो प्रचण्डता और दृढ़ता थी– अभी दो क्षण पहले तक जो उनका सरदार था, उससे हाथापाई किये बिना काम चल जाय, ऐसा ही मार्ग उसे निकालना था। उसने झल्लाहट भरे स्वर में कहा– 'आप अपना काम शीघ्र पूरा कर लें तो अच्छा।'

बूढ़े सरदार ने उस यात्री को जगा दिया। उसे परिस्थिति समझा दी। दस-बारह दढ़ियल मुँह को साफे में लपेटे– हट्टे-कट्टे पुरुष बूढ़े से चार गज पीछे खड़े हैं, यह उसने देख लिया। लेकिन उसके मुख पर तो चिन्ता की एक रेखा तक नहीं आयी। बड़ी सरलता से उसने कहा– 'मुझे सवेरे ही चल देना है। दिन भर का थका हूँ। आप इस समय हँसी करें, यह अच्छा नहीं लगता। मुझे सोने दीजिये।'

'इतना निर्भय! इतना भोला!' बूढ़े के नेत्र भर आये। उसे लगा कि उसका अपना ही पुत्र वहाँ सो रहा है। उसने यात्री को झकझोर दिया– 'भले आदमी! मैं हँसी नहीं करता। तेरे प्राण के ग्राहक वे खड़े हैं बारह यमदूत। तू उठ और...।' लेकिन और क्या? बूढ़े की समझ में नहीं आता कि उठकर भी वह क्या कर सकेगा।

'कौन? कहाँ है यमदूत?' उसने केवल सिर उठाकर देखा– 'ये सब मेरे भगवान् विश्वनाथ ही हैं। प्रलयंकर हैं वे मेरे प्रभु, सो तो मैं जानता हूँ; किन्तु अपने स्वामी की शरण में सोने में दास को क्या भय है।' सचमुच वह तो फिर सोनें के प्रयत्न में लग गया।'

'अब जो तुम लोग चाहो।' बूढ़े को लगा कि जब इसे मरना ही है तो जगते हुए हाथ-पैर पटककर कष्ट से मरे, इससे तो इसी प्रकार सोते हुए चुपचाप सदा को सो जाना कम कष्टकर है।

'जी! आपका काम हो चुका।'नया सरदार कहने को तो कह गया और आगे भी

बढ़ आया; किन्तु उसके हाथ में उठा रूमाल हाथ से छूटकर गिर पड़ा। यात्री करवट बदल रहा था उस समय और पता नहीं क्या आधी नींद- जैसे स्वर में कुछ हँसता-सा कह रहा था- 'विश्वनाथ! मेरे प्रभु!'

'अपशकुन हो गया।' सच तो यह है कि नये सरदार को पता नहीं क्यों लगता था कि उसके हाथ काँप रहे हैं, उसका रक्त जम रहा है, उसका हृदय धड़क रहा है। वह यात्री की ओर देख नहीं पा रहा था। अपना रूमाल लेकर वह घूम पड़ा- 'इसे जाने दो!' आज अपशकुन हो रहा है।'

'जाने दो तब!' कोई नहीं देखता था कि बूढ़ा सरदार हँस रहा था। उसका यह यात्री-अद्भूत है यह यात्री। पिण्डारे-सा हत्यारा भी जिसे देखकर पिंघल उठे। लेकिन वह भगवान विश्वनाथ का विश्वासी- उन सर्वेश्वर पर विश्वास करने वाले को कभी कहीं भय रहा भी है कि आज भी रहेगा। वह सो रहा है मजे से। वह तो सदा ही मजे से सोता है।

❑❑

शरीर अनित्य है

लोग पागल कहते हैं वैद्यराज चिन्तामणिजी को, यद्यपि सबको यह स्वीकार है कि उनके हाथ में यश है। नाड़ी ज्ञान में अद्वितीय हैं और उनके निदान में भूल नहीं हुआ करती। वे जब चिकित्सा करते हैं, मरते को जीवन दे देते हैं; किन्तु अपने पागलपन से उन्हें जब अवकाश मिले चिकित्सा करने का।

इतना निपुण चिकित्सक- उसके हाथ में लोहे को सोना करने वाली विद्या थी। वह अपना व्यवसाय किये जाता- लक्ष्मी पैर तोड़ उसके घर में बैठने को प्रस्तुत कब नहीं थी; किन्तु पता नहीं कहाँ से एक जटाधारी भभूतिया साधु आ मरा इस बेचारे ब्राह्मण के यहाँ। इसे किसे पता क्या-क्या कह गया और पाँच-सात ताड़पत्र दे गया। उन ताड़पत्रों पर क्या लिखा है, कोई कैसे बताये। वैद्यराज प्राणों के साथ उन्हें चिपकाये फिरता है। घर की जमा पूँजी भी इसने फूँक डाली। धुन चढ़ी थी इसे पारद-भस्म बनाने की। ताँबे को सोना बनाना चाहता था। घर आता सोना छोड़कर स्वप्न के सोने के पीछे इसने घर भी फूँक डाला।

सनकी है चिन्तामणि। उससे कोई पूछे, समझाये तो हँस देता है। सारे संसार को मूर्ख मान लिया है उसने। अब उसे अमर बनने की सनक चढ़ी है। बहुत उमंग में होगा तो अपने उन सड़े गले ताड़पत्रों का एकाध श्लोक बोल देगा।

अब यह चिड़ियों के सामान आकाश में उड़ने और अमर बनने की धुन में है। ऋषि-मुनियों की बातों पर हमें संदेह नहीं करना चाहिये; किन्तु ये बातें ऋषियों के योग्य हैं। इनका रहस्य वे जानते थे। ऐसी बातों के पीछे पड़ने से इस कलियुग में कोई लाभ नहीं।

आज बारह वर्ष तो हो गये चिन्तामणि को। क्या पाया उसने? कितने माशे स्वर्ण बना सका! अब तक अपने काम में लगा रहता तो सोने का महल बना लेता। घर पर मोटर ही नहीं, हवाई जहाज खड़ा कर लेता और मनमाना उड़ता आकाश में। रही अमर होने की बात, सो इस युग में तो कोई अमर हुआ नहीं, होता नहीं।

अब बच्चे भूखे के मारे पड़ोसियों के घर चक्कर काटते हैं। पण्डितानी की साड़ी में पेबंद लगते हैं। लोग ब्राह्मण समझकर अन्न घर न पहुँचा दिया करें तो चूल्हे में चूहें डंड करें और पण्डितजी को अपनी सनक से अवकाश नहीं। आज नर्मदा-किनारे जाने को टिकट कटा रहे हैं और कल हरिद्वार या कामरूप का। कर्ज ले-लेकर अब यात्राएँ करने लगे हैं। इतनी लंबी यात्रा करके, इतना कष्ट उठाकर जब लौटेंगे- शरीर सूखकर काँटा हुआ मिलेगा। लायँगे कुछ घास-फूस और उनकी बातें सुनों उस समय लगेगा जैसे संसार का सारा खजाना लूट लाये हों।

'यह बाजार में मिलनेवाला कृष्णवर्ण शूद्र पारद है।' पण्डितजी की सनक अब उनके एक शिष्य पर भी चढ़ने लगी है, उसे भी वे चौपट करने पर तुले हैं। उसे पारद में भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यादि वर्ण बताया करते हैं- 'स्वर्ण बन सकता है। पीतवर्ण वैश्य पारद से। आकाश में उड़ने की शक्ति तथा अमरत्व प्रदान करने में उज्ज्वल क्षत्रिय पारद समर्थ है और यदि कहीं रक्तवर्ण विप्र पारद मिल जाय- मुक्ति का साधन ही मिल गया समझो।'

वैद्यराज की कल्पना से बाहर भी इन पारदों का कोई अस्तित्व है, मुझे तो इसमें पूरा संदेह है। वैसे वे कहा करते हैं- 'भगवान् दत्तात्रेय ने रसेश्वर सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया। सिद्ध रस का सेवन करने से अनामय, सुपुष्ट, अमर शरीर प्राप्त होता है और अब उस शरीर से निर्विघ्न योग के साधन किये जा सकते हैं।'

यह सब उन ताड़पत्रों में नहीं लिखा हो सकता। इन बारह वर्षों में ये पण्डित जी यही सब संग्रह करते रहे हैं। पारद के सम्बन्ध में यहाँ क्या लिखा है, यह सब अब आप इनसे पूछ सकते हैं। यह बात दूसरी है कि उसमें कितना सत्य है और कितना ऐसे ही सनकी लोगों का लिखा है, यह जानने का कोई साधन अब किसी के पास नहीं है।

हिंगुलोत्थ पारद भी केवल शुद्ध शुद्र पारद ही है। उससे सेवा ही सम्पन्न हो सकती है। रोगी के लिए औषध बनने से अधिक उसका उपयोग नहीं है।' वैद्यराज की सम्मति है कि - 'यह शूद्र-युग है। इसमें शेष तीनों पारद लुप्त हो गये हैं। अब उन्हें भगवान दत्त की कृपा के बिना पाना असम्भव है।'

घर के लोगों को चाहे जितना शोक हो, यह अनिवार्य था कि वैद्यराज भगवान् दत्त की कृपा प्राप्त करने का प्रयत्न करते। उन्होंने क्या मार्ग अपनाया कृपा प्राप्त करने का, किसी को बता नहीं गये, केवल चले गये घर से। इस बार अकस्मात् चले गये घर से बिना किसी से कुछ कहे और अब महीना बीत गया, उसका कोई समाचार नहीं है।

× × ×

गिरनार के शिखरों की चढ़ाई आज भी सुगम नहीं है। यद्यपि श्रद्धालु सम्पन्न जनों ने सीढ़ियाँ बना दी हैं, फिर भी दत्तशिखर तक पहुँचते-पहुँचते लगभग दस सहस्र सीढ़ियाँ चढ़नी पड़ती हैं। कौन हाँफ नहीं जायगा। उससे पर्याप्त आगे वह महाकाली-शिखर-दूर से उसे प्रणाम कर लिया जा सकता है। कोई अत्यधिक साहस करे, तो भी उसे रात्रि गोरख-शिखर पर व्यतीत करनी चाहिये और प्रातः भगवान् दत्तात्रेय की पादुका का वन्दन करते आगे बढ़ना चाहिये। इसी प्रकार वह महाकाली की गुफा में उनके श्रीचरणों तक पहुँच सकता है।

महाकाली-शिखर तक कदाचित् ही कोई यात्री पहुँच पाता है। इससे अधिक एकान्त चाहिये तो फिर कहीं शेर की माँद चुननी होगी। वैसे शेर तो आते हैं गिरनार के पदप्रान्त तक। यह महाकाली-गुफा तो उनके क्रीड़ाक्षेत्र में हैं। सिंहवाहिनी के भवन में सिंह न आवे तो आवेगा कहाँ।

आजकल एक वृद्ध आ बैठा है महाकाली-गुफा में। गौरवर्ण, तनिक दुहरा देह, जिस पर झुर्रियाँ पड़ी हैं, मस्तक के समस्त केश उज्जवल, बढ़ी हुई सफेद दाढ़ी-मूँछें; किन्तु वह साधु नहीं है। उसके शरीर पर एक कुर्ता है मैला-सा और कटि में मैली धोती है। सम्भवतः यात्रा ने उसके वस्त्र मैले कर दिये हैं और यहाँ उन्हें स्वच्छ करने को साबुन कहाँ से पाये वह। उसके पास एक लोटा है, एक कम्बल है बिछाने को, एक चद्दर है- बहुत सीमित सामग्री है उसके साथ।

पास के स्रोत में स्नान कर लेता है और लोटे के जल से जगदम्बा की मूर्ति को भी स्नान करा देता है। आप इसी को पूजा कहते हों तो कह लें; क्योंकि पूजा का और कोई उपकरण उसके पास नहीं है। आज सात दिन उसे यहाँ आये हो गये। ये सात दिन उसने केवल समीप के स्रोत के जल पर काटे हैं। अब चाहे तो भी शरीर में इतनी शक्ति नहीं कि गिरनार की चढ़ाई पार करके गोरख-शिखर तक भी पहुँच सके।

'वहाँ शेर आते हैं। संध्या से पहले गोरख-शिखर लौट आना!' सात दिन पूर्व जब वह जूनागढ़ से चला था, उसका विचार जानकर एक स्थानीय सज्जन ने उसे सावधान किया था। उसने कोई उत्तर नहीं दिया था। लौट आने तो वह आया नहीं। सिंहवाहिनी की शरण में जो पड़ा है, उसे शेर कैसे खा जायगा? आज सातवीं रात्रि प्रारम्भ हुई है। पिछली छः रात्रियों में तो उसने शेर को देखा भी नहीं। वैसे वन में वनपशु की दहाड़ आती है, इसमें अद्भुत क्या है?

आज उसे स्नान करने में कष्ट हुआ है। अब उठने में चक्कर आता है। चलते समय नेत्रों के आगे अन्धकार छा जाता है। कदाचित् कल स्रोत तक खिसककर जाना पड़े। अन्न में प्राण हैं इस युग में और सात दिन से वह केवल जल पीकर रहा है।

'माँ! जगज्जननी! यदि मैं अधिकारी नहीं हूँ तो मुझे तुमने इधर क्यों आकृष्ट किया?' आज वह जगदम्बा की मूर्ति के सम्मुख घुटने टेके बैठा है रात्रि के प्रथम प्रहर से ही- 'अब मैं यहाँ से जाने वाला नहीं हूँ। शरीर यहीं छूटेगा। भगवान् दत्त को मैं कहाँ ढूँढूँ। तुम सर्वेश्वरी हो, सर्वशक्तिमयी हो और यहाँ गिरनार की दत्त के आश्रम की अधिष्ठात्री होकर बैठी हो। मैं तुम्हें ब्रह्महत्या देकर मरूँगा! कपालिनी! इस ब्राह्मण का कपाल तुम्हारी मुण्डमाला में रहकर भी तुम्हें कोसता रहेगा!'

ब्राह्मण अपनी हठ पर उतर आया था। उसका परम बल है अनशन और वह अनशन किये बैठा था। जगद्धात्री जगदीश्वरी के द्वार पर- उस द्वार पर जहाँ से कोई कभी निराश नहीं लौटा। पागल ब्राह्मण- अरे, माँ के यहाँ अनशन की आवश्यकता? जहाँ सहज स्नेह से माँ से कुछ भी माँग लिया जा सकता है, अपनी अश्रद्धा से आकुल अविश्वस्त ब्राह्मण वहाँ अनशन किये बैठा है।

'हैं!' मरण इतना सरल नहीं है। ब्राह्मण भय से चौंक पड़ा। उसे लगा कि गुफा में शेर आ गया है और वह पीछे से उसे सूँघ रहा हे। उसने चौंककर पीछे देखा- कुत्ता, केवल एक कुत्ता था उसके समीप। सिर से पैर तक काला, सुपुष्ट कुत्ता और वह अब भी पूँछ हिलाता ब्राह्मण को स्नेहपूर्व सूँघे जा रहा था। जैसे वह प्रयत्न कर रहा था पहचानने का कि यह व्यक्ति उसका कोई परिचित है या नहीं।

'कुत्ता! यहाँ! इस समय अर्धरात्रि में!' ब्राह्मण उस तगड़े, सुन्दर काले कुत्ते को इस प्रकार देख रहा था जैसे कोई अद्भुत प्राणी देख रहा हो- 'कैसे आया यह? मुझे क्यों सूँघ रहा है? भौंकता क्यों नहीं?'

ब्राह्मण को अधिक सोचते रहने का समय मिला नहीं। कुत्ता उसके कुर्त्ते का छोर मुख में लेकर बार-बार खींचने लगा था। ब्राह्मण को लगा, वह कुछ कह रहा है। 'क्या चाहते हो तुम? कहाँ ले चलना चाहते हो मुझे? तुम्हारे साथ चलूँ?'

ब्राह्मण किसी प्रकार उठ खड़ा हुआ। कुत्ते ने कुर्ता छोड़ दिया और आगे-आगे चलने लगा। अब ब्राह्मण ने उसका अनुगमन करना स्वीकार कर लिया था।

× × ×

'रससिद्धि सांसारिक विषय भोग में लिप्त रहकर मानव को पशु प्राय बनने में सहायक होने के लिए नहीं है!' ज्योत्स्ना-स्नात स्वच्छ शिला पर जलस्रोत के समीप एक ज्योतिर्मयी मूर्ति आसीन थी। दो श्वान शिला से नीचे बैठे थे। तीसरा भी ब्राह्मण को कुछ दूर छोड़ दौड़ आया था और उनके पास ही शान्त बैठ गया था। ब्राह्मण की

दृष्टि गयी उधर- धन्य हो गया जीवन। प्रणिपात करते वह पृथ्वी पर गिर पड़ा। कुछ क्षण लगे आश्वस्त होकर उठने में। उसके कण्ठ से स्वर नहीं निकल रहा था। प्रभु के संकेत पर वह शिला के समीप बद्धाञ्जलि बैठ गया था। प्रभु अपने मेघ गम्भीर स्वर में कह रहे थे- 'अक्षीणवासन सत्पुरुष अपनी साधना से सृष्टि में सत्त्वगुण को सुरक्षा देते रहें, उनका संकल्प लोक में मङ्गल का विस्तार करे, इसलिए मैंने रससिद्धि का प्राकट्य किया।'

'यह क्षुद्र आज्ञा का अनुवर्तन करेगा।' किसी प्रकार ब्राह्मण कह सका।

'आज्ञा के अनुवर्तन की बात नहीं।' भगवान् दत्तात्रेय प्रशान्त बने थे। 'रससिद्धि किसी की किसी कामना की पूर्ति का साधन नहीं। वह सृष्टि का निगूढ़ रहस्य है और केवल उन सिद्धसत्त्व अधिकारियों के लिए है, जिनका 'अहं' सर्वात्मा को अर्पित हो चुका है।'

'श्रीचरणों के समीप आकर भी मैं अभागा ही रहूँगा।' ब्राह्मण क्रन्दन कर उठा।

'अच्छा, तुम देखो!' प्रभु की अर्धोन्मीलित दृष्टि एक बार उठ गयी ब्राह्मण की ओर।

'हे भगवान्!' कुछ क्षण में चीत्कार कर उठा ब्राह्मण। वह क्या देख रहा है- उसकी स्त्री मर गयी, पुत्र वृद्ध हुए और मर गये। पौत्र मरणासन्न पड़ा है..... उसके कुल में कोई नहीं रहा। कोई नहीं रहा उसके परिचितों में, सम्बन्धियों में। वह जिससे स्नेह करता है, वही मर जाता है। मृत्यु-मृत्यु! आज यह, कल वह। परसों तीसरा- वर्ष जैसे छोटे हो गये हैं। उसे रोना-केवल मरनेवालों के लिए रोना रह गया है। क्यों जीता रहे, किसके लिए? अमरत्व-उसे अमरत्व का प्रसाद मिला है रुदन! चिल्ला उठा वह- 'नहीं चाहिये ऐसा अमरत्व!'

'इस शरीर का धर्म है नष्ट होना। तुम जिन्हें अमर मानते हो, वे भी मरेंगे।' ब्राह्मण जब उस दृश्य से उपरत होकर आश्वस्त हुआ, प्रभु कह रहे थे- 'ब्रह्मा को भी जब मरना है, तब उनकी सृष्टि के प्राणी अमर कैसे हो सकते हैं। आज जो रससिद्धि से अमर हुए हैं, उनका अमरत्व कल्पपर्यन्त है। केवल ब्रह्मा के एक दिन वे जी सकते हैं। मृत्यु शरीर का धर्म है।'

'मैं मूर्ख हो गया था।' ब्राह्मण में अब कोई आग्रह नहीं रह गया था।

'तुम रससिद्धि का संकल्प लेकर आये, वह तुम्हें प्राप्त होगी।' भगवान् के अद्भुत भाव कौन समझे- 'किन्तु इस शरीर के शान्त होने तक सन्तोष करो। इसके प्रारब्ध को पूर्ण हो लेने दो। शरीर और उसके सुखभोग की वासनाएँ समाप्त कर लो पहिले इसी शरीर में।

× × ×

वैद्यराज चिन्तामणि दूसरे महीने घर लौट आये। उनके पुत्र और स्त्री को ही उन्हें पहिचानने में प्रयत्न करना पड़ा। स्वर और आकृतिमात्र ही तो थी वह। सुन्दर सुपुष्ट शरीर एक तरुण आकर कहे कि 'मैं चिन्तामणि हूँ' तो कोई झटपट कैसे विश्वास कर ले। क्या हुआ जो उसके केश उज्ज्वल थे। बड़ा आश्चर्य हुआ लोगों को।

'आपने रससिद्धि प्राप्त कर ली?' चिन्तामणि से बार-बार पूछा गया यह प्रश्न; किन्तु उन्होंने किसी को उत्तर नहीं दिया। हँसकर इसका उत्तर वे टाल दिया करते थे।

इस बार घर आते ही वे जुट गये अपने व्यवसाय में। सबको बड़ी प्रसन्नता हुई। इनका पागलपन तो गया। एक वर्ष में ही उन्होंने कन्या का विवाह कर दिया। बड़े पुत्र को अपने व्यवसाय में लगा दिया।

'सती! शरीर का ठिकाना नहीं। मौत सिर पर खड़ी है। मन इन बाल-बच्चों से हटकर भगवान् में लगाओं तो अच्छा।' बार-बार वे स्त्री को समझाते रहे हैं और ये बातें अब महत्त्वपूर्ण हो गयी हैं, जबकि फिर वैद्यराज सहसा घर से चले गये हैं। इस बार वे एक कागज छोड़ गये हैं। उसमें लिखा है- 'शरीर अनित्य है। अब इसके लौटने की आशा नहीं करना चाहिये। प्रभु के भजन में ही सबका मङ्गल है। तो वैद्यराज को भी रससिद्धि नहीं मिली? वे भी अमर नहीं हो सके?'

❑❑

अर्चावतार

'स्वामी दयानन्दजी बच्चे थे, तभी वे समझ गये थे कि मूर्ति भगवान् नहीं है और आप...।

'आप स्वामी दयानन्दजी की बात नहीं कर रहे हैं' उन विद्वान् को बीच में ही रोककर मैंने कहा- 'आप तो बालक मूलशंकर की बात कर रहे हैं इस समय। स्वामी दयानन्दजी तो वे बहुत पीछे हुए और आप भी जानते हैं कि स्वामी होने के बाद भी कई वर्षों तक दयानन्दजी शिवमूर्ति की पूजा करते रहे हैं।'

'किन्तु उन्होंने मूर्तिपूजा का खण्डन किया है।' मेरी बात को अस्वीकार करने की तो कोई स्थिति थी नहीं। उन्होंने दूसरे ढ़ंग से अपनी बात कही- 'बचपन में जिस सत्य का साक्षात्कार उन्होंने किया था....।'

'वह सत्य का साक्षात्कार नहीं था, कल्पना थी।'

मैंने कहा- 'निर्णय का भार मैं आप पर छोड़ता हूँ। आप बताइये, यदि स्वामी जी आज जीवित होते और उन पर कोई बच्चा मुट्ठी भर धूल फेंक देता तो वह उसे क्या डंडा लेकर मारने दौड़ते?'

'आप भी कैसी बात कर रहे हैं।' उन सज्जन ने कहा- 'स्वामीजी ने अपने प्रति किये गये बड़े-बड़े अपराधों को भी क्षमा ही किया है। उनका जीवन तो अद्भुत क्षमाशील रहा है।'

'यह सत्य है कि श्रीस्वामी जी बड़े क्षमाशील थे, पर जिस सर्वशक्तिमान् क्षमासिन्धु की अनन्त क्षमा का एक कण पाकर महात्मा संत क्षमाशील होते हैं, उस परमात्मा की क्षमाशीलता का अनुमान कोई कैसे कर सकता है।'

मैंने कहा- 'वही अनन्त करुणावरुणालय अनन्त क्षमाशील परमात्मा अपनी मूर्ति पर चढ़कर घूमते और चढ़े हुए अक्षत को खाते एक चूहे को वैसा कर देता है, इससे मूर्ति में ईश्वर नहीं है, ऐसा सत्य कहाँ से आ गया? आप आशा करते हैं कि अपनी ही सृष्टि के एक अबोध शिशु को, जो प्रसाद से उदरपूर्ति के प्रयत्न में है, वह जगन्नियन्ता शिव त्रिशूल लेकर मारने दौड़ेगा?'

'लेकिन मूर्ति तो परमात्मा नहीं है, वह तो....'

'निश्चय ही मूर्ति परमात्मा नहीं है, मूर्ति तो सदा ही जड़ होती है।' मैंने बीच में उन्हें रोक दिया।

'तब जड़ की पूजा आप क्यों करते हैं?' इस बार उत्साहपूर्वक वे बोले– 'पूजा तो चेतन की की जानी चाहिए।

'यदि आपको मूर्ति की ही पूजा करनी हो' मैंने अपने ढंग पर उनसे पूछा– 'आप पत्थर, धातु, काष्ठ आदि की मूर्तियों से कोई पसंद करेंगे या कसाई के यहाँ से माँस लाकर कोई मूर्ति बना दी जाय तो उसे?'

'छिः !' नैष्ठिक शाकाहारी होने के कारण उन्होंने नाक सिकोड़ ली। वे ऐसा कुछ करेंगे, यह आशा मुझे पहले से थी।

'लेकिन आप धातु आदि की मूर्तियों के पूजन का विरोध कर रहे हैं और गुरु, माता–पिता आदि जिनके पूजन का प्रतिपादन करते हैं, उनके मांस–हड्डी–चमड़े से बने शरीर की गंदी जड़ मूर्ति की ही तो पूजा करते हैं आप। पूजा के लिए उनमें रहने वाला चेतन कभी मिला है आपको?'

'जड़ शरीर के माध्यम से चेतन की पूजा करते हैं हम वहाँ।' मेरे वे सम्मान्य मित्र दर्शन–शास्त्र से गुरुकुल के स्नातक हैं। इसलिए मेरी बात समझने में उन्हें कठिनाई नहीं हुई वे स्वतः बोले– 'बिना जड़ के माध्यम के चेतन के साथ सम्पर्क नहीं बनाया जा सकता।'

'माता–पिता आदि के शरीर में चेतन जीव है। उस शरीर की सेवा से उसे प्रसन्नता होती है। अतः शरीर की सेवा उस शरीर में रहने वाले चेतन की सेवा है। यह आपकी बात ठीक ही है।' मैंने उनसे कहा– 'ईश्वर सर्वज्ञ है, सर्वव्यापी है और सर्वान्तर्यामी है। जो सर्वव्यापी है, वह मूर्तियों में भी है ही। मूर्ति की पूजा करने वाला अनीश्वर की नहीं, मूर्ति के माध्यम से ईश्वर की पूजा करता है और यह बात ईश्वर जानता है। तब मूर्ति पूजा ईश्वर की साक्षात पूजा नहीं है, यह बात आप कहते कैसे हैं?'

'अब आपसे फिर बात करूँगा।' उन सज्जन ने उस समय पिण्ड छुड़ाया और मुझे भी इससे प्रसन्नता हुई; क्योंकि मुझे भी दर्शन करने मन्दिर जाना था।

× × ×

'मैया! आज लाला के दर्शन नहीं करायेगी?' उस दिन आनन्दीमाई के मन्दिर में साढ़े ग्यारह बजे तक भी दर्शन खुले नहीं थे। श्रीबाँकेबिहारी जी के दर्शन करके श्रीराधावल्लभ जी की झाँकी करते मैं प्रायः प्रतिदिन आनन्दीमाई के मन्दिर आया करता था। यह बात आज नवीन थी, इतनी देर तो कभी नहीं हुई थी। मन्दिर के पट खुले थे; किन्तु पर्दा हटाया नहीं गया था। भीतर श्रीआनन्दीमाई होंगी, इस आशा में ही

मैंने पुकारा था। मन्दिर में बाहर कोई उस समय नहीं था, मैं एकाकी दर्शनार्थी पहुँचा था।

'लाला! यह राधा मुझे बिकवाकर रहेगी!' वृद्धा आनन्दमाई पर्दे से बाहर निकलीं तो उनका आज का स्वरूप देखकर मैं चकित रह गया। उनका गौर मुख क्षोभ से तमतमाया था। नेत्रों में क्रोध के साथ दुःख था। रुई जैसे श्वेत केश बिखरे हुए थे। 'यह आज साड़ी पहिनकर नहीं दे रही है। इतना समय हो गया। लाला भूखा है और यह राधा....।'

यहाँ यह बता दूँ कि श्रीआनन्दमाई ब्रजराजकुमार श्रीकृष्णचन्द्रको अपना पुत्र मानती थीं और श्रीवृषभानु नन्दिनी को पुत्रवधू। उनके मन्दिर में श्रीराधाकृष्ण की बड़ी सुन्दर मूर्ति है। पूजा नहीं- लाड़ लड़ाती थीं मैया उनका। ब्रजवासी बालकों से मैया का बहुत स्नेह था। प्रायः वे ब्रजवासी ब्रजवासियों के बालकों को बुलाकर उन्हें भोजन कराती थीं तथा वस्त्रादि देकर उनका सत्कार करती थी। वृन्दावन आने के दो-तीन दिन बाद से ही मैं उनके मन्दिर में दर्शन करने जाने लगा था। पता नहीं क्यों, मुझे भी वे एक ब्रजवासी बालक के समान स्नेह करती थीं। वे भण्डार अथवा रसोई में हों और मैं दर्शन करके चुपचाप चला जाऊँ तो बात दूसरी, अन्यथा देखते ही प्रसन्नता से खिलकर कहतीं- 'लाला आया! लाला आया!' और किनका प्रसाद दिये बिना खाली नहीं लौटने देती थीं।

'मैया! कैसी साड़ी है यह?' उस दिन मैया का क्षोभ देखकर मैंने पूछ लिया; क्योंकि मुझसे बोलते-बोलते उनके नेत्रों से आँसू टपक पड़े थे। वे बहुत व्याकुल थीं और समझ नहीं पाती थी कि क्या करें।

'देख लाला! तू ही देख ले।' पर्दे के भीतर जाकर एक लाल रंग की रेशम की सुन्दर-सी साढ़ी वे ले आयीं। साड़ी पर हल्का-सा जरी का काम किया था। मैं जानता था कि मुझे उनका स्पर्श नहीं करना चाहिये; क्योंकि स्नान करके, रेशमी वस्त्र पहिनकर ही मैया मन्दिर में जाती थीं। मैं झुककर देख रहा था और वे कह रही थीं- 'अभी कल ही ले आयी हूँ। यह बुरी है क्या? वह राधा इसे पहनकर नहीं देती हैं।'

'मैया, सच बता। इस साड़ी को लेने में तूने कंजूसी तो नहीं की है?' अचानक ही मैं पूछ बैठा। मेरी यह धृष्टता थी; किन्तु उन महानीया के वात्सल्य ने ही मुझे धृष्ट बना दिया था। एक बात और- उनका अद्‌भुत वात्सल्य देखते हुए यदि उनकी लायी साड़ी स्वीकार नहीं हो रही है तो यह कोई प्रेम का ही विवाद होगा, यह सहज अनुमान किया जा सकता था।

'लाला! मेरा अपना क्या है। इनके लिये ही तो मैं कुछ बचाना चाहती हूँ।' उन वृद्धा के नेत्र इस बार उमड़ ही पड़े थे- 'अब मेरे पास बहुत थोड़ी पूँजी रह गयी है। साड़ी लेने गयी तो दूकानदार ने कई साड़ियाँ दिखायीं, यह पच्चीस रुपये की है। एक दूसरी तैतीस रुपये की थी।' वे सहसा चुप हो गयीं।

'सच बता, तुझे वह दूसरी साड़ी बहुत अच्छी लगी थी न?' मैंने पूछ लिया।

'वह थी तो बहुत अच्छी; किन्तु यह भी तो बुरी नहीं है।' बड़ा सरल सहज स्वर था।

'लेकिन तेरी बहू अब इसे तो पहिनने से रही।' मैं हँस पड़ा- 'उसे तो वही साड़ी लेनी है, जो तुझे बहुत अच्छी लगी थी।'

'लाला! अब तू थोड़ी देर यहाँ बैठ!' अनुनय करने के ढ़ंग पर उन्होंने कहा; क्योंकि मन्दिर का पट खुला था और वहाँ दूसरा कोई था नहीं। इस प्रकार सूना मन्दिर छोड़कर वे बाजार जा भी कैसे सकती थीं। 'मैं हाल आती हूँ।'

जल्दी-जल्दी उस साड़ी को तहाकर उन्होंने कागज के डिब्बे में रक्खा, अपनी पूजा की साड़ी बदलकर साधारण वस्त्र पहिने और बाहर निकल गयीं।

× × ×

काश्मीरी ब्राह्मणों का कोई परिवार अमृतसर में बस गया था, उस परिवार को अपने जन्म से इन्होंने धन्य बनाया है। किसी ने मुझसे कहा है कि वे बाल-विधवा है। संतान हुई थी; किन्तु रही नहीं। परिवार के लोग भी कालकवलित हो गये। खूब सम्पन्न घराना था।

अपना सब कुछ बेचकर ये वृन्दावन आयीं तो इनके पास कई लाख की सम्पत्ति थी। यह मन्दिर बनवाया और श्री नन्दनन्दन को अपना पुत्र मानकर उसके लालन-लाड़न में लग गयी।

वह सम्पत्ति तो अब तक लगभग समाप्त हो चुकी है। मुझे यह भी पता नहीं कि बताने वाले का विवरण कितने अंशों में ठीक था; किंतु एक बात प्रत्यक्ष है और वह यह कि वात्सल्य भाव की अगाध सम्पत्ति की ये स्वामिनी हैं।

वार्धक्य के कारण किञ्चित् स्थूल शरीर, शुभ्र गौर वर्ण, श्वेत केश एवं अत्यन्त श्वेत वस्त्रों में उनका झुर्री पड़ा, बड़े-बड़े नेत्रों तथा विशाल भालवाला दिव्य वपु देखते ही 'मैया!' कहने को अपने-आप चित्त समुत्सुक हो जाता है। वे मूर्तिमान् मातृत्व लगती हैं।

मैं उनके सम्बन्ध में ही यह सब सोच रहा था, इतने में ही वे लौट आयीं। बिना एक शब्द बोले कागज का डिब्बा लिये अपने निवास-कक्ष में चली गयीं। मुझे लगा कि उन्होंने शीघ्रता पूर्वक दो-चार लोटे जल शरीर पर डालकर स्नान किया है। मन्दिर में जाने वाले वस्त्र बदले और मन्दिर में चली गयीं। यह सब करने में कठिनाई से पाँच मिनट लगे होंगे।

'देख लाला! अब इसने अपने-आप कैसे झटपट यह साड़ी पहिन ली है।' तीन-चार मिनट में ही मन्दिर का पर्दा हटा दिया उन्होंने। आनन्द के आवेग से उनका रोम-रोम प्रफुल्लित लग रहा था। नेत्र खिल उठे थे- 'आज कैसी सज गयी है यह!'

मैंने दर्शन किया। सचमुच श्रीराधा का श्रीविग्रह बहुत सुसज्ज था आज। नयी साड़ी अत्यन्त कलात्मक ढंग से पहिनी गयी थी। तीन-चार मिनट में इतने अच्छे ढ़ंग से वस्त्र-सज्जा हो सकती है, सोचकर आश्चर्य होता है। मैया कह रही थीं- 'तू नेक रुका रह। मैं झटपट भोग लगाती हूँ। आज यहीं प्रसाद लेना है तुझे।'

मैंने देखा नहीं था कि मन्दिर में पर्दे के पीछे क्या हुआ था; किन्तु श्रीआनन्दीमाई ने यही तो कहा था- 'इसने अपने आप कैसे झटपट साड़ी पहिन ली है!' वहाँ भीतर से ये दोनों श्रीविग्रह सजीव-साकार उठे हों, अद्‍भुत बात तो नहीं है। प्रतिमा भगवान् की मूर्ति नहीं है, वह अर्चावतार है, साक्षात् भगवान् हैं, यह बात उस दिन समझ में आयी। लेकिन अपने उन मित्रों को क्या समझा पाऊँगा कि मेरे सम्मुख ही अर्चावतार ने अपनी लीला प्रदर्शित की? वे इसे समझ पायेगे?

❑❑

भोले भगवान्

हरीश आज इस ज्येष्ठ की दोपहरी में बहुत भटका, बहुत-से-दफ्तरों के द्वार खटखटाये उसने, अनेक समाचार-पत्रों और दूसरे कार्यालयों में पहुँचा; कितने दिनों से चल रहा है यह क्रम; कौन गिनने बैठा है इसे। विश्व-विद्यालय से एम० ए० करके अपने साथ अनेक प्रशंसा-पत्र लिये भटक रहा है हरीश। 'काम नहीं है।' उसके लिए! एक एम० ए० के लिए क्या विश्व में कहीं काम नहीं है? वह अकेला है, घर पर और कोई नहीं; घर ही नहीं उसके तो; पर पेट है न! अकेले को भी तो भूख लगा करती है। दो-तीन दिन पहले एक कबाड़ी के हाथ वह अपना फाउन्टेन पेन मिट्टी के मोल बेच चुका और अब तो आज मुट्ठी भर चने लेने में ही उसकी अन्तिम पूँजी भी समाप्त हो गयी। 'काम नहीं' लगभग सात-आठ महीने हो चुके, उसकी सभी प्रार्थनाओं का जो उसने इधर-उधर भेजी, एक ही उत्तर। वह जहाँ जाता है, उसे द्वार पर दिखा दिया जाता है - 'काम नहीं'। इतने बड़े संसार में उसके लिए कहीं काम नहीं और अब कल के लिए कौड़ी भी पास नहीं है। 'काम नहीं'। इस ग्रीष्म में, इस तवे-से-तपते पथ पर यह भटकता रहा और अब उसे लगता है कि सचमुच संसार में उसका अब कोई काम नहीं है।

रुखे बिखरे बाल, तमतमाया फीका मुख, पसीने से लथपथ देह और भाल पर चिपकी कुछ अलकें- शरीर कहाँ तक साथ दे किसी का। अब चक्कर आने लगा। पार्क दूर है और कुछ देर विश्राम चाहिये। इधर-उधर देखकर मन्दिर में घुस गया हरीश। शीतल छाया, सुगन्धित वायु, जैसे प्राणों को अद्‌भुत तृप्ति मिली हो, जगमोहन के सम्मुख धम से एक खम्भे के पास बैठ गया। मन्दिर की चिकनी शीतल संगमरमर की भूमि बड़ी सुखद लगी। वह खंभे के सहारे हो गया।

'कोई थका हुआ दीखता है!' पुजारी जी ने केवल एक दृष्टि डाली और विश्राम करने चले गये। भगवान् का मध्याह्न-विश्राम हो रहा है। मन्दिर के गर्भगृह के पट बन्द हो चुके। जगमोहन में आजकल ग्रीष्म में कुछ श्रद्धालु दोपहरी में यदाकदा आ जाते हैं।

भगवान् का भवन सभी का गृह है न। दर्शनार्थी तो कबके जा चुके, पुजारी जी भी दो घण्टे तो विश्राम करेंगे ही।

हरीश-आज जगमोहन में एकाकी, थका, खिन्न हरीश है। उसे क्या काम मन्दिर से और क्या मूर्ति से। वह तो थका है। बड़ी शीतलता, बड़ी सुगन्धि, बड़ी शान्ति मिल रही है उसे यहाँ। वह विश्राम कर रहा है। प्यास लगी है; कोई बात नहीं, अभी तो उठा नहीं जा सकता, मन्दिर के बाहर प्याऊ तो वह देख ही आया है।

पिता अच्छे वकील थे। परिमार्जित सुधारक विचार थे उनके। वकालत चलती थी लेकिन मित्रों का संग-कुछ रंगीन स्वभाव हो गया आगे चलकर। अच्छे साथी हों और बोतल की रंगमयी से अनुराग हो जाय तो फिर रुपये क्या कभी जेब में टिका करते हैं? पैतृक सम्पत्ति तो वैसे ही नहीं थी। कहीं दूर ग्राम में घर है। पर हरीश ने सुना ही है, देखा नहीं उसे। उसके पिता-माता नगर में रहते थे। वहीं उसने जन्म लिया एक सुन्दर बँगले में, बड़े स्नेह से पालन हुआ उसका और बड़े उत्साह से शिक्षा प्रारम्भ हुई। अन्ततः माता-पिता की एक ही तो सन्तान था वह!

कालेज और विश्वविद्यालय का वह जीवन- जेब में कभी अभाव नहीं, प्रतिभा भी सम्पत्ति के समान प्रचुर ही हुई और तब स्वस्थ, सबल हरीश सहपाठियों में बड़ा अग्रणी तो रहेगा ही। 'धर्म की मूर्खतापूर्ण धारणा और ईश्वर की भूल-भुलैया' से तो उसके पिताजी ने ही पिण्ड छुड़ा लिया था। माताजी में कुछ बातें थीं, पर ऐसा कुछ नहीं। स्त्रियाँ कुछ भावुक होती ही हैं। हरीश तो छात्रों में अग्रणी रहा है। नियम, संयम, धर्म, ईश्वर- इन सबका उपहास करके इनकी दासता से मुक्ति पा जाना ही तो गौरव है मनुष्य के लिये। हरीश अग्रणी ही रहा है इसमें और बूढ़े खूसट दकियानूस अफसरों को चिढ़ाने में कितना आनन्द आता था उसे।

सहसा पिताजी का हार्ट फेल हो गया। इतने बड़े वकील, पर पसलियों के नीचे धुकपुक करता जो छोटा-सा हृदय है, वह तो किसी की अपेक्षा नहीं करता। न्यायालय में खड़े थे और वहीं...। हाँ, तो उसके पश्चात् समवेदना, शोकप्रकाश, समाचारपत्रों में संवाद- यह बड़ा दम्भी समाज है। सबने इतना तो ढोंग रचा और अब सहायता की बात आयी, किसी की जेब ऐसी नहीं, जो खाली न हो। कुछ ने तो रूखा उत्तर दे दिया। अब तो ये सब पहचानते तक नहीं।

किसे पता था कि पिताजी इतना कर्ज कर गये हैं। वह सामान फर्नीचर तक का नीलाम, वह बँगले से निर्वासन! माता मर गयी इन सब आघातों से और हरीश- बेचारा हरीश बच रहा है। बच ही तो रहा है यह सब भोगने। कहाँ एम०ए० पास करने के

पश्चात् की वे पार्टियाँ, वे उत्साह और कहाँ...। पिताजी योजना बनाते ही रहे अपने होनहार पुत्र के सम्बन्ध में और उसी समय मरना था उन्हें।

पता नहीं कितनी बातें स्मरण आयी। एकाकी रोने और हिचकने का यह पहला दिन तो नहीं हैं। शरीर के वस्त्र तक बिक चुके। जो लोग बड़े आदर से मिलते थे, वे अब पहचानते तक नहीं। आज सबसे प्रिय एकमात्र सम्पत्ति फाउन्टेनपेन को बेचे भी दो दिन हो चुके। उसका मूल्य भी अब तो उदर में पहुँच चुका। फुटपाथ या पार्क के कोने में सो लिया जा सकता है और यह तो अभ्यस्त बात हो गयी, पर भूख-पेट तो नहीं मानता। 'काम नहीं!' सब एक ही बात कहते हैं, सब कहीं एक ही उत्तर मिलता है और तब सचमुच संसार में क्या काम है उसका।

'भगवान्' छिः! यह तो मूर्खों की कल्पना है। एम०ए० हरीश इसे मानने चले? पर पता नहीं क्यों यह 'भगवान्!' आज विचित्र अद्भुत रूप से मन में उठ रहा है। जैसे प्राण पुकारते हों 'भगवान!' तभी लगा कि कण्ठ सूख रहा है। देर से प्यास लगी है। दोनों हाथ भूमि पर लगाकर वृद्ध की भाँति थका-सा उठा युवा हरीश! वह बाहर प्याऊ पर आ गया।

× × ×

भगवान्, मेरे इस सौदे में लाभ होना ही चाहिये। मैं भलीभाँति पूजा करूँगा आपकी।' इन सेठजी को तो हरीश पहचानता है। ये तो व्यापारियों में अच्छे प्रतिष्ठित हैं। ये क्यों इस पत्थर की मूर्ति के सामने इस प्रकार हाथ जोड़ रहे हैं?

'प्रभो! मेरा बच्चा आज दस दिन से चारपाई पर है। एक ही लड़का है मेरे। उसे अच्छा कर दो। अच्छा कर दो उसे नाथ और मैं आपकी पूजा करूँगा!' ये वकील साहब- ये पढ़े-लिखे सुसभ्य! क्या करें, एक ही लड़का और वह भी बीमार- बेचारे की बुद्धि व्यवस्थित नहीं है इस समय। हरीश प्याऊ से जल पीकर फिर मन्दिर में आ गया था। आज पहली बार वह एक मन्दिर में आया था। पट खुल गये थे, लोग दर्शनों को आ रहे थे। थका, क्लान्त हरीश- वह जल पीकर फिर भीतर लौट आया। कहीं जाने का उत्साह नहीं था उसमें। इतने लोग आ गये हैं, इतने लोग खड़े हैं, अब एक ओर बैठने का अवकाश तो है नहीं, वह भी पीछे एक ओर खड़ा हो गया। कौतूहलपूर्वक देखने लगा। उसे दर्शन करने और प्रणाम से क्या काम; वह तो देख रहा था यहाँ का कौतुक।

'भगवान्! इस मुकदमें में मेरी लज्जा रख दो। मैं पाँच सेर लडडू चढ़ाऊँगा। मूर्ख

कहीं का– हरीश ने मन–ही–मन बाबू साहब पर रूष्ट होते हुए कहा। लोगों में तो बड़ी बुद्धिमानी बघारते हैं और यहाँ इस पत्थर के सामने आये हैं गिड़गिड़ाने। वहाँ वकील की फीस जितनी दे डालते है, उतना भी यहाँ नहीं लगाना चाहते और पूरा मुकदमा जीत लेना चाहते हैं। पाँच सेर लड्डू– बस, इतनी घूस पर्याप्त मान ली है इन्होंने।

'भगवान्! मैं ऐसी भूल फिर कभी नहीं करूँगा! अब सावधान रहूँगा। मेरी जान बचा दो इस बार।' ये दारोगाजी हैं। कहीं किसी घात में पकड़े गये जान पड़ते हैं। अब सावधान रहेंगे ये। दूसरों का गला दबाने में थोड़ी भूल हुई– अब सावधानी से दबायेंगे, अब कोई जान नहीं सकेगा– यही तो? इस बार बच जाना चाहिये और तब ये माला चढ़ा देंगे– सवा रुपये का गजरा! बड़ा बुरा लगा, बड़ा क्रोध आया हरीश को, पर वह चुप रहा।

'मेरा यह काम कर दो। मैं तुम्हें लड्डू दूँगा, माला दूँगा, पूजा करूँगा' और कुछ तो यह भी नहीं करना चाहते। वे तो केवल कहते हैं– मेरा अमुक काम कर दो। सब आज्ञा देने आते हैं। सब ठगने आते हैं। उस सेठ को सौदे में लाभ हो या न हो, पर दलाल को पूरी दलाली देगा वह। लाभ का कोई पूरा भरोसा दे तो सौ–दो–सौ देने को भी उद्यत हो जायगा, पर यहाँ वह पूजा कर देगा और सो भी पूरा लाभ पहले हो तब! पूजा– दस पाँच रुपये लगा देगा पूजा में।' हरीश सोचता जा रहा था।

'वकील साहब ने बच्चे की औषधियों और डॉक्टरों की फीस में कितना व्यय किया, कौन जाने। अभी कोई लड़के को अच्छा करने के लिए विश्वास पर देने–लेने की बात करे तो हजार–पाँच सौ बड़ी बात नहीं और यहाँ वे कहते हैं– बच्चा अच्छा हो जाय तो पूजा करूँगा। पूजा–पथ्य का व्यय भी नहीं। वह भी अच्छा होने पर और डॉक्टर से इन्होंने कहा तक न होगा कि फीस कल ले लीजियेगा।' हरीश के मन में लोगों की स्वार्थपरता के प्रति विद्रोह जागने लगा और तब पता नहीं कहाँ से उसे उस पत्थर की मूर्ति के प्रति मन में सहानुभूति आ गयी। 'वे इस भोले भगवान को किस प्रकार ठगना चाहते हैं।'

हरीश सुनता रहा– सुनता रहा– 'लोग केवल आज्ञा देने आते हैं। सब धूर्त है, सब स्वार्थी हैं, सब ठगने आते हैं इस भगवान को। 'मेरा यह काम कर दो। मन में आता है कि एक थप्पड़ मार दे, लात मारकर निकाल दें, मन्दिर से बाहर! 'यह काम कर दो पूजा करूँगा। माला चढ़ाऊँगा।' धूर्त कहीं के, सब निराश होकर, सारे उपाय करके तब आते हैं और सबसे सस्ते में टरकाना चाहते हैं। वह क्यों उत्तेजित हो रहा है, क्यों क्षुब्ध है, क्या अपनत्व है उसका इस मन्दिर और भगवान् से– कुछ सोचता नहीं वह।

सम्भवतः भूखे, सब कहीं से 'काम नहीं' का उत्तर एवं हरीश की समाज के लोगों के प्रति जो घृणा, जो उपेक्षा है वही इस रूप में जाग्रत हो गयी है।

'भगवान्, मेरे पास कुछ नहीं है! मैं यदि चार आना भी पा सकता तो दो आने तुमको दे देता। तुम मेरा कोई काम मत करना– मैं और प्राप्त करूँगा। मैं अवश्य और प्रयत्न करूँगा और तुम्हें दो आने दूँगा। तुम मत करो इन धूर्तो का काम। हरीश स्वयं नहीं समझ सका कि इस पत्थर की मूर्ति के प्रति कैसे वह इतनी बातें कह सका। भूखा हरीश–उसकी क्षुधा, उसका समाज के प्रति रोष– वह उत्तेजना में था। उसने अनुभव किया कि अब और यहाँ ठहरने पर वह अपने को रोके नहीं रह सकता। आगे बढ़कर लोगों के बीच से वह मूर्ति के सामने आया, जो मुख में आया, कहकर वैसे ही लोगों को ठेलते निकल गया मन्दिर से बाहर।

'बदमाश हैं!' लोगों में एक हल्की–सी उत्तेजना आयी हरीश जब ठेलकर आगे बढ़ा और ठेलकर ही निकल गया। कुछ लोग रुष्ट हुए मन्दिर में यह धृष्टता देखकर।

'कोई पागल है!' दो क्षण में ही लोग भूल गये। सब दर्शन करने और क्रमशः जाने लगे। भला कोई बिना मतलब कहाँ तक दूसरों को स्मरण रख सकता है। मन्दिर में हरीश भी आया था, उस मन्दिर के पीठ पर अधिष्ठित देवता को छोड़कर कौन इसे स्मरण रक्खे और क्या प्रयोजन इसका।

× × ×

'बाबू जी! तनिक यह तार पढ़ देंगे!' हरीश ने घूमकर देखा। यही सेठ जी तो हैं जो मन्दिर में सौदे में लाभ का सौदा कर रहे थे भगवान् से। हाथ में कोई कागज लिये पुकार रहे हैं ये– 'आपको कष्ट तो होगा।' सेठजी ने बड़ी नम्रता से कहा।

'मैं बेगार नहीं किया करता!' हरीश को बहुत रोष है सेठजी पर। ये स्वयं तो इतने बड़े सौदे में भगवान् को भी पूजा पर टरकाना चाहते हैं और हरीश तार पढ़ दें– क्यों पढ़ दें? हरीश इतना अनुदार तो नहीं है, वह तो दूसरों की सेवा, उनके काम के लिये सदा प्रस्तुत रहा है; लेकिन आज वह रोष में है, इन सेठजी पर तो बहुत रुष्ट है वह। 'आपको मुझसे तार पढ़ाना हो, तो चवन्नी निकालिये।'

'जरा–सा तार पढ़ना और चार आने!' सेठजी ने युवक की ओर ध्यान से घूरते हुए देखा। 'यह तमकता चेहरा, ये रुखे केश।' मुख से कुछ न निकला सेठजी के। दूसरा समय होता तो वे कह देते– 'आप कष्ट न करें। मैं और किसी से पढ़वा लूँगा।' लेकिन भाव की सूचना का समय है, क्या पता भगवान् ने सुन लिया हो। इधर–उधर

कोई दीखता भी नही है। बाजार जाने में देर होगी। पता नहीं क्यों घर से नौकर मार्ग में ही दे गया है तार उन्हें। जेब में हाथ डाला उन्होंने- 'आप रुष्ट न हों, यह रही चवन्नी।

आश्चर्य से हरीश ने देखा सेठ की ओर। उसे इसकी आशा तो थी ही नहीं, पर उसका रोष शिथिल ही हुआ है तनिक, गया नहीं है। उसने चवन्नी निःसंकोच भाव से लेकर कमीज की जेब में डाल दी और तार सेठ जी के हाथ से लेकर खंभे पर की बिजली के प्रकाश की ओर झुक गया। तार पढ़कर उसने कागज लौटा दिया और इस प्रकार चल पड़ा, जैसे सेठ जी से उसे कोई मतलब न हो। सेठजी को तो बाजार पहुँचने की शीघ्रता है। तार में अनुकूल भाव आये हैं। इस समय चवन्नी तो क्या रुपये की भी चिन्ता न होती उन्हें।

× × ×

'चवन्नी'- इतनी शीघ्र, इतनी सरलता से यह चवन्नी मिली है।' चवन्नी का मूल्य आज हरीश की दृष्टि में जो है, वह दूसरा कैसे समझ सकता है। 'दो आने मन्दिर के उस भगवान् को देने हैं। कितना भोला है वह भगवान भी। सब उसे ठगने को ही पहुँचते हैं।' हरीश चाहे जितना कंगाल हो गया हो, उसका हृदय कभी विश्वासघाती नहीं होगा। वह बेईमानी नहीं करेगा। दो आने भगवान् को देगा। उसके लिये तो दो आने आज पेट की भूख मिटा देने भर को हैं ही। मन्दिर की ओर मुड़ा वह।

'मन्दिर बंद हो गया! पुजारी ने द्वार बंद कर दिये मन्दिर के?' हरीश ने बंद द्वार के सम्मुख खड़े होकर भी अपने-आपसे ही पूछा। 'अब तो यह कल खुलेगा! क्या चिन्ता, कल सही। मैं कल दो आने यहाँ के भगवान् को दे जाऊँगा। अभी तो भूख लगी है।'

'इसमें दो आने दूसरे के हैं, मैं उसका भाग दिये बिना अपना भाग ले लूँ- बेईमानी तो न होगी? मैं अपना ही भाग तो ले रहा हूँ। बँटवारा तो हुआ नहीं; अपना भाग कहाँ से आया?' दो आने के चने ही तो लिये जा सकते हैं। बेचारा हरीश चने की दूकान के सम्मुख खड़ा भी हुआ और लौट आया। मन्दिर के बाहर ही जल पीकर भूखा ही लेट गया वह भूमि पर। 'आज न सही, कल तो चने मिल ही जायँगे। चवन्नी अपने पास है ही।'

'मन्दिर में वह पत्थर की मूर्ति, क्या उपयोग उसके लिये पैसे का? उसे ये लोग 'भगवान्' कहते हैं- माला, चन्दन, वस्त्र, पकवान-पदार्थों का कितना दुरुपयोग है। कहाँ तो झोपड़ियों में, सड़कों पर गरीब दाने-दाने को तरसते हैं और कहाँ एक पत्थर के पीछे यह पदार्थों को- धन को नष्ट किया जाता है। पत्थर की मूर्ति- उसे चन्दन

लगाया तो, न लगाया तो; किन्तु इन पंडे-पुजारियों की तोंद कैसे भरे।' हरीश की भावुकता चली गयी थी। उसकी बुद्धि जाग गयी थी। उसे लोगों की मूर्खता और पुजारी-पंडो के दम्भ पर क्रोध आ रहा था।

'मैं भी कितना मूर्ख हूँ। चवन्नी मुझे मिली है, मेरी है। उस मूर्ति को क्या करना है पैसे का। पुजारी को मैं और दो आने देने चला हूँ।' वह सोचने लगा कि क्यों न उठें, दो आने से अपनी भूख शान्त कर लें और शेष दो आने कल के लिये बचा लें; पर शरीर बहुत थक गया है। मन क्लान्त हो गया है। उठने की बात सोचकर भी उठा नहीं जाता।

'मैंने दो आना देने को कहा है। वह मूर्ति सही, पर मैंने उसी को देने को कहा है। दो आने के लिये बेईमानी करूँ मैं, छिः ! उनका उसका उपयोग हो या न हो; मैंने कहा है न! हरीश ने सोच लिया कि वह दो आने तो मूर्ति को- उस भगवान् को देगा ही। पुजारी को नहीं देगा; किसी प्रकार नहीं देगा पुजारी को। दो आने के फूलों की माला लेगा और उससे मूर्ति और सुन्दर दीखेगी।

कब पलकें बंद हुईं, कब सो गया हरीश, यह तो उसको पता न लगा, तब मुझे क्या पता हो।

× × ×

'भगवान्, आपने मेरी विनय पर ध्यान नहीं दिया आप तो दयामय हैं। प्रभो ! आज का सौदा...।'

सेठ जी मन्दिर में दोनों समय आते हैं। द्वार पर हरीश को देखते ही पहचान लिया उन्होंने! हरीश ने भी आज नम्रता से उनके 'जय रामजी' का उत्तर दिया और फूट लिया। सेठ जी को पर्याप्त लाभ हुआ है, ऐसे सौदों में लाभ हुआ है, जिनमें लाभ की आशा छोड़ चुके थे वे, पर उस सौदे में कहाँ लाभ हुआ, जिसके लिये प्रार्थना कर गये थे वे भगवान् से। उस सौदे में तो उन्हें कुछ हानि ही रही है। तभी तो वे यह दो पैसेवाली माला लिए आये हैं मन्दिर में। दूसरे सौदों में लाभ हुआ- यह तो कोई बात नहीं, वह तो हो गया। भगवान् ने उनके बताये सौदे में क्यों लाभ नहीं कराया? कैसे पूजा करे वे।'

'भगवान् ! मेरा बच्चा रात को कुछ ठीक रहा है। आप दया करें उस बालक पर। आज मैंने बड़े वैद्यजी को बुलाया है, बस, उनकी औषधि से जरूर लाभ हो जाय।' लाभ होना चाहिये और वह भी अब बड़े वैद्यजी की औषधि से। पूजा-पूजा तो लड़का पूरी तरह अच्छा हो जायगा तब न? अभी तो कुछ ठीक रहा है।

'भगवान्'...? हरीश देखता रहा चुपचाप। बाबू साहब, दारोगाजी, कल के अनेक

लोग आये और चले गये। किसी को थोड़ा लाभ हुआ, किसी को बताये स्थान में लाभ नहीं हुआ, किसी को स्थान में हुआ तो उसे वह क्यों गिने। कोई आया है स्मरण कराने कि उसका काम भूल न जाय और कुछ लोग दोनों में पूजा लाये हैं। 'भगवान्' इस बार संकट में हैं। काम हो जाने पर अब आर्थिक कष्ट का अनुभव करने लगे हैं। आगे कभी दूसरा काम पड़ेगा तब यह कमी पूरी कर देना चाहते हैं वे।

'आपने इतना प्रसाद तो रख लिया। ऐसा तो और किसी मन्दिर में नहीं होता।' वे सज्जन झगड़ रहे हैं पुजारी से। पुजारी का कहना है कि आधा प्रसाद रख लेने का अधिकार है उसे। यह समझौता कैसे हुआ; हरीश को इसे देखने का अवकाश नहीं। वह अपनी भावनाओं में मग्न है।

'भगवान् मेरा काम कर दो!' इतने लोग आते हैं, इनका काम होता है... मूर्ख तो नहीं है ये सब। अभी चार आने तो जेब में हैं उसी की । कितनी अकल्पित रीति से मिले ये चार आने। तब यह भगवान् हैं, कुछ करते तो हैं। हरीश ने मूर्ति की ओर देखा, एकटक देखता रहा।

'बड़े भोले हैं ये भगवान्! लोग ठगते ही रहते हैं इन्हें। सब आते हैं- आज्ञा देते हैं और चाहते हैं कि उनका बताया कार्य, उन्हीं की बतायी रीति से और उन्हीं के बताये समय पर पूरा हो जाय। इतने पर भी कम-से-कम पारिश्रमिक देना चाहते हैं। काम हो जाने पर बहाने बाजी और यह प्रसाद का झगड़ा.....।' हरीश को बहुत बुरा लग रहा था यह दम्भ लोगों का।

'क्यों करते हो तुम यह सब?' जैसे वह भगवान् से ही पूछ रहा हो? 'अच्छा वस्त्र, सुन्दर मालाएँ, चन्दन, धूप, आरती- यह सब कहाँ से आवे? अपनी आदत बिगड़ गयी। इस सबके बिना रहा नहीं जाता और स्वयं कहीं जा नहीं पाते। दूसरों के द्वारा ही तो यह सब मिलता है। हरीश ने अपने-आप ही सब सोच लिया और तब उसे भगवान् की विवशता पर बहुत दया आयी। हरीश को कौन बतलाता वहाँ कि मन्दिर के ये भोले दयामय देवता अपने सम्मुख आये आर्तजनों के भाव ही देखते हैं। पदार्थों का इनकी दृष्टि में क्या मूल्य। इन पूर्ण काम को प्रयोजन क्या लोगों के पदार्थों का। ये भावमय हैं- लेकिन हरीश कहाँ धर्मशास्त्री है कि यह सब सोचे-

'मैं करूँगा! मैं दूँगा तुम्हें यह सब। मत करो तुम इन धूर्तो का कोई काम! मेरा कोई काम नहीं। कोई काम मत करना तुम मेरा। मैं तुम्हें दूँगा यह सब?' हरीश अपने आवेश में भूल ही गया कि वह कैसे देगा यह सब। उसे अपना ही पेट भरने को कुछ नहीं मिल रहा है। वह तो बाहर गया और पूरी चवन्नी का गजरा ले आया। भूल गया

वह कि उसमें एक दुअन्नी उसकी है और वह कल से भूखा है। जब पुजारी ने उसकी वह सुन्दर माला भगवान् के कण्ठ में उठाकर डाल दी, जैसे मूर्ति मुस्करा उठी हो। हरीश को लगा, भगवान् भोले भगवान् प्रसन्नता से खिल उठे हैं और उनकी शोभा बढ़ गयी है।

'बाबू, प्रसाद लेते जाइये!' जिसने इतना सुन्दर हार चढ़ाया भगवान् को, उसे पुजारी जी मन्दिर से जाते समय प्रसाद तो देगें ही। लेकिन आश्चर्य देखते ही रह गये वे- कैसा है यह युवक? न भगवान को प्रणाम, न आदर का कोई भाव?और कहता है कि मुझे कुछ लेना नहीं है।' पुजारी जी देखते रहे और हरीश बाहर निकल गया मन्दिर के। उसने देखा ही नहीं मुडकर पुजारी जी की ओर।

× × ×

'भगवान् की कृपा से नगर के सरकारी कॉलेज में हरीश को प्रोफेसरी मिल गयी। लोग कहते हैं कि हरीश चन्द एम० ए० जैसा सुयोग्य प्रोफेसर यहाँ के कालेज को सौभाग्य से मिला है। उनके समान श्रमशीलता, वैसी प्रतिभा कठिनता से मिलती है; किन्तु है बड़ा लोभी और मक्खीचूस आदमी। रात-रात तक टयूशन करता फिरता है और शरीर पर देखो तो वही फटी कमीज और फटी धोती। कॉलेज में लड़कों के चिढ़ाने और अधिकारियों के हँसी करने का भी कोई प्रभाव नहीं उस पर। दिन-रात रुपया-रुपया कोई है भी तो नहीं। क्या करेगा इन रुपयों का। लेकिन मन्दिर के पुजारी को आश्चर्य है कि ये बाबू साहब इतनी मूल्यवान् सामग्रियाँ नित्य कहाँ से जुटा पाते हैं और इतनी श्रद्धा होने पर भी ये प्रसाद क्यों नहीं लेते। कौन समाधान करें इसका। मन्दिर के भोले भगवान् कब किसका चित्त धीरे से कैसे चुरा लेते हैं- कौन कह सकता है?

❑❑

नाम का मोह

'मुझे कोई आराधना बताइये! कोई भी अनुष्ठान बता दीजिये। मैं कठिन से कठिन अनुष्ठान भी कर लूँगा। महेश आज एक संत के पैर पकड़कर बैठ गया था।

आस-पास के लोग कहते हैं कि मुनीश्वर महाराज सिद्ध संत हैं। वे जिसे जो बात कह देते हैं, वही हो जाती है। किसी को वे सीधे तो आशीर्वाद देते नहीं, कोई पूजा, कोई पाठ, कोई अनुष्ठान बता देते हैं। लेकिन जिसे वे कुछ बता देते हैं, वह ठीक-ठीक उनकी आज्ञा का पालन करे तो उसका काम हो जाता है।

संसार तो है ही दु:ख और अभाव का घर। किसी को कोई असाध्य रोग है, किसी को मुकदमा जीतना है, किसी के संतान नहीं, किसी की संतान या घर के लोग अच्छा व्यवहार नहीं करते। एक-न-एक दु:ख सबको लगा है। मुनीश्वर महाराज के पास भीड़ लगी रहती है। साधु का हृदय कोमल होता है। वैसे तो वे प्राय: कह देते हैं- 'भैया, भगवान से प्रार्थना करो। वे मङ्गलमय जो करते हैं, जीव का उसी में मङ्गल है।' लेकिन कभी-कभी किसी को बहुत आर्त देखकर कोई पूजा-पाठ बता भी देते हैं।

महेश बहुत बार आया है। उसके आने का एक ही उद्देश्य है; किन्तु अपनी बात वह सबके सामने कहना नहीं चाहता। उसे एकान्त चाहिये और एकान्त उसे मिलता नहीं था। आज सौभाग्य से कोई दर्शनार्थी नहीं है। दो-ढ़ाई घंटे की प्रतीक्षा के बाद उसे एकान्त मिला है। वह संत के पैर पकड़कर बैठ गया है। अब तो वह अपनी बात पूरी होने पर ही उठेगा।

महेश अभी युवक है। कॉलेज में पढ़ता है। कुछ कविता कर लेता है। उसके कॉलेज में कई युवक अच्छी कविता कर लेते हैं। उसके एक सहपाठी की कविता कई पत्र सजाकर छापते हैं। अच्छे मोटे रंगीन विशेषांकों में अपने सहपाठी की कविता देखकर उसके मन में क्या-क्या आता है- आप समझ सकेंगे?

कई महीने हो गये, पर महेश को तो कल-जैसी बात लगती है, कॉलेज में कवि-सम्मेलन हुआ था। अनेक विद्यार्थियों ने अपनी-अपनी कविताएँ पढ़ीं। कई के

कविता-पाठ पर लोगों ने तालियाँ बजायीं। उसके सहपाठी की कविता लोगों ने आग्रह करके तीन बार सुनी। उसने भी कविता पढ़ने वालों में अपना नाम दे दिया था। उसका नाम भी पुकारा गया। उसने भी अपनी कविता सुनायी। लोगों में समझ तो है ही नहीं, वे केवल सुरीले स्वर पर रीझते है। उसका स्वर सुरीला नहीं तो वह क्या करें? उसकी कविता का महत्त्व उसके सहपाठी समझते ही नहीं। मूर्ख है वे सब।' उस दिन जो उसका उपहास हुआ, उसमें उसने अपने मन को यों संतोष दे लिया।

महेश कब तक अपने को धोखे में रख सकता है। उसके साथी अब तक उसे 'कविजी' कहकर चिढ़ाते हैं। उसने सोचा था कि कविता किसी पत्र में छप जाये तो साथियों का चिढ़ाना बंद हो जाय। चुपचाप कई पत्रों के लिये उसने रचनाएँ भेजीं। पत्रों के सम्पादक उसे मिल जाते तो वह उनकी नाक नोच लेता। उन पत्रों में जो रचनाएँ निकलती हैं, वे क्या सभी उसकी रचना से श्रेष्ठ हैं। उसकी रचना यदि सुधारकर कोई छाप देता तो क्या बिगड़ जाता उसका। पक्षपात- उसे लगता है कि सब पक्षपात करते हैं। सब पत्र-सम्पादक उसके विरुद्ध कोई अभिसन्धि किये बैठे हैं। उसी की रचनाएँ क्यों सब कहीं से लौट आती हैं।

ये रंगीन आवरण-पृष्ठ के मोटे, बड़े सुन्दर विशेषाङ्क, ये सजे-सजाये मासिक और साप्ताहिक पत्र- इनमें उसकी दो पंक्ति कहीं छप नहीं सकतीं? आप महेश की प्रशंसा कर सकते हैं। उसने कभी यह विचार नहीं किया कि दूसरे की रचना कुछ उलट-पलटकर या वैसे ही अपने नाम से वह भेज दें।

कवि-सम्मेलनों में तो वह अब जाता ही नहीं। उसे कवि-सम्मेलनों के नाम से चिढ़ हो गयी है। 'वहाँ कितने कविता समझनेवाले आते हैं?'

'मैं दिखा दूँगा! ये पत्र मुझसे अनुनय-विनय करके कविता माँगेंगे और उसे अपने मुखपृष्ठ पर छापेंगे।' आप इस महत्त्वकांक्षा का उपहास नहीं कर सकते। अन्ततः जिसकी रचनाएँ मुखपृष्ठ पर छपती हैं, वे भी तो मनुष्य ही हैं। जो काम एक मनुष्य कर सकता है, वहीं दूसरा क्यों नहीं कर सकेगा?

ये कवि-सम्मेलनों के आयोजक मेरे पीछे हाथ जोड़ते घूमेंगे कि मैं उनके सम्मेलन की अध्यक्षता स्वीकार करके उन्हें गौरवान्वित करूँ।' महेश धुन का पक्का है और उसकी धुन ही है, जिसने उसके हृदय में एक दिन के तनिक से उपहास को इतना भारी रूप दे रक्खा है।

'महाकवि कालिदास मूर्ख थे- वज्रमूर्ख थे।' महेश को एक आश्वासन मिल गया है। वह भी आराधना करेगा। वह भी दैवी शक्ति प्राप्त करेगा।

'महाराज ! मैं यश चाहता हूँ। मैं कविता करने की ऐसी शक्ति चाहता हूँ कि सारा संसार मेरी रचनाओं की प्रशंसा करे। मेरी रचनाएँ पूरे विश्व में आदर पावें।' भाव के आवेग में युवक महेश संत के चरण पकड़े बोलता जा रहा है।

× × ×

'वहाँ एक कुआँ है। देखा है तुमने उसे?' ये साधु-लोग भी विचित्र खोपड़ी के होते हैं। इनसे पूछो दाल में नमक तो बतायेंगे हलवे में चीनी। मुनीश्वर महाराज भी तो साधु ही हैं। वे सीधी बात कर कैसे सकते हैं।

'वह बुढ़ियावाला कुआँ ही न? महाराज! मैं तो उसके आस-पास बचपन से खेलता रहा हूँ। आपके लिये वहाँ से जल लाऊँ?' महेश उठने लगा जल लाने के लिये।

'जल नहीं लाना है। बैठो तुम। उस कुएँ पर एक नाम का पत्थर लगा है। मुनीश्वर महाराज को तो कुएँ की चर्चा करनी थी।

उस पत्थर पर बुढ़िया का नाम लिखा है। यह कुआँ उसी ने बनवाया।' महेश ने बताया।

'क्या नाम था बुढ़िया का?' साधु ने पूछा- 'मैंने सुना है कि बेचारी ने पैसा-पैसा करके जो कुछ जुटाया था, उसी से यह कुआँ उसने बनवाया। उसकी इतनी ही इच्छा थी, कि नाम रह जाय।'

'नाम तो मैंने कभी पढ़ा नहीं ध्यान से।' महेश कुछ संकुचित हुआ। जिस कुएँ के आस-पास वह बचपन से खेलते रहने की बात कहता है, उस पर लगे पत्थर में क्या नाम लिखा है, यह वह जानता ही नहीं। लेकिन इसमें महेश का क्या दोष है। हम आप कहाँ स्मरण रखते हैं कि हमारे कमरे की छत में कितनी कड़ियाँ हैं। मनुष्य के पास अपना ही क्या कम काम है कि वह बहुत-सी ऊल-जलूल बातें स्मरण रखें।

'काशी के पास एक पिसनहरिया तालाब है। किसी बेचारी स्त्री ने दूसरों का आटा पीस-पीसकर जो कुछ इकट्ठा किया, उससे वह तालाब बनवाया।' साधु ने कुछ खिन्न-सी मुद्रा में कहा- 'जनता सदा अकृतज्ञ होती है। लोग अपना वर्तमान स्वार्थ ही देखते है। कोई नाम तक नहीं जानता कि वह तालाब बनाने वाली उदार स्त्री कौन थी।'

'मैं उस कुएँ पर लगे पत्थर को अब देख लूँगा और बुढ़िया का नाम स्मरण रखूँगा।' महेश को लगा कि साधु को उसकी यह बात रूची नहीं कि उसने उस पत्थर पर लिखा नाम नहीं पढ़ा। वैसे उसका मन तर्क कर रहा है- 'उस नाम को पढ़ने और

स्मरण रखने के व्यर्थ कार्य से लाभ? इससे तुम्हारा तो कोई लाभ है नहीं और बुढ़िया तो मर गयी। अब कोई उसका नाम स्मरण रक्खे या न रक्खे। बुढ़िया की अब इससे कोई लाभ-हानि तो है नहीं।' लेकिन इन मुनीश्वर महाराज को प्रसन्न करने में महेश का तात्कालिक लाभ है और यदि वे उस पत्थर पर लिखा नाम रट लेने से प्रसन्न होते हैं तो इस नन्हें से काम को वह क्यों नहीं करेगा।

'नाम की इच्छा वैसे तो बड़ी पवित्र इच्छा है।' साधु महाराज अपनी धुन में लगे थे। उन्हें इसकी चिन्ता नहीं जान पड़ती थी कि महेश उस कुआँ बनाने वाली बुढ़िया का नाम रटेगा या नहीं। वे कह रहे थे- जैसे अपने आप से ही कह रहे हों- 'वासनाओं में तो यह अच्छी ही है। यश होता है त्याग, सेवा और धर्म से। यश की इच्छा करने वाला अधर्म से प्रायः बचता है। यश धर्म का अनुगामी है।'

'महाराज! मैं यश ही चाहता हूँ।' महेश उकता रहा था। उसे लगता था कि कोई दर्शनार्थी आ जायगा और आज भी उसकी बात अधूरी रह जायगी। अवसर मिलते ही वह अपनी मुख्य बात पर आ गया- 'मैं धर्म करने को तैयार हूँ। आप आज्ञा करें, मुझे क्या करना होगा?'

'बाबा! बाबा!' महेश की बात अधूरी रह गयी। पास के अमरुद के बगीचे के माली का ढाई-तीन वर्ष का नंग-धड़ंग बालक दोनों हाथों से एक पन्ना कागज पकड़े बड़े उत्साह से लद्बद दौड़ता आ रहा है। मुनीश्वर महाराज बच्चे को प्रायः प्रसाद देते हैं, उससे स्नेह करते हैं। बालक को सम्भवतः इसी से लोग भगवान् का स्वरूप कहते हैं कि वह नहीं जानता किसी की पद-मर्यादा, नहीं जानता तड़क-भड़क, नहीं जानता, धन-वैभव और नहीं जानता बल, विद्या या रूप। वह तो केवल प्रेम जानता है। वह प्रेम का पुतला, प्रेम का प्यासा है। वह दौड़ता आया और साधु के आगे उसने भूमि में अपना कागज रखकर हँसते-हँसते कहा- 'बाबा! पोथी!'

'अच्छा! तू बड़ा पण्डित हो गया है। तूने बड़ी पोथी लिख ली है।' साधु ने बच्चे की पीठ ठोकी। उसके कागज को सिर झुकाकर बड़े आडम्बर से देखा।

'मेरी पोथी अच्छी है। भैया की पोथी नहीं अच्छी।' बार-बार अपने कागज को देखता है, उस पर हाथ रखता है, अँगुली फिराता है। अपने बड़े भाई की स्याही की दावात में अँगुली डुबा-डुबाकर उसने इस कागज पर टेढ़ी-मेढ़ी बहुत-सी मोटी-मोटी उलझी रेखाएँ खींच दी हैं। क्या हुआ कि उसका भैया चौथी कक्षा में पढ़ता है। भैया की पोथी भला उसकी पोथी की तुलना कैसे कर सकती है?

'तुम्हारी पोथी सबसे अच्छी है।' संत ने बालक को उत्साहित किया- 'इन बाबू को दिखा दो अपनी पोथी।'

'पोथी !' बालक महेश की ओर घूमकर खड़ा हो गया। एक अपरिचित के पास वह जाय या नहीं? यह बाबू उसकी पोथी ले तो नहीं लेगा? पास नही आया वह।

'तुम्हारी पोथी अच्छी है। अपनी माता के पास ले जाकर रख दो, नहीं तो खो जायगी।' महेश चाहता है कि किसी प्रकार बालक यहाँ से टले तो वह अनुष्ठान पूछ ले।

'पोथी !' बालक साधु की ओर मुड़ पड़ा। बच्चा बड़ी सरलता से समझ लेता है कि किसके स्वर में स्नेह है और किसमें उपेक्षा।

'तुम्हारी ही पोथी सबसे अच्छी है। साधु ने बालक के सिर पर हाथ फेरा... बाकी सब पोथीवाले तो अपनी पोथी में ही रहते हैं।'

बालक को प्रसाद मिल गया। अपनी वह एक पन्ने की पोथी लिये उडलता, दौड़ता चला गया। लेकिन महेश चौंक गया– 'यह पोथी में चिपकने वाली बात कैसी?'

(3)

'तुम पुनर्जन्म मानते हो?' मुनीश्वर महाराज ने एक नया ही प्रश्न पूछ लिया।

'जी !' महेश डरा कि कहीं उससे यह न कहा जाय कि वह दूसरे जन्म में कवि हो जायगा। वह तो कवि नहीं, महाकवि बनना चाहता है और अभी इसी जन्म में।

'तनिक वह पुस्तक उठा लाओ !' कुल तीन-चार ही पुस्तकें तो इस स्थान में है। मुनीश्वर महाराज संग्रही नहीं है। उसके पास तो केवल एक नन्हीं-सी गीता की पुस्तक रहती है। ये पुस्तकें भी किसी दर्शनार्थी की हैं। वह सवेरे इन्हें यहाँ लेकर आया था। पुस्तकें यहीं छोड़कर दोपहरी में पास में गाँव चला गया है। भोजन की कोई व्यवस्था यहाँ तो है नहीं ! मनुीश्वर महाराज के लिये भी गाँव में से ही कभी कोई और कभी कोई भोजन ले आता है। दर्शन करने जो लोग आते हैं, वे गाँव में जो एक हलवाई की दुकान है, वही कुछ बनवाकर खा लेते हैं।

'मर गया बेचारा !' महेश ने पुस्तक दी। साधु ने उसे खोला और एक पन्ने पर दृष्टि गड़ाकर इस प्रकार झुक गये जैसे कोई बहुत बड़ी दुर्घटना देख रहे हों।

'यह तो पुस्तकों को नष्ट करनेवाला कीड़ा है। महेश उत्सुकतावश समीप आ गया था। उसने झुककर पुस्तक का वह पृष्ठ देखा। वह एक किताबी-कीड़ा मरा चिपका था। 'ये वैसे तो ग्रंथों को काट-काटकर नष्ट करते ही हैं, मरकर भी ग्रन्थ को गंदा करते हैं।' महेश को इन कीड़ों से बहुत चिढ़ है। इन्होंने उसकी कई उत्तम पुस्तकों के पन्ने जहाँ-तहाँ से खा लिये। उसका बस चले तो कवि बनने का यत्न पीछे करे, पहले इन कीड़ों के वंश को नष्ट कर डाले।

'तुम इसे नहीं पहचानते। पहचान भी नहीं सकते।' संत ने उसी खेद की मुद्रा से कहा- 'यह तो इस ग्रन्थ का रचयिता है।'

'इस ग्रंथ का- इस प्रख्यात महाकाव्य का रचयिता महाकवि....।' महेश के नेत्र फैल गये।

'बड़ा प्रतिभाशाली था। बड़ा विख्यात कवि था। बड़ा सम्मान पाया इसने। इसका यह सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ- बड़ी ममता थी इसकी इस ग्रन्थ से।' साधु ऐसे स्वर में कह रहे थे, जैसे मृत कीड़े के प्रति आन्तरिक सम्वेदना प्रकट कर रहे हों- 'बेचारा अपने ग्रन्थ में भी नहीं रह सका। यह तो कर्म का भोग है। कर्म समाप्त हुए और शरीर समाप्त हुआ। कोई कब तक किससे ममता किये रहेगा।'

'महाकवि.... और यह कीड़ा।' महेश का मन अभी स्वस्थ नहीं हो सका है।

'इसमें आश्चर्य की क्या बात है। अपने कर्म के अनुसार अपनी आसक्ति के अनुसार ही तो प्राणी का पुनर्जन्म होता है। वैसे तो ज्ञान नित्य एवं अनन्त है। अभी जो बालक आया था, उसकी पोथी के समान ही कुछ रेखाएँ, कुछ शब्द, कुछ अक्षर जोड़-बटोरकर यह महाकवि हो गया। लोगों ने कहा, इसने मान लिया मैं महाकवि हूँ। अपने ग्रन्थ से इसका मोह हो गया।' संत समवेदना के स्वर में ही कह रहे थे- 'अब तुम कहते हो यह ग्रन्थ-कीट ग्रन्थ को नष्ट कर रहा था। कोई इस ग्रन्थ को, इस ग्रन्थ के रचयिता को क्या कहता है, कितनी प्रशंसा करता है उनकी, इस बात से इसको क्या लाभ? इसका पेट तो ग्रन्थ के थोड़े-से बहुत थोड़े कागज से भर जाता था। किसी ग्रन्थ के कागज से भर जाता; लेकिन मर गया बेचारा। उसके अपने ग्रंथ ने ही दबाकर मार दिया इसे।'

'यह कीड़ा था महाकवि...?' महेश को कैसे झटपट संतोष हो जाय।

'तुम पुनर्जन्म मानते हो, फिर चौंकते क्यों हों?' साधु ने अब बड़ी स्थिर गम्भीर दृष्टि से महेश को देखा। तुम पहले जन्मों में कालिदास, भवभूति या कोई दूसरा महान् कवि, महान् शूर, चक्रवर्ती सम्राट नहीं रहे हो, यह कैसे जानते हो? उस समय के तुम्हारे कर्म विश्व में अब भी प्रख्यात हों तो तुम्हें उससे क्या लाभ? अगले जन्म में तुम क्या बनोगे, यह तो तुम्हारे इस जन्म के कर्मों पर निर्भर है। यह तुम्हें स्वयं निर्णय करना है।'

महेश ने चुपचाप संत के चरणों में सिर रख दिया। उसे अब कोई अनुष्ठान नहीं चाहिये।

(4)

'लाओ मुँह मीठा करो!' यह क्या परिहास है? परीक्षा का फल तो पहले ही ज्ञात

हो गया है। अब यह महेश का मित्र उससे किस बात का पुरस्कार चाहता है?

'तुम गुरुघंटाल हो! मुझसे भी तुमने नहीं बताया कि सचमुच तुम अच्छे कवि हो गये हो।' मित्र ने उलाहना दिया।

'मैं और कवि?' महेश कुछ समझ नही पाता। आज पता नहीं ये सब उसे चिढ़ाने की कौन-सी भूमिका बना रहे हैं।

'बनो मत! यह क्या है?' एक पत्रिका का विशेषाङ्क खोलकर मित्र ने महेश के आगे कर दिया। महेश ने एक कविता पहले इस पत्रिका को भेजी थी। कविता लौटकर नहीं आयी थी परंतु सभी पत्र अस्वीकृत रचनाएँ लौटा ही तो नहीं देते। महेश को इसमें सन्देह नहीं था कि उसकी रचना अस्वीकृत के ढ़ेर में पड़ी होगी। लेकिन वह तो छपी है- विशेषाङ्क में छपी है और मुख-पृष्ठ पर न सही; किन्तु कालेज के अपने प्रतिद्वन्द्वी की रचना से पहले के ही पृष्ठों में छपी है।

'मुझे ग्रन्थ का घृणित कीड़ा नहीं बनना है।' महेश के मित्र उसका मुँह देखते रह गये। उसने पत्रिका का अपनी कवितावाला पृष्ठ फाड़कर फेंक दिया। पत्रिका के सब अङ्को से वह पृष्ठ फाड़कर नहीं फेंक सकता- इस क्षोभ में उसने अपनी कविता की कापी निकाली और उसके चिथड़े करके फेंके।

'तुम पागल हो गये महेश? मित्रों को लगा कि अपनी कविता का पहला प्रकाशन महेश को इतना अधिक प्रसन्नता का कारण हुआ कि उसका मस्तिष्क उसे सह नहीं सका। वह पागल हो गया है।

'उस बालक की टेढ़ी-मेढ़ी लकीरों में और इन लकीरों में चाहे जितना अन्तर हो; किन्तु अपनी लकीरों की प्रशंसा सुनकर फूल जाने में कौन-सी विचारशीलता है? क्या हानि-लाभ है इसमें किसी का कि कोई उसकी प्रशंसा करें या न करें।' महेश आवेश में बोल रहा था- 'संसार तो उस कुएँ और तालाब बनाने वाली उदार स्त्रियों का नाम तक नहीं जानता। कोई नाम का पत्थर पढ़कर रट भी ले तो इससे उस बुढ़िया का क्या लाभ? कितना झूठा मोह है। कितनी मूर्खता है और इसी मूर्खता के चक्कर में बेचारा महाकवि ग्रन्थ का कीड़ा बनकर उसी में पिस गया।'

मित्रों की समझ में केवल इतनी बात आयी है कि उनका यह मित्र सचमुच पागल हो गया है। वे उसकी ओर बड़ी चिन्ता और आशङ्का से देख रहे हैं। उनमें यह विवाद भी चलने लगा है कि ग्राम के वैद्य जी को बुलाकर पहले दिखा लेना चाहिये या नगर से डाक्टर को ही बुलाना चाहिये। महेश के पिता को समाचार देने उन्होंने एक व्यक्ति को दौड़ा दिया है।

'कितना पागलपन है। कितनी मूर्खता है। जिससे कोई लाभ नहीं है, उस नाम के मोह के पीछे लगभग सारा संसार पागल हो रहा है।' महेश एक बार खुलकर हँस पड़ा और फिर गम्भीर हो गया– 'नहीं, मैं अपने को पागल नहीं होने दे सकता।'

लोग दौड–धूप करने लगे हैं– 'महेश पागल हो गया।' लेकिन महेश–पागल यदि अपने को पागल समझने लगे तो उसका पागलपन टिकता नहीं। महेश की सम्मति और विचार का तो कोई महत्त्व है नहीं। आप क्या समझते हैं?

वीरता का लोभ

शरद् की सुहावनी ऋतु है। दो दिन से वर्षा नहीं हुई है। पृथ्वी गीली नहीं हैं; परन्तु उसमें नमी है। आकाश में श्वेत कपोतों के समान मेघशिशु वायु के वाहनों पर बैठे दौड़-धूप का खेल खेल रहे हैं। सुनहली धूप उन्हें बार-बार प्रोत्साहित कर जाती है। पृथ्वी ने रंग-बिरंगें पुष्पों से अंकित नीली साड़ी पहन रक्खी है। पतिंगों के झुण्ड दरारों में से निकलकर आकाश में फैलते जा रहे हैं। आमोद और उत्साह के पीछे मृत्यु के काले भयानक हाथ भी छिपे हैं, इसका उन्हें न पता है और न चिन्ता ही।

भिंडी के खेत में मोटा बंदर दोनों हाथों से भिंडियाँ तोड़कर मुँह भरता जा रहा है। उसके कण्ठ के दोनों ओर का भाग फूल उठा है। बार-बार वह दो पैरों से खड़ा होता है, इधर-उधर देखता है और फिर नीचे बैठकर भिंडियों को मुख में भरने लगता है। उसे अपना पेट भर लेना है। कोई आवे और पत्थर मारे, इससे पहले भागकर आम के पेड़ पर चढ़ जाने को उसे प्रस्तुत रहना हैं। वीरता दिखाना होगा तो आम की डाल पर पहुँचकर, मुख नीचे झुकाकर, खो-खाँ करके वह दिखा लेगा। अभी तो उसे सावधान रहना है।

पीले मक्खन के रंग की छोटी तितलियाँ इधर-उधर उड़ रही है। काले पंखों वाली, गाढ़े पीले, नारंगी या सुचित्रित रंग के पंखों वाली बड़ी तितलियों से उनकी न कोई स्पर्धा है न कोई लड़ाई। वे बहुधा थोड़ी ऊँचाई तक उड़ती हैं। इधर-उधर बैठती हैं और फिर उड़ जाती हैं। उन्हें नन्हें फूलों का रस बहुत छोटी बूँद जितना मिल जाय इतना ही बहुत है। उनको कहाँ वीरता दिखानी है उन्हें इसकी कोई चिन्ता नहीं कि पृथ्वी पर फुदकते फिरने वाले टिड्डे उनके कोमल सुन्दर पंखों की प्रशंसा नहीं करते और मिट्टी के पत्ते के डंठल से लगा मटमैला मोटा कीड़ा उनकी ओर नहीं देखता।

बिल में से एक चूहे ने मुख निकाला। उसने अपनी बड़ी मूँछे इधर-उधर कीं, हवा में कुछ सूँघता रहा और फिर बिल में घुस गया। वह इतना डरपोक क्यों हैं? क्या हुआ जो चितकबरी बिल्ली वहाँ घास में डुबकी बैठी है और बड़े ध्यान से उसके बिल की ओर देख रही है। उसे थोड़ी वीरता दिखानी थी। कदाचित् वह बिल्ली को छका

सकता- वह भागकर दूसरे बिल में भी छिप जाता तो वह गिलहरी उसकी प्रशंसा के छन्द बड़े सुन्दर स्वर में गाती जो पेड़ की झुकी हुई डाली की अन्तिम फुनगी तक बार-बार दौड़कर आती है और पूँछ पटक-पटककर बिल्ली को कोस रही है।

'नहीं- इनमें से कोई वीर नहीं है। इनमें वीरता का नाम भी नहीं है।' वह लौट पड़ा। उसे अपने मित्र का पत्र मिला है। उसके मित्र ने उसे वीरता का एक आदर्श सुझाया है। मित्र के पत्र का उत्तर देना है। व्यर्थ है यह सब- प्रकृति में उसे कोई प्रेरणा नहीं मिल रही है, जिससे वह अपने मित्र के पत्र का उत्तर दें।

गेरूए खपरैलों के रंग का काले पंखों वाला भद्दा कीड़ा अपने चारों पंखों को ऊपर उठाकर, भन-भन करता बड़े विचित्र ढ़ंग से उड़ रहा है। यह क्या? सबसे कोमल, सबसे सुन्दर और सुगन्धित गुलाब के पुष्प पर वह आकर बैठ गया है। सृष्टिकर्त्ता ने सृष्टि का सबसे भव्य स्थान क्या इस घिनोने कीड़े का सिंहासन बनने के लिये बनाया। परंतु वह तो उस पुष्प को चरता जा रहा है। पंखड़ियों को काटकर कुरुप किये दे रहा है। सौन्दर्य, सौरभ और मृदुलता से उसकी नैसर्गिक शत्रुता क्यों है?

उसे अपने मित्र का पत्र मिला है। पत्र उपेक्षा करने योग्य नहीं है। वह कल दोपहर से उस पत्र पर विचार कर रहा है। मित्र ने लिखा है-

'बन्धु, मैं यहाँ प्रसन्न हूँ। यहाँ एक अच्छे सज्जन पुरुष हैं श्री.... वे देश के चार छः प्रख्यात..... व्यक्तियों में हैं। उनकी सम्मति है कि धार्मिक लोगों की पलायनवादी नीति ठीक नहीं है। इसमें कोई वीरता नहीं है। उनकी राय में विकृति के केन्द्रों में रहकर उनको सुधारने, उन्हे परिष्कृत करने और उनको उपयोगी बनाने में वीरता है। वे सदाचारी हैं, विनम्र हैं और....।'

पत्र का अक्षर-अक्षर आप पढ़ लें, इससे कोई लाभ नहीं होना है। पत्र किसका है, किसे लिखा गया आदि भी सामान्य बातें हैं। मुख्य बात तो उसकी वीरता की प्रेरणा है। मित्र विद्वान हैं, विचारशील हैं, स्वाभिमानी हैं। वे न तो झूठ बोलेंगे और न चाटुकारी करेंगे। ऐसा करने से कोई लाभ भी नहीं है। उनकी बातों पर अविश्वास करने का कोई कारण नहीं है। उसे मित्र के पत्र का उत्तर देना है- क्या उत्तर दे वह।

× × ×

मित्र के पत्र का उत्तर देना है। प्रकृति से उसे प्रेरणा नहीं मिलती तो वह अपनी स्मृति की कोठरियों को ढूँढ़ेगा। अपनी मेज पर बैठकर उसने केशों को अस्तव्यस्त करके सिर खुजलाना प्रारम्भ कर दिया है।

एक स्मृति

बहुत छोटा था वह। समाचार-पत्रों में बड़े-बड़े शीर्षकों से छपा था कि विश्वविजयी पहलवान जिविस्को को भारतीय पहलवान गामा ने अखाड़े में पहुँचते ही चारों खाने चित्त कर दिया। गामा उस समय तो भारतीय पहलवान ही था। समाचार को उद्धृत करने में कुछ भूल हुई हो तो आप क्षमा करेंगे, क्योंकि बचपन की स्मृति की कोठरी से निकला यह समाचार बूढ़ा होकर सिकुड़ गया है और उसमें झुर्रियाँ पड़ गयी हैं।

उस दिन पाठशाला में अध्यापक जी ने व्यायाम की उपयोगिता बताते हुए कहा था– गामा ने अपनी पूरी शक्ति, पूरा श्रम, पूरा जीवन लगा दिया है शरीर की इस महती शक्ति को प्राप्त करने के लिये। अध्यवसाय ही सफलता का मन्त्र है। गामा की सफलता और उसकी कीर्ति का कारण है उसका अध्यवसाय।'

उसी दिन उसके कई सहपाठियों ने अखाड़ा खोदा। बड़े उत्साह से वे दण्ड-बैठक करने में जुट गये। एक मित्र ने उससे भी कहा– 'तुम भी चलो!' वह सहपाठियों में अधिकांश से दुर्बल था। व्यायाम से उसकी सहज अरूचि थी। उसने कह दिया – 'मुझे गामा नहीं बनना है।'

विद्यार्थियों का उत्साह दो-चार दिन चला। उनकी संख्या तीन दिन तक बढ़ती रही, फिर आठ दिन लगभग एक-सी रही और उसके बाद घटने लगी। दो महीने बाद अखाड़े की मेड़ के अतिरिक्त यह जानने का दूसरा कोई उपाय नहीं था कि वहाँ अखाड़ा भी खोदा गया था। लेकिन आठ दिन के उत्साह में एक बालक के पैर में मोच आ गयी थी और वह दो सप्ताह लंगड़ा बना रहा। एक के नेत्रों में एक बार मिट्टी पड़ गयी थी। उसके नेत्र लाल हो गये और रात्रि में बड़े कष्ट से वह सो सका। गामा निश्चय वीर हैं; किन्तु बालकों में कोई छोटा-सा पहलवान भी नहीं बन सका।

दूसरी स्मृति

स्मृतियों की कोठरियाँ परस्पर गिचपिच कर लेती हैं। वे सुसभ्य नहीं है। उन्हें इतना भी पता नहीं कि प्रत्येक स्मृति को क्रमशः सजाकर रखना चाहिये और क्रमशः देना चाहिये। भेड़ों के झुण्ड जैसी दशा है। कोई भेड़ कहीं से उठकर भाग पड़ेगी और सब-की-सब उसके पीछे झुण्ड बनाकर चल देंगी बिना किस क्रम के। इनको बनाने वाला निश्चय सेनापति नहीं है। अन्यथा वह इन्हें ठिकाने से पंक्तिबद्ध रहने और राइट-लेफ्ट करते चलना सिखलाता। अब सृष्टिकर्त्ता की भूल का यह परिणाम है कि पता नहीं लगता कि कौन-सी बात पहले की है और कौन-सी पीछे की।

प्रोफेसर राममूर्ति के व्यायामों का समाचार पत्रों में छपा था। वे मोटे-मोटे लोहे

के छड़ तोड़ देते थे। दो मोटरों को पकड़कर रोक लेते थे। छाती पर हाथी चढ़ा लेते थे। उनकी अदभुत शक्ति, अद्‌भुत कौशल और अद्‌भुत सुयश पाया उन्होंने इसके बदले। वे निश्चय वीर हैं। उनकी वीरता, उनका यश आदि उनके अध्यवसाय का परिणाम है। इसके लिये पूरा जीवन लगा दिया उन्होंने।

'तुम राममूर्ति बनोगे?' किसी ने उससे नहीं पूछा। पूछता भी तो क्या लाभ था। उसे व्यायाम से चिढ़ है। वह राममूर्ति बनना चाह ही नहीं सकता और ऐसी बेसिर-पैर की चाहों से लाभ? छछूंदर शीर्षासन करने लगे तो क्या योगिराज हो जायगी?

अब स्मृतियों के द्वारा एक साथ धड़-धड़ाकर खुल गये हैं। काले चीटों के बिल में पानी पड़ने पर जैसे वे एक साथ भर-भराकर निकल पड़ते हैं, स्मृतियाँ भी इसी प्रकार निकलती हैं। लज्जाशील बालकों के समूहों में-से किसी बच्चे को पुकारिये- वह मुँह छिपा लेगा या दूसरे साथी के पीछे छिप जायगा। लेकिन एक-दो बालकों-से हेल-मेल करते ही सब-के-सब पास दौड़ आयेंगे। मना करने पर भी ठेलमठेल करेंगे। इतिहास और पुराणों में महान् वीर सोये हुए हैं। मेरी स्मृति के सुखदायक कोष में उनकी दो मूर्तियाँ विश्राम कर रही थीं, वे सहसा जाग्रत हो उठी हैं। उनकी पंक्तियाँ समाप्त होने का नाम नहीं लेंगी। उस महान् वीरों में आप बहुत अधिक से परिचित हैं, उन्हें बिना जाने ही प्रणाम कर लेना उचित है।

नवीनतम दो स्मृतियाँ

सरगमाथा (एवरेस्ट)को वहाँ पहुँचकर अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करनेवाले श्रीतेनसिंह - वे महान् शूरमा। पर्वतारोहण का उनका अध्यवसाय, उनकी कीर्ति का आधार-स्तम्भ है। लेकिन सच मानिये, उसमें छोटे से हिम पर्वत पर चढ़ने का उत्साह भी वह सब विवरण एवं प्रशंसाएँ पढ़कर नहीं आया तो तेनसिंह की सफलता-पर समाचारपत्रों में प्रकाशित हुए। वह बहुत दुर्बल है। वह कहता है- 'तेनसिंह वीर हैं; किन्तु इन समाचार-पत्रों को तो थोड़े ही दिनों में किताबी कीड़े चाट जायँगे अथवा दूकानदार पुड़िया बाँध-बाँधकर समाप्त कर देंगे।' अपने अटपटे तर्क पर वह स्वयं खुलकर हँस लेता है।

दूसरा समाचार किसी योगी के सम्बन्ध में छपा था। बम्बई में या ऐसे ही 'क' से 'ज्ञ' के किसी समात्रिक या अमात्रिक अक्षर से जिसका नाम प्रारम्भ होता था, उस नगर में उन योगी महाराज ने बहुत-से-प्रतिष्ठित दर्शकों के सामने-क्योंकि दर्शक तो सदा प्रतिष्ठित ही होते हैं, उन्होंने काँच के टुकड़े चबाकर दिखाया, तेजाब पी और विश्व का भयानकतम विष खाकर सबको चकित कर दिया। उनकी कोई हानि नहीं हुई।

वे वीर थे, इसमें भला किसे संदेह होगा। समाचार-पत्र लिखे या न लिखे, यह बात सवा सोलह आने पक्की है कि उनकी प्रशंसा में बजी तालियों से आकाश गूँज गया होगा। पक्षी चौंककर चक्कर करने लगे होंगे और छिपकलियों ने पूँछ हिलाकर परस्पर पूछा होगा--- 'संसार में कौन-सी नई घटना हो रही है?' लेकिन उसमें इतना अध्यवसाय और इतनी रुचि नहीं है कि वह थोड़ा-सा कड़ुआ तेल ही पीने का मन कर ले।

उसे अपने मित्र के पत्र का उत्तर देना है। पत्र वीरता की प्रेरणा देता है उसकी स्मृति के भण्डार में वीरों के अद्भुत आकारों का कोई अभाव नहीं। लेकिन प्रत्येक की वीरता के पीछे जो श्रम, जो अध्यवसाय का इतिहास है- वह क्या उत्तर दे आपके मित्र को।

× × ×

'वीरता निश्चय उत्तम गुण है। उससे लोकोत्तर कीर्ति प्राप्त होती हैं।' लीजिये, वह अपने मित्र के पत्र का उत्तर देने बैठ गया है। लेकिन उसके लिये सम्पूर्ण जीवन अर्पित कर देना पड़ता है मेरे बन्धु-सम्पूर्ण जीवन। उसके लिए कठोर श्रम, पूरी सावधानी एवं महान् अध्यवसाय मूल्य के रूप में अर्पित करना पड़ता है।'

अब वह क्या करे, उसे वह बंदर स्मरण आता है।' जिसे वह अभी खेते में भिंडियाँ खाते देख आया है। वह अपने पत्र को उस बंदर के प्रभाव से बचा नहीं सकता।

उसने लिखा- 'जीवन बहुत थोड़ा है। किसी क्षण काल अपनी भयानक गुलेल लिये आ सकता है। मनुष्य-जीवन का यह खेत छूटा और छूटा। अवसर गया तो चला ही जायगा। मुझे वीर बनने के बदले सावधान रहना अधिक ठीक लगता है।'

उसे वे तितलियाँ स्मरण आयीं। वह लिखता गया- 'समाचारपत्र क्या लिखते हैं और लोग कितनी प्रशंसा करते हैं- इसका कुछ बहुत अर्थ नहीं है। अनन्त जीवन के लिये चुपचाप कुछ पाथेय प्राप्त हो जाय, मुझे तो किसी भी वीरता से यह बहुत अधिक महत्त्व की बात जान पड़ती है।'

उसके पत्र का अगला अंश था- 'मृत्यु की बिल्ली छिपी बैठी है। चूहे की वीरता का क्या अर्थ है? गिलहरियाँ प्रशंसा करें या न करें, उसे तो अपनी रक्षा की चिन्ता करनी चाहिये।'

अन्त में उसने लिखा- 'मेरे भाई रोग, शोक, दुर्बलता के घिनौने कीड़े संसार में भरे पड़े हैं। मनुष्य का मन पत्थर के समान नहीं है। वह पुष्प के समान है और बुराइयों के कीड़े उसके बाहर से आवें, यह आवश्यक नहीं है। वे उसके भीतर भी छिपे बैठे हैं। अनुकूल वायुमण्डल मिलते ही वे नोच-नोचकर खाना प्रारम्भ कर देंगे। परिस्थिति उनके अनुकूल हो तो वे क्षमा करने वाले नहीं हैं।'

निश्चय कोई अपने को भेड़ियों के मध्य में डाल दे और सुरक्षित बचा रहे, उनसे मित्रता कर ले या उन्हें पराजित कर दे, यह महान् वीरता है। लेकिन मेरे मित्र ऐसा करने का प्रयत्न करने में सहस्र में नौ सो निन्यान्वे बार यही भय है कि प्रयोक्ता के शरीर-खण्ड उन भूखे पशुओं की अँतड़ियों में ही पच जायँ। ऐसी वीरता के बदले अच्छा यही होगा कि मनुष्य सीधा मार्ग ले अपने लक्ष्य पर जाने के लिये और सीधा मार्ग वह है जिसमें विपत्तियों का भय न हो। जिसमें हम अधिक-से-अधिक सुरक्षित रह सकते हों।'

उसने पत्र समाप्त कर दिया, लेकिन क्या उसने पत्र भेजा? उसके मित्र को उसका पत्र मिला हीं नहीं; क्योंकि अपना पत्र डाकखाने भेजने के बदले उसने फाड़कर फेंक दिया। उस दिन वह संध्या-समय मन-ही-मन कह रहा था- सृष्टि के दयामय कर्त्ता! वीरों की मैं वन्दना करता हूँ। उन्हें हतोत्साह करने से मुझे क्या मिलेगा। लेकिन मैं वीर नहीं हूँ। मैं तो तेरी सृष्टि का एक साधारण प्राणी हूँ। मुझे ऐसी बुद्धि मत देना कि मैं अपने को विकृत परिस्थिति में डाल दूँ और वीरता के लोभ से पतन की आशंका को आमन्त्रण दे बैठूँ। तू मुझे शक्ति दे- केवल ऐसी शक्ति कि वीरता के प्रलोभन से बचकर मैं सावधान रहूँ और अपने लक्ष्य की ओर बढ़ता रह सकूँ- अप्रख्यात एवं कोलाहलहीन गति से निरन्तर।'

❑❑

स्नेह जलता है

'अच्छा तुम आ गये?' माता के इन शब्दों को आप चाहें तो आशीर्वाद कह सकते हैं; किन्तु कोई उत्साह नहीं था उनके उच्चारण में। उसने अपनी पीठ की छोटी गठरी एक ओर रखकर माता के चरण छुये और तब थका हुआ एक ओर भूमि पर ही बैठ गया।

'माँ मुझे देखते ही दौड़ पड़ेगी। दोनों हाथों से पकड़कर हृदय से चिपका लेगी। वह रोयेगी और इतने दिनों तक न आने के लिये उलाहना देगी।' वर्षों से पता नहीं क्या-क्या आशाएँ उमंगे, कल्पनाएँ मन में पाले हुए था वह। 'मैं माँ के पैर छूऊँगा। अपने हाथों उसके नेत्र पोछूँगा। उसे मनाऊँगा। वह बड़े स्नेह से मेरी एक-एक बात पूछेगी। मेरे लिये दौड़ेगी स्वयं चाय बनाने और उसे मना करूँगा।' जाने कितनी बातें... लेकिन क्यों वह ऐसी आशा करता था? वह कौन-सी सम्पत्ति लेकर घर लौटा है कि उसका स्वागत हो, उसे स्नेह मिले। वह भड़कीले कपड़ों में आता, सबके लिए सुन्दर उपहार लाता, चमकते जूते का मच्-मच् शब्द करता द्वार में प्रवेश करता- अवश्य उसका स्वागत होता। वह मैले फटे-चिथड़े लपेटे, नंगे पैर, पीला-पीला चेहरा, रोग से दुर्बल शरीर लिए मनहूसी की मूर्ति बना आया है। घर में अन्न नहीं है, इस वर्ष का लगान दिया नहीं गया, बच्चों के शरीर पर भी वस्त्र नहीं और सबकी जिस पर आशा अटकी थी, वही स्वयं भिक्षुक-सा बना आ पहुँचा है। घर की समस्याएँ ही क्या कम हैं, अपने ही दुःख, अपना ही अभाव क्या छोटा है? और ऐसी अवस्था में जब वह भी एक प्राणी की रोटी का भार बढ़ाने ही आया है- घरवालों के सारे अभाव, सारे क्लेश जैसे आज नये हो उठे हैं। क्षोभ ऐसे बढ़ गया है, जैसे पके घाव पर ठोकर लग गयी हो। उसका स्वागत? सब गुमसुम हैं, सब नेत्रों एवं चेष्टाओं से ही अपेक्षा व्यक्त करते हैं; कोई घर से निकल जाने को नहीं कहता, यही क्या कम है।

'तुम अपना यह खजाना कहीं ऊपर रख दो।' चाय नहीं, जल नहीं, दो मीठे शब्द तक नहीं। कोई अपरिचित भी घर में आया होता तो उससे पूछा जाता कि वह कहाँ से

आया है। यहाँ अपने ही घर वह पूरे दो वर्ष पर लौटा है और कोई उससे कुशल तक नहीं पूछता। उसकी वही स्नेहमयी भाभी झल्लाई, झुँझलाई कह रही है– बच्चा आता होगा। कहीं तुम्हारे बहुमूल्य रत्न उठा न ले।'

कितना कष्ट सहकर, कितनी कृपणता से वह भाभी के लिए एक साड़ी लेने को कुछ पैसे बचा सका। बीमारी के पीछे दूध तक तो उसने लिया नहीं। 'भाभी हँसती-दौड़ती आवेंगी और मेरी गठरी उठाकर भाग जायँगी। मैं उन्हें रोकूँगा, खीझूँगा और वे मेरी लायी साड़ी पहिनकर मेरे लिये जलपान लिए अपनी कोठरी से निकलेगी।' उससे सदा हँसकर बोलनेवाली, अपने पुत्र के समान उसके भोजन-वस्त्रादि की खोज-खबर लेने वाली भाभी इतनी रूखी हो जायँगी, इसकी तो कभी स्वप्न में भी उसे आशा नहीं थी। उसकी मैली छोटी गठरी में एक उजली लाल किनारे-की तह की हुई साड़ी है, किसी दुर्बल के मलिन शरीर में छिपे दया एवं सहानुभूति से पूर्ण निर्मल हृदय की भाँति। किस साहस से वह अब उसे निकाले?

'बच्चा आता होगा'– बच्चा मोहन! भाभी की बात कानों में टकराकर सूनी रह गयी। कल्पना ने एक दूसरा चित्र उपस्थित किया। जब चारों ओर रोष, तिरस्कार, उपेक्षा का अन्धड़ चल रहा है, एक शीतल झकोरा आता जान पड़ा। 'मोहन-नन्हा, गोल-मटोल, सुन्दर किलकता-सा मोहन!' छिः मनुष्य? भगवान् काल क्या तेरी कल्पना के लिए अपने पद रोके खड़े रहेंगे? बच्चा युवक होता है, युवक वृद्ध होता है; किन्तु वर्षों पीछे भी तू उसे अपने उसी पुराने रूप में पाने की आशा करता है? मोहन अब वही एक वर्ष का शिशु नहीं, वह तीन वर्ष का हो गया है, यह तुझे क्यों स्मरण नहीं आता?

'मोहन! आओ भैया! एक नंगा धूलि-भरा दुबला-सा गोरा बालक दौड़ता आया और अपने घर में एक अपरिचित को देखकर सहमा-सा खड़ा हो गया उसी विचित्र मनुष्य को देखता हुआ। 'मैं तुम्हारा चाचा हूँ भैया!' अब भी आशा थी कि बालक पहचान लेगा और समीप आ जायेगा; किन्तु बालक के नेत्र स्पष्ट कहते हैं– 'तुम कौन हो? मैं तो किसी चाचा को नहीं जानता। मुझे तुम्हारे पास डर लगता है। क्या पता तुम हौआ हो या भकौआ। मैं नहीं आऊँगा।'

'देखो, मैं तुम्हारे लिए घोड़ा लाया हूँ।' अब गठरी खोली गयी। लकड़ी का एक छोटा-सा लाल-हरा चमकता घोड़ा– बालक के नेत्र खिलौने पर लग गये। बार-बार पुचकारने पर डरता-डरता धीरे-धीरे आगे बढ़ा वह। हाथ बढ़ाकर खिलौना ले लिया उसने और चाचा ने उसे गोद में खींच लिया। बालक छटपटाने लगा गोद से छूटने के

लिए। उसे अपना खिलौना चाहिये। चाचा से उसे कोई मतलब नहीं।

'माँ! माँ! मेरा घोड़ा!' दौड़ता हुआ बालक अपनी माता के पास पहुँचा।

'चल! घोड़ा ले आये हैं ये- दे दे उनका घोड़ा उन्हें।' माता ने बच्चे के हाथ से छीनकर खिलौना फेंक दिया उसके सामने। पट्से करके वह गिरा और उस लकड़ी के घोड़े का एक कान तथा एक पैर टूट गया। बालक सन्न रह गया। उसका मुख लटक गया और एक मिनट बाद उसके नेत्रों से अश्रु गिरने लगे। अन्त में हिचकियाँ लेता हुआ वह माँ की गोद में ही मुख छिपाने दौड़ा; पर माँ ने क्रोध से झटक दिया भूमि पर उसे।

'भाभी!' उसके मुख से और शब्द नहीं निकले। बायीं हथेली पर मस्तक रखकर झुक पड़ा वह। उसे लगा है कि पूरी पृथ्वी घूम रही है- घूमती जा रही है।

'तुम ऐसे भूमि में क्यों बैठे हो?' बड़े भाई पता नहीं कब से आकर उसके सामने खड़े हैं। उसने उनके पैरों में सिर रख दिया और बच्चों की भाँति हिचकियाँ लेकर रोने लगा। 'उठो, चटाई पर बैठो! अरे, चाय तो ले आओ।' पत्नी को उन्होंने आज्ञा दी।

'भैया!' उससे बोला नहीं जाता है। उसके नेत्रों की धारा रूकती नहीं है।

'तुम बीमार हो गये थे?' बड़े भाई में स्नेह है या नहीं, कहना कठिन है, किन्तु शिष्टाचार तो है ही।

'मैं मरते-मरते बचा हूँ। मर-खपकर जो कुछ बचा पाया था, बीमारी की भेंट हो गया।' उसने भरे कण्ठ से कहा- 'भाग्य में तुम्हारे चरणों के दर्शन थे, इसी से यहाँ पहुँच सका।'

'चलो, अब दो-चार दिन में यहाँ का हवा-पानी स्वस्थ कर देगा तुम्हें।' आश्वासन दिया बड़े भाई ने और साथ ही घर का समाचार भी दिया- 'लगान दो वर्ष का बाकी है। पिछले वर्ष खेतों में कुछ हुआ ही नहीं। घर में इस वर्ष कुछ भी नहीं है। उधार के अन्न से कई महीनों से एक समय भोजन करके काम चलाया जा रहा है। पास में दूसरे गाँव के जमींदार एक बाँध बनवा रहे हैं। अच्छी मजदूरी है। मुझे तो खेतों से अवकाश ही नहीं मिलता।'

'मैं कल से ही वहाँ काम पर लग जाऊँगा।' वह और क्या कहे? दो वर्ष पर घर लौटा है, लम्बी बीमारी ने रक्त-माँस चूस लिया और घर पर दो घूँट चाय मिलने से पहले ही उसे यह सब सुना दिया है, बड़ी शिष्टता एवं आत्मीयता से। संसार जब उसकी हड्डियाँ खँखेड़ना ही चाहता है, भागकर कहाँ जायगा वह?

× × ×

पहाड़ की तराई में एक छोटा-सा गाँव है। मिट्टी की दीवारें और फूस के छप्पर एक-दूसरे से सटे हुए छोटे-छोटे घर हैं चारों ओर कँटीली बाड़ से घिरे हुए। समीप के वन में चीता, शेर, तेदुआ कभी-कभी रात में इस घेरेबन्दी में भी घुस पड़ते हैं और कोई पशु उठा ले जाते हैं। बकरियाँ, भैंसें और गायें- इनके गोबर से पूरा गाँव ही गोष्ठ हो गया है। गाँव के एक ओर तो वन है; किन्तु तीन ओर खेत हैं। ऊँची-ऊँची मेड़ें और उन पर सूखे काँटों की बाड़। इतना सब न किया जाय तो क्या सूअर और हिरन खेत बचने देंगे; फसल के दिनों में रात-रातभर जाकर शशक, शृगाल आदि से रखवाली करनी पड़ती है।

सूखे मुख, दुर्बल देह, फटे मैले वस्त्र, कठोर श्रम करने वाले थे ग्रामवासी किससे कम तपस्या करते हैं? किसी तपोवन से घटकर है इनका यह ग्राम लेकिन कहाँ तपस्वी का निर्लिप्त आनन्द मग्न मानस और कहाँ...। मनुष्य तो मनुष्य ही है। वह नगरों में रहे या सुदूर वन्य ग्रामों में। वही दौड़-धूप, वही रोटी-कपड़ा, वह घर-खेत, वही स्त्री-बच्चे और चिन्ता, लालसा, श्रम-वासना की अशान्तिपूर्ण क्षुधा क्या स्थान भेद से मन्द पड़ना जानती है?

इस छोटे गाँव में एक छोटा-सा घर है। दो भाई, उनकी एक वृद्धा माता, बड़े भाई की स्त्री और उस स्त्री की गोद में एक वर्ष का एक घुँघराले बालों वाला गोलमटोल गोरा सुन्दर शिशु। इतना परिवार है। पहाड़ के पास के खेत वैसे ही बंजर होते है और फिर इस ओर वर्षा की कमी प्रायः रहती है। परिवार दरिद्र है; किन्तु है स्नेही। सब एक-दूसरे से सहानुभूति रखते हैं।

रामनाथ यह पूरा नाम है उसका। माँ और भैया उसे रामू कहते हैं और इसी से गाँव वाले भी उसे रामू ही कहते हैं गठा हुआ पुष्ट शरीर है। नागपञ्चमी को जब एक महीना रह जाता है, गाँव के अखाड़े की उसी से शोभा होती है। गाँव में सभी उसका सम्मान करते हैं।

'बेटा! तू भी कुछ काम किया कर खेत पर।' माँ उसे यदा-कदा उपदेश करती हैं।

'अभी तो वह बच्चा है, उसके खेलने-खाने के दिन है।' बड़े भाई उससे कुछ करने को कहते नहीं। वह स्वयं कुछ करता है तो उसे मना ही करते है। 'आज तुमने एक रोटी कम खायी है!' गरीब का घर है। भरपेट भोजन जिस दिन मिले, उस दिन पर्व समझना चाहिये; लेकिन भाभी स्वयं चाहे उपवास कर ले, उसके लिए पूरा भोजन बचा रखती हैं और बैठकर आग्रह करके भोजन कराती हैं उसे।

मोहन- एक वर्ष का छोटा-सा मोहन तो अपने चाचा से ही चिपका रहता है। रात

को नींद टूटने पर वह 'चाचा, चाचा' कहकर ही रोता है। रामू का सम्पूर्ण सुख तो मोहन ही है।

'मैं रंगून जाऊँगा!' एक दिन अचानक रामू ने घर को अपने प्रस्ताव से चौंका दिया। रंगून से लौटा है विजयपाल। सिर पर अंग्रेजी ढ़ंग से कटे सुन्दर बाल हैं, हाथों में एक सस्ती घड़ी बँधी है, शरीर पर उजले मलमल का कुर्त्ता है, पैरों में चमचम करता बूट है। रामू विजयपाल से मिल आया है। 'रंगून में रुपये तो जैसे बरसते हैं।' पता नहीं क्या-क्या कहा है विजयपाल ने उससे। अब वह भी रंगून जायगा।

माँ रोती है। भैया कहते हैं- 'तुम यही काम करो।' भाभी रोक रही हैं और साथ ही पूछती भी हैं- 'मेरे लिए क्या लाओगे?' नन्हें मोहन को कुछ पता नहीं। चाचा उससे कहते है- 'तेरे लिये घोड़ा लाऊँगा, हाथी लाऊँगा, पैर गाड़ी लाऊँगा।' वह हँसता है। उसे क्या पता कि रंगून कोई चिड़िया है, हिरन है या मिठाई है।

'मैं रंगून जा रहा हूँ।' पड़ोस के गाँव में एक लड़की है; छिपकर रामू को उससे यह बात कहनी पड़ी, जब वह अपनी गायें वन में से लौटा रही थी। उसने एक बार मुड़कर देखा रामू की ओर केवल 'हूँ!' कहा! रामू को लगा कि उसकी आँखें भर आयी हैं। 'मैं जल्दी ही लौट आऊँगा।' रामू ने साथ चलते-चलते कहा। उसने सिर झुका लिया। पैरों की गति बढ़ी या मन्द हुई, कुछ उलझन की बात है। रामू और वह बचपन से साथ खेले हैं। वन में दोनों साथ बकरियाँ चराते थे और झरबेरी एकत्र करते थे। लेकिन अब उसकी रामू के साथ मँगनी हो गयी है। अब बात बदल गयी और सम्भवतः बदली बात ने गूँगी कर दिया उसे। वह गूँगी हो नहीं गयी है, केवल रामू के पास रहने पर गूँगी हो जाती है।

अन्त में विजयपाल के साथ रामू रंगून के लिए चल पड़ा। बड़े भैया उसे स्टेशन तक पहुँचा गये। गाँव से दूर तक तो बहुत-से लोगों ने पहुँचाया था। जब गाड़ी स्टेशन से चल पड़ी, उसके नेत्रों से अश्रु टपक रहे थे। विजयपाल रंगून के किस सुयश का वर्णन कर रहा है, इसका उसे तनिक भी ध्यान नहीं था।

× × ×

वह रंगून अपने लिए- अपने सुख के लिए गया? उसका अन्तरात्मा जानता है या फिर घट-घट की जानने-वाला जानता है। अपनी जन्मभूमि, अपने संगी-साथी, अपना सौहार्दपूर्ण परिवार छोड़ने में उसे कितनी व्यथा हुई थी, वह जानता है। रंगून पहुँचने पर भी कई दिनों तक उसे घर की स्मृति ही दिन-रात बनी रहती थी। न भोजन

अच्छा लगता था, न वस्त्र। किसी से बोलना अखरता था। भरे-भरे नेत्र देखकर आस-पास के लोग समझाते और कभी-कभी परिहास भी करते थे।

घर छोड़कर वह गया था, उसे जाना पड़ा था कहना ठीक होगा। बड़े भाई दिनभर श्रम करते थे और इतने पर भी दोनों समय पेट भरने को सूखी रोटी जुटती नहीं थी। भाभी की साड़ी में रोज एक पैबन्द बढ़ता जाता था। नन्हें मोहन को पिलाने के बदले बकरी का दूध बेचना पड़ता था। दूध बेचा न जाय तो लगान कहाँ से आवे? वह कब तक यह सब देखता? उससे कोई कुछ कहता नहीं था; किन्तु उसके भी तो नेत्र थे।

रंगून का वैभव- वहाँ की चकाचौंध, लेकिन वह सब सच होकर भी उसके लिए स्वप्न था। उसे तो एक छोटी-सी गंदी कोठरी, दिन भर हड्डी तोड़ परिश्रम और रूखी रोटी या उबला चावल नमक के साथ मिलता था। सब उसका परिहास करते थे। सब उसे कृपण बतलाते थे। एक-एक कौड़ी दाँत से पकड़ना सीख गया था वह। परिश्रम और पैसा- उसके भाई, उसकी भाभी, उसके भाई का नन्हा पुत्र मोहन- और वह उन सबके लिए ही रंगून आया है। वह पैसा जोड़ने में जुट गया है। एक पैसे का साग लेना या सिर में अधेले का तेल डाल लेना उसे बहुत बड़ा अपव्यय जान पड़ता है। वह यहाँ क्या सुख भोगने आया है?

विजयपाल ने अब उससे मिलना भी बंद कर दिया है। वह स्वस्थ है, देखने में सुन्दर है, उसका शरीर सुगठित है। विजयपाल उसे अपने साथ कुछ आशा लेकर ही तो लिवा लाया था। एक अच्छी धनी बर्मी स्त्री उससे विवाह कर लेगी। वह धनी हो जायगा और विजयपाल को भी लाभ होगा। अधिक नहीं तो वह उसके धान के खेतों और बगीचों का प्रबन्धक ही बन जायगा। अधिकांश भारतीय ऐसा करते हैं। बर्मा में विवाह करके रहना और वहाँ से स्वदेश सम्पन होकर लौटना- एक कुप्रथा बन गयी है। बर्मी स्त्री-बच्चों को तो साथ लाना नहीं पड़ता, स्वदेश में कौन जानता है कि किसने कहाँ क्या किया था। लेकिन रामनाथ है कि उल्टे सीधा होना जानता ही नहीं। विजयपाल ने सब साँठ-गाँठ बैठा ली है; किन्तु रामू तो गाँव की उस बकरी चराने वाली को प्राण दिये बैठा है। भला, वह कहाँ भागी जाती है! रुपए लेकर जायगा तो उसके पिता नाक रगड़ेंगे इसके पैरों पर, लेकिन इस गँवार को कौन समझाये? यह तो कहता है- 'कोई जाने या न जाने, धर्म तो जानता है। मैं किसी को धोखा दूँगा तो भगवान् मुझे कैसे क्षमा करेंगे? मुझसे यह सब नहीं होगा। अपने पसीने की कमाई ही मुझे लेनी है। पाप और बेईमानी का पैसा मुझे नहीं चाहिये।'

चोरों के समूह में रहकर कोई चोरी न करे तो क्या चैन पायेगा? जब समाज में ही पाप घर कर जाता है, तब सत्पुरुषों को संकट उठाने-तप करने के लिए तत्पर रहना ही

चाहिये। रामनाथ जहाँ काम करता है, विजयपाल तथा उसके साथी वहीं से उसका टिकट कटा देने के प्रयत्न में लगे रहते हैं। वह तो अपने परिश्रम और धैर्य से टिका है। उसके संयम एवं कृपणता ने उसके संगी-साथ रहने ही नहीं दिये हैं।

कोई भाग्य को क्या करें? कठोर परिश्रम, रूखा तथा अपर्याप्त भोजन, नन्ही गंदी कोठरी में मुर्गी-सा बन्द रहना, समुद्री नगर का अनभ्यस्त जलवायु- रामनाथ दुर्बल होता गया। बार-बार ज्वर आने लगा उसे। गरीबों की शुश्रूषा और चिकित्सा जैसी हो पाती है, संसार जानता है। रामनाथ विदेश में अकेला और उस पर भी अत्यन्त कृपण। जितना वह जोड़ पाता उसका एक बड़ा भाग ज्वर आने पर बहुत काट-कपट करने पर भी व्यय हो जाता। अन्त में वह गिर पड़ा चारपाई पर और पूरे छः महीने चलने-फिरने योग्य होने में लगे।

'यदि तुम जीना चाहते हो तो अपने घर चले जाओ!' सभी एक ही सलाह देते हैं।

'बड़े भाई, भाभी, मोहन' रामनाथ को जीना तो है। उसके चित्त में स्मृतियों का प्रवाह चल रहा है। अन्त में परिचितों ने एक दिन कलकत्ते जाने वाले जहाज मेंबैठा दिया उसे।

'तुम्हारे रंगून आने के छः महीने पीछे चौधरी ने अपनी लड़की की सगाई अन्तू से कर दी। तुम्हारे भाई से खेत के पानी को लेकर लड़ाई हो गयी थी उनकी।' कलकत्ते में गाँव के कई लोग रहते है। रामनाथ उनके पास आया तो उसे यह समाचार मिला- 'पिछले वर्ष उसका विवाह भी कर दिया चौधरी ने।'

विपत्ति अकेली नहीं आया करती। इस समाचार का प्रभाव कहिये, समुद्री यात्रा का कारण कहिये या भोजनादि मार्ग की गड़बड़ी बताइये, रामू कलकत्ते में ही बीमार हो गया। उसे सरकारी अस्पताल में भरती कराना पड़ा। जब वह एक महीने बाद अस्पताल से निकला, उसकी रही-सही पूँजी भी समाप्त हो गयी थी। उसके कपड़े फट गये थे; किन्तु अब उसके पास पैसे कहाँ थे नये कपड़े बनवाने को।

'रामू अस्पताल में बीमार है' रामू के भाई को घर पर यह समाचार मिल गया था। खेत सींचने हैं, बोने हैं, घर की मरम्मत न हो तो वर्षा में टिकेगा ही नहीं। एक गरीब कृषक को इतनी बड़ी यात्रा करना परलोक की यात्रा प्रतीत होती है, यह बात नित्य रेलों में ही घूमने वाले या हवाई जहाज से फुर्र होनेवाले कैसे समझ सकते हैं।

जैसे बीमारी बिना बुलायी आयी थीं, विदा करने की प्रतीक्षा किये बिना चली भी गयी। गरीबों का चिकित्सक भाग्य ही होता है, रामू को तो अस्पताल भी मिल गया था। लेकिन वह स्वस्थ होकर प्रसन्न हुआ, यह कहना उसके साथ अन्याय करना होगा।

× × ×

'बाबा! अब आप ही मुझे शरण दो।' गाँव से कोसभर दूर वन में एक झरने के पास भगवान् का मन्दिर है; एक वैष्णव संत वहाँ रहते हैं। पास के गाँव से कच्चा अन्न माँग लाते हैं। यह एकान्त बहुत अनुकूल जान पड़ता है भजन के लिये। रामनाथ सायंकाल ग्राम से चलकर मन्दिर पर आया और गिर पड़ा संत के चरणों में। फूट-फूटकर रो रहा था वह। 'मैं यहाँ की सब सेवा करूँगा। आप जो आज्ञा करेंगे, प्राण देकर भी उसे पूरा करूँगा। मुझे अब घर में नहीं रहना है।'

आज ही रामनाथ दो वर्ष बाद घर लौटा है और आज ही घर से यह विरक्ति? लेकिन कौन है घर पर जो उसके आने से प्रसन्न हुआ हो? किसे उससे स्नेह है? एक कल्पना-एक भावुकता थी मन में और घर से निकल पड़ा था वह। वह चौधरी की लड़की, उसकी नहीं, अन्तू की स्त्री कुएँ से जल लेकर लौट रही थी। रामनाथ को देखकर भी उसने देखना नहीं चाहा। उसके पैरों की गति बढ़ गयी।

'तुम भी मुझे पहचानती नहीं हो?' रामनाथ पास चला गया।

'दूसरे की स्त्री से रास्ते में इस प्रकार बोलते हुए तुम्हें लज्जा नहीं आती' डाँट दिये उसने- 'तुम गाँव के नाते उनके भाई लगते हो, सो जानती हूँ। दरवाजे पर आओगे तो हुक्का चढ़ाकर दे दूँगी।' रामनाथ के पैर वहीं भूमि में गड़े से गये। वह नहीं देख सका कि किसी ने उसे मुडकर देखा भी या नहीं देखा। वहाँ से वह सीधे ही मन्दिर के लिए चल पड़ा। अब उसे पूरा संसार सूना जान पड़ता है।

'संसार जिन्हें धक्का देकर निकाल देता है, वे भगवान्- की शरण में आते हैं।' संत जैसे अपने-आपसे कह रहे थे- 'लेकिन कम ही होते हैं जो फिर संसार के पुकारने पर उधर न दौड़ जायँ। बहुधा वे स्वयं दूसरे मार्ग से उसी संसार को बार-बार पकड़ने का प्रयत्न करते हैं। वैराग्य तो उनकी वस्तु है जो संसार को झटककर आते हैं।'

'बाबा! आप मुझे मन्त्र दे दो।' रामनाथ रोते हुए आग्रह कर रहा था- 'मैं अब आपके चरण छोड़ने वाला नहीं हूँ।'

'तुम साधु बनकर क्या करोगे?' संत ने पूछा।

'भगवान् का भजन करूँगा और आपकी सेवा करूँगा।' रामनाथ ने बिना किसी संकोच के कहा।

'भगवान् का भजन तो ऐसे होता नहीं।' संत समीप ही आसन पर बैठ गये। 'सेवा अवश्य तुम कर सकते हो। इस प्रकार किसी को साधु बनाने का अर्थ बिना मजदूरी दिये एक मजदूर पाने का प्रयत्न करना है।

'बाबा! भेड़ तो जहाँ जायेगी, वहीं मुँड़ेगी।' रामनाथ को संत की बात का बुरा नहीं

लगा। 'मैं घर पर भी मजदूर ही था, आपकी सेवा करूँगा तो पुण्य तो होगा! घर की मजदूरी तो गधे को अन्न खिलाना भी नहीं रही।'

'लेकिन साधु किसी को केवल अपनी सेवा के लिए साधु बनावे, यह बहुत बड़ा पाप है।' संत ने कहा– 'साधु का वेश भजन का वेश है।'

"मैं भजन करने को 'ना' कहाँ कहता हूँ।" रामनाथ ने आग्रह किया।

"अच्छा तुम यहीं बैठो और रात में सोने का समय होने तक 'राम-राम' कहते रहो। रोटियाँ मैं तुम्हें दे दूँगा।" संत ने समझाने का उपाय सोच लिया।

'राम, राम, राम, राम', रामनाथ कब तक 'राम-राम राम' करता रहे। दो मिनट, चार मिनट, दस मिनट! वह ऊब गया। इधर-उधर देखने लगा। अन्त में आधा घंटे में ही उठ खड़ा हुआ। 'आप मुझे कोई सेवा बताओ! इस प्रकार मुझसे बैठे नहीं रहा जायगा।'

'यही मैं कहता था कि भजन इस प्रकार नहीं होता।' संत ने समझाया– 'भजन करना उत्तम है; किन्तु उसे कायदे से सीखना पड़ता है। जो घर पर भजन नहीं करता, घर छोड़ने पर उससे भजन नहीं हो सकता। तुम मेरी बात मानोगे?'

'अवश्य मानूँगा।' रामनाथ ने हाथ जोड़कर मस्तक झुकाया।

'देखो, परदेश में तुम बराबर भाई, भाभी, भतीजे आदि का स्मरण करते थे। उस समय तुम मोहवश उनका स्मरण करते थे।' संत धीरे-धीरे समझा रहे थे। 'अब भी तुम उन्हीं का स्मरण कर रहे हो। अब तुम यह सोच रहे हो कि वे सब कितने निष्ठुर हैं। यदि तुम घर इस समय छोड़ दोंगे तो यह स्मरण बना ही रहेगा। यह भी स्नेह का ही फल है और यह तुम्हें जलाता ही रहेगा।'

'पहले भी मैं जलता ही रहा हूँ।' रामनाथ को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसे लगा कि साधु ने उसके चित्त की बात जान ली है। उसकी श्रद्धा बढ़ गयी।

'अरे भाई! दिये में जब तक तेल है, तब तक वह जलेगा ही!' साधु कह रहे थे– जब तक चित्त में संसार का स्नेह है, तब तक वह जलता रहेगा। इस स्नेह को निकाल देने का उपाय यह है कि तुम घर लौट जाओ। अब तुमको घर के लोगों के प्रेम का रहस्य ज्ञात हो गया है। अब वे फिर जब तुम्हारा आदर-सत्कार करने लगे, तब भूलना मत कि अपने स्वार्थवश ही वे ऐसा कर रहे हैं। तुम घर पर काम करो। बचपनसे अब तक उन लोगों ने तुम्हारा पालन-पोषण किया है, उनकी सेवा करना तुम्हारा कर्त्तव्य है। उनके पास रहकर उनके सेवा कर्त्तव्य समझकर करते रहो और भगवान के नाम का जप करने का अभ्यास करो। ऐसा करने से भजन होने लगेगा और मन में जो मोहरूपी स्नेह है, वह दूर हो जायगा।'

'आप मुझे घर न भेजें।' रामनाथ कातर हो रहा था।

'तुम अपने को आज साधु ही मानो।' संत ने कहा। 'घर के लोगों की सेवा मेरी बात मानकर करो। घर पर ऐसे रहो, जैसे वह तुम्हारा घर नहीं है। तुम वहाँ अतिथि बनकर रहते हो। घर तो उन लोगों का है। वे जैसा करें, जो चाहें- उनमें तुम उनका अनुमोदन और सहायता करो।'

रामनाथ घर लौट आया। वह गृहस्थ साधु-उसकी शान्ति, उसका आनन्द तब तक कैसे जाना जा सकता है, जब तक स्नेह की ज्वाला से मुक्त होकर अपने घर में ही कोई अपने को स्थायी अतिथि नहीं बना लेता।

जिन्हें दोष नहीं दीखते

'आप निर्दोष हैं। आराध्य का आदेश पालन करने के अतिरिक्त आपके पास और कोई मार्ग नहीं था।' आचार्य शुक्र आ गये थे आज तलातल में। पृथ्वी के नीचे सात लोक हैं- अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल और पाताल। इनमें तीसरा लोक सुतल भगवान् वामन ने बलि को दे रखा है। उसके नीचे अधोलोकों का मध्य लोक तलातल मायावियों के परमाचार्य परम शैव असुर-विश्वकर्मा दानवेन्द्र मय का निवास है। सुतल में बलि की प्रतिकूलता का प्रयत्न करने वाले असुरों को दण्ड देने श्री नारायण का सुदर्शन चक्र यदा-कदा चक्कर लगा लेता है और अधोलोक प्रायः सभी उसके प्रशासन में हैं; किन्तु तलातल में वह कभी नहीं जाता। भगवान् त्रिपुरारि का लाड़ला भक्त मय- उसके आश्रितों को चक्र से कभी भय नहीं हुआ।

'दानवेन्द्र अत्यन्त दुःखी हैं। पूरे सात दिनों से उन्होंने जल ग्रहण नहीं किया।' अनुचरों को कोई मार्ग नहीं सूझा तो वे सुतल आचार्य शुक्र के चरणों में पहुँचे। आचार्य अपने मुख्य यजमान असुरेन्द्र बलि के समीप ही रहते हैं। किन्तु दानव तथा राक्षसों के भी वही कुलगुरु है। वहीं विपत्ति के सहायक तथा मार्गद्रष्टा हैं। दानवों को लगा कि आचार्य ही कोई सुलझाव निकाल सकते हैं।

'भगवान् चन्द्रमौलि के श्रीचरणों में श्रीकृष्णचन्द्र की अत्यन्त अनुरक्ति है।' आचार्य कह रहे थे - 'और श्रीगङ्गाधर भी द्वारकानाथ से अत्यन्त स्नेह रखते हैं। उमाकान्त ने जब यह विधान किया, उसे सम्पन्न करने में श्रीकृष्ण के प्रति कहीं अश्रद्धा या अपकार का भाव नहीं आता और सत्य तो यह है कि शिव ने एक क्रूर शलभ को केवल दीपक के समीप भेजा। उस अप्रतिहत शौर्य का न सौभ कुछ बिगाड़ सकता था, न शाल्व। अब तो समाप्त भी हो चुका यह प्रसङ्ग। शाल्व को चक्र की धारा ने निर्वाण दे दिया।'

'भगवन्! मेरे आराध्य भगवन् चन्द्रमौलि और श्रीकृष्णचन्द्र में कोई अन्तर है, यह कलुष इस जन के अन्तर में कभी नहीं आया। वे करुणावरुणालय कृत्तिवास रहें या पीताम्बर परिधान, विश्व के परमकारण-कारण वही हैं। लीलारूप उनके थे और

रूचिवैचित्र्य के कारण उनका त्रिलोचन-रूप इस जन को प्रिय है। वे दोष नहीं देखेंगे, जानता हूँ; क्योंकि उन्हें कभी किसी के दोष दीखते नहीं। वे उत्तमश्लोक - उन्हें दोष देखना आता ही नहीं।'

'मेरा अमरत्व उस दिन अग्नि की ज्वाला में भस्म ही हो चुका था। मैंनेउस दिन प्रत्यक्ष देखा श्रीकृष्ण का प्रभाव। महेन्द्र की वर्षा और उनका वज्र व्यर्थ हो गया था। मैं इतना अज्ञ नहीं था कि इसे अर्जुन के शरों का चमत्कार मान लेता।' दो क्षण मय को अपना गद्गद स्वर सम्हालने में लगे और फिर वे बोले- 'श्रीकृष्ण की इच्छा का प्रताप था वह और उस इच्छा ने उस दिन अग्नि को जो सामर्थ्य दी थी- मय उन लपटों में तृण के समान भस्म हो जाता; किन्तु इस अधम सुर-शत्रु दानव की कातर पुकार उन्होंने सुन ली। कोई आर्त पुकार उनके श्री-चरणों से निराश नहीं लौटी। मय का शरीर, इसका जीवन श्रीकृष्ण का कृपाप्रसाद, और कोई सेवा उनकी यह नहीं कर सका।'

'वे हैं ही कृपा-विग्रह। बलि पर जो अचिन्य अतक्य अनुग्रह उन्होंने किया।' आचार्य शुक्र का कण्ठ भी भर आया- 'उनकी अहैतुकी असीम कृपा का मुझसे अधिक प्रत्यक्ष साक्षी और कौन होगा। वे त्रिभुवनाथ मेरे यजमान के द्वार पर गदापाणि द्वारपाल बने खड़े हैं। उन्होंने मुझसे यहाँ आते समय कहा है- 'मय बहुत भावप्रवण है। उसे आश्वस्त करो आचार्य!'

'वे दयाधाम तो कहेंगे ही!' मय क्रन्दन कर उठें- मेरे सचिव कहते हैं कि मैं द्वारका जाकर श्रीकृष्णचन्द्र से क्षमा याचना करूँ। अज्ञ हैं वे। उन उदार चक्रचूडामणि से भी क्या क्षमा-याचना करनी पड़ती है? किसी के अपराध उनके विशाल नेत्र देख भी पाते हैं कि क्षमा माँगी जाय? मैं चला ही जाऊँ। तो वे कहेंगे - 'मय! तुम भी यह पागलपन करते हो। मैं भला तुमसे रुष्ट हो सकता हूँ कभी?'

'लेकिन यह कृतघ्न!' मय ने मस्तक पटक दिया भूमि पर। उनकी अन्तर्वेदना का अन्त नहीं था। 'भगवान् गङ्गाधर ने सौभ-निर्माण की आज्ञा इसी पापिष्ठको दी- इसीलिए तो कि इसके अन्तर में कहीं असुर-द्वेष छिपा था। कोई कल्मष कहीं चित्त में न होता- जो अपने संकल्पमात्र से त्रिभुवन की सृष्टि कर सकते हैं, शाल्व को एक विमान नहीं प्रकट कर दे सकते थे? जिन्होंने मुझे जीवनदान दिया, उनके शत्रु को उन्हीं के नगर एवं जनों को उत्पीड़ित करने के लिए इन करों ने सौभ जैसा दूर्भेद्य प्राय विमान अर्पित किया। मुझे ही इस कर्म का भार आराध्य ने क्यों दिया आचार्य?'

आचार्य क्या उत्तर दें। भगवान् भूतनाथ के संकल्प या कर्म का हेतु जानने में तो आचार्य की सर्वज्ञता समर्थ नहीं है। उन लीलामय की लीला; किन्तु इस मय को आचार्य कैसे समझाये? यह वे स्वयं नहीं समझ पा रहे हैं।

'मैं कितने भी वर्ष उपोषित रहूँ, मर नहीं सकता। भगवान् शंकर ने मुझे अमरत्व

दिया है।' दानवेन्द्र रुदन कर रहे थे– 'खाण्डव-दाह में अग्नि मुझे अंधा, पंगु बना दे सकता था। अर्जुन के बाण मय को लुञ्ज-पुञ्ज करके धर देते। मय का अमरत्व विडम्बना बनकर रह जाता और आज वह विडम्बना बन गया है कि मय देह त्यागकर अपनी कृतघ्नता का प्रायश्चित करने में भी समर्थ नहीं है। श्रीकृष्ण की दृष्टि में मय का कोई अपराध नहीं। आप भी कह लें कि मय निर्दोष है; किन्तु स्वयं अपनी दृष्टि में मय ने जो घोर कृतघ्नता की है शाल्व को द्वारकापर आक्रमण के लिए सौभ-विमान निर्मित करके देने की...।'

'किन्तु स्वेच्छा से तो नहीं किया तुमने यह!' आचार्य फिर बोले। लेकिन अपने प्रयत्न की निष्फलता वे समझ चुके थे। उनकी वाणी में उत्साह नहीं था– 'अपने मित्र शिशुपाल के वध से क्रोधविष्ट शाल्व तप कर रहा था। पूरे वर्ष भर मुट्ठी भर रेत प्रतिदिन खाकर वह आशुतोष की आराधना करता रहा। भगवान् शिव उपेक्षा कर देते उसकी? तुम तो निमित्त बने आराध्य के आदेश को पूर्ण करने में।'

'मैं ही क्यों निमित्त बना?' मय के इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं था। 'मैं इस कृतघ्नता के लिए क्यों चुना गया?'

'यदि तुम एक बार द्वारकेश के दर्शन कर आते?' आचार्य भी अनुरोध ही कर सकते थे।

'क्या मुख लेकर जाऊँगा वहाँ?' मय का रुदन फूट पड़ा 'उनके सम्मुख कैसे जाऊँगा? नहीं! नहीं जा सकेगा मय उन दयाधाम के सम्मुख।'

× × ×

'चक्र! तलातल में यह सहस्रार चक्र गया!' आचार्य के मुख से चीत्कार निकल गया। सहस्र-सहस्र सूर्य एक साथ उदय हुए हों; ऐसा महाप्रकाश। इस चक्र को आचार्य कैसे भूल सकते हैं; किन्तु तलातल में तो यह आया नहीं करता और आज...!

'आओ! इस अधम को अपनी महाज्वालासे परिपूत करो परमास्त्र!' मय ने दोनों हाथ जोड़े– 'आपके वेग को कोई वरदान, कोई प्रभाव प्रतिहत नहीं कर पाता! मय के चित्त में जो दारुण दावानल धधक उठा है, आपके तेज में देह दग्ध हो तो शान्ति मिले उससे। आओ! कृपा करके पधारो!'

'महाभागवतों की केवल वन्दना कर सकता है यह!' आचार्य और मय दोनों इस मेघ-गम्भीर स्वर से चौंके। आचार्य का चिरपरिचित है यह स्वर और वही स्वर तो है जिसे मय ने खाण्डव-दाह के समय सुना था। नेत्र खोलकर त्वरापूर्वक मय आचार्य के साथ उठ खड़े हुए।

'देवेन्द्र को लगा कि इस समय दानवेन्द्र असावधान है तो तलातल के अपने शत्रुओं को वे कुछ कम कर लें! स्मितशोभितानन भगवान् वामन-सम्मुख चले आ रहे थे- 'किन्तु अब वे स्वयं लज्जित हैं अपने कृत्य पर। इन्हें क्षमा कर दो दानवेन्द्र!'

अब आचार्य तथा मय ने देखा कि भगवान् वामन के पीछे नतमस्तक वज्रपाणि इन्द्र संकुचित खड़े हैं। उन्हें कहाँ आशा थी कि उपेन्द्र - के ही हाथों उन्हें यह पराभव प्राप्त होगा। किन्तु ये उपेन्द्र ये किसी के हैं तो केवल अपने जनों के, अन्यथा इनकी गति कब किसकी समझ में आयी हैं।

'मय प्रमत्त हो सकता है। वह प्रमाद कर सकता है, दानवेन्द्र ने भगवान् वामन के चरणों पर मस्तक रखने के पश्चात् कहा- 'किन्तु सुतल के संरक्षक की सावधानी में अन्तर पड़ेगा, अथवा मय पर उनका अनुग्रह कम है, यही समझ कर देवराज ने भूल की और जब मेरे स्वामी ने उन्हें क्षमा कर दिया, तब मेरे तो ये सम्मान्य हैं!'

'आप इन्हें अनुमति दें अमरावती जाने की।' भगवान् वामन ने कहा- 'आपकी अनुमति के बिना ये जायँ तो वह महाचक्र ऊपर घूम रहा है।

'ओह! तो आज देवेन्द्र को ज्ञात हुआ कि श्रीकृष्ण का चक्र केवल देवताओं का संरक्षक नहीं है।' मय के मुख पर हास्य आया- 'आज देवाधिप को उसने बंदी किया है!'

'दानवेन्द्र के बंदी हैं ये!' आचार्य ने सूचित किया, यद्यपि अनावश्यक था यह।

'आप सम्भवतः दानव का आतिथ्य स्वीकार नहीं करेंगे।' मय ने देवेन्द्र को अङ्कमाल देकर विदा दी- 'अतः प्रसन्नतापूर्वक प्रस्थान करें।'

मय के लिए द्वारका भी दूर नहीं है। वह दूर भी हो तो सुतल तो समीप है।' भगवान् वामन इन्द्र के चले जाने पर मय के हाथ को अपने हाथ में लेकर बड़े कोमल स्वर में कह रहे थे- 'दानवेन्द्र भूल जाते हैं कि उनकी व्यथा किसी और को भी व्यथित करती है। कोई भक्तिपूत हृदय जब व्यथित होता है, श्रीकृष्णचन्द्र को द्वारका की सुकोमल रत्नशय्या सुख नहीं दे पाती! अन्ततः कोई बात भी हो!'

'प्रभु! दयामय!' मय ने दोनों भुजाओं में बाँध लिये बामन के चरणकमलद्वय और उन पर मस्तक रखकर उन्हें अपने अश्रुओं से सिक्त करने लगे।

'उठो वत्स!' भगवान ने उठाकर हृदय से लगाया मय को- 'भगवान् शंकर को तुम जितने प्रिय हो, श्रीकृष्ण- का स्नेह उससे अधिक ही तुम्हें प्राप्त है।'

अवतंसिका

'शुभम् भूयात्' अपने वलीपलित गौरवर्ण कर को महर्षि ने अपने चरणों पर पड़े अपने सबसे बड़े शिष्य की धूमिल जटाओं से मण्डित मस्तक पर इस भाँति रखा, जैसे एक पंच दल अरुण सरोज उन पर रख दिया गया हो। 'नित्य-कर्म से निवृत्त हो चुके?' अपने ऐणेया जिनके आसन पर तनिक सीधे होकर महर्षि ने इस प्रकार पूछा, जैसे वे कोई गम्भीर निर्देश देने के लिए उसी की प्रतीक्षा कर रहे थे।

'निवृत्त हो चुका भगवन्! प्रबुद्ध अपना मस्तक उठा चुका था। उसका नासिकाग्र एवं भाल धूलि से शोभित हो उठा था। घुटनों के बल करबद्ध बैठे उस तप्त ताम्रवर्ण युवक के बड़े-बड़े नेत्र संकोच से झुक गये।

'जानता हूँ वत्स' महर्षि ने शिष्य के संकोच को देख लिया। उनकी वाणी गम्भीर हो गयी। 'मन एकाग्र नहीं होता। इन क्रिया-कलापों में आन्तरिक रूचि नहीं है। सब भय और संकोच से।'

मेरा अन्तः कालुष्य। पूर्वकृत पापों का प्रोत्थान।' उसके कमल दृगों से विन्दु श्रवित होने लगे। 'श्रीचरणों में इतने दिनों रहकर भी मैं अभी उसी अन्धकूप से परित्राण पाने में समर्थ नहीं हो पाता।' हिचकिया बँध गयीं।

'सो कुछ नहीं!' समीप के हविष्य से प्रज्ज्वलित वाह्य अग्निकुण्ड की ओर एक दृष्टि डालकर महर्षि ने कहा, केवल अधिकार भरे।'

'समझ नहीं सका।' स्वर में आश्वस्त होने के पर्याप्त लक्षण थे। 'क्या दो क्षण के लिए आज्ञा होगी? कामदा मुझे पुकार रही है।' वह अचानक चंचल हो उठा था।

पास ही एक कर्पूर धवल गौ अशोक के मूल में स्वच्छन्द खड़ी थी। स्थिर, शान्त। उसका सुपुष्ट अंग अचानक आकर्षित कर लेता था। मस्तक पर कुंकुम का तिलक, शृगों में मालती की सुरभित मलिका- निश्चय ही वह ऋषि की चर्चित होम धेनु थी।

दुग्ध पान से परितप्त उसका दुग्ध-धवल वत्स हवन कुण्डों के चतुर्दिक, आसनों

एवं वेदिकाओं पर निर्द्वन्द्व निर्भय फुदक रहा था। समीप पहुँचने पर आश्रम के अन्तेवासी उसे प्रेम से पुचकारते थे; किन्तु वह नटखट चार अंगुल दूर से उनके बढ़े करों को सूँघकर भाग जाता था। जो स्वाध्याय में निमग्न होकर उसकी ओर ध्यान नहीं देते थे, उनकी पीठ में सिर से धक्का मारकर या गुदगुदाकर मानो कहता – 'बड़ा पढ़नेवाला बना है। मेरे साथ उछल ले तो जानूँ। वे हँस देते थे।

'अच्छा इसे नीवार दे दो।' कामदा ने हुम्मां की ओर मन्द गति से चलकर प्रबुद्ध के पीछे पहुँच गयी। वह उसकी मृदुल घुँघराली जटाओं को चाटने लगी थी। गुरु आज्ञा पाकर युवक ने उसे पुचकारा। उटज प्रांगण से नीवार लाया। कामदा द्वार तक पहुँच ही गयी थी। उसे नीवार भाग मिल गया। यद्यपि जाते हुए प्रबुद्ध को उसने इस प्रकार देखा जैसे बुरा मान गयी हो 'अच्छा तो आज तुम मुझे बिना सहलाये चले जाओगे? साधु होते बड़े निर्मोही हैं।'

'ठीक यही बात' महर्षि एकटक अपने शिष्य की प्रत्येक क्रिया को देख रहे थे। उन्होंने स्पष्ट लक्षित कर लिया था कि गौ के पास से हटने में उसे मानसिक क्लेश हुआ है। 'तुम्हारा साधन क्षेत्र यह विशाल संसार है।' अपने सम्मुख वेदिका से नीचे बैठते ही उन्होंने अपने प्रकाशमय नेत्र शिष्य के मुख पर स्थिर कर दिये।

'क्या?' वह चौंक पड़ा। सम्भवतः उसने समझा कि उसे तीर्थयात्रा की आज्ञा होगी। कहीं अवधूत होकर भटकना न पड़े। 'मैंने श्रीचरणों में आजन्म ब्रह्मचारी रहने की प्रतिज्ञा कर ली है।' वह डर गया था कि उसे गृहस्थ होकर संसार में प्रवेश करने की आज्ञा तो नहीं मिलने वाली है।

'मैं जानता हूँ कि तुम्हारा वैराग्य पूर्ण है।' गुरु ने गम्भीरतापूर्वक कहा, 'फिर भी तुम्हारा जीवन इन गहन काननों एवं गिरिगुहाओं के लिए नहीं है।'

'मेरा मन ऋभु की भाँति एकाग्र होकर तत्त्व चिन्तन करने में असमर्थ है।' उसका कण्ठ आर्द हो गया था। 'प्रयत्न करके मैं तत्त्वों के प्रसंख्यान में एकाग्र नहीं हो पाता हूँ।' सृष्टि एवं प्रलयक्रम क्षणभर में समाप्त हो जाते हैं। कोई रस नहीं आता। मन अपनी करने लगता है।'

'ऋभु की बुद्धि विशुद्ध है।' अपने नित्य ध्यानस्थ प्राय, अनमने से रहने वाले शिष्य को महर्षि सर्वाधिक चाहते हैं। वे उसके स्मरण से गद्‌गद् हो उठे– 'वह कठिन-से-कठिन विषय अविलम्ब हृदयंगम कर देता है और उस पर एकाग्र हो जाता है।'

'मैं प्रबल की भाँति आसन-प्राणायम का श्रम भी तो नहीं सह पाता हूँ।' उसे अपनी चिन्ता हो गयी थी। 'तनिक-सी देर में श्रांत हो जाता हूँ न। योग तो मेरे वश का नहीं!'

'प्रबल सचमुच पराक्रमी है।' महर्षि के रजत श्मश्रुल मुख पर मन्द हास्य आया।' उसकी बुद्धि मन्द है और हृदय में भी भावुकता नहीं; पर उसका मार्ग ठीक है। शरीर के द्वारा उसने अब मन पर अधिकार पाना प्रारम्भ कर लिया है। निश्चय किसी दिन वह अपनी गुहा में निर्विकल्प समाधि में मग्न मिलेगा।'

'न कानन और न गुहा।' शिष्य ने कुछ दृढ़ता से कहा 'मैं तो श्रीचरणों की सेवा में इन मृगशावकों के साथ आनन्द से जीवन काटूँगा। श्रीचरण मुझे भी अपनी कामदा का धर्म' (बछड़ा) समझ लें।'

'तुममें अवश्य ही आध्यात्मिक बुद्धि है।' बड़ी गम्भीरता से महर्षि ने कहना प्रारम्भ किया। 'किन्तु तुम में प्राणियों के प्रति अपार सहानुभूति है। उत्कृष्ट वैराग्य है। अपने स्वार्थ पर तुमने विजय प्राप्त कर ली है। अतः तुम अपने सहानुभूति को जागृत करो। इस सम्पूर्ण जीवलोक को अपना सौहार्द प्रदान करो। यह प्रशस्त विश्व तुम्हारा आह्वान कर रहा है। पीड़ितों, दुर्बलों, सन्तप्तों को आश्रय प्रदान करो। यह सब उसी विभु का स्वरूप है। इस प्रकार तुम सुहृद सर्वभूतानां से अपने को एक कर दो। कर्म-निष्काम कर्म ! यह कर्मयोग ही तुम्हारे लिए मेरा आदेश हैं।'

आज जैसे उसे सचमुच प्रकाश प्राप्त हो गया था। उसका मस्तक स्वतः श्रीगुरुचरणों पर झुक गया और वे चरण नेत्रों के अमूल्य मुक्ताचरण से चर्चित हो गये।

× × ×

'अरे कौशल्य!' गुरुदेव सायंकृत्य से निवृत्त होकर अपने युवक शिष्य को पुकारा।

'उपस्थित हुआ प्रभु!' कहीं उटज प्रांगण से एक ध्वनि-मृदु मधुर ध्वनि आयी और साथ ही दौड़ता हुआ एक चपल बालक आकर सम्मुख खड़ा हो गया।

'मैंने वेदिका पर कुशासन डालकर मृगचर्म बिछा दिया है।' बिना प्रतीक्षा के कि उसे क्यों पुकारा गया है वह कह रहा था- कमण्डलु जल पूर्ण करके रख दिया गया है। श्रीचरण पधारें। आज कामदा ने अपने पात्र को ऊपर तक दुग्धपूर्ण कर दिया है-गुरुदेव, सम्पूर्ण ऊपर तक और मेरा मृग-शावक आज ही तृण लेने लगा....।' पता नहीं क्या कहना था उसे।

'अरे कुछ मेरी भी सुनेगा।' आचार्य-चरण ने अपने भोले शिष्य के विवरण को सुनने में रूचि नहीं प्रकट की।

'कुश या प्रोक्षणीय दूर्वा दूषित नहीं की है उसने।' हाथों की अंजलि बाँधकर कुछ

भीत स्वर में उसने कहा। गुरुदेव के गम्भीर्य ने उसे डरा दिया था। सायंकालीन हवनीय तो मैंने सावधानी से ही प्रस्तुत किया था। उटज प्रांगण प्रात:काल गोमय प्रोक्षित कर दूँगा।' उसे लगा कहीं न कहीं त्रुटि रह गयी है। और उसको उलाहना मिलेगा।

'सो कुछ नहीं।' प्रेम से उसे आश्वस्त करते हुए गुरुदेव ने समीप बैठ जाने का संकेत किया। 'मैं तुम्हारे आध्यात्मिक साधन के सम्बन्ध में तुमसे कुछ कहना चाहता हूँ।'

'मैंने निर्दिष्ट तीनों आरण्यक कण्ठ कर लिये हैं।' उल्लासपूर्वक वह बोला।

समझ गया था कि आज उसे पाठ पूर्ण न करने के लिए झिड़कियाँ नहीं सुननी होगी– 'सुना दूँ प्रभु?' शिशु का सहज सारल्य वाणी में उत्तर आया था।

'अहोभाग्य; किन्तु उसे तुम अभी रहने दो।' अपने इस अल्हड़ शिष्य का भोलापन देखकर स्वभाव गम्भीर महर्षि भी मुस्करा उठे थे। 'मैं पाठ नहीं साधन के सम्बन्ध में तुम्हें कुछ बताना चाहता हूँ।' वाणी पुन: गम्भीर हो गयी थी।

अब निशा मुख में अन्धकार घनीभूत होता जा रहा है। श्रीचरण इस समय कष्ट न करें ओह, उसके लिए महर्षि कितना श्रम करते हैं– 'मैंने शीतलोकरण को तो सीख ही लिया है और सर्वांगासन भी कर लेता हूँ।' उसे इस विचार से ही खेद हो रहा था कि इन उल्टी–सीधी क्रियाओं के लिए गुरुदेव अब अन्धेरे में श्रम करेंगे। अन्तत: अवस्थानोत्थान (बैठक) एंव शयनोत्थान (दंड) से भी तो पर्याप्त व्यायाम हो जाता है। वह यह सब न भी करे तो क्या हानि? आश्रम के कार्यों में पर्याप्त शारीरिक श्रम हो जाता है और शरीर के स्वस्थ रहने के लिए उतना पर्याप्त है। पता नहीं क्या–क्या सोच रहा था वह।

'तू स्नातक भी होगा या नहीं गुरुदेव समझ नहीं पा रहे थे कि उसे किस प्रकार समझाया जावे।

तो क्या मुझे श्रीचरणों से पृथक् .....?' जैसे विद्युत स्पर्श हो गया हो। दोनों हाथों में दोनों चरण लेकर मस्तक उन पर आ गया। अश्रु–वृष्टि के साथ हिचकी लेते हुए कुछ शब्द निकले ओर वह पाटल कोमल कुमार मूर्छित हो गया।

'सर्वेश!' महर्षि ने आतुरता से उसे क्रोड़ में खींच लिया। मुख पर बिखरी जटाएँ पीछे कर दी कानों के। कपोलों पर ढुल के अश्रु हाथों से पोंछ डाले। नेत्र स्वत: नभ की ओर उठ गये। उनका जलधि गम्भीर मन क्षुब्ध हो उठा था।

'उस दिन अग्नि प्रज्जवलित नहीं हो रहे थे। सम्भवत: समिधाएँ आर्द्र थीं। मेरे नेत्र तनिक ही धूम्रारुण हुए थे।' महर्षि सोच रहे थे– एक बीती बात। 'कौशल्य कहीं से आ गया। मेरा कष्ट इसे असह्य है। प्रोक्षणीय जल उसके करों में आ गया। यह अग्नि धूम्रवमन करने लगा है और यह मरुत, उसे आचार्य पाद की ओर ही प्रेषित करने की

धृष्टता' एक क्षण में दोनों अमर मय विकम्पित मूर्त्त पड़े थे इनके चरणों में।' महर्षि के नेत्र टपकने लगे थे।

'मेरे प्रभु!' कुछ चेतना लौटी।

'वत्स!' प्रेम गद्‌गद वाणी में महर्षि ने पुकारा।

× × ×

'यह प्रबुद्ध श्रीचरणों में प्रणत है!' महर्षि ने ब्रह्मद्रव पार कर लिया था। दिव्यतम प्रेम-भूमि गोलोक की सीमा में प्रवेश करते ही एक मणि मुकुट मण्डित मस्तक उनके चरणों पर पड़ा। कोई आलोकमय पुरुष उनका अभिवादन कर रहा था।

'मैं मर्त्य हूँ भद्र!' संकोच से महर्षि एक पद पीछे हट गये।

'मेरे लिए तो श्रीश्यामसुन्दर से अभिन्न!' घुटनों के बल अञ्जलि बाँधे बैठ गया वह। स्मित की आनन्दमय छटा सम्भवतः इसी लोक में अपना अनवरुद्ध विकास कर पायी है।

'वत्स!' प्रेमाकुल महर्षि ने अङ्कमाल दी। 'तुम्हारा कर्मयोग साफल्य की सीमा पार कर गया। विश्वरूप विश्वात्मा की तुमने निष्काम सेवा की और यह सालोक्य तुम्हारा 'दास' हो गया।'

'उस दयामय की दया के पुरस्कार की कोई परिधि नहीं।' भरे कण्ठ से दिव्य पुरुष कह रहा था- 'साथ ही आचार्य-चरणों की अपार अनुकम्पा इस जन को सहज प्राप्त थी!'

'मैं प्रभु के दर्शन करूँगा, वत्स!' महर्षि ने अभिप्राय प्रकट किया।

'आचार्य पाद के लिए कहीं भी कोई अवरोध नहीं।' उसे ज्ञात था कि अनधिकारी यहाँ तक पहुँच नहीं सकते। इस मायातीत दिव्यधाम में श्री हरि के निजजन ही प्रवेश पाते हैं। पथ-प्रदर्शक बन गया वह।

'प्रभु अपने प्रबल को विस्मृत न हुए होंगे!' कलित इन्दीवरां, पीतवास, मयूर मुकुट एक मणिमय आभूषणों से झिलमलाता किशोर अपनी मन्द मुस्कान के उज्ज्वल सुमनों से चर्चित महर्षि के चरणों में प्रणत हो गया।

'भक्ति लभस्व!' दोनों भुजाओं से उठकर हृदय से लगाते हुए महर्षि ने आशीर्वाद दिया। यहाँ कुशल या अकुशल, शुभ या अशुभ की कल्पना ही प्रवेश नहीं पाती। इस प्रेमलोक में प्रेम का एकछत्र साम्राज्य है।

'अपने परिपूर्ण मनोयोग से सर्वात्मना के जिस सर्वांग-सुन्दर स्वरूप को लेकर निर्विकल्प समाधि में तुम एकाकार हो गये।' जैसे महर्षि अपने आपसे कह रहे हों 'वह तुम्हें

उपलब्ध हुआ। तुमने उसका सारूप्य प्राप्त किया।' महर्षि का मस्तक तनिक झुक गया।

'आचार्य चरणों का अनुग्रह!' उस किशोराङ्ग की मेघ गम्भीर वाणी आर्द्रतर थी।

'तुम भी ब्रजेन्द्र के सर्वदा समीप रहनेवाले पार्षद हो' महर्षि ने सरलता से पूछा 'मैं इस समय दर्शन कर सकूँगा?'

'आचार्य चरणों की गति अनवरुद्ध है।' उन पार्षद प्रवर की वाणी में कोई खेद नहीं था। 'वैसे सर्वदा समीप रहने का सौभाग्य प्रभु से अभिन्नजन ही प्राप्त करते हैं। इच्छा करने पर दर्शन करने में कोई बाधा न भैया प्रवृद्ध को है और न मुझे ही।' सच्ची बात तो यह है कि वहाँ अवरोध का अस्तित्व ही नहीं है।

'ऋभु होगा तब नित्य समीपस्थों में' महर्षि अपने ब्रह्मज्ञ एवं ब्रह्मलीन शिष्य के सम्बन्ध में उत्सुक हो गये थे। वहीं उनका सर्वश्रेष्ठ शिष्य था।

'वे उन ज्ञानधन से एक हो गये।' पवित्र की वाणी में आदर था। अवश्य ही उनका संक्षिप्त उत्तर सूचित करता था कि उन्हें इस एकीभाव में कोई आकर्षण नहीं।

'ठीक ही है।' महर्षि ने एक क्षण सोचकर कहा। ऋभु निर्विकल्प, निरुपाधिक ब्रह्म की निदिध्यासन कर रहा था। उसका पार्थक्य संभव नहीं था। 'तत्त्वमसि के निगूढ़ तात्पर्य से अवगत होकर उसे तादात्म्य प्राप्त करना ही था। उसने सायुज्य प्राप्त किया।'

'भाग्यशाली तो चिरंजीवी कौशल्य है!' गुरुदेव के पीछे अपने लघु भ्राता को देखकर पार्षद ने हँसते हुए कहा– 'वेश्रीपाद के सम्पूर्ण अनुग्रह के अधिकारी हो गये हैं और इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है कि वे सशरीर यहाँ तक पहुँच गये हैं।' कौशल्य ने अभिवादन प्रथम ही कर लिया था। इस अपरिचित स्थान में वह संकुचित हो गया। इन अद्‌भुत अलौकिक रूपों ने उसे आश्चर्य में डाल दिया था।

'वह अभी बच्चा है।' स्नेहपूर्वक पीछे कौशल्य पर दृष्टिपात करते हुए महर्षि ने कहा– 'साधन एवं मन दोनों दृष्टि से अबोध शिशु!'

× × ×

'ओह कौशल्य!' जैसे सम्पूर्ण संगीत आह्लाद की क्रीड़ा में उल्लसित हो उठा हो। महर्षि को अभिवादन करने से पूर्व उस नटखट की दृष्टि अपने गुरुदेव के पीछे आते ऋषि कुमार पर पड़ी– 'अच्छे आये! हम सब आज तुम्हारी प्रतीक्षा ही कर रहे थे।' सम्भवतः सहचरों को चुन लेने में उसे आधे पल का विलम्ब भी सह्य नहीं।

कितने बालक थे– कौन गिने। सरल, चपल, सौंदर्य–की मूर्ति किसी ने बालों में पुष्प गूंथ रखे थे और किसी ने पंख। किसी के कन्धे पर पटुका ठिकाने से था, किसी का अव्यवस्थित। कोई धूलि सना था, किसी ने गेरुआ खड़िया पोत ली थी। हास्य,

क्रीड़ा, आनन्द। उन्हें जैसे और कुछ पता नहीं। सबके सब एक साथ खड़े हो गये। यदि एक दढियल ऋषि सम्मुख न दिखायी पड़ते तो वे निश्चय दौड़ जाते।

'वन्दन करता हूँ प्रभु!' उनके मध्य के साँवले पीताम्बरधारी ने अपना मयूर मुकुट झुकाया और साथ ही मस्तक झुकाया नीलाम्बरधारी स्वर्णगौर ने। देखा देखी सबने हाथ जोड़कर मस्तक झुका दिया। जैसे वायु की हिलोर पुष्पित कमलवन में आ गयी हो- 'वन्दन करता हूँ प्रभु!' सहस्र-सहस्र बालकण्ठ गुञ्जित हो उठा।

महर्षि खड़े थे- शान्त, स्तब्ध, नीरव। वे अपने आप में नहीं थे। उस सौंदर्य-माधुर्य के अपार पारावार में निमग्न हो गये थे।

''भैया कौशल्य अब यहीं रहेगा! मेरे समीप!' श्रीव्रजसुन्दर के कलकंठ ने उन्हें चौका दिया। नेत्र खुले। कौशल्य को नटखट बालक अपने नायक का संकेत पाते ही ही पकड़ ले गये थे। कोई उसकी जटाओं में ढ़ेरों पुष्प उलझा देना चाहता था और कोई उसके वल्कल को फेंककर पीताम्बर पहनाने में लगा था। अब उसका छुटकारा नहीं। ये ऊधमी बालक उसे छोड़ने से रहे।

'मैं उसके लिए साधन पूछने आया था।' महर्षि का गद्‌गद कण्ठ स्पष्ट नहीं था और 'वह सामीप्य... मेरे सभी शिष्यों से अधिक भाग्यशाली...।'

'उसने आपके चरणों में भक्ति प्राप्त कर ली है।' श्यामसुन्दर ने हँसते-हँसते समझाया। 'वह (भक्ति) तो कर्म, ज्ञान और योग से भी महत्तम है।'

वे दम्पत्ति

'मैं तुम्हारे स्पर्श को पहचानता हूँ।' पुरुष ने सहज स्वर से कहा। 'मुझे तुमसे कोई भय नहीं और न मैं उस पर चौंककर भागूँगा, जैसे तुम भागती हो।' उसने धीरे से दोनों हाथ पकड़ लिए और नेत्रों से उन्हें हटाते हुए पीछे देखा।

'सचमुच तुम बड़े निर्भीक हो।' नारी के स्वर में किञ्चित आश्चर्य था। 'यदि कोई शरट् या गुरिल्ला होता तो?'

'शरट् आँखे नहीं ढ़क सकता और न इस पहाड़ी तक चढ़ ही सकता है।' पुरुष हाथ छोड़ दिया था। 'गुरिल्ले के हाथ तो होते हैं, किन्तु वह आँखे ढ़ककर शान्त खड़ा न रहता। मैंने तुम्हें गुफा में सोते देख लिया था।'

'यदि मैं उठकर तुम्हारे सिर पर पत्थर दे मारती?' नारी को स्वतः आश्चर्य था कि उसने ऐसा क्यों नहीं किया। उसकी आखेट-भावना कहाँ चली गयी थी। 'मेरे पास खूब बड़ा पाषण-भल्ल है।'

'मुझे पता है।' पुरुष ने सहज स्वर में कहा 'मैंने उसे देख लिया था, द्वार पर से। मेरे भल्ल से आधा ही तो है। मैं एकाकी ऊब गया हूँ। तुमसे मित्रता करना चाहता हूँ। तुम आक्रमण कर सकती हो, यह बात मेरे ध्यान में थी, किन्तु मैंने सोचा, तुम अधिक चोट नहीं पहुँचा सकोगी। सुकुमार हो तुम।'

'तुम बड़े दुष्ट हो।' नारी इस नवीन स्तुति से प्रसन्न हो गयी थी। उसे विचित्र लगी यह स्तुति। किंचित् हास्यपूर्वक उसने कहा। 'मेरी गुफा तक सोते समय आ गये। भीतर झाँकते रहे। गुफा की ओर पीठ करके बैठ गये। कुशल थी कि भूख नहीं लगी थी, नहीं तो मारकर खा भी जाते।' भय से सचमुच वह सिहर उठी और दो पग पीछे हट गयी।

'मुझे माँस से घृणा है! पुरुष ने थूक दिया। फल और जड़ें मुझे अच्छी लगती हैं और खूब मिल भी जाती है। आखेट तो मैं केवल शरट्, गुरिल्ले और शेर जैसे उन पशुओं का करता हूँ, जिनसे मुझे आक्रमण का भय है।' अपनी भुजा उठाई उसने। सुस्पष्ट माँस-पेशियों पर नारी-की दृष्टि आकर्षित हुए बिना न रही।

'मैं अवश्य चीख पड़ती', नारी ने मृदु स्वर बनाया 'यदि तुम्हें अपनी गुफा में देख लेती।' समीप आकर बैठ गयी वह।

'भय की बात तो थी', पुरुष के स्वर में आदेश का भाव था। 'तुम गुफा-द्वार खुला छोड़कर सो गयी थीं। कोई भी शेर या गुरिल्ला भीतर घुस सकता था। ऐसा नहीं करना चाहिए।'

'सचमुच भूल हो गयी। नारी जैसे सफाई दे रही हो। बहुत थक गयी थी। एक हिरन के पीछे बहुत भागी थी प्रातः से आकर लेटी और सो गयी। ऐसा कभी पहिले नहीं हुआ।'

'मैं तुम्हारी गुफा देख लूँ, पुरुष उठ खड़ा हुआ। उत्तर की उसे कोई उपेक्षा न थी। नारी उसका अनुगमन कर रही थी।

'तुम मृगचर्म पर सोती हो?' एक विस्तीर्ण शिला पर वह फैला था। यह है तुम्हारा भल्ल? बहुत छोटा है और हल्का भी है।' पुरुष ने उसे उठाया, उछाला ऊपर को और फिर पकड़कर यथा-स्थान रख दिया।

'अब मैं सोऊँगा!' गुफा को उसने अधिक बारीकी से नहीं देखा। मृगचर्म पर लम्बा लेट रहा। जैसे यह उसी की गुफा हो। 'तुम यदि कहीं जाने लगो तो गुफा-द्वार शिलावरुद्ध कर देना।' अत्यन्त परिचित की भाँति उसने आदेश दे दिया।

'तुमने न तो कन्द देखे न फल!' पुरुष के गुफा में प्रवेश करते समय तो नारी डर रही थी कि वह उसका संचय खा जायगा। किन्तु उसकी निरपेक्षता ने उसके मन में दूसरी भावना जागृत कर दी। सम्भवतः यह अतिथि-सत्कार का प्रथम प्रयास था मानव के लिये शाकद्वीप में। मैंने पूरा मधुछत्र ला रखा है और नारिकेल-पात्र में झरने का शीतल जल भी है।

'मैं तुम्हें लूटने नहीं आया था!' पुरुष उठ बैठा। 'किन्तु अब तो कुछ खिला दो!' उसने उठकर कोई वस्तु ढूँढ़ने या पाने का प्रयत्न नहीं किया।

'जो अच्छा लगे खा लो!' नारी अचानक ही गृहिणी हो गयी थी। उसने सब कन्द और फल पुरुष के सामने रख दिये। एक नारिकेल टुकड़े में मधुछत्र निचोड़ दिया और जलपात्र भी ला रखा 'मेरे लिये थोड़ा मधु छोड़ देना!'

'मैं अकेला कहाँ भोजन करने जा रहा हूँ।' नारी का हाथ पकड़कर पुरुष ने उसे भी समीप बैठा लिया। 'तुम भी खाओ! फल और कन्द बहुत हैं और मधु भी दोनों के लिए पर्याप्त है।' पहिली बार पुरुष ने स्थिर बैठकर भरपेट भोजन किया।

भोजन करके लेट गया वह उसी मृगचर्म पर। लेटते ही खर्राटे लेने लगा। नारी देखती रही- देखती रही उसे और फिर अपना पाषाणभल्ल उठाकर द्वार पर जा बैठी।

'तुम्हारी गुफा छोटी है।' भली प्रकार निद्रा लेकर पुरुष उठा था। गुफा से निकलकर नारी के समीप बैठते हुए उसने कहा; 'अब हम दोनों साथ-साथ एक ही गुफा में रहें, यही

अच्छा होगा। मेरी गुफा पर्याप्त बड़ी है और इससे कहीं अधिक सुरक्षित भी।'

उसी दिन सायंकाल नारी अपना भल्ल और नारिकेल पात्र एवं मृगचर्म लेकर पुरुष की गुफा में आ गयी। सम्भवतः उसी दिन से नारी ने स्वगृह त्यागकर पतिगृह में निवास अपनाया है।

× × ×

अभी भी पृथ्वी पर महाकाय शरटों का अभाव नहीं हुआ था। दलदलीय भूमि में वे चालीस से साठ हाथ लम्बे प्राणी जिनका आकार मगर एव गिरगिट से मिलता-जुलता था, भरे पड़े थे। प्रायः ये शरट् झील के पन्द्रह बीस हाथ जल ही में रहते थे। जहाँ सघन, लम्बी घासें उगी होती।

सूखी पृथ्वी पर सबसे बड़ा प्राणी था, मेगनेथियम। यह भी शरट् जातीय ही था। फल एवं पत्ते इसके आहार थे। ऊँचे बड़े पेड़ों की तीन चार फुट मोटी डालियों को वह मूली के समान तोड़ डालता था। शेर मेंढ़कों को इस प्रकार चीर फेंकता, जैसे हम प्रातःकाल दन्तधावन को। उसके अतिरिक्त शेर, व्याघ्र, ऊनी भैंसे, त्रिभंगी गैंडा, ये सब महाभयंकर प्राणी थे उस घोर वन में।

वृक्षों पर गुरिल्ले भरे पड़े थे और वे सब मांसाहारी जाति के थे। ये दल-दल से दूर रहते थे। तीन चार हाथ लम्बे पतिंगें भी अपने पैर धँसाकर पशुओं का रक्त पी जाने को बहुत थे। उनकी स्फूर्ति एवं गति ठीक आज के जुलाहे पतिंगे सी थी। सूखी भूमि एवं खोहों में अजगर तथा दूसरी जाति के सर्पों की कमी नहीं थी।

सबसे भयंकर था भीषण शरट्। वह पृथ्वी पर, दल-दल पर और जल में समान गति रखता था। वह मांसाहारी अपने से दूर तिगने मेगनेथियम या दोनों शरट् का सरलता से शिकार कर लेता था। उसके पंजें व्याघ्र से सुदृढ़ थे। दूसरे पशु इसके लिए चींटी जैसे तुच्छ थे।

दिनभर भयंकर गर्मी पड़ा करती थी। धरती ढ़की थी। ऊँचे वृक्षों, लताओं एवं घासों से। दल-दल अधिक था। वायु में नमी भरी ही रहती थी। संध्या अल्पकालीन होती थी। रात्रि के सूचीभेद्य अन्धकार को ज्येष्ठ की छाया या धूप की भाँति एक से दूसरी तक पंक्ति को डूबाते आते देखा जा सकता था।

मानव जलप्लावन के पश्चात् शाकद्वीप के नाम को ही था। हमें पता नहीं कि उस समय दूसरा मानव भी वहाँ था या नहीं। हम केवल एक वन्यमानव को जानते हैं। एक उजाड़ टीले पर जिसके चारों ओर खूली भूमि थी, कुछ दूर वह गुफा में रहता था। टीले

में एक ही गुफा थी और गुफा–मुख पर खूब सघन ऊँचा एक पेड़ था। सुरक्षा की दृष्टि से मानव ने यह स्थान चुना था।

वह रक्षा के लिए एक खूब भारी पाषाण–भल्ल रखता था। उसकी गुफा में शेर एवं मरी भैंस के कई कच्चे चमड़े पड़े थे। जंगल में फल–कंद एकत्र करते समय इन आक्रमणकारी पशुओं का उसने आखेट किया था। सुपुष्ट मांसपेशियाँ, वृक्षों पर चढ़ने एवं सरकने को पट्ठे, घुँघराले काले बाल, कुछ अधिक बड़े रोम, मूँछे एवं श्मश्रु, उसका साढ़े चार हाथ ऊँचा साँवला शरीर बड़ा भव्य था।

उस दिन वह कन्द लेने गया था। सहसा चौक पड़ा। हाथ में छोटा–सा भल्ल लिए, कुछ छोटा, कुछ दुर्बल, यह कौन प्राणी है? लताओं की ओट में हो रहा वह। निकट से देखने का अवकाश मिला। 'उसके केश अधिक लम्बे हैं। शरीर पर रोम भी नहीं, न मूँछें ही हैं और न दाढ़ी। वक्ष पर दो ऊँचे माँस–पिड़।' उसने लक्षित कर लिया। उसका अपने से शारीरिक भिन्नत्व। 'उसका शरीर चिकना और बूढ़ा है। माँस–पेशी जैसे हैं ही नहीं।' पता नहीं कि क्यों उस दूसरे मानव के प्रति वह आकर्षित हो गया। यह आकर्षण सजातीयता के कारण ही था सम्भवतः। जलप्लावन में वह शिशु ही था, जभी उसे माता–पिता ने अलग कर दिया। उसे पुरातन दृष्टि के अत्यन्त संस्कार प्राप्त थे। वह पुरुष–स्त्री के भेद से अब तक परिचित ही नहीं था। लताओं की ओट से तनिक दूर हटकर वह उसके दृष्टि–पथ में आया। निकट प्रकट होने से यदि आक्रमण कर दे तो? वह भीत नहीं था, किन्तु इस सजातीय प्राणी का वध उसे अभीष्ट नहीं था। यह भी सम्भव था कि वही डरकर भाग जावे। ऐसा होने पर परिचय का पथ ही अवरुद्ध हो जायगा।

उसने भी इसे देखा। चौंकने के पूरे लक्षण प्रकट हुए। देखता रहा एकटक वह प्राणी इसे देर तक। सम्भवतः सादृश्य एवं वेभिन्य की तुलना कर रहा था। अचानक किलकारी मारी उसने। 'ओह, नारी है।' पुरुष ने मन ही मन में कहा। 'चपल है इसलिए और उसका कंठ–स्वर कितना कोमल भी है।' उत्तर में उसने किलकारी नहीं दी। जानता था कि इसकी गम्भीर ध्वनि से वह डर जायगी। केवल हँस पड़ा। हाथ के संकेत से उसे समीप बुलाया और उसकी ओर बढ़ा।

सहसा वह भाग खड़ी हुई। लम्बी छलाँगें लीं हिरन की भाँति और एक–दूसरे झुरमुट में होती अदृश्य हो गयी। पुरुष ने पीछा किया व्यर्थ। उस सघन वन में कोई किसी का पीछा नहीं कर सकता। उसे खेद हुआ। पता नहीं क्यों, मन अवसाद से भर गया। फल और कंद एकत्र न कर सका। गुफा में लौट आया और अपनी शिला पर चुपचाप पड़ रहा।

अब पुरुष नित्य उसी ओर जाने लगा, जिधर नारी दृष्टि पड़ी थी। 'क्या वह दूसरी ओर के काकन से परिचित है? अथवा वह भी पुरुष को देखना चाहती है? कौन जाने?

वह सदा दूर ही रहती है। हँसती है, किलकती है, किन्तु बुलाने पर या अपनी ओर मनुष्य को आते देखते ही भाग खड़ी होती है?

एक दिन मनुष्य लता-कुञ्ज में छिपा बैठा रहा। समय से बहुत पहले गया था। वहाँ वह आयी, इधर-उधर देखती रही देर तक। 'क्या वह मनुष्य को ढूँढ़ रही थी?' खिन्नता के चिह्न मुख पर आये। उदास होकर लौट पड़ी। पुरुष ने चुपचाप पीछा किया। वह सीधे अपनी गुफा पर गयी। पुरुष ने निवास-स्थान दूर से देखा और लौट आया।

× × ×

'मेरा मन अब यहाँ नहीं लगता।' एक दिन पुरुष ने नारी से कहा। वह गुफा में पुरुष के समीप ही बैठी थीं। 'यहाँ मैं दो बार अस्वस्थ हो चुका।'

'तब चलो।' नारी ने निश्चिन्त उत्तर दिया 'हम दोनों मेरी पहली गुफा में रहें या जहाँ आपकी इच्छा हो।'

'मेरी बीमारी, ओह! पुरुष का स्वर खिन्न था। पता नहीं कहाँ-कहाँ से तुम अधजले शशक ले आती थीं।'

'तुम तो यों ही रुठ जाते हो।' पुरुष के कन्धे पर अपनी दक्षिण भुजा रखते हुए नारी ने अनुभव किया 'यह खून स्वादिष्ट था, यह तो तुम्हीं कहा करते हो। फिर दावाग्नि तपने दो, मैं ढ़ेरों ला रखूँगी।'

बीमारी में नारी पुरुष को छोड़कर फल एकत्र करने भी नहीं जा सकी थी। सौभाग्य से समीप के वन में दावाग्नि लग गयी। पुरुष को प्रथम बार अग्निपक्व माँस मिला। वह उसका स्वाद भूल नहीं पाता था। कच्चे माँस को भी उसने मुख में डाला, किन्तु खा नहीं सका।

'मैं दावाग्नि को ढूँढूँगा।' पुरुष निश्चय कर चुका।

'दावाग्नि को !' नारी चौकी 'ना, ना ! कहीं उसी में फँस गये तो?' वह भय-विह्वल हो गयी थी।

'मैं दूर रहकर ही उसे ढूँढ़ँगा।' पुरुष ने समझाया और 'सुरक्षित रखूँगा।'

'हम शशक मारेंगे' एक क्षण में ही नारी खिल उठी, 'उसे उसी में भूनेंगे !' 'दावग्नि काष्ठ ही तो खाता है, वह बड़ा और मोटा होकर हमें नहीं खा सकेगा और हम उसे मरने भी नहीं देंगे। हम उसे अपनी गुफा से दूर ही पालेंगे, दूसरी गुफा में।' उसने पूरा आविष्कार कर दिया अग्नि-रक्षण प्रणाली का। लेकिन उसे भय था कि गुफा में पालने-से रात्रि को सोते समय वह हमें खा न जाये।

'तुम्हारे लिए ढ़ेरों कन्द और फल दो चार दिन में यहाँ एकत्र कर दूँगा और कई

मधुछत्र भी।' पुरुष ने नारी के उल्लास में कोई योग नहीं दिया। पता नहीं क्यों वह आज उदासीन हो रहा था। 'मैं एकाकी जाऊँगा।'

'एकांकी?' नारी चौंकी। 'मुझे साथ नहीं चलने दोगे? मैं तुमसे माँगूँगी नहीं। तुम्हारे लिए भी फल और कन्द ला दिया करूँगी। तुम्हारे दावाग्नि को पालूँगी।' उसका कण्ठ भर आया था। पुरुष के कण्ठ में उसने दोनों भुजाएँ डाल दीं।

'ऐसा कुछ नहीं!' रुक्षतापूर्वक नारी के हाथों को कण्ठ से अलग करता हुआ पुरुष कह रहा था 'मैं एकांकी ही जाऊँगा।'

'तब मुझे मार डालो!' वह सहसा खड़ी हो गयी। पुरुष का भल्ल कोने में-से उठा लायी। उसे पुरुष के सम्मुख बढ़ाकर उसके सम्मुख खड़ी हो गयी। नेत्रों से दो धाराएँ चल रही थीं और हिचकी बँध गयी थी। पुरुष ने भल्ल लिया ही नहीं। घड़ाम में गिर पड़ा और वह वहीं बैठकर घुटनों में मुख छिपाकर सिसकने लगीं।

'ओह, तब तुम मुझसे प्रेम करती हो' पुरुष मुस्करा उठा। दोनों भुजाएँ पकड़कर नारी को उसने अपने पास बैठा लिया। लो तुमने मुझे खूब जान लिया है?' हंस रहा था वह।

'जान लिया है तुमने खूब अच्छी प्रकार शरट् को, शेर को, इस टीले को' नारी ने अब समझ लिया था कि पुरुष उसे चिढ़ाने के लिए ढोंग कर रहा था। अतएव उसके स्वर में रोष था 'तुम उन सबसे प्रेम क्यों नहीं करते?' मेरे लिए तो यह जानना भर पर्याप्त था कि तुम विश्वसनीय हो, मेरे दुःख-सुख के साथी हो, बस! प्रेम कहो या भक्ति, उसके लिए विश्वास मात्र पर्याप्त है और उस विश्वास भर को ज्ञान भी।

❑❑

महान् कौन?

तीनों अधीश्वरों में महान् कौन है? यह प्रश्न उठ खड़ा हुआ था ऋषियों के समाज में। सतयुग का निसर्ग-पावन काल और सब-के-सब वीतराग, तपोधन, ज्ञानमूर्ति, किन्तु कोई भी प्रश्न कहीं उठने के लिए क्या पूर्व भूमिका आवश्यक हुई है?

जीवन को – सृष्टि को उत्पन्न करने वाले भगवान् ब्रह्मा। सृष्टि की-जीवन की सुरक्षा के संस्थापक भगवान् नारायण। अपनी तृतीय नेत्र की वह्नि-शिखा में त्रिलोकी को क्षणार्ध में भस्म कर देने वाले प्रलयङ्कर शिव। सृष्टि के ये तीन अधीश्वर- इनमें महान् कौन?

तर्क से सत्य का निर्णय करने में अल्पज्ञ प्रवृत्त होते हैं। सुस्पष्ट प्रतिमा जानती है- यह भ्रान्ति का पथ है। महर्षियों ने महर्षि भृगुपर छोड़ा इस निर्णय का दायित्व।

महर्षि भृगु- प्रजापति ब्रह्मा के साक्षात् पुत्र। सबसे प्रथम अपने पितृ-सदन पहुँचे। स्रष्टा ने देख लिया, उनके प्रिय पुत्र आ रहे हैं। किन्तु यह क्या? भृगु ने ना अभिवादन किया और न सम्मान का कोई भाव दिखलाया।

'इतना अंहकार हो गया इसे अपने तप का 'क्षुब्ध हो उठे ब्रह्माजी। रोष से अरुण हुए नेत्र; किन्तु कोई पिता बनकर पिता के ममत्व को देखे तो। अपने पुत्र को शाप तो नहीं दिया जा सकता। भृगु का उद्देश्य पूरा हो गया था। वे चुपचाप खिसक गये।

तुम उत्पथगामी हो। मैं तुम्हारा स्पर्श नहीं कर सकता!' ब्रह्मलोक से भृगु सीधे कैलाश पहुँचे थे। भगवान् नीललोहित ने देखा कि उनके अनुज आये हैं तो दोनों भुजायें फैलाकर अंकमाल देने बढ़े लेकिन भृगु ने झिड़क दिया उन्हें।

त्रिलोचन के नेत्र जल उठे। करों में त्रिशूल आ गया। लेकिन देवी पार्वती ने चरण पकड़ लिये। और तब तक भृगु जी वहाँ से क्षीरसागर पथ पकड़ चुके थे।

'भगवन! सुकोमल हैं आपके श्रीचरण और कर्कश है इस जन का वक्ष। पीड़ित तो नहीं हुए ये पूज्य पादतल?' भृगु ने पहुँचते ही शेषशायी प्रभु के वक्ष स्थल पर पाद-प्रहार किया था और वे रमाकान्त झटपट उठकर महर्षि के चरण पकड़ क्षमा माँगते हुए

कह रहे थे- 'आज मैं पवित्र हुआ। अबसे आपके चरणों का चिह्न मेरे वक्षस्थल को नित्य भूषित करेगा।'

महर्षि भृगु लौट आये ऋषिगणों के समाज में। उन्होंने अपना अनुभव सुना दिया और अब निर्णय के लिये शेष क्या रह गया था। श्रेष्ठत्व केवल शक्ति में नहीं, संहार में नहीं, जीवन की सृष्टि में भी नहीं- जीवन की सुव्यवस्था में और उस धृति में हैं जो जीवन के औद्धत्य में भी अविचलित रह सके।

यह पौराणिक कथा बार-बार सम्मुख आती है अपने नित्य पाठ के क्रम में; किन्तु उस दिन एक अन्य रूप में सम्मुख आ गयी। वही रूप तो आपके सम्मुख लाने के लिए, इसे मैंने प्रथम प्रस्तुत किया।

× × ×

'उस पार गंगातट पर वह जोगी की कुटी है। उसके ऊपर वह पहाड़ पर जो गाँव है, उसमें मेरा घर सामने दिखता है।' पन्द्रह वर्ष का होकर भी यह हमारा श्याम अभी कठिनाई से दस वर्ष का लगता है। वैसा ही भोला और कोमल। इस दुबले, सुन्दर गोरे पर्वतीय बालक का नाम तो बुद्धिसिंह है। यह नौकर है किन्तु न इस प्रकार का व्यवहार हम कर पाते हैं और न इसी में ऐसा कोई हीनता का भाव है। घर के बच्चे के समान हिला-मिला, प्रसन्न और निर्भीक।

'वह बड़ा जोगी है। उत्तर काशी नहीं आता। आप उसके पास चलोगे? मैं अपने घर ले चलूँगा आपको।' उत्तर काशी में ठहर गये थे। हम ग्रीष्म व्यतीत करने और सायंकाल टहलने उजेली से आगे निकल गये थे। श्याम का उत्साह इसमें था कि हम घर चलें।

'चलेंगे तुम्हारे घर और तुम्हारे उस जोगी के दर्शन भी करेंगे।' मैंने प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। प्रसन्न हो गया वह बालक और सचमुच एक दिन ज्ञानसूं के पुल से गंगा पार करके लगभग दो मील किनारे-किनारे उस बालक के साथ चलकर मैंने उसके जोगी के दर्शन किये।

वे अच्छे साधु है। पर्वतीय जन प्रायः साधुमात्र को जोगी कहते हैं; किन्तु सामान्य साधु से भिन्न वे सचमुच साधनानिष्ठ साधु हैं।

गंगा के तट पर उनकी छोटी-सी कुटिया है। शीतकाल में जब यहाँ बरफ पड़ती है यह श्यामला भूमि और पर्वतों पर लहराते चीड़ के वृक्ष भी श्वेत हिम वस्त्र ओढ़ लेते हैं। वे दिगम्बर ही रहते हैं और मौन तो रहते ही हैं।

उत्तर काशी का शीतल गंगाजल- हिमशीतल इस जल में ज्येष्ठ की दोपहरी में भी डुबकी लगाने पर हमारे अंग अकड़ जाते हैं। स्नान तो मैंने गंगा में यहाँ किया है; किन्तु वह लोटे से जल शरीर पर डालकर झटपट तौलिया उठा लेने वाला स्नान और ये महापुरुष प्रतिदिन तीन घण्टे प्रातः, दो घण्टे मध्याह्न और एक घण्टे सायंकाल कटि से ऊपर गंगाजल में खड़े रहकर अपना जप किया करते हैं।

जहाँ त्याग है, तप है वहाँ लोक-श्रद्धा को आमन्त्रित नहीं करना पड़ता। अतः उन तपस्वी को भिक्षा के लिए कहीं जाने की भला क्या आवश्यकता हो सकती है?

शीत ने शरीर के चमड़े को कठोर बना दिया है। कृष्ण वर्ण, अरुणाभ नेत्र, बढ़ी जटायें, प्रशान्त गम्भीर मुख, तपस्या का तेज है भाल पर। वे मौन हैं, उनके दर्शन ही किये जा सकते हैं। सुना-जब वे जल में खड़े होते हैं, किसी का समीप आना उन्हें रूचिकर नहीं होता। हमारा श्याम कह रहा था, किसी को उन्होंने पकड़कर बलात् जल में एक बार खड़ा कर दिया था, क्योंकि वह बार-बार उनके साधनकाल में वहाँ चला जाता था।

साधु का दर्शन करके हम लौटे। श्याम का आतिथ्य स्वीकार करना था। एक सरल पर्वतीय घर का सरल सहज आतिथ्य। लौटना था दोपहर व्यतीत करके और जब पेट की चिन्ता न हो, लौटने की शीघ्रता का कारण ही क्या हो सकता था?

श्यामो, वह पगला कहाँ है? मैं उससे अवश्य मिलना चाहता था। उसके सम्बन्ध में अनेक बार श्याम चर्चा करता है। वही है जो रात को, वर्षा में बढ़ी नदी को, वन्य पशुओं के भय को भी भूलकर किसी के लिए चाहे जब उत्तर काशी भेजा जा सकता है। उसे आप कोई काम बता दें, अस्वीकार नहीं करेगा। उसी समय उसे करने चल देगा। लेकिन आपका काम हो ही जायगा, पगला उसी दिन या दो दिन बाद भी लौट ही आवेगा, यह आश्वासन नहीं। वह पगला जो ठहरा।

'पता लगाता हूँ बाबू जी!' श्याम के सौम्य, सरल पिता ने अपनी कन्या को पर्वतीय भाषा में कुछ कहा और वह बच्ची घर से बाहर चली गयी।

'एक बाबू ने एक बार पगले को डाँटा- 'गधा कहीं का।' श्याम अपने भोलेपन के अनुसार हमें सुनाने लगा- 'तो पगला बोला- 'बाबूजी! आप ढूँढ़ लीजिए- गधे हमारे पहाड़ों में पैदा नहीं होते। वे यहाँ नीचे मैदान से ही लाये जाते हैं।'

श्याम के पिता ने उसे रोकना चाहा, किन्तु हमने उन्हें मना कर दिया। श्याम कह रहा था- 'बाबूजी खूब गुस्सा हुए और बोले- 'सुअर के बच्चे!' पगला फिर कहने लगा 'बाबूजी- सुअर भी पहाड़ों में नहीं होते। वे भी नीचे मैदानों में होते हैं और वहीं बच्चे देते हैं।'

हम सभी हँस पड़े। उस पागल पर कोई क्रोध करके क्या करेगा? वह एक काम से जायगा तो मार्ग में पता नहीं कितने काम निकलेंगे उसके। कहीं काँटे और कहीं पत्थर इस पहाड़ी मार्ग में पद-पद पर। पत्थर तो ऊपर से वर्षा के वेग में, गायों तथा मनुष्यों के पैरों से लुढ़ककर आते ही रहते हैं। पगला उन सबको हटाता चलेगा और इस प्रकार चलने वाला दो मील यदि दिन भर में चल पावे तो बस। उसे मार्ग में या नगर में किसी ने और काम बता दिया तो छुट्टी। वह कहाँ स्मरण रख पाता है कि वह किसी और काम से आया है।

'लेकिन यदि किसी की दवा लाना हो तो दौड़ा जाता है।' श्याम के पिता ने बताया- 'फिर वह किसी दूसरे का काम नहीं सुना करता।

'वह मन्दिर में नहीं जाता।' श्याम ने बताया- 'उससे मन्दिर में जाने को कहने पर कहता है - 'उसके तो बहुत नौकर हैं। मैं क्यों करूँ उसकी नौकरी? तेरी नौकरी करूँगा मैं।'

'उसके घर नहीं है। किसी के यहाँ पड़ा रहता है, किसी के घर रोटी को माँगने जा पहुँचता है। कोई कुछ कहे - वह हँसता रहता है।' यह सब हमें श्याम पहिले ही बता चुका था।

सहसा एक फटे, मैले चिथड़े पहिने, कुछ ठिगना, मोटा, गोरे रंग का अधेड़ पर्वतीय आ गया वहाँ। उसके पैर बिवाइयों से चिथड़े हुए। उसकी अँगुलियाँ मोटी और कठोर। उसका शरीर अस्वच्छ; किन्तु उसके निर्मल नेत्र, उसका बाल-सुलभ हास्य और उसके ललाट पर तेज हमने देखा।

'पगला है!' श्याम हँस पड़ा।

'आइये। बैठिये!' मैंने उसे कम्बल पर बैठने को कहा और वह बिना किसी संकोच के मेरे सामने बैठ गया।

'क्या काम है?' पर्वतीय भाषा में उसने श्याम के पिता से पूछा।

'बाबूजी ने बुलाया है!' श्याम के पिता ने उसी भाषा में उसे बताया और वह मेरी ओर देखने लगा।

'कुछ खाओगे?' मैंने पूछा और स्वीकार करने पर उसे श्याम के पिता ने भात-दाल दिया। खा-पीकर फिर उसने पूछा- 'क्या काम है?'

'तुम जोगी हो। आशीर्वाद दो!' मैंने उससे कहा।

'हम तो तुम्हारा नौकर है। सबका नौकर है बाबू!' पगला जैसे चौंक पड़ा। उसका वह चौंकना, वह दैन्य! और अब आप सोचिए- महान् जीवन किसका? उन तपस्वी का या इस पगले का?

❑❑

स्वस्थ समाज

आज की घटना नहीं है, लगभग 35 वर्ष हो चुके इसे। उस वर्ष हिमालय में हिमपात अधिक हुआ था। श्री बद्रीनाथ जी के मन्दिर के पट वैसे सामान्य स्थिति में अक्षय तृतीया (वैशाख शुक्ल 3) को खुल जाया करते हैं; किन्तु मैं जब जोशीमठ पहुँचा तो यात्री वहीं रुके थे। पट तब तक भी खुले नहीं थे। मैं अक्षय तृतीया वृन्दावन ही करके चला था। मार्ग में तीन-चार दिन तो ऋषिकेश तक में ही रुकते-रुकाते लगे थे और तब मोटर, बस केवल देवप्रयाग तक जाती थी। आगे का मार्ग हमने पैदल पार किया था।

मेरे भाग्य-देवता अनुकूल थे। मैं जोशीमठ पहुँचा और पता लगा कि आज ही शाम को पट खुलनेवाला है। जब मैं बद्रीनाथधाम पहुँचा, मार्गों पर तीन-चार फुट बरफ पड़ी थी और दुकानदार फावड़ों से बरफ हटाकर अपनी दुकानों के द्वार खोलने के प्रयत्न में लगे थे।

स्मरण नहीं रहा, दूसरे या तीसरे दिन अपने एक मित्र के साथ मैं श्री बद्रीनाथधाम से आगे व्यास गुफा सहस्त्रधारा तक चला गया था। साथ में एक युवक पर्वतीय ब्राह्मण थे मार्गदर्शक के लिए। दो-तीन स्थानों पर हमने अलकानन्दा की धारा बरफ के नैसर्गिक पुल से पार की। लेकिन जब हम दोनों सहस्त्रधारा के ऊपर की गुफा पर चढ़ने लगे और मार्गदर्शन के मना करने का हम पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा, तब हम जान भी नहीं सके, हमें भाग्य भरोसे छोड़कर कब मार्ग-दर्शक महोदय चुपचाप खिसक आये।

ऊपर किसी प्रकार हम पहुँचे भी और लौटे भी। लौटते समय या तो हम मार्ग भूल गये थे अथवा जिस हिमनिर्मित पुल से हमने अलकनन्दा को जाते समय पार किया था, वह इतनी देर में टूट चुका था। हुआ कुछ भी हो, हमें माना गाँव के पास होकर घूमकर आने को विवश होना पड़ा।

माना गाँव सुनसान पड़ा था। घरों के द्वारों पर ताले सीलबन्द पड़े थे। वहाँ के निवासी जो सर्दियों में नीचे चले गये थे, अभी तक लौटे नहीं थे। जीवन में पहली बार

जनहीन गाँव देखा- अद्‌भुत लगा वह सुनसान। मेरे मित्र आगे बढ़ गये। सन्ध्या समीप थी, बादल हो आये थे और वर्षा किसी भी क्षण सम्भव थी। हमारे पास न छाता था, न बरसाती कोट। अतः स्थान पर पहुँचने की शीघ्रता स्वाभाविक थी।

सहसा मेरे पैरों ने चलना अस्वीकार कर दिया। मेरी क्या अवस्था हुई- कह नहीं पा रहा हूँ। आप सोच लें- मेरे आस-पास कोई नहीं था। उज्ज्वल हिमाच्छन्न पर्वत और पीछे एक जनहीन गाँव। मित्र कितनी दूर आगे चले गये थे, जानने का कोई साधन नहीं और सहसा सामने केवल दस गज दूर एक महाकाय आकृति आ खड़ी हुई। एक गम्भीर स्वर हुआ।

कुछ क्षण लगे मुझे अपने को आश्वस्त करने में। मेरे सम्मुख वे जो कोई भी थे- मुझे आश्वासन दे रहे थे कि मैं भय न करूँ। हाँ, वे पुरुष थे- मानव पुरुष; किन्तु उनका विशाल शरीर- मैं उनके घुटनों से कुछ ही ऊँचा होऊँगा। नाभि से नीचे तक लटकती हिमधवल दाढ़ी, सुपुष्ट दीर्घ भुजायें और - लेकिन मैं उनके तेजो-दीप्त मुख को भली प्रकार देख कहाँ सका था। उनकी ओर देख पाना सरल नहीं था। मैं वहाँ खड़ा रह सका, यह कम नहीं था।

'कौन हो तुम?' उन्होंने शुद्ध देववाणी में पूछा था।

'मैं संस्कृत समझ लेता हूँ, किन्तु बोल नहीं सकूँगा।'

अब मैंने अपने को कुछ अधिक आश्वस्त कर लिया था। उन्हें मैंन पृथ्वी पर मस्तक रखकर प्रणाम किया और नाम बताया।

'गोत्र'? प्रश्न हुआ।

'सावर्णि' मैंने उत्तर दिया और वे इतने खुलकर हँसे कि पर्वतमालाएँ मुझे काँपती प्रतीत हुईं।

'भगवन्!' मैं केवल सम्बोधन करके चुप हो गया। क्या पूछना, यह समझ नहीं पाता था।

'कोई विशेष बात नहीं' वे सौम्य स्वर में बोले- 'तुम्हारे कुलपुरुष भगवान् विवस्वान के आत्मज सावर्णि हैं- आगामी मन्वंतर के मनु। तुम्हारा यह क्षीणकाय-उन मार्तण्ड-तनय के सम्मुख मैं भी इतना ही ह्रस्वदेह, अल्पप्राण प्रतीत होने लगता हूँ। कहीं तुम अपने उन कुलपुरुष का साक्षात् कर सको....।' लेकिन वे इस बार हँसे नहीं।

'भगवन् आप?' मैंने जिज्ञासा की।

'मेरा जन्म त्रेता के अन्त में हुआ था।' उन्होंने सहज भाव से कहा- 'तब तक मानव-देह ह्रास को प्राप्त हो चुका था और तुम्हें तो देखकर ही प्रतीत होता है कि धरा पर अब कलिका कितना व्यापक प्रभाव है।'

अब मुझे स्मरण आया कि पुराण-वर्णित कलापग्राम कहीं यहाँ से पास ही होना चाहिए। अवश्य मेरे सम्मुख जो दिव्य पुरुष उपस्थित है, वे वहीं के निवासी होंगे। मेरे मन में उस भूमि के दर्शन की इच्छा प्रबल होने लगी।

'वत्स! उत्कण्ठा व्यर्थ है।' मेरे प्रार्थना करने से पूर्व ही उन्होंने कहा- 'कलापग्राम की भूमि पर तुम जा सकते हो और तुम्हारे अनेक साथी जाते-आते हैं; किन्तु उसके निवासी जब तक स्वयं न चाहें, उन्हें तुम देख नहीं सकते। मैं वहाँ कोई क्षमता नहीं रखता।'

'वे कृपा कर सकते हैं!' मैंने अनुरोध का प्रयत्न किया।

'तुम्हारा समाज स्वस्थ नहीं रहा है। अस्वस्थ समाज में अस्वस्थ देह उत्पन्न होते हैं।' उन्होंने समझाने की चेष्टा की- 'हम सब अति दीर्घकाल से केवल इसलिए अपने को रखने में सक्षम हुए हैं; क्योंकि अस्वास्थ्य के संक्रामक प्रभाव को हमने अपने तक नहीं पहुँचने दिया।'

'समाज अस्वस्थ?' मेरी समझ में बात ठीक से आ नहीं सकी थी।

'मनुष्य सदा दुर्बल रहा है।' वे कह रहे थे- 'उससे त्रुटि नहीं होंगी, उसके पद वासना-विचलित नहीं होंगे, यह कभी सम्भव नहीं हुआ; किन्तु सत्य जीवन का स्वास्थ्य है। अपनी च्युति को स्वीकार करने का साहस जब तक मानव में हैं, पाप अपने पद जमा नहीं पाता। समाज स्वस्थ बना रहता है। व्यक्ति के स्खलन संक्रामक बनने की शक्ति नहीं पाते। पाप पनपता है जब सत्य की स्वीकृति का साहस नहीं रह जाता और तब समाज अस्वस्थ हो जाता है।'

सहसा मुझे अनेक पौराणिक कथाओं का स्मरण हो आया। महर्षि अगस्त्य, भरद्वाज, सत्यकाम, भगवान् व्यास आदि की उत्पत्ति-लेकिन किसी ने भी कहाँ सत्य को स्वीकार करने में कही हिचक दिखलायी। शाकुन्तल भरत पता नहीं कौन बनते यदि दुष्यन्त ने उन्हें अपना औरस स्वीकार न किया होता?

साथ ही मुझे स्मरण आयी आज की अपनी अवस्था। 'पाप पनपता है जब सत्य की स्वीकृति का साहस नहीं रह जाता।' ये महापुरुष के शब्द जैसे वज्रघोष कर रहे थे। आज का अनाचार, घूसखोरी, चोरबाजार, छल-प्रपञ्च असत्य का अवलम्बन किये बिना इसमें से एक भी दो क्षण ठहर सकेगा।

कुछ क्षण-पता नहीं कितने क्षण मैं मस्तक झुकाये अपने चिन्तन में ही लीन रह गया और जब मैंने फिर नेत्र उठाये, सम्मुख कोई नहीं था। वहीं हिमाच्छादित पर्वतमालाएँ, वही तीव्रवेगा अलकनन्दा और वही पीछे सुनसान मानागाँव।

मेरे मित्र मुझे पीछे आता न देखकर लौट पड़े थे और पुकार रहे थे। बादल

अधिक घने हो आये थे। सर्दी लग रही थी। मुझे यों भी रोमांच हो रहा था। वहाँ से शीघ्रतापूर्वक निवासस्थान की ओर चल देना आवश्यक था।

आज भी वह संस्मरण शरीर में रोमाञ्च कर देता है। कह नहीं सकता- मैंने जो कुछ देखा, सत्य ही था अथवा मानागाँव की शून्यता के अनुभव से अभिभूत मस्तिष्क ने उसे दिखलाया था, किन्तु 'सत्य जीवन का स्वास्थ्य है' इसे अस्वीकार कैसे किया जा सकता है। समाज के स्वास्थ्य का मूलमन्त्र जो उस दिन मिला- उस सत्य को आप स्वीकार करेंगे ही।

अग्नि को अजीर्ण हुआ

'इतना सुस्वादु हविष्य!' महाराज मरुत् का भुवन-विख्यात यज्ञ प्रारम्भ हो गया था। यज्ञ के समस्त उपकरण विशुद्ध स्वर्णसे प्रस्तुत किये गये थे। देवताओं ने प्रत्यक्ष आसन स्वीकार किया। देवगुरु बृहस्पति, महर्षि कश्यप, योगिराज अंगिरा, महामुनि वशिष्ठ, प्रजापति कर्दम साक्षात् मूर्तिमान श्रुति से सर्वज्ञ तपोमूर्ति ऋत्विक बने थे। एक सहस्त्र वेदज्ञ विप्रों ने सामगान के साथ अखण्ड घृतधारा देनी प्रारम्भ की। अग्निदेव आह्लादित हो उठे! 'महाराज मरुत् मुझे तृप्त कर देंगे!'

'अधिक लोभ बुरा होता है।' महर्षि अंगिरा ने कुश से जलबिन्दु उठाकर अग्नि का प्रोक्षण करते हुए सावधान किया। 'यज्ञ की प्रत्येक आहुति यज्ञेश के लिए है। तुम उसे अपना उपभोग्य बना रहे हो! देवताओं को वितरित करने वाले प्रतिनिधि मात्र बने रहने में तुम्हारा कल्याण है।' महर्षि के दिव्य ज्ञान ने सूचित कर दिया कि यदि अग्निदेव का प्रमाद बना रहा तो उनके कार्य का भार महर्षि के ऊपर पड़ेगा।

'देवताओं ने अपना भाग ग्रहण कर लिया!' अग्निदेव मन्त्रपूत, स्वभावशुद्ध, श्रद्धासंचित आज्यधारा के रसास्वाद में निमग्न हो चुके थे। रसना का रस क्या किसी को पेट की पाचिका शक्ति का ध्यान रखने देता है। 'महाराज निरन्तर उनका आतिथ्य कर रहे हैं और वे भी उनके सत्कार को स्वीकार करने में संकोच नहीं करते।' जब दूसरे संकोच नहीं करते तो अग्निदेव ही क्यों करें।

'यज्ञावशेष ही अमृत भोजन है।' देवगुरु ने अपने शिष्य को सावधान किया प्रोक्षण द्वारा। 'अग्रभोक्ता होना अल्पशक्ति के लिए सदा हानिकारक होता है।'

'यज्ञ ही मेरी अर्चा के लिए आरम्भ होता है।' अग्निदेव ने यज्ञ को सचमुच ही अग्नि-आराधन मान लिया। श्रुति किस अग्नि का संकेत करती है, यह उन्हें स्मरण ही नहीं रहा। 'प्रलय के समय सूखे गोमय पिण्ड की भाँति सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को क्षार कर

देने की महाशक्ति जिसमें है, उसे छोड़कर अग्रभोजी कौन होगा?' अहंकार के साथ अग्नि की नील-लोहित लपटें ऊपर उठीं।

'तुम एक तृण भी जलाने में असमर्थ हो गये थे।' महर्षि कश्यप ने पुत्र के अहंकार को शमित करने के लिए प्रोक्षणिका उठाई। 'जब जीव अपनी किसी शक्ति के ऊपर गर्व करके असंयत होने लगता है, सर्वशासक सत्ता उससे वह शक्ति छीन लेती है।'

'आप उस यज्ञ की बात कहते हैं!' पिता की गम्भीर चेतावनी हँसी में टाल दी गयी। उपभोग के रस का जब अनुभव होता है, उपदेश सुनने की स्थिति मन की नहीं रह जाती। 'वह व्यापक सत्ता पूर्णकाम है; उसे इन आहुतियों और घृत-धारा की अपेक्षा ही नहीं।' हम भूल भी करते हैं, यह मानना स्वभाव ही नहीं है। यदि विवशतः भूल मानना पड़े तो उसका कारण पाना कठिन नहीं होता। जिसे आहुतियों की आवश्यकता नहीं, उसे न देना कोई अपराध तो हुआ नहीं। यह कौन सोचे कि दूसरे की आवश्यकता देखने की अपेक्षा अपना कर्त्तव्य देखना उचित होता है।

'अब बस!' एक सहस्र ब्राह्मण पूरे सहस्र वर्षों तक अखण्ड धार देते रहे। वे तपःपूत, अमर महर्षि-उन्हें श्रान्त नहीं होना था। महाराज का आमन्त्रण कामधेनु ने स्वीकार कर लिया था। आज्य पात्र उनकी स्नेह दृष्टि से अक्षय हो चुके थे। हाथी की सूँड़ के समान मोटी धृत-धाराएँ अखण्ड गिरती रहीं, गिरती ही जा रही थीं। स्वाद से तृप्ति हो या न हो, उदर की सीमा है, अग्निदेव के उदर की सीमा हो चुकी है। एक छटाँक नहीं, एक तोला नहीं, एक बन्दु भी नहीं। उनके यहाँ घृत-सीकर तक आत्मस्थ करने का अवकाश नहीं।

'प्रभो! अभी पात्र रिक्त नहीं हुए।' महाराज ने बड़ी नम्रता से प्रार्थना की। 'केवल सहस्र वर्ष ही तो हुए है।' देवताओं के सहस्र वर्ष हो चुके, पर महाराज को लगता है, अभी कल तो यज्ञ का प्रारम्भ ही हुआ है। न एक कल्प, न एक चतुर्युगी और न एक पुरा युग ही। यह भी क्या यज्ञ हुआ।

'सम्राट आपका कल्याण हो!' यज्ञकुण्ड में केवल धूम्र उठ रहा था। न लपटें थीं, न अंगारे और न चिनगारियाँ ही। 'आपके पात्र अक्षय हैं! आपके दिव्य लोक अक्षय हों। अग्निदेव ने आशीर्वाद दिया।

'मुझे कोई दिव्य लोक नहीं चाहिए।' महाराज ने तो स्वप्न में भी किसी लोक की कामना नहीं की। महेन्द्र उन्हें अपने सिंहासन पर बैठाकर स्वयं चामर ग्रहण करने में अपना सौभाग्य मानते हैं। लोक-पितामह का दिव्य पद्म जैसे उनके पिता का गृह हो। असुरों के अधिपति उनकी मित्रता के अभिलाषा हैं। ऐसा कोई लोक नहीं, जिसमें

उनके धनुष पर ज्या चढ़ते ही ध्वंस का ताण्डव न प्रारम्भ हो जाय। उनकी भृकुटि पर बल आते ही दानवेन्द्र तक करबद्ध मिलेंगे। किसी लोक की वे इच्छा करें? किसके लिए यज्ञ करें? उनके यज्ञ तो यज्ञेश के तोष के लिए अखण्ड रहें, बस हो गया– 'आप आहुतियाँ स्वीकार करते रहें, मेरा इतना ही अनुरोध है।'

'मेरी शक्ति की सीमा हो चुकी है! यह ब्राह्मण आप के रोष का पात्र नहीं है।' अग्निदेव ने यज्ञकुण्ड को छोड़ दिया। उन्हें विश्राम चाहिए।

(2)

बड़ा पेट, पीला मुख, उभड़ी नसें, पतले-पतले हाथ पैर और दीखती ठठरियाँ देखकर वैद्यजी कह देंगे यह अति मन्दाग्नि का रोगी है। पूरे विश्व को यदि यही रोग हो जाय?

सूर्य का तेज मन्द हो गया। प्राणियों की क्षुधा मृतप्राय हो गयी। वृक्षों और लताओं में जीवन ही जैसे न रहा हो। पीले-पीले पत्ते, सिकुड़ी टहनियाँ, मुरझाये कुसुम। शाप के भय से मन्त्रपाठपूर्वक जब अरणि-मंथन होता है, अग्निदेव उपस्थित होते हैं। उनमें एक आहुति लेने की भी शक्ति नहीं, धुआँ- केवल धुआँ उठता है हवनीय कुण्डों से। उष्णता ही जीवन है। उसे स्वयं अजीर्ण हो गया था।

'आप लोग सर्वसमर्थ हैं! मुझ पर दया कीजिये!' अश्विनी कुमारों से अग्निदेव ने प्रार्थना की। 'उनका सिर' चक्कर करता है। पेट में असह्य पीड़ा है। चला जाता नहीं। बराबर ऋषिगण आह्वान कर रहे हैं। पता नहीं कब कौन शाप दे दे!' इन भारतीय ऋषियों का भय उन्हें और विकल किए है। ऋषियों की नित्य क्रिया अवरुद्ध है। कुशल इतना है कि दुर्वासाजी समाधि में हैं। क्या ठिकाना वे कब जागृत हो जाएँ।

'हमारी औषधियाँ आपका कैसे लाभ करेंगी?' जिसे दीप्त करने के लिए बटी, चूर्ण, अवलेह, क्वाथ आदि बनते हैं, स्वयं उसी को अजीर्ण हो जाय तो औषधियों में उष्णता कहाँ से आवे? 'आजकल आपकी तटस्थता से सब पदार्थ शीतवीर्य हो गये हैं। सबको अजीर्ण की औषधि चाहिए। कोई निरोग नरोग नहीं, सबको एक ही रोग और उस रोग की औषधि रही नहीं। औषधि होती तो क्या वैद्य स्वयं रुग्ण बने रहते।'

'आप लोग ही कुछ न करेंगे तो....!' वैद्य कोरा उत्तर दे दे, यह रोगी को कितना अखरता है।

'आपको संयम करना चाहिए।' अब स्थिति चिकित्सा के बाहर जा चुकी। वे सुर वैद्य क्या करें? 'गुरुदेव से कोई अनुष्ठान पूछिये।' असाध्य रोग हो जाने पर वैद्यक में भी 'अच्युत, अनन्त, गोविन्द।' यह भगवन्नाम ही अन्तिम परमौषधि स्वीकार की गयी है।

'अनुष्ठानों से मनुष्य देवताओं की आराधना करता है। जब आराध्य ही रोगी हो जाय तो उसे कौन अच्छा करे।' देवगुरु ने अग्निदेव को कोई अनुष्ठान बतलाना अस्वीकार कर दिया। 'सम्भव है कैलाशबिहारी प्रभु कोई मार्ग बता सकें।' 'जो समस्त विद्याओं के प्रवर्तक हैं, वे योगीश्वर कुछ उचित उपाय बतावेंगे, यह उचित आशा थी।

'रोग जिस कारण से हुआ हो, उसका विपरीत आहार-व्यवहार उसे नष्ट करता है।' 'आयुर्वेद के उद्गाता उन भोले बाबा को औषधि बताने में कितनी देर लगती है। 'तुम मन्त्रपूत घृत के अधिक आहार से, रुग्ण हुए हो, असुरों, नागों एवं हिंस्र पशुओं की उत्तेजक 'वसा' तुम्हें आरोग्य प्रदान करेंगी।'

'मैं शक्तिहीन हो रहा हूँ।' अग्निदेव ने प्रार्थना की। यदि भगवान् रुद्र अपने इस तृतीय विग्रह पर दया करें। 'असुर मुझसे प्रबल हैं।'

'मैं उपाय बता सकता हूँ।' आशुतोष का न कोई अपना है और न पराया, फिर भी अपने आराधक असुरों पर अकारण वे पिनाक कैसे चढ़ा लें?' तुम खाण्डववन जला डालो।' भूमि पर असुरों, नागों आदि का वह निवास हो गया है। लोकपति उन हिस्त्रों के उत्पीड़न से आर्त प्राणियों को कष्टमुक्त करने की बात सोचते हों, यह सहज स्वाभाविक है।

'देवराज, आप मुझे अनुमति दें!' अग्निदेव को पता है कि सुरपति आजकल खाण्डव की विशेष रक्षा करते हैं। उनके आदेश से चन्द्रदेव वहाँ के तरुओं को अधिक पोषण प्रदान करते हैं।

'असुर हमारे बन्धु हैं!' महेन्द्र में अकारण यह बन्धुत्व नहीं जागृत हुआ है। महारानी शची उन्हें प्राणों से अधिक प्रिय हैं। उन्होंने देवराज से प्रार्थना की है कि उनके पितृकुल के परम पूज्य का तपःकानन सुरपति सज्जित कर दें। अमरावती की अधीश्वरी का इतना-सा अनुरोध कैसे टाल दिया जाय? 'दानवेन्द्र मय समस्त सुरासुर के लिए सम्मान्य हैं। वे आजकल खाण्डव में शिवार्चन करते हैं। हमें उनकी सेवा में अपना सौभाग्य मानना चाहिए।' एक उपदेश दे डाला देवराज ने।

'मेरा विनय और विद्रोह दोनों विफल हुए!' अन्ततः गुरुदेव ही तो संकट में आर्तजन को आश्रय देते हैं। अपने पर आपत्ति पड़ती है तो पता लगता है। दूसरों को कष्ट में देखकर संयम सन्तोष का उपदेश देने वाले बहुत लोग मिलते हैं। सुरराज के उपदेश की अवज्ञा का अग्निदेव को कोई कष्ट न था; किन्तु प्रलय मेघों के सम्मुख उनकी शक्ति तुच्छ थी। महेन्द्र ने खाण्डव में प्रवेश करते ही उन्हें इस प्रकार वर्षा के बिन्दु-बाणों से भागने को बाध्य कर दिया था। जैसे शशक को किसी ने छिपने पर

बाध्य किया हो। पराजय की ग्लानि, उदर की पीड़ा दोनों उन्हें व्याकुल किये थीं। व्याधि से परित्राण का दूसरा मार्ग था भी तो नहीं।

'द्वापर तक प्रतीक्षा कीजिये!' देवगुरु ने स्पष्ट कह दिया। 'जिस यज्ञेश का भाग अपना मानकर उदरस्थ कर लिया, वह जब तक लीला-विग्रह से धरा पर अवतीर्ण न हों, खाण्डव-दाह हो नहीं सकेगा। सुरेन्द्र की वृष्टि को अपने बाणों से वारित करने की शक्ति केवल नर में है और वह भी जब नारायण का सान्निध्य उन्हें प्राप्त हो। इस समय तो वे प्रभु को अपने युगल विग्रह से दण्डन्यास करके बदरिकाश्रम में तपोलीन हैं।'

'द्वापर- बहुत दूर हैं!' अग्निदेव ने दीर्घ निःश्वास ली। उन्हें क्या ज्ञात था कि सहस्त्र वर्षों तक घृतपान इतनी दीर्घ व्याधि देगा। क्षणों का असंयम ही तो वर्षों के लिए रुग्ण बनाता है। प्रतीक्षा के अतिरिक्त उपाय नहीं था। प्रतीक्षा स्वयं प्रायश्चित है, क्योंकि उसकी विवशता पश्चात्ताप को प्रकट करती है। अग्निदेव को तो सर्वेश की पावन प्रतीक्षा करनी है।

(3)

'आप स्वयं अग्निस्वरूप हैं। लोक की रक्षा करने में आप ही समर्थ हैं।' देवता, प्रजापति, ऋषिगण, साध्य, गन्धर्वादि सभी आशापूर्ण दृष्टि लगाये करबद्ध खड़े थे। 'आपकी दया ही हमें बचा सकती है। हम आपकी शरण है।' सबके स्वरों में कातरता थी। अग्निदेव अजीर्ण के कष्ट, पराजय की ग्लानि और क्षोभ से अदृश्य हो गये थे। उष्णता के बिना जीवन कैसे रहे? पृथ्वी हिमपात से श्वेत होती जा रही थी। स्वर्ग आहुतियों की सुरभि के अभाव में उपोषित था।

'सर्वभक्षी अग्नि का प्रतिनिधित्व करना मुझे स्वीकार नहीं।' सचमुच जो आहार में पदार्थ के स्वरूप-दोष, स्पर्श-दोष, दृष्टि-दोष, क्रिया-दोष एवं काल दोष के पंचदोषों का विचार करता हो और इनसे रहित पदार्थ भी जिसके तप के पारण में युगों के पश्चात् कुछ कणों में आवश्यक होते हो, वह सर्वभक्षी का प्रतिनिधित्व कैसे करे?

'आपका दिव्य तेज आवहनीय, प्रजापत्य एवं ब्राह्मकुण्डों में प्रतिष्ठ होगा।' दक्षिणाग्नि के अभिचार द्वापर तक न भी हों तो कोई हानि नहीं थी। अन्त्येष्टि के लिए अग्नि उपलब्ध न हो तो सरिता-प्रवाह की विधि विवशतः काम आ जाएगी; किन्तु नित्य कृत्य ही वहाँ तो रुके हुए थे। 'भगवान् भास्कर आपके तेज से भासमान होकर लोक को जीवन प्रदान करेंगे।'

'सूर्य तो सर्वदर्शी है और सर्वस्पर्शी भी।' महर्षि अङ्गिरा ने आदित्य को लज्जित

कर दिया। एक नियम-निष्ठ तापस शुद्धाशुद्ध, विहित अविहित का विचार छोड़कर न तो सभी दृश्यों को देख सकता था और न सबका स्पर्श कर सकता। 'लोकदर्शन और पदार्थों के स्पर्श में मेरी सहज अरूचि है।' महर्षि किसी देवता को अवगणना नहीं करना चाहते थे। जिसके चित्त की गति अन्तः के आनन्दघन को उपलब्ध करके ब्राह्य से विरत हो चुकी है, उसके लिए बाहरी व्यापार उतने ही कष्टसाध्य हैं, जैसे हमारे लिए अन्तर्मुखता।

'प्राणियों के प्राण आहार के बिना व्याकुल हो रहे हैं। उनके जठर को कफ ने आक्रान्त कर लिया है।' सबको आशा थी कि जीव पर सहज स्नेह करने वाले ऋषि उनके कष्ट से द्रवित होंगे। 'आपका तपःतेज उन्हें सक्षम बनाने- में समर्थ है।'

'आप सब प्रकार से मुझे सर्वभक्षी ही तो बनाना चाहते हैं।' प्राणियों का आहार कुछ एक प्रकार का तो है नहीं। उनके जठर में स्थित होने का अर्थ ही उनके विविध आहार को स्वीकार करना है। 'मैं अपने में इतनी शक्ति नहीं देखता। आप मुझे क्षमा करें।' स्वर में भाव स्पष्ट था कि मेरे एकान्त तप में बहुत व्याघात हो चुका। अब अधिक के लिए अवकाश नहीं है।

'वत्स !' पितामह का हंस आकाश से अवतीर्ण हुआ इन्हीं क्षणों में।

'पितः !' साध्र्य हस्त महर्षि ने प्रोत्थान दिया।

'तुम प्रजापति हो। तुम्हारी प्रजा नष्ट हो रही है।' स्त्रष्टा के स्वर में स्नेहपूर्ण उपालम्भ था। 'तप का उद्देश्य होता है विश्वरूप विश्वेश तुम्हारी सेवा की प्रतीक्षा करते हैं। तुम उसे अस्वीकार कर दोगे?'

'सबके सब प्रकार के प्रयत्नों का प्रेरक बनाना, सबके सब प्रकार के आहार को पचाना, सब कुछ देखना, स्पर्श करना, ग्रहण करना !' महर्षि की वाणी व्यग्र होती जा रही थी। जैसे किसी नियमनिष्ठ विप्र को बलात् चाण्डाल के काम पर नियुक्त किया जा रहा हो।

'सब प्रकार के जीवों को निर्माण, सबके कर्मों के अनुसार अवयवों का विधान, सबके आक्रोश एवं अभिशाप का स्वीकार।' भगवान् ब्रह्मा की वाणी गम्भीर बनी रही। 'तुम मेरे कर्मों को देखते हो न। कर्म को ही देखने पर मैं तुम्हारे लिए अस्पृश्य हो जाऊँगा। क्रिया में कहाँ पवित्रता और अपवित्रता है। तुम उसे आराध्य बनाओ जो तुम्हारे सम्मुख विविध रूपों में उसे स्वीकार करने उपस्थित हुआ है।'

'मेरी शक्ति अल्प है।' हृदय स्वीकार नहीं कर रहा था। शालीनता प्रतिवाद नहीं करने दे रही थी। बड़ी विचित्र स्थिति थी।

'द्वापर के अन्त में प्रभु अवतीर्ण होंगे, अग्नि का अजीर्ण दूर हो जायगा। कलि के पापकृत्य, हिंसप्रदाह और पैशाचिक आहार का तुम्हें साक्षी नहीं बनना है।' ब्रह्माजी ने आश्वासन दिया। 'आराधना और पोषण; केवल यही दो कार्य अभी प्राणियों ने सीखे हैं। भोग और उत्पीड़न कलि में आवेगा। तुम इन दोनों के माध्यम बनकर सुयश, पुण्य एवं प्रभु के प्रसाद का ही अर्जन करोगे। उन शक्ति-सिन्धु से तादात्म्य करो। शक्ति तो सदा उनकी है। हम सब तो निमित्त हैं। निमित्त बनने में हमें आपत्ति क्यों होनी चाहिए।'

हंस के पक्षों से साम के सरस स्वर गगन में व्याप्त हो गये। देवताओं को आश्वासन प्राप्त हो गया था। महर्षि मस्तक झुकाये सोच रहे थे।

(4)

'अन्न के अनेक प्रकार, उनके अमेध्यता, रूक्षता, कटुता।' महर्षि अंगिरा के मन में आया ही नहीं कि भोजन-में भी स्वाद होता है। श्रुति जिसे रस-रूप कहती है, उसी का रसाभास जहाँ विकृत रूप में उपलब्ध हो, वहाँ रसानुभवका रागी कैसे सरलता अनुभव करे।

'जीवों जीवस्य जीवनम्' प्राणी प्राणी को ही आहार बनाते है।' पशु-जगत पर दृष्टि गयी। बड़ा वीभत्स भाव आया। 'कोई हिंसा तो करता नहीं और ये कर्मयोनि के प्राणी स्वभावतन्त्र हैं। उनके कर्मों में कहीं दोष नहीं।' उस समय आज के हिंसक पशुओं की भी हिंसा की आवश्यकता नहीं थी। वे तो प्रकृति के स्वच्छता के चर हैं। मृत प्राणियों के शरीर ही स्वाभाविक आहार हैं उनके। मनुष्य की हिंसा ने उनको हिंस्र बना दिया। वन काट डाले गये, पशु क्षीण हो गये। क्षुधा-विवश मनुष्य भी तो अकार्य करता और अखाद्य खाता है।

'वृक्षों से स्वतः प्राप्त फल तथा निर्झरों का निर्मल नीर- मानव इनसे सन्तुष्ट कहाँ रहता है।' आलोच्य तो मनुष्य ही है। उन्हीं के कर्म उनको तथा उनके सहायकों को बाधित करते हैं। फलों के अतिरिक्त पता नहीं क्या-क्या चूसना है उसे, मेवों के अतिरिक्त वह और भी अटर-सटर चर्वण करेगा, जल से तृषा बुझाकर भी उसे फलों का रस पीना है और अवलेह्य-निरी पशुता है यह तो!' महर्षि को चर्व्य, चोष्य, पेय और लेह्य चारों में से एक भी आहार मनुष्य का ऐसा न जान पड़ा, जिसका वे समर्थन करें।

'कटु'- पता नहीं क्यों मनुष्य को उष्ट्र (ऊँट) बनना रूचिकर है। जब स्वादुफल हैं तो तापस भी इंगुदी नहीं ग्रहण करता।' तपस्वी का आदर्श तो तपस्वी ही होगा।'

तिक्त तो तभी ग्राह्य हो सकता है, जब रसना को दण्ड देना हो। उदर के अंग तो कोई अपराध करते नहीं। उन्हें संतप्त करना स्वयं अपराध है। यही दशा क्षार की है। क्षार अनावश्यक न होता तो मेरे सर्वज्ञ पिता सहज रीति से शरीर में पहुँचे क्षार को स्वेदादि से निकलते रहने की व्यवस्था न करते। अम्ल तो प्रत्यक्ष दन्तपंक्ति को कष्ट देता है। जिसे दन्त अस्वीकार करें, स्नायु जिससे पीड़ित हों, वह तो अग्राह्य होना ही चाहिए। ये चारों रस राजस और तामस हैं, पतन के कारण हैं, विघ्न रूप हैं।' चार रस अयोग्य मान लिये गये। वे अनावश्यक और त्याज्य थे। महर्षि की दृष्टि में।

'कषाय पवित्र है।' यही एक रस है, जो उनको रूचिकर है। 'आमलकी परम पावन है और हरीतिकी स्वास्थ्यप्रद!' मनुष्य ने इस रस को उलटे त्याज्य मान रखा है।

कषाय का परिपाक मधुर है, अतः आमलकी के अभाव में आम्र, बिल्वादि से क्षुधा-निवृत्ति में दोष नहीं। महर्षि कदाचित ही कभी कोई और फल ग्रहण करते हैं। उनके लिए वन में पर्याप्त आँवले हैं। 'मधुर रस सात्त्विक है। एक सीमा तक शर्करा और मधु भी ठीक, किन्तु मनुष्य इनको जो विकृत कर देता है।' प्रकृति में पदार्थों का जो सहज रूप उपलब्ध है, उससे भिन्न रूप उन्हें देना विकृत ही तो करना है।

'पदार्थों के विकृत विविध रूप, एक-एक प्रकार में अनेक अपस्वादों का आयोजन और वह भी तृष्णा की प्रेरणा से! यदि मनुष्य केवल सहज रूप में उपलब्ध कषाय और मधुर फलों पर ही रहना स्वीकार कर ले? 'पित्त, कफ, रक्त, स्नायुपूर्ण प्राणियों के शरीर में निवास!' सोचकर ही रोमांच हो आता है। परन्तु ऐसे अपवित्र स्थान में कैसे कोई रह सकता है। इन मनुष्यों का ठिकाना भी क्या? वे क्या संयत रहेंगे? आज अस्वस्थ है तो सब स्वीकार कर लेंगे। जहाँ तनिक शक्ति लौटी, रसना की तृप्ति के लिए आयोजन चल पड़ेगा।

आप केवल हवि का वहन करें। जलद-गम्भीर स्वर गूँजा। महर्षि के मन में आज विकल्प उठ खड़ा हुआ था। बार-बार आराध्य से हटकर उस उलझन में लग जाता था। स्वर से चौंककर नेत्र खुल गये और फिर पूरे खुल गये। 'प्राणियों के शरीर में पोषण के लिए मैं सदा से स्थित हूँ। उनके चतुर्विध अन्नों का पाचन जठराग्नि रूप से मैं ही करता हूँ। आपको इस उलझन में नहीं पड़ना है।' वह बनमाली, नवीन नीरद-श्याम, चतुर्भुज, श्रीवत्स-कौस्तुभधारी यज्ञपुरुष सम्मुख खड़ा मन्द-मन्द हास्य से दिशाओं को आलोकित कर रहा था।

'प्रभों!' महर्षि की वाणी व्यक्त नहीं हो रही थी। शरीर अवश्य हो गया था। बड़ी कठिनता से अंजलि बँध सकी। वे मूर्ति की भाँति ज्यों-के-त्यों बैठे थे। नेत्रों के पलक

स्थिर हो गये थे। उस रूप-राशि में अन्तर एवं बाह्य सुधा-स्नात हो रहा था।

'देवता उपोषित है।' मरुतों की गति मन्द पड़ गयी है। प्राणी की पाचन-क्रिया में इसी से व्याघात पड़ा। वहाँ अग्नि की अपेक्षा नहीं है। प्राण और अपान को समष्टि में आप आहुतियों से पुष्ट करें। उनके प्रबल होने पर जठराग्नि अपना काम स्वतः कर लेगा। वहाँ वैश्वानर रूप से मैं ही हूँ।' उस करुणार्णव की कृपा अर्चा की अपेक्षा नहीं करती। वह अमृतधारा श्रवणों को पवित्र करती जा रही थी। 'मेरे लिए आहुतियाँ देने में तुम्हें सदा हर्ष हुआ है। अब उनका वहन करने में कोई कष्ट न होगा।'

'मेरे नाथ!' महर्षि ने श्रीचरणों पर मस्तक रखा। सेवक की रूचि का इतना सम्मान उस परमोदार के अतिरिक्त भला दूसरा कोई कर कैसे सकता है। 'तुम्हारे लिए आहुतियों का वहन करूँगा मैं और मेरा यह अधिकार तुम कभी छीन नहीं सकोगे।' जो अपना है, उससे क्या याचना की जाती है।

'तुम केवल मेरे लिए आहुतियों को धारण करो!' वह सदा सानूकल नित्य प्रसन्न ही रहता है। 'तुम्हारा यह अधिकार कल्पान्त तक स्थिर रहे।'

अग्नि ने द्वापर के अन्त में खाण्डव-दाह करके स्वास्थ्य तो प्राप्त किया; किन्तु न तो वे यज्ञ में यज्ञेश की आहुतितियों के वाहक बन सके और न प्राणियों के जठराग्नि में प्रतिष्ठा ही मिली उन्हें। सर्वभक्षी ही रह गये थे। यज्ञ की वे दिव्य आहुतियाँ अंगिरस अग्नि के लिए सुरक्षित हो चुकी थीं और प्राणियों के जठराग्नि में षट्रस चतुर्विध अन्नों के पाचन का कार्य उस यज्ञेशने वैश्वानर रूप में सदा अपने पास रखा है, जिसकी अग्नि ने उपेक्षा करनी चाही थी और जिसने दया करके अग्नि को खाण्डव प्रदान किया।

निष्ठा की विजय

'मैं महाशिल्पी को बलात् अवरुद्ध करने का साहस नहीं कर सकता।' स्वरों में नम्रता थी और वह दीर्घकाय सुगठित शरीर भव्य पुरुष सैनिक वेश में भी सौजन्य की मूर्ति प्रतीत हो रहा था। वह समझ नहीं पा रहा था कि आज इस कलाकार को कैसे समझावे। 'मेरे अन्वेषक पोतों ने समाचार दिया है कि प्रवाल द्वीपों के समीप दस्यु नौकाओं के समूह एकत्र हो रहे है। ये आरण्य मलेच्छ दस्यु कितने नृशंस हैं, यह श्रीमान् से अविदित नहीं है और महाशिल्पी सौराष्ट्र के गौरव-ध्वज हैं। उनकी रक्षा सौराष्ट्र के 'रा' (महाराज) से भी अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। दोनों हाथ जोड़कर मस्तक झुकाया उस शूर ने। नेत्रों में जल आ गया था और उसका प्रशस्त भाल सूचित कर रहा था कि वह केवल आदरणीय के सम्मुख ही झुकना जानता है। दर्प एवं औद्धत्य के लिए वह सदा दुर्दमनीय है।

'मैं सिन्धुवाहिनी के महासेनापति की कठिनाई समझता हूँ।' एक वृद्ध हस्तिदन्त के आसन पर पारसीक सुकोमल आस्तरण पर शान्त बैठे थे। उनका शरीर दुर्बल था। झुर्रियाँ पड़ गयी थीं। मस्तक के साथ श्मश्रु एवं रोमतक श्वेत हो चुके थे। केवल भुजाओं के पुट्ठे सुदृढ़ थे और नेत्रों में एक अद्‌भुत ज्योति थी। अपने श्वेत वस्त्रों में महाशिल्पी सोमकेतु किसी ऋषि के समान प्रतीत हो रहे थे। उनका गौरवर्ण इतना उज्जवल था मानो कला एवं प्रतिभा की हृदयस्थ अधिष्ठात्री का प्रकाश बाहर फूट पड़ा हो। उनके भाल पर न चिन्ता थी और न व्यग्रता। स्थिर शान्त मुद्रा से सम्मुख खड़े जल-सेनापति को वे समझा रहे थे "लेकिन महासेनापति को मेरी विवशता अनुभव करनी चाहिए। मैं भगवान विश्वनाथ के आह्वान की उपेक्षा नहीं कर सकता। किसी भी भय से नहीं। वे महाकाल जो चाहेंगे, वही होगा।' शिल्पी ने हाथ जोड़कर श्रद्धा से मस्तक झुका लिया।

"यदि दो दिन मुझे और दिये जाते ! मैंने युद्धपोतों एवं शतघ्नी सज्जित नौकाओं को आज्ञा दे दी है।" सेनापति के भाल पर स्वेद-कणिकायें झलक उठी थीं। वे अपनी व्यग्रता

एवं चिन्ता छिपा नहीं पा रहे थे। 'भाई सुवीर मुझसे सहमत है।' सेनापति ने पीछे की ओर देखा। उनसे कुछ कम अवस्था का दूसरा तरुण सैनिक पीछे से समीप आ गया।

'महासेनापति ठीक कह रहे हैं और यदि वायु ने बाधा न दी तो हम दो दिन पश्चात् प्रयाण करके भी ठीक समय से पूर्व ही पहुँचेगे।' सुवीर ने एक साथ पूरी बात कह ली और तब महाशिल्पी के मुख की ओर इस प्रकार देखने लगा, जैसे आदेश की प्रतीक्षा हो।

'मैं देखता हूँ कि दोनों राजपूत एक हो गये हैं।' शिल्पी तनिक हँसे। एक क्षण में ही उनके नेत्रों में गम्भीरता आ गयी। उन्होंने कहा, 'महासेनापति मुझे क्षमा करें। प्रभु की सेवा के लिए जाने का निश्चय करके सोमकेतु भय के कारण यात्रा में विलम्ब करे तो कायर होगा। सुधीर, आज उज्जयिनी के राजपूत को प्रथम बार मैं दस्युओं से भीत होते तथा वायु की दया की प्रतीक्षा करते देखता हूँ। तुम यदि कहते कि पोत पूर्णतः प्रस्तुत नहीं है तो भी मैं क्या करता, यह तुम भली प्रकार जानते हो।'

'राजपूत भीरु नहीं होता!' जैसे किसी ने सुप्त सर्प की पूँछ उमेठ दी हो। सुवीर का मुख अरुण हो उठा। उसने घूमकर महासेनापति की ओर देखा- 'मालवा या राजपूत यमराज को चुनौती देना जानता है। अवरोध उठाने का आदेश दें। राजहंस स्थिराधार उठाने जा रहा है।' वह बड़ी तीव्रता से मुड़ पड़ा।

'सुवीर!' सेनापति ने समझाना चाहा।

'नहीं सेनापति' सुवीर ने कहा चलते हुए 'मैं महाशिल्पी को जानता हूँ। 'राजहंस' प्रस्थान करेगा। और वह उस पोत के संचालन कक्ष की ओर चला गया।

'सुवीर ठीक कह रहा है।' शिल्पी ने सेनापति की ओर शान्त दृष्टि से देखते हुए आदेश के स्वर में कहा- 'राजहंस प्रस्थान करेगा। अवरोधक उठाने का आदेश दें और भगवान् महाकाल पर विश्वास करें! जय महाकाल!'

'जय सोमनाथ!' सेनापति ने मस्तक झुकाया और उनकी दृष्टि ऊपर उस ओर उठ गयी, जिधर सुदूर कहीं सौराष्ट्र में भगवान् सोमनाथ विराजते हैं। मस्तक झुकाये ही वे पोत के प्रधान कक्ष से बाहर हुए।

अवरोहणिका उठा ली गयी। अवरोधक हटाये जा चुके थे। महाशिल्पी के उज्ज्वल पीत 'राजहंस' ने अपने स्थिराधार (लंगर) उठाये और वह राजहंस की भाँति समुद्र की लहरों पर धीरे-धीरे बढ़ने लगा।

स्तम्बतीर्थ (खम्भात) का पोतावास कूल एक छोटे से जनसमूह से भरा हुआ था। तट के लोगों ने पोत को उच्च जयनाद से विदा दी 'जय सोमनाथ।' पोत पर से

जयनाद गूँजा। 'जय महाकाल'। पोतावास के अध्यक्ष खिन्न दृष्टि से पोत की ओर देख रहे थे। 'भगवान सोमनाथ मंगल करें !'

'हमने सम्पूर्ण प्रयत्न कर दिया !' सेनापति का स्वर भरा हुआ था। 'अब सौराष्ट्र का महामाणिक भगवान वरुणदेव की शरण में है !' जैसे वह अपार नीलोदधि अपने उत्तुङ्ग ऊर्मिकरों से अभयदान दे रहा हो।

× × ×

आज तो स्तम्बतीर्थ साधारण स्थान हो गया है। उसमें भवन तो हैं; किन्तु शून्यप्राय। व्यवसाय न होने से वहाँ के लोग अन्य नगरों में चले गये हैं। अपने विशाल सौंधों में वे वर्ष में कदाचित ही दो-चार दिनों को आते होंगे। नगर के चारों ओर का परकोटा भग्न हो गया है। उसका अस्त-व्यस्त कंकाल पड़ा है। नगर सूना है और वह व्यवसाय का केन्द्र आखात नदियों की लायी मिट्टी से भर गया है। अब उसमें नौकायें ही आ पाती हैं। आखात तटपर उज्ज्वल लवण की तहें चमकती है और क्षार-कर्दम भरा है। अब वह न वह श्री है, न कोलाहल। मेला उठ जाने पर जैसा तीर्थ हो जाता है, वही दशा है।

स्तम्बतीर्थ में मन्दिरों की बहुलता है; किन्तु अपरिचित को कोई मन्दिर वहाँ नहीं मिलेगा। मन्दिर पर न तो कंगूरे हैं और न कलश। उनका निर्माण साधारण गृहों की भाँति है और उनके द्वार-देश भी किसी के घर जैसे ही जान पड़ते हैं। प्रायः मन्दिरों के द्वार की ओर पुजारी रहते है और मन्दिर घरों के भीतर जान पड़ते हैं। यह इसलिए हुआ कि मलेच्छ दस्यु बार-बार आक्रमण करते थे। उनसे स्तम्बतीर्थ प्रायः आक्रान्त रहता था। यवन दस्यु मन्दिर भंग न कर सकें, इस दृष्टि से मन्दिरों को गुप्त रखा गया।

उन दिनों स्तम्बतीर्थ जलीय व्यापार का केन्द्र था। ढाका का मलमल, उज्जयिनी कला के पात्र, पाट के वस्त्र, काष्ठ की कलापूर्ण पेटिकायें, स्वर्णाभरण प्रभृति यहीं से पश्चिमीय देशों को जाते थे और उधर से पारसी के उज्ज्वल मुक्ता, प्रवाल प्रभृति यही उतरता था। यहाँ का पोतावास सदा जलयानों से पूर्ण रहता है।

नगर के चारों ओर दूर तक अरण्य और अरण्य के पीछे मरुभूमि। यह स्थिति दस्युओं के अनुकूल थी। स्तम्बतीर्थ का वैभव दस्युओं के प्रलोभन का कारण था। वनों में पंक्तिबद्ध सैकड़ों ऊँट लिए दस्यु सहसा आक्रमण करते और लूटपाटकर जंगल में अदृश्य हो जाते। इन स्थल-दस्युओं से भी अधिक आक्रमण आरब्ध जल-दस्युओं के होते थे। ये यवन दस्यु तीव्रगामिनी नौकाओं द्वारा तीर के कानन में कहीं किनारे उतर पड़ते। नौकायें किसी टेढ़े किनारे में छोड़कर नगर पर रात्रि में टूट पड़ते

और लूट तथा हत्या करके पुनः नौकाओं से पलायन कर जाते। समुद्र के छोटे-छोटे प्रवाल द्वीप (मूंगे के टापू) उनके शिविर थे और वे समुद्र में एकांकी आरक्षित पोतों को भी घेरकर लूट लिया करते थे। इन दस्युओं के भय से तीर्थ-यात्री इस तीर्थ में नहीं जाते। तपस्वियों ने इसे छोड़ दिया था। स्कन्द पुराण में इसे 'तपस्विभिर्वर्जितानि' कहा गया है।

उज्जयिनी का वैभव समाप्त हो गया था। शिल्पी सोमकेतु अपनी जन्म-भूमि से स्तम्बतीर्थ में आ बसे थे और सौराष्ट्र ने उस महान् कलाकार का हृदय से सत्कार किया था। नगर में शिल्पी का सदन राजसदन के समान सुरक्षित एवं सुसज्जित था। शिल्पी का निजीपोत 'राजहंस' अर्द्धसैनिक पोत के समान सज्जित रहता और प्रायः पोतावास में खड़ा रहता था।

पोतावास के अध्यक्ष चौंके। उन्हें जलदस्युओं का पता लग चुका था और वे सिन्धु-वाहिनी (जलसेना) के प्रधानसेनापति से सुरक्षा के सम्बन्ध में योजना बना रहे थे। उन्होंने देखा कि 'राजहंस' ने उज्जवल वृषभांकित पताका चढ़ा दी है और इसका अर्थ था कि पोत कोई यात्रा करने जा रहा है। उन्हें यह पता न था कि महाशिल्पी इस समय अपने पोत पर है। वैसे अनेक बार शिल्पी नगर से आकर पोत पर कई दिन निवास कर जाते हैं, इसी से उनका पोत पर होना यात्रा का निमित्त नहीं माना गया था।

'स्वयं महाशिल्पी यात्रा कर रहे हैं!' सूचनाध्यक्ष ने आदेश पाते ही कुछ ही समय में अध्यक्ष को पता लगाकर सूचना दी। 'राजहंस' एक प्रहर के भीतर ही प्रस्थान करेगा। पोत के अध्यक्ष सुवीर संचालन करेंगे। महाशिल्पी मोहमयी (बम्बई) के सम्मुख की किसी सागरस्थ उपत्यका तक जाना चाहते हैं।'

'अवरोधक छोड़ देने का आदेश दो।' सेनापति ने पोतावास का द्वार अवरुद्ध करने की आज्ञा दे दी। पोतावास पर द्वारावरोध एवं आपत्ति-सूचक पताका उड़ने लगी।

'महाशिल्पी हमारे लिये 'रा' के समान ही आदरणीय है।' पोतावास के अध्यक्ष ने सेनापति से कहा- 'हम राजहंस को जाने से बलपूर्वक नहीं रोक सकते।'

'मैंने केवल तात्कालिक व्यवस्था की है।' सेनापति ने समाधान किया। महाशिल्पी का अपमान हम सोच भी नहीं सकते। मैं स्वयं प्रार्थना करूँगा और मुझे आशा है कि वे मेरी कठिनाई को समझकर अनुरोध को स्वीकार करेंगे!'

सेनापति ने देख लिया कि राजहंस के अध्यक्ष सुवीर अवरोहिणीका से उतरने वाले है। अवरोध की सूचना के कारण वे कुछ रूष्ट जान पड़ते हैं। अवोहणिका पर ही सेनापति ने हँसते हुए सुवीर का अभिवादन लिया और उनका हाथ पकड़कर पोत के एक कक्ष में चले गये। अविलम्ब ही दोनों योद्धा कक्ष से निकलकर महाशिल्पी के विश्राम-कक्ष की ओर जा रहे थे। दोनों मौन थे। गम्भीर थे। दोनों की भावभंगी कहती

थी कि वे एकमत हो गये हैं।

'क्यों सुवीर?' यान के कक्ष में सहसा यान के अध्यक्ष को आतुरता पूर्वक आते देखकर शिल्पी अपनी शय्या पर अर्धोत्थित हो गये।

'श्रीमान् क्या कुछ क्षण को बाहर पधारेंगे?' अध्यक्ष के स्वर में व्यग्रता थी। शिल्पी उसी धीर शान्त भाव से उठे। कोमल चरणों में चन्दन-पादुकाएँ आ गयीं। अध्यक्ष के सुपुष्ट कन्धे पर स्नेह से कर रखकर वे कक्ष से बाहर प्रशस्तिका (डक) पर पहुँच गये। अध्यक्ष ने धीरे से उनके हाथों में दूरदर्शक दे दिया और एक ओर संकेत किया।

'वे लगभग बीस नौकाएँ। बड़ी तीव्रता से इधर आ रही है।' दूरदर्शक दृष्टि से हटाते हुए शिल्पी ने इस प्रकार कहा जैसे आने वालों से उसका कोई सम्बन्ध न हो।

'हम तट तक पहुँच सके तो सुरक्षित हो जायँगे।' सुवीर ने कहते हुए संकेत किया। राजहंस ने दिशा बदल दी गति की।

'हम भगवान के आह्वान पर जा रहे हैं ! हमारे लिये स्वेच्छा से एक पद भी पीछे हटना सम्भव नहीं !' शिल्पी ने रोका।

'ये मलेच्छ दस्यु- ये आपके पुण्य संकल्प का कोई आदर न करेंगे। स्थल दस्यु ही उसका आदर करते हैं। ये तो व्यवधान करके प्रसन्न होंगे।'

'हम दस्यु की दया पर नहीं, सर्वेश की करुणा पर विश्वास करते हैं।'' शिल्पी मुस्करा उठे।

'जय महाकाल !' एक क्षण गम्भीरता से सोचकर सुवीरने मस्तक उठाया। उसका खड्ग अपने कोश से बाहर उठे हुए दक्षिण हस्त में चमक रहा था।

'जय महाकाल !' नाविकों के कण्ठ से ध्वनि हुई। अध्यक्ष का संकेत वे समझ चुके थे। पतवार डालकर वे अपनी भुशुण्डियों को सम्हालने लगे।

'बचपन मत करो सुवीर।' शिल्पी ने अध्यक्ष के स्कन्ध को स्नेह से थपकी दी। 'हम भगवान महाकाल के आह्वान पर जा रहे हैं। हमारा एक मात्र कार्य है पूरी शक्ति से उधर ही चलना बाधाविघ्नों की चिन्ता हमें क्यों हो? तुम्हारे इस युद्ध का अर्थ भी क्या है? तुम जानते हो कि दस्यु नौकायें तीव्रगामिनी हैं और दस्यु संख्या में भी अधिक है !'

'लाला राजपूत न संख्या देखता और न साधन !' सुवीर का कण्ठ बज्रघोष कर रहा था। 'एक केशरी शावक सहस्त्रो शृगालों के लिए पर्याप्त है शरीर में प्राण रहते दस्यु राजहंस पर पद नहीं रख सकेंगे !'

'श्लाघ्य है तुम्हारी शूरता।' शिल्पी अनुद्विग्न था। 'किन्तु हम युद्ध करने नहीं चले

हैं। हमें चलना है। तुम नाविकों को मान अग्रसर करने का आदेश दो! शेष सब चुपचाप देखो!' स्वर दृढ़ एवं आदेशपूर्ण था। अध्यक्ष ने मस्तक झुकाया। खड्ग अपने कोश में चला गया। नाविकों ने शस्त्र रख दिये और पतवार सम्हाल ली।

'ओह सोमकेतु! खुदा की मेहरबानी। हम लोग तुम्हें कोई तकलीफ नहीं देगे!' दस्युओं का क्रूर सरदार महाशिल्पी के सम्मुख दैत्य के समान लगता था। उसके रक्तवर्णी श्मश्रु ऐसा जान पड़ते थे जैसे वह सचमुच रक्तपाणि पिशाच के हृदय को व्यक्त करते हों। राजहंस को दस्युनौकाओं ने घेर लिया। दस्युओं ने बहुत कम गोलियाँ चलाई। उनसे कोई आहत नहीं हुआ। पोत से प्रतिकार न होते देख वे समीप आ गये। शिल्पी स्वयं आदेश दे रहा था। दस्युओं के आदेशानुसार अवरोहणिका उतारी गयी। सशस्त्र दस्यु ऊपर आये। पोत के समस्त सैनिक एवं नाविक बन्दी हो गये। दस्यु सरदार बड़ा प्रसन्न था। शिल्पी सोमकेतु की कीर्ति वह सुन चुका था। तुम हमारे बादशाह के लिए हरम खास बना सकोगे और उसके बाद बादशाह तुम्हें आजाद कर देंगे।'

'सोमकेतु केवल भगवान् शशांकशेखर के लिए ही टांकी का स्पर्श करता है।' शिल्पी का स्वर अविकम्प था।

'हम फिर गौर करेंगे!' दस्यु शीघ्रता में थे। उन्हें पोत को लूटना था और खुले समुद्र से यथा सम्भव शीघ्र भाग जाना था। उन्होंने पोत के समस्त लोगों को पोत के एक कक्ष में बन्द कर दिया। दो दस्यु द्वार पर नियुक्त हो गये और बाकी लूटपाट में लगे।

'सोमकेतू, तुम मेरे हमराह आओ! लगभग दो घड़ी पश्चात् द्वार खुला और दस्युपति कक्ष में आया। उसके साथ केवल एक अङ्ग रक्षक था। वह बहुत चंचल जान पड़ता था।

'मैं अपने साथियों को छोड़कर कहीं नहीं जाऊँगा!' शिल्पी अपने स्थान पर शान्त बैठा रहा।

'तुम नाहक जान देते हो। दरिया में तूफान है। तुम देखते हो कि यह पोत कितना हिल रहा है।' दस्युपति स्वर को यथा सम्भव मधुर करके बोला 'हम तुम्हारी इज्जत करेंगे। तुम्हें दौलत देंगें और तुम अपने मुल्क को लौटने के लिए आजाद कर दिये जाओगे।'

'मैं बालक नहीं हूँ!' शिल्पी हँसा 'तुम मुझे लोभ नहीं दे सकते!' वह किस प्रकार बैठ गया जैसे दस्युपति से आगे बोलना भी उसे अपमानकारक लगता हो।

'मैं मजदूर हूँ। इन सब काफिरों के साथ तुम भी जहन्नुम जाओ!' क्रोध से ओष्ठ

काटता वह लौट पड़ा। द्वार बन्द हो गया।

दस्युओं ने देख लिया था कि वायु का वेग बढ़ता जा रहा है। समुद्र अपनी उत्तुंग लहरों से प्रलंयकर स्वरूप धारण करता जा रहा है। छोटी नौकायें और अधिक देर यहाँ रूकीं तो उन्हें जल समाधि लेनी होगी। एक-एक क्षण मूल्यवान हो गया था। इतने बड़े पोत को साथ ले जाना शीघ्रतापूर्वक सम्भव नहीं था। उसे छोड़ देने से भय था कि वह पीछा करे। अतः पोत को डुबोकर भाग जाने का उन्हें निश्चय करना पड़ा। दस्युपति क्रो अपनी भूल पर पश्चाताप हुआ जो शिल्पी को सबके साथ बन्दी करके उसने की थी। अब इतना अवसर नहीं था कि बलात् शिल्पी को लाया जा सके। इसमें संघर्ष अनिवार्य था और अब एक-एक क्षण मूल्यवान था। पोत की तली से एक काष्ठ हटाकर दस्युओं ने अपनी नौकायें दौड़ा दी। पोत की समस्त सामग्री वे लूट चुके थे।

'सुवीर; बाहर कोई गति नहीं जान पड़ती!' शिल्पी ने कहा 'क्या द्वार टूट सकेगा?' अविलम्ब कक्ष द्वार पर प्रहार होने लगे। वह टूट गया। सबने बाहर आकर देखा कि दस्यु नौकाओं का पता नहीं है। समुद्र में प्रचण्ड तूफान है। सुवीर ने शीघ्रतापूर्वक पोत का निरीक्षण प्रारम्भ किया। तलदेश आधा जलसे पूर्ण हो चुका था। इतने पर भी सन्तोष की बात थी कि जल अब बढ़ नहीं रहा था! जल निकालने की अपेक्षा इस पर अन्धड़ में पोत ले चलना अधिक श्रेष्ठ था। नाविकों ने पतवारें सम्हाल लीं।

× × ×

'महाशिल्पी...। महाराज कहते-कहते स्वयं ही रुक गये। तीर पर दूर दर्शक लिए अप्रमत्त निरीक्षक प्रातः से ही नियुक्त थे और अब तक महाशिल्पी के पोत का कही पता नहीं था। जो भी चर आते थे, वे नकारात्मक सूचना ही देते थे। महाराज ने आगत चर की मुद्रा से ही समझ लिया कि वह भी वही 'पता नहीं' कहेगा।

'मुहूर्त के समय को केवल एक मुहूर्त और अवशेष है।' आचार्य ने खिन्नता पूर्वक बताया। वे बार-बार जल-घटिका यन्त्र की ओर देख रहे थे।

'महाशिल्पी को साधारणतः कल आ जाना चाहिए था। उन्होंने मेरा अनुरोध स्वीकार कर लिया था और अब तक स्वीकार करके अनुपस्थित होने का प्रमाद उन्हें स्पर्श नहीं कर सका है।' महाराज का मन अनेक आशंकाओं से आक्रान्त था।

'नियति के अज्ञात करों की क्रीड़ा कौन समझ सकता है।' आचार्य जैसे अपने आपसे कह रहे हों। वास्तु पूजन एवं नवग्रह पूजन तो हो चुका था कभी का। भगवान गणनाथ ने कार्य निर्विघ्नता के लिए अग्रिम पूजा प्राप्त कर ली थी। कर्मान्त तक के

लिए स्थापित प्रदीप निष्कम्प था। यज्ञकुण्ड में हव्यवाह उर्ध्वमुख प्रज्वलित होकर आहुतियाँ स्वीकार कर रहे थे। ऐसी दशा में यह महाविघ्न क्यों उपस्थित हो रहा है, यह समझना आचार्य के लिए अत्यन्त कठिन था।

'मुहूर्त तो महाशिल्पी के करों से ही होगा।' महाराज ने अपना निश्चय प्रकट कर दिया। आप यज्ञ को पूर्ण कर लें। यदि पूर्णाहुति तक भी वे न पधारे तो हम सागर में अवभृत स्नान कर लेंगे।' मन्त्रोच्चारण हो रहा था। आहुतियाँ पड़ रही थीं। सुगन्धित धूम्र अनन्त में कुण्डलियाँ भी बना रहा था। शङ्ख तथा विजय-घण्ट भी ध्वनित होते थे, पर जैसे इतने पर भी वह स्थान जनहीन हो। निस्पन्द उदासीनता सबको आत्मसात किये व्याप्त थी।

'आप पूर्णाहुति दें!' समय हो गया। आचार्य ने महाराज के करों में घृतारक्त नारिकेल दिया और स्वयं होता ने हव्यवाह में घृतकी धारा छोड़नी प्रारम्भ की। नारिकेल की आहुति देकर सबने भूमि पर मस्तक रखा।

'जय महाकाल!' एक क्षीण कण्ठ ध्वनि के साथ कुछ पुष्ट पर श्रान्त कण्ठध्वनियों ने प्रतिध्वनि-सी की। जैसे साक्षात् यज्ञ पुरुष कह उठे हों 'वरं ब्रूहि' महाराज में जैसे नवीन प्राण आ गये हों। वे सहसा उठे। समुद्र के क्षार जल से आपाद मस्तक आर्द्रशिल्पी भूमि में रखे यज्ञदेव को अभिवादन कर रहे थे और उनके पीछे वैसे ही आर्द्र व्यक्ति थे। झपटकर महाराज ने शिल्पी को उठाकर कण्ठ से लगा लिया। यज्ञपरिषद में जैसे जीवन का संचार हो गया हो।

'सुवीर कहते हैं कि दस्यु पोत से एक काष्ठ हटा गये थे। जल के साथ कोई महामीन पोत तल में प्रविष्ट हो गया किसी प्रकार और उसके शरीर से छिद्र अवरुद्ध हो गया। जब पोत उथले तट में प्रविष्ट हुआ तो मीनराज को जल का घनत्व कम अनुभव हुआ और वे बाहर निकल गये। हमारा पोत डूब गया।' महाशिल्पी ने मार्गवृत सुनाते हुए बताया। 'मेरा विश्वास है कि स्वयं महाकाल के इंगित से तब तक वरुण पोत में नहीं पधारे जब तक पोत इस स्थिति में न आ गया, जहाँ से संतरण करके हम तट तक पहुँच सकते।'

× × ×

लोग उस कलापूर्ण मन्दिर को एलिफेन्टा कहते हैं। सम्पूर्ण पर्वत को काटकर मूर्तियाँ, स्तम्भ, तोरण, द्वार, प्रकोष्ठ, प्रांगण सब एक ही पर्वत में बने हैं। न कहीं कोड़ हैं और न प्रमाद या उपेक्षा। महाशिल्पी की निष्ठा काल के ऊपर भी विजयिना होकर आसीन है वहाँ इस देश में।

महाराज का नाम हम भूल गये। विश्व न तो उन्हें जानता और न जानने की इच्छा

करता, किन्तु महाशिल्पी सोमकेतु अमर हैं। अमर है उनकी कीर्ति। उस अपार जल-राशि में स्थित उपत्यका के तटों पर अपने विशालतरंग करों से ताल देते वरुण देव निरन्तर महाशिल्पी का जयघोष किया करते हैं।

मोहमयी (बम्बई) से कुछ दूर समुद्र में अनेक पहाड़ियाँ है। एक उनमें से ही पहाड़ी पर सोमकेतु की अमर शिल्पकला प्रतिष्ठित है। सुविशाल प्रांगण और विस्तृत सभाभवन। भवन के सम्पूर्ण स्तम्भ में भगवान् शंकर की मूर्तियाँ हैं। खूब सघन कला व्यक्त हुई है और महाशिल्पी ने उस क्षारोदधि के मध्य में मन्दिर प्रांगण में सुमधुर निर्मल जल की वापी पता नहीं कैसे स्थित की है।

असुर उपासक

वत्स, आज हम अपने एक अद्‌भुत भक्त का साक्षात्कार करेंगे।' श्री विदेह-नन्दिनी का जब से किसी कौणप ने अपहरण किया, प्रभु प्रायः विक्षिप्त-सी अवस्था का नाट्य करते रहे हैं। उनके कमलदलायत लोचनों से मुक्ता की झड़ी विराम करना जानती ही नहीं थी। आज कई दिनों पर- ऐसे कई दिनों पर जो सौमित्र के लिए कल्प से भी बड़े प्रतीत हुए थे, प्रभु प्रकृतस्थ होकर बोल रहे थे 'सावधान, तुम बहुत शीघ्र उत्तेजित हो उठते हो! कहीं कोई अनर्थ न कर बैठना! शान्त रहना! प्रत्येक परिस्थिति में शान्त!'

'कौन है वह भाग्यशाली? किस महाभावुक के भाव ने श्री मैथिली के वियोग पर भी विजय प्राप्त की है?' लक्ष्मण तनिक पास खिसक आये थे। आज्ञा तो उन्होंने चुपचाप मस्तक झुकाकर सुन ली; पर उनके हृदय में खलबली हो उठी 'मैं किसी भावुक के सम्मुख क्यों उत्तेजित होने लगा। यह 'प्रत्येक परिस्थिति' क्या है? लक्षण तो अच्छे नहीं जान पड़ते।'

बीहड़ पथ, सघन बनावली, दोनों ओर कटीली लतायें, बड़े-बड़े पत्थर पथ में कहीं-कहीं नाले पड़ते थे और कहीं कठिन चढ़ाई या सीधी ढाल पर उतरना था। किसलय कोमल श्री चरण-रामा-नुज की दृष्टि उन लाल-लाल चरणों पर ही लगी थी। प्रत्येक पद पर उनका हृदय दहल उठता था। ठोकर न लगे! कोई कंटक या कुश चुभ न जाय!' वे चरण चिह्नों को बचाकर पैर रखते थे और नाले या चढ़ाई में आगे हो जाते थे।

सम्भवतः धरित्री को अपने स्वामी के चरणों की कोमलता का ध्यान था। पथ के दोनों ओर के पारिजात पादपों ने पथ पर अपने कुसुमों का पांवड़ा बिछा दिया था। आकाश में धुनी रुई के समान हल्के-हल्के श्वेत बादल पंख फैलाये थे। भगवान् भास्कर अपने कुल भास्कर के अतुल ऐश्वर्य को देख उनके पीछे से ही मन्द-मन्द हास्य कर रहे थे।

श्री राघव किसी निश्चित गन्तव्य पर पहुँचने को शीघ्रता में थे। चरणों की गति

चंचल हो उठी थी। नीला मुख-मण्डल स्वेद कणों को लेकर ओस बिन्दुओं से युक्त इन्दीवर की श्रीका उपहास करने लगा था। वल्कल बारम्बार स्कन्ध से खिसक जाता और वामकर उसे स्थान पर प्रतिष्ठित कर देता। मलय मारुत ने पुष्प पराग से जटा जाल को पीताम कर दिया था और कण्ठमाल्य के सुमन द्विगुणित परागपूरित हो जाते थे।

'प्रभु परिश्रान्त हो गये हैं।' वृक्षों पर बैठे विहंग मार्ग के दोनों ओर शान्त खड़ी मृग माला फल-भार से प्रणाम करते से अवनत पादय, मानो सभी नेत्रों में आपार आग्रह भरकर कहते हों- 'दो क्षण विराम कर लें!'

प्रभु का ध्यान कहीं और ही था। नहीं देखा उन्होंने यशोगान करती भृङ्गावली की ओर, दृष्टि नहीं गयी सूण्ड में पुष्पित डाल लेकर चंवर करते वनगजों के यूथ-पति पर और ध्यान नहीं दिया नेत्र मटकाते, हाथों में सुपक्व फल लेकर प्रदान को समुत्सुक चंचल कपिसमूह-पर। संकेत से ही सौमित्र ने सबको सत्कारपूर्वक वारित कर दिया।

'तीन वर्ष- आज पूरे तीन वर्ष से वह महाप्राण मेरी प्रतीक्षा कर रहा है।' प्रभू ने जैसे अपने आपसे ही कहा हो- 'न प्यास, न भूख, न स्नान, न शयन, वह कहीं हटता भी नहीं। उसे अपने शरीर में लगे दीमक को छुड़ाने तक का अवकाश नहीं। कहीं ध्यान हटे और मैं आगे निकल जाऊँ इसी चिन्ता ने उसे योगिराज बना दिया है। अपलक देखता रहा पथ की ओर।'

कई बार मन में आया कि उस महाभाग का परिचय पूछा जावे। प्रभु किसी के चिन्तन में निमग्न थे। उचित नहीं समझा सौमित्र ने स्वामी का रूख पाये बिना उनसे कुछ पूछना। पूछने का अवसर नहीं था। अन्तर के कुतूहल को उन्होंने शान्त कर दिया 'अभी आज ही तो उसका साक्षात होना है।' दिन ढल चुका था और निश्चित था कि आज अमावस्या की रात्रि में प्रभु आगे नहीं चलेंगे।

× × ×

'वह बड़ा दुष्ट है।' एक कज्जलवर्ण, अरुण नेत्र, रूक्ष गैरिक केश, पर्वताकाय अपने शाल जैसे बड़े हाथों में पूरा पहाड़ उठाये खड़ा था मार्ग में उसने एक ओर से सभी राक्षसों को मार डालने का निश्चय किया है। खूब ठोस है यह पर्वत!' उलट-पुलट कर उसने पर्वत को इस प्रकार देखा जैसे हम आप ईंट को देख लेते है।

'उसके बाण तीक्ष्ण हो सकते हैं।' उसने अट्टहास किया 'इस पर्वत में दरारें नहीं पड़ सकतीं। इसे टुकड़ों में नहीं उड़ाया जा सकता। तिल-तिल काटने पर ही कटेगा यह। इतने में तो सिर पर गिर पड़ेगा। पूरे बल से फेंकूँगा मैं!' उसने कन्दुक की भाँति पर्वत को उछाला और झेल लिया।

'उहूँ, यह चिकना है।' एक ओर उपेक्षा से रख दिया उसे 'तब शाल्मली ठीक रहेगा। उसमें एक-एक अंगुली से भी कम दूरी पर कांटे होते हैं। सब कांटे होते हैं। सब कँाटे चुभ जाएँगे। सारा रक्त बह जायेगा।' खूब हा, हा करके हँसता रहा वह कितनी देर।

'कष्ट ही तो है।' शाल्मली का वृक्ष भी फेंक दिया उसने।' बाण लगे तो टुकड़े-टुकड़े हो जायगा। कन्टकित मुग्दर उपयुक्त अस्त्र है।' मुग्दर लेने दौड़ गया वह खरदूषण के पास। कुल में एक मुहूर्त बीता और वह लौट भी आया। ढेरों अस्त्र-शस्त्र लाया था अपने साथ।

अनेक प्रकार के वृक्ष, छोटे बड़े गिरि शिखर, भयंकर पशुओं की अस्थियाँ, विषैली चट्टानें, हथियारों का पूरा बाजार। इस प्रकार दक्षिण पथ उसने अवरुद्ध कर दिया था। अपने चारों ओर इन सबका ढ़ेर लगाकर वह स्वयं मार्ग में खड़ा था।

'श्रीराम दूसरे पथ से भी जा सकते हैं।' कल्पना तक नहीं उठी उसके मन में। वह उनका इधर होकर आना वैसे ही निश्चित माने बैठा था, जैसे पूर्व में सूर्योदय। प्रातः से प्रातः वह प्रतीक्षा करता था राघव की ओर अपने आघात साधनों की समालोचना।

'बहुत बड़ा होगा वह। सम्भवतः इस पहाड़ से भी बड़ा!' उसके सम्मुख श्रीराम की अनेक कल्पित मूर्तियाँ आया करती थीं 'उहँ, होने दो! मैं आकाश में उड़ जाऊँगा और उसके मस्तक पर पहाड़ पटक दूँगा।'

'बहुत मोटा हो सकता है। हाथी से पचास या सौ गुना मोटा।' दूसरी मूर्ति सम्मुख आयी 'पहाड़ क्या करेगा उसका। उसके मोटे शरीर पर एक कंकड़ जैसा लगा तो। मैं मुदगर से मारूँगा। शिला की भाँति पड़ाक से जायगा।'

'बहुत कड़ा होगा उसका शरीर। वज्र जैसा कड़ा।' यह मूर्ति अत्यन्त भयंकर थी। 'मुदगर तो खटसे टूट जायेगा। विषैली शिला ठीक रहेगी। तनिक भी रक्त आया नहीं कि विष प्रविष्ट हो जायगा। खरोंच भी आ गयी तो बेड़ा पार।'

'बाण-विद्या में अत्यन्त कुशल होगा। मेघनाद से भी कुशल।' उसका आदर्श रावण पुत्र ही हो सकता था। 'मेरी शिला को बाणों से मध्य ही में रेत बनाकर उड़ा देगा।' कल्पना ठप्प हो जाती।

'क्या आवश्यक है कि वह बड़ा मोटा और कठोर ही हो।' मन पराजय मानना नहीं जानता। वह दूसरी प्रकार से तर्क करता 'मानव ही तो है, कुशल धनुर्धर होगा। हो सकता है कि अच्छा मल्ल भी हो। नहीं- मल्ल तो नहीं हो सकता। राजकुमार है और सो भी अयोध्या का। अयोध्या में कभी मल्ल-नरेश नहीं सुना है। अवश्य बाण विद्या में कुशल होगा, होने दो! दोनों हाथों में पकड़कर मसल दूँगा।' अपनी हथेलियाँ परस्पर मसल लेता है वह।

अन्ततः उसने श्री राम की एक मूर्ति मन में गढ़ ली। उसके साथ बराबर वह हृदय में युद्ध करता, उसे मसलता और नष्ट करता। बड़ी विचित्र थी वह मूर्ति- बार-बार नष्ट करने पर भी जीवित रहती थी 'कहीं राम भी तो ऐसा ही मायावी नहीं है?' चौक उठता था कभी-कभी स्वयं।

× × ×

'कौन हो तुम?' नवदूर्वादल श्यामल जटा मुकुटधारी, वल्कल पहने, कन्धे पर धनुष लिए, पीठ पर तूण कसे, एक अद्‌भुत मानव सामने आ गया। उसके पीछे उसका समानवेशीय एक स्वर्णगौर और भी था। एकदम सामने आकर खड़े होने पर उसका ध्यान भंग हुआ था। 'भाग जाओ!' राक्षस किसी दूसरे से उलझना नहीं चाहता था।

'जिसकी तुम प्रतीक्षा कर रहे हो!' मेघगम्भीर वाणी में मंद हास्य था मैं दाशरथि राम हूँ।' वे स्थिर खड़े रहे।

रामानुज इस राक्षस को देखकर ही चौके थे। उनके मन में आया था 'एक बाण चढ़ाकर झगड़ा समाप्त कर दे।' उस समय उन्हें बड़ा क्रोध आया जब राक्षस प्रभु का तिरस्कार करके अट्टहास करने लगा। करें क्या? आज्ञा नहीं थी।

'तुम्हीं राम हो?' भरपेट हँसकर उसने पूछा- 'नहीं राम तो बड़ा पुष्ट है। बड़ा बलवान है। बड़ा कुशल धनुर्धर है। तुम छुई से कोमल, मेरी छोटी उँगली से पतले-दुबले मेरे घुटने से भी छोटे! तुम राम नहीं हो सकते। मुझे चिढ़ाओ मत! अपना रास्ता लो।'

'राम के मन को कभी असत्य अस्पर्श नहीं करता!' उसके हास्य पर प्रभु भी मुस्करा रहे थे- 'तुम्हें धोखा नहीं हुआ है दुर्दम्य।'

'ओह! तब तुम्हीं राम हो!' उसके स्वर में निश्चय के साथ आश्चर्य भी था। 'तुम मुझे पहिचानते भी हो।' घूमकर एक विषैली शिला उठाई उसने।

रामानुज का दक्षिण कर धनुष पर पहुँच गया। प्रभु ने पीछे देखा और संकेत से भाई को वारित कर दिया। विवशता हाथ हट गया किन्तु अधर फड़कते रहे। नेत्रों में अरूणिमा आ गई थी- 'यदि इसने आघात किया प्रभु पर' वे निश्चय पर पहुँच गये- 'भाड़ में जाय मर्यादा! मेरे सहस्त्र फण आधे क्षण में प्रकट हो जायँगे। मैं शिला के साथ इसे निगल लूँगा!' जगदाधार क्या नहीं कर सकते?'

'मैं तुम्हें पीसकर रख दूँगा!' चिल्लाया वह- 'पर तुम डरते क्यों नहीं? तुम तो धनुष कन्धे पर से भी नहीं उतारते हो! इस प्रकार हंस क्यों रहे हो? तुम्हें भय नहीं

लगता?' उसका दाहिना हाथ शिला उठाये था। विस्मय ने उसे स्तब्ध कर दिया था।

'मैं सज्जनों के भय को दूर करता हूँ और दुष्टों को भय देता हूँ।' प्रभु की वाणी तनिक गम्भीर थी– 'मुझे भय की छाया भी कभी नहीं छूती।

'इन्द्र महा डरपोक है। विष्णु भी हिरण्य-कशिपु के डर से भागा-भागा फिरा था। शिव को भस्मासुर ने भीत कर दिया था और बूढ़े ब्रह्मा को त्रिशूल लेकर। शिव से रावण डरता है, नहीं तो समुद्र में राजधानी न बनाता। मेघनाद भी डरता है मैं उसकी अमोघ शक्ति छीनने झपटा तो गिड़गिड़ाने लगा। मैं भी डरता हूँ मृत्यु से मुझे भी भय लगता है।' वह बोलता जा रहा था– 'तुम डरते नहीं! सचमुच तुम डरते नहीं! तब तुम ब्रह्मादि से, रावण से, मेघनाद से, मुझसे-मुझसे भी बड़े हो!' राक्षस अपने को सर्वश्रेष्ठ मानेगा ही।

प्रभु शान्त खड़े थे। उनका मन्द हास्य आनन्द की वृष्टि कर रहा था। रामानुज विस्मित थे। असुर का हृदय द्वेष-वश सदा – 'श्री राम, राम' की ही अब तक रट लगाये रहा था शुद्ध तो वह हो ही चुका था साक्षात्कार ने आसुरी भाव के आवरण पर आघात किया। वह चूर-चूर हो गया।

'तुम बड़े हो– मुझसे भी बड़े हो! ऊपर से नीचे तक देखा उसने श्री विग्रह को। शिला कब हाथ से छूटकर पीछे गिर पड़ी, उसे पता भी न लगा– 'तुम बहुत सुन्दर हो। बड़े अच्छे हो, बड़े अच्छे हो तुम! वह वहीं मार्ग में बैठ गया।

'वर माँग लो!' प्रभू ने सम्पूर्ण गम्भीरता से कहा– 'मैं तुम पर प्रसन्न हूँ। तुम जो माँगो मिलेगा! रामानुज को यह उदारता अच्छी नहीं लगी।

'तुम दे सकते हो! तुम सबसे बड़े जो हो!' राक्षस के स्वर में तनिक भी अविश्वास नहीं था– 'मुझे वट-पीपल कुछ भी नहीं चाहिए! इच्छा करते ही ब्रह्मा, विष्णु या शिव को मैं पहाड़ की गुफा में बन्द कर सकता हूँ। मुझे उनके स्थान के साथ उनके काम का बखेड़ा नहीं लेना है। रावण मेरी दया से लंका में बना है। क्या दोगे तुम मुझे?' वह विरोचन का दौहित्र अपने सम्बन्ध में अतिश्योक्ति नहीं कर रहा था। वह स्रष्टा की सृष्टि एवं शिव तथा ब्रह्मा से अवध्यता का वरदान प्राप्त कर चुका था। विष्णु ने उसके पितामह के पिता प्रह्लाद को आश्वस्त ही कर दिया था– 'मैं तुम्हारे वंशजों का वध नहीं करूँगा!'

सौमित्र-जगद्गुरु सौमित असुर की निरपेक्षता से द्रवित हो गये। अधिकारी का अनादर उनके पावन पदों में कभी हुआ नहीं है। भरे दृगों से उन्होंने अग्रज की ओर देखा। प्रभु का ध्यान उधर नहीं था। वे भक्तवत्सल भावक्रीत हो चुके थे अनुरोध के पूर्व ही।

'तुम बड़े सुकुमार हो!' वह श्रीचरणों के समीप बैठ गया– 'वन में काँटे, कंकड़,

साँप-बिच्छू, नदी-नाले, शेर-व्याघ्र, पता नहीं कितनी आपत्तियाँ हैं। लू तुम्हें तपा देगी और वर्षा भिगो देगी। पता नहीं कितने राक्षस मेरे भाँति वृक्ष-पर्वत एकत्र किये तुम्हें मारने बैठे होंगे। मैं खूब मधुर फल ला दिया करूँगा। शशक तथा कोमल माँसवाले मृग शावक भी। यहाँ पर्याप्त मधु छत्ते हैं। निकट ही शीतल झरने के समीप तुम निवास करो। बड़ी सुन्दर गुफा है।'

'हम रुकना तो चाहते नहीं' प्रभु ने समझाया 'तुम्हें साथ ले चलना भी उचित प्रतीत नहीं होता।'

तुम रूकना नहीं चाहते? तुम्हारी इच्छा नहीं है?' असुर का स्वर शान्त था- 'मैं रोकूँगा नहीं? साथ चलने का आग्रह भी नहीं करूँगा। तुम्हारी इच्छा में बाधा डालकर तुम्हें कष्ट न दूँगा। तुम जाओ। बड़े अच्छे हो तुम। मैं तुम्हें ही सोचता रहूँगा।' नेत्र बन्द कर लिए उसने।

प्रभु के नेत्र भी क्षण भर को बन्द हुये। दो बिन्दु उस राक्षस के मस्तक पर गिरे। अनुज के मुख की ओर देखा उन्होंने और आगे चल पड़े।

'उसकी धारणा ध्यान में परिपक्व हो गयी और अनवच्छिन्न ध्यान समाधि में।' अनुज को अग्रज समझा रहे थे। अपने अनुराग में वह पूर्ण हो गया। उसके शरीर- स्थूल सूक्ष्म और कारण शरीर, कब तक प्रकृति चला सकेगी इसे। वह तटस्थ हो गया सर्वदा को। यह भौतिक सम्भाल केवल दस दिन का है। वह उत्थित होने को नहीं बैठा है। शरीरादि बिखर जायेंगे और अब वह साकेत में ही उत्थित होगा।'

'प्रभु अनधिकारी को भी देते हैं' रामानुज को यह अच्छा नहीं लगा था कि उस महानुभाव के सम्मुख प्रभु यों ही चले- 'वह कुछ नहीं लेता था तो भक्ति का वरदान तो देना ही था।'

'वत्स, भिखारी है राघव!' प्रभु प्रेम-विभोर होकर मार्ग में ही खड़े हो गये 'उस प्रेमात्मा से वह स्वयं भी प्रेम प्राप्त करता है। क्या देगा वह उसे?' श्री विग्रह रोमांचित हो आया था और नयनाम्बु पृथ्वी की रजको पावन तर करते जाते थे।

'कितना निरपेक्ष निकला वह असुर भी!' सौमित्र भी भाव-प्रवाह में प्रवाहित हो चुके थे- 'समीपता का आग्रह भी तो नहीं किया उसने।

'अनुराग निरपेक्ष ही होता है।' प्रभु ने समझाया- 'तुम अपने ही को ले लो। क्या सुख, कौन-सी अपेक्षा है तुम्हें अवध का ऐश्वर्य छोड़कर मेरे साथ वन-वन भटकने में। आवेग रुका नहीं। दोनों भुजाओं से उस प्रेमघन ने भाई को समेट लिया।

अपनी चर्चा आते ही रामानुज संकुचित हो गये थे। मस्तक झुक गया था। नेत्र

पृथ्वी में लगे थे और हृदय कह रहा था– प्रभु यह कभी–कभी असंगत प्रसंग ले बैठते हैं। किस गिनती में हूँ मैं।'

'प्रेम की कोई अपेक्षा नहीं हुआ करती। भक्ति का न कोई साधन है और न साध्य। वह स्वयं साधन है और साध्य भी। अपने आप में 'परिपूर्ण' प्रभु का स्वर गम्भीर हो गया था– 'ब्रह्मा–पुत्र सनकादि एवं देवर्षि नारद का मत है कि वह (भक्ति) स्वयं फलस्वरूपता ही है।'

सेवा का प्रभाव

'या खुदा, अब तो आगे को रास्ता भी नहीं है।' सवार घोड़े से कूद पड़ा। प्यास के मारे कण्ठ सूख रहा था। गौर मुख भी अरुण हो गया था। पसीनें की बूँदें नहीं थीं, प्रवाह था। उसके जरी के रेशमी वस्त्र गीले हो गये थे। ज्येष्ठ की प्रचण्ड दोपहरी में जरी एवं आभूषणों की चमक नेत्रों में चकाचौंध उत्पन्न कर रही थी। वे उष्ण हो गये थे और कष्ट दे रहे थे। भाला उसने पेड़ में टिकाया, तरकश एवं म्यान खोल दी। कवच जलने लगा था और उसे उतार देना आवश्यक हो गया था। केवल कुर्ता रहने दिया उसने शरीर पर। मुकुट भी संतप्त हो चुका था।

'पानी कहाँ मिले?' व्याकुल होकर इधर-उधर देखने लगा। वन सघन हो गया था। घोड़े पर चढ़कर आगे जाने को मार्ग था नहीं। कहीं भी पानी के लक्षण दिखाई नहीं पड़े। 'यहाँ बैठने को ठिकाने की छाया भी तो नहीं।' वह खैर के वन में भटक चुका था। काँटों से भरी डालियाँ भूमि तक झुकी हुई थीं। सूखकर गिरी टहनियों ने पृथ्वी को बैठने योग्य भी नहीं रखा था। वहाँ फल या जल की चर्चा ही व्यर्थ थी।

'एक पेड़ तो दिखाई पड़ा।' दूर पर अर्जुन के विशाल वृक्ष को देखकर उसने लम्बी साँस खींची। किसी प्रकार तलवार से टहनियाँ काटता वह उसकी ओर बढ़ चला। जिधर से आया था, लौट सकता था, एक मृग के पीछे बेतहाशा भागा आया था। पगडण्डी भूल सकती है। ठीक लौट भी सके तो व्यर्थ। बहुत दूर निकल आया है वह। अब उतनी दूर नहीं लौट सकेगा, बड़ी तीव्रता से प्यास लगी है। घोड़ा पसीने-पसीने हो गया है। जोर से हाँफ रहा है और मुख से फेन निकल रहा है। जहाँ तक स्मरण है, मार्ग में कोई बस्ती भी तो नहीं पड़ी। न एक झोपड़ी और न नन्हा गड्ढा ही।

वृक्ष के समीप पहुँचकर बड़ा निराश हुआ। कटीली झाड़ियों ने तने तक उसे घेर रखा था। 'पता नहीं कौन-सा अपराध किया है कि बैठने की छाया तक नसीब नहीं।' मार्ग की झाड़ियों को छाँटने में छाले पड़ गये हाथ में। उसका सुकुमार शरीर सूचित कर रहा था कि उसे कभी कोई परिश्रम नहीं करना पड़ा।

'अब क्या हो?' निराश हो गया वह जीवन से ही। हो सकता है, आस-पास कोई तालाब या झरना हो।' उसने वृक्ष की ओर देखा। कवच, धनुष, भाला, ढाल, तरकश, मुकुट तथा आभूषण वह पहिले ही छोड़ आया था। तलवार भूमि पर रख दी। जरी के कामदार जूते उतार दिये और पेड़ पर चढ़ने लगा। दूर जहाँ तक चढ़ना सम्भव था, चढ़ गया वह।

'कहीं कोई झरना नहीं।' चारों ओर बड़े गौर से देख रहा था वह। 'हो भी तो इन कंटीली झाड़ियों के भीतर कहीं छिपा होगा। पानी का कहीं नामोनिशान नहीं मिल रहा है।' बड़ा दुःखी हो गया।

'वहाँ क्या है?' थोड़ी दूर पर वह अधिक सघन, कुछ ऊँचा, हरा झुरमुट दिखाई पड़ा। ध्यान से देखने लगा वह उसी ओर।' वह खैर का कुञ्ज नहीं हो सकता। नीम, आम, शीशम या ऐसा ही कुछ। कई पेड़ हैं और वह बीच में सूखा-सूखा सा क्या झलक रहा है? किसी झोपड़ी का छप्पर तो नहीं?'

कुछ भी निश्चय न कर सका। दूरी के कारण कुछ स्पष्ट नहीं हो रहा था। पेड़ वहाँ सघन थे। अन्ततः उतर आया वह- यदि झोपड़ी हुई- मनुष्य होगा। मनुष्य हो तो जल भी होगा ही। कुछ न हुआ तो? मर तो रहा ही हूँ पानी बिना। यहाँ न सही वहाँ।' उतर आया वह वृक्ष से नीचे। जूते पैर में डाले, तलवार उठाई, घोड़े की बाग पकड़ी और वहीं झाड़ियाँ छाँटकर मार्ग बनाने में लग गया।

× × ×

'सब लोग आज अलग-अलग शिकार करेंगे।' शाहजादा सलीम पूरे दल-बल के साथ बघेलखण्ड की सीमा पर पड़े है। बंगाल के विद्रोह का दमन करके लौटते समय प्रयाग से वे जंगल की ओर मुड़ गये। शिकार का बड़ा शौक जो था उनको। शाही खेमे के चारों ओर फौजी खेमे खड़े हो गये। हाथी और घोड़ों की कतारें लग गयीं। तन्दूर जलने लगे। एक दिन सबेरे शिकार के लिए निकलने पर घोड़े पर बैठे शहजादा ने अपने साथी सेनापतियों को आदेश दिया।

यहाँ चीते और तेंदुओं की भरमार है।' सेनापति बहरामखाँ ने बताया 'बड़े भयंकर रीछ और बाघ भी हैं। शाहजादा का अकेला ही जंगल में जाना ठीक न होगा।'

'मैं डरपोक नहीं हूँ!' शहजादे ने अपमान का अनुभव किया। उसकी त्यौरियाँ चढ़ आयी- 'मैं दिखा दूँगा कि मैं किसी से भी अच्छा शिकारी हूँ। घोड़े को थाप दी उसने। सधा जानवर खुशी से हिनहिना उठा।

'मेरा मतलब ऐसा नहीं था।' बहरामखाँ ने मस्तक झुकाकर बड़ी नम्रता से अर्ज

की। 'मैं शहजादे की बहादुरी में यकीन करता हूँ और उनकी शान के खिलाफ एक लफ्ज भी जबान से निकालने की हिम्मत नहीं कर सकता। मैं सिर्फ यह कहना चाहता था कि इधर का जंगल बीहड़ है। दोनों तरकशों के तीरों से ज्यादा भी जरूरी हो सकते है और हजूर जंगल के रास्तों से वाकिफ भी नहीं हैं। महज खादिम को साथ रहने की इजाजत....।'

'कोई जरूरत नहीं।' शाहजादा तो शाहजादा ही ठहरा। प्रधान सेनापति से यो भी चिढ़ता था वह। बार-बार उसका मुँह लगना वह गँवारा नहीं कर सकता। 'मेरे पास खूब वजनी भाला है और तलवार भी। मैं महज तीरों पर मुनसहर नहीं करता। कोई बच्चा नहीं हूँ कि रास्ता भूल जाऊँगा। अगर भूल भी जाऊँगा तो ढूँढ़ लूँगा। इतना बड़ा कैम्प कोई सुई तो है नहीं जो खो जायगा।'

बहरामखाँ अन्ततः मानी सेनापति थे। शहजादे के द्वारा उनका यह पहला अपमान था, चुपचाप सह लियाा उन्हें उसकी मूर्खता पर क्रोध के बदले तरस आया फिर भी उन्होंने अधिक आग्रह करने में कोई लाभ नहीं, देखा।

'दोपहर में जानवर पानी पीने जरूर निकलते हैं।' शाहजादा अपनी विज्ञता प्रकट करना चाहता था। 'जो पानी के किनारे रहेंगे, वे ज्यादे फायदे में रहेंगे। मैं तो आज उन्हें ढूँढ़कर उनके घर में ही शिकार करूँगा।' उसकी चिढ़ उसे आवश्यकता से अधिक उत्तेजत कर चुकी थी।

'तब मैं शाम को यहीं आपसे मिलूँगा।' बहराम खाँ इस झल्लाहट से छुटकारा पाना चाहते थे। उन्होंने घोड़े की लगाम उठाई और आदेश की प्रतीक्षा करने लगे।

'शाम को नहीं, अधिक-से -अधिक तीसरे पहर तक!' शाहजादा आज जैसे सेनापति की प्रत्येक बात का प्रतिकार करने पर तुल गया था!' सबको तीसरे पहर तक लौट आना चाहिए। शिकार मिले या न मिले। यदि कोई जंगल में भटक जाय तो उसे ढूँढ़ने का अवकाश रहना चाहिए। यदि आप तब तक न लौटे तो मैं ढूँढ़ने आपको निकल पड़ूँगा!' व्यङ्ग किया उसने।

यदि वह अन्तिम व्यङ्ग न करता तो अवश्य सेनापति उसकी बुद्धिमत्ता की प्रशंसा करते। 'आपको कष्ट न करना पड़ेगा।' सेनापति ने अबकी बार घोड़ा बढ़ा दिया और अधिक अपमान सहना उनके वश में नहीं था।

'अच्छा! हम लोग भी अलग-अलग रास्ता लें।' शाहजादे ने सबको आदेश दिया और किसी को सलाम का उत्तर देने की उसने कोई चेष्टा नहीं की। उसका घोड़ा एक ओर दूर पेड़ों की आड़ में विलीन हो गया।

सबसे पहले सेनापति लौटे। ये दोपहर होते-होते अपने घोड़ों की पीठ पर एक पूरा छः फीट का बाघ लादे तम्बू में आ धमके। आते ही उन्होंने अपने निजी सेवकों को जंगल का पता-ठिकाना बताकर भेज दिया। पूरे आधे दर्जन पशु मारे थे उन्होंने। बाघ

तो भाले से मारा गया था और उसे वे खुद ले आये थे। एक चीता, एक तेंदुआ और रीछ दो तीतल और उनके तीरों के निशान बने थे। सेवकों ने खच्चर खोले और वे सब जानवर आ गये।

अब तक कई शिकारी लौट चुके थे। प्रायः सबको कुछ-न-कुछ मिला था। कुछ आलसियों ने खरगोश या मयूर पाकर ही सन्तोष कर लिया था। चीते, तेंदुये, और रीछ भी कई थे। सबसे अधिक संख्या थी चीतल और हिरणों की। बाघ तो दूसरे किसी को नहीं मिल सका था।

तीसरे पहर तक सभी आ गये थे। एक बुड्ढ़े मियाँ जी को कुछ नहीं मिला तो वे दो वन मुर्गिया ही कहीं से मार लाये थे। सेनापति ने अपने राजपूत सहायक रामसिंह के काले चीते की प्रशंसा की- बड़ा धूर्त पशु होता है।' उन्होंने बताया।

'थोड़ी देर और रुकना चाहिए।' शहजादे का पता नहीं था और तीसरा पहरा बीत चुका था। लोग सेनापति से आग्रह कर रहे थे कि उनको ढूँढ़ना चाहिए। 'वे चिढ़ते थे ही सुबह, और चिढ़ जाने का डर है।' सेनापति पूरी प्रतीक्षा करना चाहते थे। कुछ रुष्ट भी थे वे शहजादे से और मन-ही-मन झल्ला रहे थे- 'भोग भी लेने दो अपनी बुद्धिमानी का फल।'

बहुत देर हो गयी। दिन कुल में दो घड़ी बाकी रह गया था। लू बन्द-सी हो चली थी। सबकी थकावट भी दूर हो गयी थी। शहजादे को ढूँढ़ने वे सेनापति के आदेशानुसार जंगल में बिखर गये।

× × ×

वह एकाकी था। कन्द-मूल, फल तथा वन्य पशु उसके आहार थे, मृग-चर्म, लकड़ी, वनौषधि या चार प्रभृति जंगली फल लेकर वह सप्ताह में एक दिन पास के दस मील दूर वाले कस्बे में बाजार लगने पर जाता और वहाँ से नमक, मसाला, तेल या कपड़ा खरीद लाता। उस कस्बे के अतिरिक्त उसने कोई बाजार या नगर नहीं देखा था। उसे आवश्यकता भी नहीं थी। बड़ी जोरों की गर्मी थी। लू चलने लगी थी। वह अपनी झोपड़ी का दरवाजा बंद ही करने उठा था टटिया लगाकर। सामने नीम के नीचे हाथ में घोड़े की लगाम पकड़े एक घुड़सवार आ गया कहीं से। वह शेर और चीतों से खेलने वाला जंगली भील काँप उठा। पता नहीं कौन-सी विपत्ति आने वाली है। रेशमी वस्त्र, कानों में झलमलाते मणिकुण्डल, हाथ में नंगी तलवार।' उसने सवार को बाँधव नरेश का कोई बड़ा अधिकारी समझा।

भाग जाता वह, यदि उसे तनिक भी अवकाश मिलता। बीहड़ जंगल में उसे कोई ढूँढ़ न पाता। कुटिया में छिपे रहने का भी अवकाश नहीं था। सवार ने उसे देख लिया

था। कटि को पूरी झुकाकर, मस्तक को लगभग भूमि के समीप तक पहुँचाकर दोनों हाथों से काँपते-काँपते जुहार की उसने। इतना गोरा, तेजस्वी बहूमूल्य वेशधारी पुरुष उसने पहले ही देखा था। 'पता नहीं बान्धव पति का मन्त्री है या सेनापति? युवराज तो है नहीं, क्योंकि मुकुट नहीं लगाये है।' वह सोच रहा था।

'पानी मिलेगा भाई!' सवार को झोपड़ी देखकर अपार हर्ष हुआ था। भील उसे जीवनदाता के समान ही दिखाई पड़ रहा था। कण्ठ सूख गया था। शब्द निकल नहीं रहे थे स्पष्ट - 'बहुत प्यासा हूँ।'

'हुजूर विराज जावें।' भील झोपड़ी में दौड़ गया। एक बड़ा-सा कच्चा बाघाम्बर उसने नीम के नीचे चबूतरे पर शीतल छाया में बिछा दिया। घोड़े की रास पकड़ ली स्वयं उसने। 'बहुत चलकर आये दीखते हैं। पसीने से शरीर डूब रहा है। तनिक सुस्ता लें। पानी लग जायगा अभी पीने से। इसे चूसें, प्यास की तेजी मर जायगी।' कई उजली-उजली जड़ रख दिया एक चौड़े सागौन के हरे पत्ते पर।

श्रान्त-कलान्त सवार उसी चर्म पर धम्म से बैठ गया। बैठते ही लेट गया। तलवार से टुकड़े बनाकर एक टुकड़ा जड़ उसने लेटे-लेटे ही मुख में डाली। कुछ खट-मिट्टी मुख में जाते ही उसने मुख को पानी से भर दिया। सवार को ऐसा लगा कि 'जीवन में ऐसा स्वादिष्ट पदार्थ कभी नहीं खाया है।'

'आप तनिक विश्राम कर लें।' भील कोई बात कहने से पूर्व झुककर सलाम करता था- 'मैं झरने से ठण्डा पानी लाता हूँ। पास ही है। इसे भी पानी पिलाकर धोलाऊँगा। घोड़े को एक जड़ में बाँधकर कुटिया में से घड़ा ले आया। जीन खोलकर सवार के समीप चबूतरे पर रख दी और घोड़े को लेकर चल पड़ा।

'पता नहीं उसका पास भी कितनी दूर है।' सवार की प्यास जड़ी ने कुछ कम अवश्य कर दी थी; किन्तु उसे असह्य प्रतीत हुई। उठकर झरना ढूँढ़ने जाने का उसमें साहस नहीं रहा था। बहुत थका हुआ था। वायु ने अब तक पसीना सुखा दिया था।

कंधे पर बायें हाथ से उसने घड़ा पकड़ रखा था और दाहिने में घोड़े की लगाम थी। घोड़ा हिन-हिनाता हुआ आ रहा था। पानी पीकर उसने प्यास बुझा ली थी और भील ने उसे स्नान करा दिया था। वह ताजा हो गया था। आते ही घोड़े को उसने छोड़ दिया। वह हरी-हरी घास चरने में लग गया।

'भागकर जायगा भी कहाँ?' नीम के चबूतरे पर जल का घड़ा रखते हुए उसने कहा- 'भागा भी तो मैं पकड़ लाऊँगा।' कुटिया में से एक भद्दा सा लोटा पीतल का और किसी फल की कड़ी खाली खोखली। लोटे को खूब रगड़कर मांज दिया उसने। पानी भरकर सवार के समीप रख दिया।

'आप हाथ-पैर धोवें' यह कहना नहीं पड़ा। सवार लोटा भरने से पहिले ही बैठ गया। उसने कुल्ला किया, मुह धोया और भली प्रकार हाथ और पैर भी। पाजामें को यथा-सम्भव ऊपर सरका दिया था उसने। आज ही उसने अनुभव किया था कि शीतल जल से हाथ-पैर धोने में कितना आनन्द होता है।

'गरीब आदमी हुजूर की क्या सेवा करेगा?' एक बड़े पत्ते पर कुछ कन्द-फल और कई मोटे-मोटे उज्ज्वल दलवाले फूल रखे थे। भील ने झोपड़ी से लाकर सवार के सम्मुख उन्हें रख दिया। पत्ता खूब बड़ा था और सवार ने देखा कि उसमें उसके दैनिक भोजन से चौगुना सामान भरा है। पानी पी लिया था उसने जी भरकर। अब उसे बड़े जोर की भूख लगी थी। भूख तो पहिले भी लगी होगी; किन्तु प्यास की तीव्रता ने उसे दबा दिया था। प्यास का कष्ट मिटते ही पता लगा कि पेट में चूहे छलाँग भर रहे हैं। चुपचाप पत्ता सामने खिसका लिया उसने।

एक-से-एक स्वादिष्ट । कोई खूब मीठा, कोई खट्ट-मिठा, कोई मन्द एवं सुरूचिपूर्ण मधुर कन्द, फूल और फलों में एक को भी नहीं पहचानता था वह। केवल कमल के हरे बीज भर उसकी पहचान के थे। आगरे में भला उसे क्यों तो 'चार' मिली होगी और क्यों कभी तेंदू खाया होगा उसने। भील उसे प्रत्येक फल या कन्द के खाने की विधि बतलाता जाता था।

'आप शिकार करने तो आये नहीं दीखते। कुछ नि:संकोच हो गया भील। अन्तत: सवार ने न तो उसे डाँट बतायी थी और न रोब गाँठा था। उसका भय कम हो गया। 'न कुत्ते संग हैं और न हांका करने वाले। हथियार भी नहीं हैं। रास्ता भूल पड़े होंगे कहीं जाते हुए। मैं यहाँ के सभी रास्तों को जानता हूँ।'

'आया तो शिकार करने ही था और वह भी अकेला। हथियार जंगल में कही छोड़ आया हूँ। बहुत भारी थे वे, सवार ने भरपेट भोजन किया। पत्ते पर चार-छः कमल-ककड़ी के बीज भर रह गये- 'रास्ता भूल गया एक हिरण के पीछे पड़कर। भरपूर दुर्गति हुई।' हाथ धोकर उसने फिर पानी पिया और उसी बाघ के चमड़े पर लेट रहा था।

घोड़े की टापका शब्द हुआ। भय के मारे भील झोपड़ी में घुस गया। वहीं एक सूराख से उसने देखा कि तीन हथियार बन्द दढ़ियल मुसलमान सिपाही घोड़े से कूद रहे हैं। ऊँचे-तगड़े-दैत्याकार हैं वे। एक ने कलगी लगाई है उसमें। 'तब क्या ये उसके अतिथि को पकड़ने आये हैं?' धनुष चढ़ा दिया उसने खूँटी से उतारकर और विषैले बाणों का तरकश समीप रख लिया।

'ओह! बहरामखाँ!' सवार खूब सो चुका था। घुड़सवारों के खट्-खट् कूदने के शब्द ने उसे जगा दिया था। आगतों ने झुककर उसे सलाम किया। 'सचमुच, मैं जंगल में भटक गया।' उठकर खड़ा हो गया वह। सेनापति से माँगकर एक टुकड़ा भोजपत्र लिया उसने और एक रंगीन शलाका। कुछ लिखने लगा। बहरामखाँ ने देख लिया कि बाँधव पति के नाम युवराज का पत्र है। इस भील को आस-पास का पूरा जंगल जागीर में दे देने का आदेश है उसमें।

'खूब!' सेनापति हँसे- 'वह जानता भी न होगा कि आप कौन हैं।' 'मैं भी तो नहीं जान सका कि जो स्वादिष्ट फल मैंने खाये, वे क्या हैं?' शहजादे ने कहा सेवा या भक्ति का प्रभाव तो राजा के पास और भोजन में ऐसा ही देखा जाता है।

❑❑

अनुगमन

'ठहरो !' जैसे किसी ने बलात् पीछे से खींच लिया हो। सचमुच दो पग पीछे हट गया अपने आप। मुख फेरकर पीछे देखना चाहा उसने इस प्रकार पुकारनेवाले को, जिसकी वाणी में उसके समान कृतनिश्चयी को भी पीछे खींच लेने की शक्ति थी।

थोड़ी दूर शिखर की ओर उस टेढ़े-मेढ़े घुमावदार पथ से चढ़कर आते उसने एक पुरुष को देख लिया। मुण्डित मस्तक पर तनिक-तनिक उग आये पके बालों ने चूना पोत दिया था। यही दशा नासिका और उसके समीप के कपोल के कुछ भागों को छोड़कर शेष मुख की भी थी। कटि में गैरिक कौपीन के अतिरिक्त शरीर पर दूसरा कोई वस्त्र नहीं था। खूब लम्बा शरीर था और वृद्धावस्था उसे न तो क्षीण कर सकी थी, न झुर्रियाँ डालने में ही समर्थ हो सकी थी।

निकट आने पर उसने देखा कि उनके शरीर का रंग उनकी कौपीन की ही भाँति रक्तिम है एवं उन महापुरुष के दीप्तिमान भव्य ललाट से प्रकाश की किरणें फूट रही हैं। उनके तेजपूर्ण विशाल नेत्रों की ओर देखना शक्य नहीं है। आगे बढ़कर उसने उनके कोमल चरणों पर मस्तक रखा। सचमुच नंगे पैर पहाड़ पर पूरे घूमने पर भी उनके चरण किसी सम्राट् की भाँति लाल एवं कोमल थे।

'तुम आत्म-लाल हत्या करना चाहते हो? इतने डरपोक हो तुम? छि: !' झिड़क दिया महापुरुष ने नीचे अतल खड्ड था। एक उजाड़ ऊँची चोटी पर किनारे कुल में दो पद पीछे वह खड़े थे। वहाँ से नीचे झुककर नीचे देखने में भी भय लगता था। नीचे गिरे तो हड्डी-पसली का पता भी नहीं लगेगा। इसी चोटी से कूदकर अपने विषय भावनाओं से परित्राण पाने वह आया था। कोई आकस्मिक बात न थी, उसने कई सप्ताह हृदय मंथन के तुमुल संघर्ष में रहकर यह निश्चय किया था। 'हाय रे अभागे मानव !' मरना भी तेरे हाथ में नहीं। ठीक कूदने के क्षण में उसे पुकारकर रोक दिया गया था।

'तुम जानते हो कि मरकर परिस्थितियों को बदला नहीं जा सकता।' महापुरुष उसके कन्धे पर अपना दाहिना हाथ रखकर कह रहे थे- 'संकटों को मृत्यु हटा नहीं

पाता और न उससे कुछ प्राप्त ही होता है। उनसे डरकर जीवन से भागना अत्यन्त घृणास्पद भीरुता है और तुम्हें यह भी जान लेना चाहिये कि समस्त दण्ड-विधान भीरुके लिए ही बनाये गये हैं। मैं तुम्हें इतना लज्जाहीन-कायर नहीं समझता, मार्तण्ड!'

'मैं ऊब गया हूँ। मेरा हृदय जलते-जलते असह्य पीड़ा से विदीर्ण हो गया है।' मार्तण्ड मिश्र हिचकियाँ लेने लगे थे। किसी भी प्रकार मैं अब यह सब सहन नहीं कर सकता। एक बार इससे परित्राण पाने का मैंने निश्चय कर लिया है।'

'तुम्हारा निश्चय श्लाघ्य है।' महापुरुष हँसे- 'भोले बच्चे, जब गाय क्षुधा, पिपासा, हरे तृणों के लोभ या बन्धन से ऊबकर रस्सी तुड़ाकर भागती है तो पुनः पकड़कर बाँध दी जाती है। उसका बन्धन और कठोर हो जाता है। लाठी और डण्डे घलुए में मिलते हैं।'

यह पहेली उसकी समझ में नहीं आयी। मुख उठाकर उसने महापुरुष की ओर जिज्ञासा-भरे नेत्रों से देखा।

'कामों का नाश नहीं होता। प्रारब्ध प्राप्त भोगों का परित्याग कोई अर्थ नहीं रखता।' महापुरुष की वाचा गम्भीर हो गयी- 'आत्म-हत्या के पश्चात् दूसरा जन्म निश्चित है। वह जीवन वहीं से प्रारम्भ होगा, जहाँ से तुमने इसे छोड़ा है। आत्म-हत्या पाप है, उसका दण्ड अपने कार्यक्षेत्र से बिना नियमित अवकाश का अवसर आये ही भागने का दण्ड और भी भोगना पड़ेगा।'

'ओह!' सिर पर दोनों हाथ रखकर घुटनों के बल वह वहीं बैठ गया। दोनों घुटनों के मध्य में सिर करके सम्भवतः रोने लगा था। निस्सीम थी उसकी वेदना। ओर-छोर नहीं था उसकी पीड़ा का। उसे लगता था कि महासमुद्र चारों ओर से गर्जन करता बढ़ा आ रहा है। दिशाओं में ऊँची दावाग्नि की लपटें उसे निगलने को बढ़ी आ रही हैं। आज संसार में प्रलय होने वाली है। कहीं बच नहीं सकता वह। 'गुरुदेव!' चिल्लाकर उसने महापुरुष के चरणों पर मस्तक रख दिया।

'मेरे बच्चे!' महापुरुष के अमृत-स्पन्दी करों ने उसके मस्तक का स्पर्श किया। उनकी जीवन-सुधा-संचारिणी वाणी ने श्रवणों में हिम उड़ेला। दोनों उनकी विशाल भुजाओं ने उठाया- 'तुम व्यर्थ अधीर हो रहे हो। जीवन उसका है जो दृढ़तापूर्वक उसे अपनाता है। जो कठिनाइयों के मस्तक पर अपने सुदृढ़ चरण रखकर खड़ा हो सकता है। जीवन अधीर एवं भीरु का नहीं है।'

'मैं यह कुछ भी नहीं जानता। जानने की इच्छा भी नहीं है।' अब भी उसके नेत्र

सूखे नहीं थे। 'अपनी ओर से तो मैं चोटी से कूद चुका। मेरे और मेरे सारे संसार के लिए तो मैं मर गया। अब जो कुछ भी है, वह आपका रक्षण है। आपने उसे बचाया है। आप ही जाने कि आपके लिए उसका कोई उपयोग है भी या नहीं।' अत: आत्म-समर्पण कर दिया उसने।

× × ×

संध्या हो चुकी थी। अस्ताचल से एक बार दिनपति ने जगती को देखा और उनके विराग की छाया सम्पूर्ण धरातल पर विस्तीर्ण हो गयी। सम्पूर्ण हिमाच्छादित गिरि-शिखर गौरिकवर्णी वीतरागी संन्यासी के वेष में परिवर्तित हो गये। तरु-वीरुध एवं लताओं ने भी उसी वर्ण को अपना लिया। प्रत्येक शिला रँग गयी उस रङ्ग में। पक्षियों ने दिशाओं में मन्त्रपाठ प्रारम्भ किया और इसी समय गगन से उन दोनों व्यक्तियों के मस्तक पर धुनी हुई रुई के समान भास्कर की किरणों में रंगी हिम इस प्रकार गिरने लगी, जैसे आकाश से गेरु की वर्षा हो रही हो।

'आज हिमपात का प्रथम दिन है।' महापुरुष ने संकेत किया नभ की ओर। 'संभव है, अधिक बर्फ गिरे।' उन्होंने संकेत किया और वह उनके पीछे पालतू हिरण की भाँति चलने लगा। हिम पर उनके चरण-चिह्न स्पष्ट बनते जाते थे और नवीन हिम उन्हें आच्छादित करता जाता था। प्रकृति उनके चारु चरणों के पवित्र चिह्नों को जगत के नेत्रों से दूर हटाकर अपने हृदय में अन्तर्हित कर लेना चाहती थी। वे चले जा रहे थे चुपचाप, शान्त पैर बढ़ाये।

× × ×

कभी वह पक्की चाहरदीवारी से घिरा किसी का प्रमोदोद्यान रहा होगा। ऊँचे आम्र वृक्षों के नीचे कभी मयूर नृत्य करते रहे होंगे और मृग कुलाचे भरते होंगे। मध्य का कमरा कभी खूब सजा-सजाया रहा होगा और उससे लगी छोटी कोठरी निश्चय ही वस्तुओं से भरी रही होगी।

चहारदीवारी का नाम रह गया कहीं-कहीं। उसका यह गलित अस्थि-पंजर अब केवल ठोकर लगकर सूचित कर पाता है कि वह किसी दिन अवरोधिका थी। वृक्षों के नीचे कंटीली जंगली लताएँ पैर फैलाये अंगड़ाइयाँ लिया करती हैं और स्पष्ट मना करती हैं कि हमारे क्रीड़ा क्षेत्र में कोई आया तो नोच लिया जावेगा। छोटी कोठरी की छत गिर गयी है। ईंट एवं चूने-गारे से भर गया है उसका पेट। उसमें झींगुर ने अपना संगीतालय स्थापित कर लिया है। गिलहरियाँ कभी-कभी नृत्य-गृह बना लेती हैं और

वर्षा में मेंढ़क उसमें चैन से टर्राते हैं। यदा-कदा अहिराज उसका निरीक्षण करने पहुँच जाते हैं। उनके निम्न कर्मचारी कनखजूरे, वृश्चिक आदि का यह स्थायी शिविर जो ठहरा।

बीच का कमरा कुछ स्वच्छ है। छत वर्षा में झरना बनती है या नहीं, कह नहीं सकता। दीवारों पर कहीं-कहीं कोई काली रेखा युगों से पोते धूमिल चूने पर पहाड़ एवं झरनों का मानचित्र अवश्य बन गयी है। कड़ियाँ मोर्चे से लाल हो गयी हैं। बैठने पर जहाँ तक मनुष्य की पीठ दीवार से सटती है, सारा चूना सफाचट हो गया है। एक पक्का चबूतरा है सीमेंट का एक ओर, छः फीट लम्बा, तीन फीट चौड़ा। किसी भक्त ने पीछे महात्माजी के आने पर बनवा दिया होगा। वही सोने के समय पलङ्ग, अध्ययन की कुर्सी, मेजें और उपदेश का व्यासपीठ बनता रहता है और सो भी बिना आकार-परिवर्तन के।

जल का एक घड़ा, दो-तीन मिट्टी के कसोरे, कटु तुम्बी के दो खोल कटोरे जैसे कटे, कुछ टाट, दो-तीन चटाइयाँ, थोड़ी-सी पुस्तकें और कोपीन के दो गैरिक टुकड़े। महापुरुष का संग्रहालय किसी के लिए आकर्षक नहीं था। अवश्य ही वह अपनी अल्पता के कारण आकर्षक बन गया था।

'मैं कुछ उपार्जन नहीं कर पाता। व्याकरण एवं दर्शन का आचार्य होकर भी बैठे-बैठे पेट भरा करता हूँ।' मार्तण्ड मिश्र चबूतरे के पास पृथ्वी पर बैठे एक चटाई डालकर। महापुरुष चबूतरे पर कटि को कुछ झुकाकर ध्यानपूर्वक उनकी बातें सुन रहे थे। 'नौकरी से मुझे घृणा है और सो भी मठाधीशों की नौकरी से। उनकी नौकरी का अर्थ है उन्हें सब प्रकार से परमात्मा सिद्ध करो और उनके उचितानुचित सभी कार्यों में महानता की व्याख्या ठोंक-पीटकर बैठाते जाओ। संस्कृत पाठशालाएँ सब उन्हीं के हाथों में हैं, और जो कुछ स्वतन्त्र हैं, वे परम्परागत पण्डितों के लिए हैं।' घृणा के साथ आकुलता के भाव थे उनके मुँह पर।

'पण्डिताई मुझे स्पष्ट ठगी जान पड़ती है।' कुछ रुककर कहने लगे वे- 'जिन मुहूर्त एवं गणितों पर अपना कोई विश्वास नहीं, उन्हीं की प्रशंसा और प्रचार। मैं न ज्योतिष का मर्मज्ञ हूँ और न कर्मकाण्ड का; फिर भी घर के लोग चाहते हैं उल्टे सीधे पूजा-पाठ करा दिया करूँ, जैसे सब करते हैं; और पत्रे से पूछनेवालों को कुछ बता दिया करूँ।'

'माता को रात-दिन विवाह की धुन है।' विषय बदल गया है। 'भाभी रुखी रोटी देते समय भी कुछ-न-कुछ तीखी बात कहकर ही प्रसन्न होती है। भाई इस प्रकार मौन एवं दूर रहते हैं, जैसे मैं कोई छूत का रोगी होऊँ। मुझसे बोलने या मेरे समीप बैठने से वह रोग उन्हें न लग जावे।'

'मैंने सोचा था- भगवान की महान कृपा है। विषय है नहीं, जो उलझावेंगे और सम्बन्धी ऐसे हैं, जिनमें मोह होने से रहा।' महात्माजी शान्त सुन रहे थे। 'रुचि तो पिताजी से उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त हुई थी। प्रयत्न किया मैंने। खूब भटका, खूब पढ़ा और सब किया जो मुझसे हो सकता था। मेरा अन्तर्जगत बाह्य से भी अधिक कोलाहालपूर्ण है। दुर्दम मन, अदम्य वासनाएँ, नीरस हृदय। मेरा भीतर और भी कटु एवं कष्ट प्रद है। निराश हो गया मैं।' अब वे अपने को सम्हाल नहीं सके और सिसकने लगे।

शरीर का कोई उपयोग नहीं। हृदय की उत्सुकता एवं कुतूहल मर चुके। बुद्धि केवल कल्पना के जाल में अपनी शक्ति व्यय करके रह जाती है।' रुक-रुककर कह रहे थे वे 'पृथ्वी का भार क्यों बढ़ाया जावे? क्यों संसार के सीमित विषयों में एक हिस्सेदार की भाँति फैले। क्या बिगड़ जायगा विश्व या विश्वेश का यदि उनके क्षेत्र से अर्धमृत पृथक् हो रहे?'

चन्द्रमा तुहिन के पर्दे से हल्का प्रकाश दे रहा था जगती को। वृक्षों की शाखाएँ धूमिल रजनी में भी हिम का उज्ज्वल भार उठाये चमक रही थीं। क्षण-क्षण पर उनसे 'धप' के शब्द के साथ हिम का ढेर गिरता जा रहा था। पक्षी और पशु चीख पड़ते थे। कमरे में मन्द-मन्द दीपक टिमटिमा रहा था एक आले में, ऊनी कुर्ता पहने होने पर भी मार्तण्ड मिश्र काँप रहे थे। दूसरी ओर कौपीनधारी नङ्ग-धड़ङ्ग महापुरुष के रोमाञ्च भी नहीं था। कमरे का लड़खड़ाता जर्जर द्वार बन्द कर दिया गया था। रात्रि में अपने समीप मार्तण्ड को रहने देकर महापुरुष ने अपनी सदा की परम्परा भङ्ग कर दी थी।

'हिम क्यों पड़ता है?' महात्मा ने साधारण स्वर में पूछा।

'बहुत अधिक शीत है?' उत्तर स्पष्ट था।

'मेरा मतलब है पत्तों को गलाने, हमको कँपाने तथा पशु-पक्षियों की चीख में उसका क्या उपयोग है?'

'मैं कैसे कह सकता हूँ। यो बहुत-से उपयोगों की कल्पना तो की जा सकती है; पर वास्तविक उपयोग तो स्रष्टा ही जाने।' एक दार्शनिक के योग्य उत्तर था।

'किन्तु अपना उपयोग सोचे बिना तुम्हारी बुद्धि की खुजली नहीं मिटेगी।' महात्मा ने डाँट दिया- 'जैसे तुम्हारा निर्माण तुमने स्वयं किया है। स्रष्टा से तुमसे कोई सरोकार नहीं।'

मस्तक झुका लिया मिश्रजी ने। डाँटने से चुप ही किया जा सकता है, किसी का सन्तोष नहीं कराया जा सकता।

× × ×

रात्रि का हिम गल तो गया; किन्तु कीचड़ कर दिया उसने पथ में। वृक्षों के पत्ते काले पड़ गये थे। लताओं की हरीतिमा लुप्त हो गयी थी और उनका कष्टमय कङ्काल अवतरित हो उठा था। कोठरी में अब भी उस शीतल रुई की ढ़ेर पड़ी थी। स्नानादि से निवृत्त तो क्या हुए, मानो महासमर जीत लिया। कुहरा फट गया था और मरीचिमाली की किरणें शरीर में जीवन-संचार कर रही थीं।

'तुम मानव हो- वह मानव, जिसकी मानवता पर देव और दानव दोनों ईर्ष्या करते हैं।' महापुरुष बाहर एक स्थान पर बैठ गये थे और मिश्र जी को सम्मुख बैठा लिया था उन्होंने - 'तुम्हें ठीक मानव बनना है। उससे न कम, न अधिक।'

'किसे कहते हैं मानव?' प्रभावपूर्ण ढङ्ग से महापुरुष रुक-रुककर बोल रहे थे- 'सबलता एवं दुर्बलता के मिश्रित उस पुतले को, जिसमें दूसरों के प्रति भी वही अनुभूति हो जो उसे अपने सम्बन्ध में होती है। स्मरण रखो, जब मानव अपने ठीक स्वरूप में खड़ा होता है, विश्वेश को भी ईर्ष्या होती है। वह भी अपने नारायण स्वरूप को छोड़ नीचे आता है और उस नर से अनुनय करता है- 'भैया, तुम मुझे अपना मित्र बना लो ! उसका अनुनय तुमने सुना है 'सुहदं सर्वभूतानाम्' के बहाने।'

'जब कोई पृथ्वी पर न देखकर पर्वत-शिखर पर देखता है और कूदकर चढ़ना चाहता है- पैर तोड़ लेता है अपने। खड़े से भी गिर पड़ता है।' महापुरुष गम्भीर हो रहे थे। उनकी वाणी में ओज गूँज रहा था- 'जब मानव देवत्व की ओर देखकर छलाँग लेने चलता है, मानव भी नहीं रह पाता। वासनाएँ दबाये जाने पर अस्वाभाविक ढङ्ग से प्रतिक्रान्त होती हैं- दानव बन जाता है वह। सुख और शान्ति की आशा में अशान्ति एवं उद्वेग के खड्डे में जा पड़ता है वह।'

'पहेलियाँ समझने योग्य नहीं हूँ भगवन्।' भावाक्रान्त होने पर भी मिश्रजी अन्ततः दार्शनिक थे- 'मैं तो सीधे मार्ग का अभीप्सु हूँ। मुझे करना क्या चाहिये, प्रभु इतना ही निर्देश कर दें।'

'तुम जानते हो कि क्रिया का कोई मूल्य नहीं। मूल्य क्रिया में स्थित कर्ता के भाव का है। कर्म में संस्कार सचमुच कर्म नहीं बनाते। बनाते है कर्मगत भाव। महापुरुष ने दार्शनिक के लिए उसके समान शैली का अवलम्बन किया- 'भाव का सम्बन्ध हृदय से है, मस्तिष्क से नहीं और हृदय में परस्पर विरोधी दो भाव साथ-साथ नहीं रह सकते।'

कहने को कुछ था ही नहीं। सूर्य से प्रकाशमान सिद्धान्तों को कोई कैसे अस्वीकार कर सकता है। मूक स्वीकृति थी जिज्ञासु के नेत्रों में।

'प्रत्येक हृदय प्रायः सुख-दुःख, मानापमान का समान अनुभव करता है।'

महापुरुष कहते जा रहे थे- 'और प्रत्येक को अपनी रूचि के प्रति समान आग्रह होता है। रूचि-भङ्ग में प्रत्येक को समान पीड़ा होती है।' ए क क्षण रुककर उन्होंने श्रोता के मुख की ओर गम्भीरता से देखा।

'अब रहा क्या?' जिज्ञासु चौंका, उसे तो अभी कुछ नहीं मिला। 'इस सत्य को सजीव भर हो जाने दो। हृदय में इसे कभी सोने मत दो। सब साधन स्वतः सिद्ध है। जो दूसरे के हृदय का सदा ध्यान रखेंगे उनमें वासनाएँ मर जायेंगी। वासनाएँ स्वार्थमूलक हैं और उनमें परोत्पीड़न अन्तर्हित ही रहता है। विश्व ही विश्वेश का स्वरूप है। हृदय में उसे ठीक प्रकार से आने दो। बस! उसका वह रूप, जो तुमने उसे दिया है, विलीन हो जाएगा।'

'ओह, यह विश्व-प्रेम!' जिज्ञासु ने निःश्वास छोड़ी- 'इसका अभ्यासक्रम भी तो होगा?'

'है, और तुम उसको जानते भी हो। भक्ति के साधनों का तुम्हें अभ्यास भी करना ही हैं, हृदय उसी से विशाल होता है। महापुरुष प्रस्तार में नहीं गये- 'तुम शास्त्रज्ञ हो। आचार्यगण उस (भक्ति) के साधनों का वर्णन करते है।

महत्संग की साधना

'मेरी साधना विफल हुई।' गुर्जर राजकुमार ने एक लम्बी श्वास ली। वे अपने विश्राम-कक्ष में एक चन्दन की चौकी पर धवल डाले विराजमान थे। ग्रन्थ-पाठ समाप्त हो गया था और जप भी पूर्ण कर लिया था उन्होंने। ध्यान की चेष्टा व्यर्थ रही और वे पूजा के स्थान से उठ आये।

राजकुमार ने स्वर्णाभरण तो बहुत दिन हुए छोड़ रखे हैं। शयन गृह से हस्ति-दन्त के पलङ्ग एवं कोमल आस्तरण भी दूर हो चुके है। उसकी भ्रमरकृष्ण घुङ्गराली अलकें सुगन्धित तेल का सिञ्चन न पाकर इधर-उधर उड़ा करती हैं। कौशेय वस्त्रों का उपयोग भी वे नहीं करते। दुग्धोज्ज्वल हल्का मलमल ही उनकी धोती एवं उत्तरीय बनता है।

चिन्ता ने उस भव्य भाल पर हल्की लकीरें डाल दी थीं। अरुणिमा लिये गौरवर्ण के मुख पर किञ्चित म्लानता आ गयी थी। पतला शरीर और भी क्षीण हो गया था। कर्णतः विस्तृत लोचनों में जलकण झल मलाने लगे थे।

प्रातःकालीन दुग्धपान छूट चुका था। मध्याह्न में भी मेवे और कुछ फल मात्र। रात्रि को तो कुछ लेते ही नहीं थे। गान-वाद्य में प्रथम ही रूचि न थी और सखा-सहचरों में अब रहना अच्छा नहीं लगता था। राजोद्यान का मालती कुञ्ज, सरोवरतट तथा अपना विश्राम कक्ष। सदा उदासीनता टपका करती थी। एकाकी ही दिन और एकाकी रात्रि।

सेवक-सेविकाएँ समीप आते भी सहमती थीं, वह एकान्त उदासीन मुद्रा देखकर जो समझाने या हँसाने आता, वह स्वयं आँसू बहाता खिन्न मन लौट जाता। उस उदासीनता में व्यापक शक्ति थी, क्योंकि सच्चाई थी उसमें। बढ़ती जाती थी वह उत्तरोत्तर और विस्मृत होते जा रहे थे दिनोदिन राजकुमार स्नान-भोजनादि।

महाराज का अपने एकमात्र पुत्र पर अपार स्नेह था। इसी स्नेह के कारण महारानी से वियुक्त होने पर भी उन्होंने द्वितीय पाणि-ग्रहण नहीं किया। आजकल उनका वही हृदय चिन्ता से शुष्क होता जा रहा था। युवराज की उदासीनता, शोकाकुल मुद्रा, उन्हें मर्म व्यथा देती थी।

'मैं नहीं चाहता कि वह राज्योपभोग ही करे।' महाराज ने राजकुमार की आध्यात्मिक रूचि में कोई भी बाधा नहीं डाली। उनके साधन के सम्बन्ध में कभी प्रश्न नहीं किया। यहाँ तक कि जब राजकुमार ने भोग सामग्रियों का त्याग कर राजसदन को ही वन बना लिया, तब भी महाराज शान्त रहे, 'वह वीतराग हो तो भी मुझे आपत्ति नहीं। मेरा सौभाग्य होगा, यदि वह परमसिद्धि के मार्ग में आगे बढ़े। कुछ भी हो, वह प्रसन्न रहे। उसका क्लेश मैं नहीं देख सकता।'

आज व्यथा सीमा पर पहुँच गयी थी। युवराज के प्रधान परिचारक ने समाचार दिया था कि राजकुमार के नेत्र सूज गये हैं और लाल-लाल हो गये हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि वे रात्रिभर जागते रहते हैं तथा रुदन करते रहते हैं। महाराज तिलमिला उठे थे। उन्होंने एकान्त में परम धार्मिक मन्त्री को बुला लिया था।

'चाहे जैसे भी हो, राजकुमार की चिन्ता का कारण ज्ञात करना होगा।' महाराज ने भरे कण्ठ से कहा- 'मुझे तुम्हीं जीवन-दान दे सकते हो। कुछ भी करो, किन्तु उसे प्रसन्न करो।' स्वर में आज्ञा नहीं, अनुनय था।

'महाराज आकुल न हों।' मस्तक झुकाकर वृद्ध मन्त्री ने प्रार्थना की- 'मेरी जितनी बुद्धि या शक्ति है, प्रयत्न करूँगा। महाराज विश्वास रखें, यह सेवक कभी आज तक अपने प्रयत्न में भगवान तीर्थङ्कर की कृपा से असफल नहीं हुआ है।' प्रणाम करके राजसदन में चले गये महामन्त्री।

'मैं समझता था कि वासनाओं पर विजय प्राप्त कर ली है।' महामात्य को राजकुमार ने अभिवादन के अनन्तर आसन दे दिया था और वे बैठ गये थे। जितने स्नेह-स्निग्ध स्वर में पूछा था उन्होंने, उसकी उपेक्षा शक्य नहीं थी। राजकुमार खुल पड़े थे- 'मेरी धारणा व्यर्थ सिद्ध हुई। देखता हूँ कि मेरा तो और भी पतन ही हुआ है।' दोनों नेत्रों से अश्रु धारा चलने लगी।

'आश्वस्त हो युवराज!' महामात्य ने अपने उत्तरीय से राजकुमार के नेत्र पोंछ दिये। वृद्ध अमात्य का राजकुमार पर पुत्र की भाँति स्नेह था और युवराज भी उनका आदर महाराज की भाँति ही करते थे। 'मैं राजनीति का ही पण्डित हूँ। अन्तःसंघर्ष में न तो कभी पड़ा हूँ और न मेरा ज्ञान ही कुछ है। इतने पर भी सम्भव है कि मैं आपकी कुछ सहायता कर सकूँ। विश्व में प्रायः सब कहीं साम्य है। यदि बाह्य संघर्ष से अन्तःसंघर्ष कुछ भी समता रखता हो तो मेरी राजनीति काम दे जायेगी। आप स्पष्ट करें अपनी स्थिति को तो कृपा होगी।'

युवराज ने बताया कि किस प्रकार साधन के आरम्भ काल में वासनाएँ विलीन हो

गयी थीं। मन एकाग्र हो जाता था। उन्हें अपार शान्ति एवं आनन्द प्राप्त होता था। अब यह स्थिति है कि मन एक क्षण को भी टिकता नहीं लक्ष्य पर। जिन वासनाओं को वह अत्यन्त हेय समझते रहे हैं, वे भी अब विक्षिप्त किये रहती हैं। पाठ और जप के समय भी मन वैषयिक उधेड़-बुन में ही लगा रहता है। पता नहीं कहाँ, ये भोग-लिप्साएँ एवं भौतिक महत्वाकाक्षाएँ छिपी पड़ी हैं।

'बस?' मुस्कराये महामात्य- 'अभी आप बालक हैं। अरे, इतना तो मैं भी बता सकता हूँ कि शत्रु प्रथम आक्रमण में मस्तक झुका लेते हैं, किन्तु यदि आक्रमण प्रचण्ड हो और वे देख लें कि उनके समूलोच्छेद का प्रयत्न हो रहा है तो उद्धत हो जाते हैं। उनका वेग प्रबलता की सीमा पर पहुँच जाता है।'

'तब क्या मैं असफल ही रहूँगा?' महामात्य के हास्य ने तनिक आश्वासन दिया था। एकटक उनके मुख की ओर भरे दृगों से राजकुमार देख रहे थे।

'यह तो आप देखते ही हैं कि कमरों में झाडू लगाते समय धूल अधिक उड़ती है।' रोग का निदान ठीक कर लिया गया था और निदान ठीक होने पर चिकित्सा में कठिनाई नहीं हुआ करती। झाडू लगाना छोड़ा नहीं जा सकता। धैर्यपूर्वक प्रचण्ड आक्रमण एवं शत्रु के एक-एक अङ्ग का उच्छेद- दुर्बल अङ्गों पर प्रथम प्रहार। यदि यह नीति काम में ली जाय तो विजय सुनिश्चित रहती है

× × ×

'यह कैसी सुगन्धि है? कहाँ से आ रही है?' गुर्जर युवराज मृगया नहीं किया करते। वैसे उन्होंने शस्त्र-संचालन की सम्पूर्ण शिक्षा प्राप्त की है। उनका बाण लक्ष्य-वेध करने से कभी भी चूकता नहीं। उनका नैसर्गिक सौंदर्य उन्हें अत्यधिक आकर्षित करता है। प्रायः समवयस्क सखाओं के साथ आखेट के वेश में अश्व पर वे वन-भ्रमण के निमित्त ही निकलते हैं। हिंस्र पशुओं के आक्रमण के समय, जिसकी सम्भावना यहाँ बनी ही रहती हैं, सावधान बना रहना ही इस आखेट वेश का तात्पर्य है। वन विशेषज्ञ भील तथा मुख्य आखेटक इसी सावधानी के कारण साथ लिये जाते हैं।

मन्द शीतल पवन चल रही थी और वह एक अत्यन्त नासिका-मधुर सुरभि से प्रपूरित थी। वन प्रान्त उसी के सौरभ से पूर्ण हो गया था। अचानक वह सुगन्धि आने लगी थी। सभी चौंके थे और सबने लम्बी साँसे खींचकर उस पवित्र गन्ध को भली प्रकार ग्रहण करने का बारम्बार प्रयत्न किया था।

'किसी पुष्प की तो यह सुरभि नहीं है।' एक क्षण भली प्रकार सूंघकर आखेटक ने उत्तर दिया। किसी भी पुष्प में इतनी व्यापक तथा मधुर सुरभि नहीं होती। पुष्प-सौरभ

का यह प्रकार भी नहीं हुआ करता। वन-वायु भी यहाँ की सब मेरी परिचित हैं। उनमें किसी-किसी में ही सुगन्धि होती है और वह मन्द।

'सुगन्धि तो है ही और वह वन से ही आ रही है।' राजकुमार ने भीलों की ओर मुख किया। कौतूहल सभी के मन में था।'

'पता तो मुझे भी नहीं है।' सबसे बुड्ढे भील ने मस्तक झुकाकर अभिवादन करते हुए कहा। किसी बात का आरम्भ करते समय प्रणाम करने का स्वभाव हो गया है इन भीलों का। परस्पर तो ऐसा नहीं करते, किन्तु राजपुरुषों के साथ बोलने में उनकी यह प्रकृति जागृत हो जाती है। 'वन के किसी वृक्ष की छाल किसी पशु ने रगड़कर छुड़ा दी होगी। यह उसी के रस की गन्ध है। सम्भव है, कोई सुगन्धित वृक्ष मद टपकाने लगा हो। वैसे ही, जैसे अन्नदाता ने नीम के वृक्ष से कभी-कभी रस टपकते देखा है।'

'महाराज के लिए अत्यन्त प्रिय उपहार होगा।' गुर्जर नरेश अनेक प्रकार के सुगन्धित पदार्थों का संग्रह किया करते हैं। उनका वस्त्र, शरीर, राजसदन विभिन्न सौरभ से पूर्ण किया जाता है। सिञ्चन, धूम्र प्रभृति सभी सुगन्धि-प्राप्ति के साधनों से उन्हें प्रेम है। युवराज आज इस अद्भुत सुरभि से पिता को प्रसन्न करने की आशा से स्वयं आनन्दित हो गये- 'हम इसका अन्वेषण करें'

'वन प्रान्त सघन है?' आखेटक ने निवेदन किया।

'प्रपात के समीप प्रभु मौलिश्री की शीतल छाया में तनिक देर विश्राम करें।' अश्व कुछ हरित तृणों से अपने को तृप्त कर लें। मैं भीलों के साथ जाता हूँ। जल्दी ही सौरभ का कारण श्रीमान के सम्मुख उपस्थित होगा।'

'मैं भी तो वन-भ्रमण करने ही आया हूँ।' राजकुमार को आलसी की भाँति पैर फैलाकर प्रपात के पास लेट लगाना स्वीकार नहीं था। वे कुरंग की भाँति कुलाचें लेने में आनन्द मनाने वाले जीव थे। 'तुम तो वृक्ष की एक डाल या धातु का टुकड़ा ले आओगे। मैं भी देखना चाहता हूँ। इसका उद्गम्। यह भी कि इसका कोषागार कितना है।'

किसी ने विरोध नहीं किया। मित्र मण्डली भी स्वयं निरीक्षण के पक्ष में थी। घोड़ों से मुख मोड़ दिये गये। पवन के मार्ग की ओर तनिक इधर-उधर मुड़ते हुए, वृक्ष एवं झाड़ियों के झुरमुट से बचकर जहाँ मार्ग मिल सकता था, उधर से निकलते जा रहे थे। भील आगे हो रहे थे और वही मार्ग प्रदर्शन कर रहे थे।

सुगन्धि जितनी व्यापक थी, उसे देखते हुए उसका उद्गम कहीं समीप ही होना चाहिए था। पवन का मार्ग का अनुसरण करने से सौरभ में अभिवृद्धि तो हो रही थी, किन्तु बहुत मन्द क्रम था वर्धन का। भीलों की अनुभवी घ्राण शक्ति तथा शिकारी की

तीव्र नासिका भी गन्धोद्गम की दूरी का अनुमान करने में असफल रहीं। सभी समझ रहे थे कि कहीं सपीप से ही यह सुगन्धि आ रही है। जब आधे योजन तक भी सुगन्धि बढ़ती ही गयी तो उन्हें आश्चर्य हुआ।

'जान पड़ता है, कोई जड़ी पुष्पित हुई है।' वृद्ध भील का अनुभव है कि कभी-कभी वन में कोई विशेष औषधि पुष्पित होने के समय ऐसी अद्भुत सुगन्धि फैला दिया करती है। ऐसी जड़ियों की सुगन्धि कई योजन तक विस्तीर्ण हो जाती है और समीप जाने पर वे अपनी छुद्रता के कारण ढूँढ़ने से मिलती हैं नहीं।' उसे भला यह कैसे पता हो सकता है कि नासिका एक सीमा तक ही गन्ध ग्रहण करने में समर्थ है। सीमा से अधिक गन्ध होने पर वह गन्ध को सूचित करना बन्द कर देती है। यही कारण है कि अत्यधिक गंधवाली औषधियों की सुगन्धि दूर से तो प्राप्त होती है, किन्तु समीप जाने पर कुछ भी जान नहीं पड़ता। इस दशा में उस औषधि को पहचानने का कोई साधन नहीं रह जाता।

'अभी दोपहर नहीं हुआ है और मार्ग भी परिचित ही है।' राजकुमार ने दृढ़ निश्चय कर लिया था। 'हम अभी कई घण्टों तक इस गन्ध का अनुसरण कर सकते हैं। अन्ततः वन-भ्रमण ही तो करना है, आज इधर ही सही।'

सहसा सौरभ प्रान्त संकुचित होने लगा। सुगन्धि की तीव्रता एक निश्चित केन्द्र को सूचित करने लगी। पूरे एक योजन चले होंगे वे। भील अचकचाकर खड़े हो गये। उन्होंने एक झुरमुट की ओर राजकुमार को देखने का संकेत किया।

एक खूब सघन तमाल का वृक्ष था। नीचे पारसीक कालीन की भाँति कोमल हरित दूर्वादल फैला था। एक हाथ की कुहनी पृथ्वी पर टेककर उसी की हथेली पर मस्तक रखे कोई महापुरुष लेटे थे। पूरा लम्बा शरीर, मांसलकाय, गौरवर्ण, विशाल भुजाएँ, क्षीण कटि तथा विशाल वक्ष। उसकी हथेलियाँ तथा फैले हुए पैरों के तलवों की लालिमा एवं कोमलता किसी सद्योजात शिशु का स्मरण कराती थीं।

प्रकाश का एक मण्डल बन गया था चारो ओर। यह उनकी अङ्गकान्ति का प्रकाश था। घुँघराली काली रूखी अलकें धूल से भर गयी थीं और मुख-मण्डल के चारों ओर बिखर रही थीं। सम्पूर्ण दिगम्बर थे वे और शरीर पर धूलि छायी रहती थी। मन्द-मन्द मुस्कान प्राणों में वह मादकता फैला रही थी, जिससे युवराज सभी साथियों के साथ मन्त्र-मुग्ध हो रहे थे। करवट लेटे थे और सबने देख लिया कि लेटे-लेटे ही उन्होंने शौच कर लिया है। जिस सुगन्धि का अन्वेषण करते वे यहाँ तक पहुँचे थे, वह उसी मल से उद्भूत हो रही है।

आश्चर्य से राजकुमार ने वहीं अपना नाम बताते हुए पृथ्वी पर दण्डवत् की अश्व से उतरकर। महापुरुष ने जैसे न कुछ देखा और न सुना ही।

× × ×

'प्रयत्न की सीमा तो हो चुकी।' राजकुमार स्वयं महामन्त्री के निवास-स्थान पर जा पहुँचे थे। अत्यन्त आदरपूर्वक उन्होंने आसन दिया। अर्घ्य, पाद्यादि को उन्होंने निषेध कर दिया। महामन्त्री संकुचित हो रहे थे कि उन्हें ही क्यों नहीं बुला लिया था। युवराज के अनुरोध करने पर वे समीप ही दूसरे आसन पर बैठ गये थे। राजकुमार अपनी समस्या सुलझाने आये थे- 'मैं जितना ही प्रयत्न करता हूँ, अन्तर से उतनी ही प्रतिक्रिया होती है।'

अमात्य ने मस्तक झुका लिया। वे कुछ क्षण तक नीरव रहे। राजकुमार एकटक उनके मुख की ओर देख रहे थे। 'अन्ततः कोई ऐसा भी समय होता है, जब आपको शान्ति प्राप्त होती? भले वह शान्ति कुछ काल तक ही क्यों न रहती हो।'

मैंने आपसे एक तेजोमय महापुरुष की चर्चा की है।' उत्सुकतापूर्वक राजकुमार ने कहा।

'मैं परिचित हूँ उनसे।' महामन्त्री ने युवराज को चौंका दिया- 'मैंने उन्हें वन में देखा और वैसे त्रिभुवन-सुन्दर पुरुष छिपा नहीं करते। अश्वमेध के समय में मैं राजप्रतिनिधि के रूप में सम्राट् की सेवा में तीर्थराज में उपस्थित हुआ था। हमारा सौभाग्य है कि वीतराग होकर अवधूत-वेश में भारत सम्राट् भगवान् ऋषभदेव अपने श्रीचरणों से हमारी वनभूमि को आजकल पावन कर रहे हैं।'

'भगवान् ऋषभ देव!' राजकुमार और भी चौंके- 'एक सम्राट में यह शक्ति, इतनी शान्ति, इतना व्यापक प्रभाव?'

'सम्राट् तो अब उनके ज्येष्ठ पुत्र महाराजाधिराज भरत हैं।' महामन्त्री ने आदरपूर्वक मस्तक झुकाया- 'वे तो स्वयं श्रीहरि के प्रकट रूप हैं। यह सब तो नाट्य मात्र है उनका। श्रीमान् ने सुना नहीं कि लोक प्रसिद्ध योगाचार्य उनके श्रीचरणों में उपस्थित होकर अपने मार्ग के लिए प्रकाश की याचना करते रहते हैं?'

'आपने अभी तक प्रयत्न नहीं किया यह सब जानते हुए भी कि राजसदन उनकी पावनतम पद-धूलि से कृतार्थ हो? राजकुमार ने आश्चर्य के साथ अनुशासन का स्वर बनाया- 'महाराज क्या अवगत हैं इस बात से?' भला महाराज अवगत होते तो क्या महापुरुष अब तक यहाँ पधारते नहीं । राजकुमार ने धारणा कर ली।

'महाराज को अविदित नहीं है।' महामन्त्री गम्भीर बने रहे। 'वीतराग अवधूत

होकर प्रभु इस समय जड़, उन्मत्त एवं अज्ञानी नाट्य कर रहे हैं। कोई भी आग्रह, कैसी भी प्रार्थना उन निरपेक्ष को प्रभावित करने में असमर्थ हैं। आपकी एकान्त साधना ने ज्ञान नहीं होने दिया कि महाराज अभी चार दिन पूर्व ही महापुरुष के दर्शनार्थ पधारे थे।' राजकुमार प्रायः आजकल अपने विश्राम कक्ष में से बाहर नहीं निकलते थे और सेवक अत्यावश्यक से एक शब्द भी अधिक बोलने का उनसे साहस नहीं कर पाते।

'मेरा दुर्भाग्य' एक दीर्घ श्वास ली युवराज ने। 'मैंने देखा है कि जब भी मैं उन श्रीचरणों में उपस्थित हुआ हूँ, वासनाएँ स्वतः विलीन हो जाती हैं। मन चंचलता भूल जाता है हृदय में आनन्द का एक अजस्त्र प्रवाहित होने लगता है। कई दिनों तक बनी रहती है यह सम्पत्ति।'

'आप महाराज से आज्ञा ले लें।' महामात्य ने उत्साह के स्वर में कहा। 'उनके मिलने में कोई कठिनाई नहीं होगी। एक वस्त्र-शिविर, सेवक तथा सभी सुविधा सामग्री साथ रहेगी। आज्ञा मिल गयी तो यह सेवक भी सदा उपस्थित रहेगा। कुछ काल महापुरुष के समीप बने रहना आवश्यक है आपके लिए।

'कभी-कभी ही तो जा पाता हूँ।' असमंजस के स्वर में राजकुमार ने सूचित किया- 'न पाठ कर पाता हूँ और न जप। समस्त दैनिक कृत्य अव्यवस्थित हो जाते हैं। यही असुविधा होती है।'

'यह पाठ और जप, नियम और संयम, धारणा एवं ध्यान, ये सब हैं किसलिए?' स्नेह स्निग्ध कण्ठ था अमात्य का- 'ये सब मनोनिग्रह के लिए ही हैं। इन सबके द्वारा प्रयत्नपूर्वक दीर्घकाल में भी जो नहीं होता, उसे महापुरुष का संग कुछ क्षणों में ही सम्पूर्ण कर देता है। अतः आपको इस प्रपञ्च से परित्राण पाना चाहिये। दृढ़ होना चाहिए। उसी (महत्संग) की साधना कीजिये। (एकमात्र) उसी की (निश्चयपूर्वक) साधना कीजिये!!

❑❑

भगवान ने क्षमा किया

ऊँट चले जा रहे थे उस अन्धड़ के बीच में। ऊपर से सूर्य आग बरसा रहा था। नीचे की रेत में शायद चने भी भुन जायेंगे। अन्धड़ने कहर बरसा रखी थी। एक-एक आदमी के सिर और कपड़ों पर सेरों रेत जम गयी थी। कहीं पानी का नाम भी नहीं था और न कहीं किसी खजूर का कोई ऊँचा सिर दिखाई पड़ रहा था। जमाल को यह सब कुछ नहीं सूझ रहा था। उसके भीतर इससे भी ज्यादा गर्मी थी। इससे कहीं भयानक अन्धड़ चल रहा था उसके हृदय में। वह उसी में झुलसा जा रहा था। उसे पता तक नहीं था कि उसका ऊँट कहाँ जा रहा है। वैसे काफिले के दूसरे ऊँटों के साथ उसका ऊँट भी ठीक मार्ग पर ही चल रहा था। मार्ग की कल्पना ही थी, रेत के साठसे सौ, दो सौ फीट ऊँचे टीलों के मध्य में कोई मार्ग नहीं था।

ऊँटों की छाया छोटी से अब लम्बी होने लगी। पूरब में बढ़ने लगी। सूर्य पश्चिम में लुढ़कने लगा। अन्धड़ घट रहा था। धीरे-धीरे शाम हुई। उस धूलि भरे आकाश में डूबते सूर्य ने आग लगा दी। जैसे अपने चारों ओर इस आग को देखकर ही सरदार ने काफिले को एक चौरस ऊँचे स्थान पर रोकने का आदेश दिया।

'अरे जमाल, तुम क्या उतरोगे नहीं?' किसी ने उसके ऊँट की नकेल पकड़ ली। दूसरे ऊँटों के साथ वह भी खड़ा हो गया था और सोचता होगा कि उसका सवार क्यों उसे छुटकारा नहीं दे रहा है। वह जैसे जाग पड़ा हो। उतर आया ऊँट से। एक ओर उसी जलती रेत पर लुढ़क गया।

आज पाँच दिन हो गये काफिले को चले। नखलिस्तान के सूखते ही डेरा-डंडा उठ गया था और अभी तक दूसरे नखलिस्तान का पता नहीं था। हम रास्ता तो नहीं भूल गये हैं? इतना भयंकर था यह प्रश्न कि कोई मुख पर इसे लाने तक की हिम्मत नहीं कर सकता था। फिर भी सबके नेत्रों में यही प्रश्न था। 'या अल्लाह ! ऐसा न हो।' सबके हृदय एक स्वर से चिल्ला रहे थे। एक-एक बूँद पानी के लिए तड़प-तड़प कर मरना और अपने चाकू या दाँतों से अपनी ही नसों को काटकर रक्त पीना। क्या अर्थ है इसके अतिरिक्त मार्ग भूल जाने का?

दिन भर से एक बूँद जल कण्ठ के नीचे नहीं गया था। केवल शिशुओं को घण्टे-दो-घण्टे चिल्लाने पर एक चम्मच पानी मिलता था। कण्ठ सूख गये थे। सिर घूम रहा था और लगता था कि कलेजा निकल आवेगा। नेत्रों के आगे अंधकार छा रहा था और जलते हुए नेत्र बाहर निकल पड़ते थे।

मशकों का जल परसों खत्म हो गया। किसी के भी चमड़े के थैलों में एक बूँद पानी न रहा था। छोटे बच्चों के लिए रखा पानी भी तीसरे पहर पूरा हो गया। कल एक ऊँट हलाल हो चुका है। इस प्रकार ये पन्द्रह-बीस ऊँट कितने दिन चलेंगे।

'आज कौन अपना ऊँट देगा काफिले के लिए?' सरदार ने पूछा। वाणी उसकी अटक भी रही थी। जीभ सूख गयी थी।

'बारी तो हमीद की है।' कहने वाले ने हमीद को इस प्रकार देखा जैसे खा जायगा।

'वह तो है ही।' सरदार ने निश्चित उत्तर दिया- 'पर एक से क्या होता है? सब बहुत प्यासे हैं और कल के दिन के लिए बच्चों को भी पानी रखना ही होगा।'

'मेरा ऊँट ले लो।' बड़े आश्चर्य, आदर एवं चौंककर लोगों ने जमाल को देखा। भला अपना जीवन इतनी उदारता से कौन दूसरों को दे सकता है। इस भयङ्कर रेगिस्तान में ऊँट ही तो जीवन है।

'खुदा ने चाहा तो कल हम नखलिस्तान पहुँच जायेंगे।' कृतज्ञतापूर्वक सरदार ने कहा- 'तुम मेरे ऊँट पर मेरे साथ चलो और वहाँ पहुँचते ही हम तुम्हारे लिए ऊँट का वह बच्चा दे देंगे जो काफिले में पहले उत्पन्न होगा।' सरदार की ऊँटनी ही दो-चार दिन में बच्चा देने वाली है। काफिलेवालों को यह पता था ही और इस समय तो पानी का सवाल था। सस्ते महँगे सौदे का समय नहीं रहा था।

'मुझे कोई बदला नहीं चाहिये। जमाल ज्यों-का-त्यों रेत पर पड़ा था- 'अगर मुझे यकीन न हो कि अपने नखलिस्तान में हजरत इमाम से मिल सकूँगा और वह मुझे खुदा से माफी दिला देंगे तो मैं इस रेत से उठना भी पसन्द नहीं करूँगा।'

कृतज्ञता प्रकाश के लिए भी समय नहीं था। हमीद का ऊँट भी ले लिया गया और इसमें उससे पूछने की कोई बात नहीं थी। वह तो नखलिस्तान से चलते वक्त तय हुए क्रम में आता था। हमीद मन मसोसकर रह गया। रस्से से जकड़कर दोनों ऊँट गिरा दिये गये। निरीह पशु बलबलाकर रह गये। तेज छुरा उनके पेट में घुसा दिया गया। जरूर ही ऐसा करते समय मौलवी ने कलमा पढ़ने की तकलीफ की।

ऊपर की खाल उतारकर दाहिनी कोख में-से पानी की अंतड़ी सावधानीपूर्वक बाहर निकाली गयी। हाँ आँत भारतीय ऊँटों में नहीं होती। रेगिस्तानी ऊँट को जब पानी

नहीं मिलता तो इस आँत से पानी निकाल लेता है मुख में और इस प्रकार सात दिन तक वह अपनी प्यास अपनी आँत के पानी से बुझा सकता है। दोनों ऊँटों की आँतों में छिद्र करके सब पानी मशकों में भर लिया गया।

'पहिले जमाल को ! सरदार ने डाँटा। लोग अपने-अपने चमड़े के थैले लेकर टूट पड़े थे और कोई किसी से पीछे लेने को तैयार नहीं था। वैसे सबको बराबर-बराबर पानी बँटेगा, यह सब जानते थे। जमाल रेत पर पड़ा था और पानी में भाग बँटाने की उसने कोई चेष्टा नहीं की थी। अन्ततः एक अरब युवक उसके पास गया और उसका। थैला पानी से भरकर उसके पास रख आया।

'कल तक'- बस कल शाम तक ही जमाल बड़बड़ा रहा था- 'मेरे परवरदिगार, अगर कल शाम तक कोई रास्ता न मिला मुझे तुझसे माफी पाने का तो मैं तेरे दिये पानी और कवाब को नहीं कबूल करूँगा। कल न सही, परसों तक आफताब मुझे जरूर जला देगा और तब मैं खुद तेरे कदमों में अपने कसूर की माफी माँगने हाजिर हो सकूँगा।' कुल तीन-चार घूँट पानी उसने गले से नीचे उतारा।

× × ×

लम्बा छरहरा बदन, बड़ी-बड़ी आँखें, कश्मीरी सेव जैसा रंग। वह जितना सुन्दर था, उतना ही चञ्चल भी। सफेद तुर्रेदार पगड़ी में अपनी घुँघराले बाल छिपाये ढीला पाजामा और चोंगा पहिने दोपहरी में भी कैम्प में इधर-उधर उछलता रहता था। उसके उन्मुक्त हास्य से तम्बू गूँजता ही रहता था।

जमाल का बाप पिछले साल मरा है और माँ उसे बचपन में ही छोड़ गयी थी। अरब का लड़का रोता नहीं। नटखट जमाल कभी मनहूस सूरत में नहीं देखा गया। वह जैसे बचपन में किसी सोते हुए की नाक या खुले मुख में रेत की मुट्ठी डाल दिया करता था, वैसे ही अब भी बुड्ढों की लम्बी दाढ़ियों में अवसर पाकर खजूर के बीज फँसाने से नहीं चूकता।

कई सुन्दर लड़कियाँ उसे चाहती थीं। सरदार ने उसे अपना दामाद बनाना चाहा था और भी प्रस्ताव आते थे ! उसका एक बँधा उत्तर था- 'मैं बकरियों का झुण्ड चरा सकता हूँ, किन्तु एक मोटी बकरी गले में बाँध नहीं सकता। अभी कुछ बूढ़ा थोड़ी ही हुआ जा रहा हूँ।

बहुधा डाँटा जाता था। बूढ़े बिगड़ पडते थे उस पर, जब वह उनकी कोई वस्तु छिपा देता था। बड़े साफ दिल का था। सभी मन से उसकी इज्जत करते थे। किसी के क्रोध का उत्तर क्रोध से नहीं दिया उसने कभी। उसका हास्य सब उड़ा जाता था। साथ

ही अपनी किसी वस्तु के लिए इन्कार करना भी उसे आता नहीं था। उसके भाग का खजूर, पानी, कबाब दूसरे उड़ा जाते अक्सर। चमड़े का थैला, चाकू, कपड़े तो बहुत छोटी चीजें थीं।

भावुक था। रोजा उसने कभी नहीं छोड़ा और सुबह, शाम तथा दोपहर की तीन नमाज तो बराबर पढ़ ही लेता है। अपने तम्बू में वह अकेला है जो नमाज पढ़ते वक्त अक्सर रो पड़ता है। पता नहीं उस हँसी के पुतले में उस वक्त कहाँ से दुःख उमड़ पड़ता था। यों वह मजाक करने में खुदा को भी नहीं छोड़ता। अक्सर कहता है– 'मुझे अगर खुदा मिल जाय तो उसकी खूब घनी, उजली, लम्बी दाढ़ी में ढ़ेर से खजूर के बीज उलझा दूँ।' इतने बीज कि फरिश्ते दिन भर में भी न निकाल सकें।'

जमाल को अधिक आकर्षित किया है बूढ़े अहमद ने। वह हाथ से छोटी-सी खजूर के पत्ते की लकड़ी बनाकर, कमर झुकाकर काँपता, मुँह चलाता और जलती दोपहरी में तम्बू में अहमद की नकल करता है तो कहकहों की बाढ़ आ जाती है। बुड्ढा गालियों की बौछार शुरू करके अभिनय को और भी रसमय बना देता है।

'आज पानी से चलो कुछ मोटे-मोटे मेंढ़क पकड़ लायें।' उसने प्रस्ताव किया गुलनार से। यह उससे भी नटखट लड़की है। जमाल की शरारतों, स्वांगों और उछल-कूद में वह अक्सर शामिल हो जाया करती है। 'खूब मोटे-मोटे, पीले-पीले।'

'तू मेढ़क खाने लगा है, ऐं!' मुँह बिचकाया उस शैतान लड़की ने। 'मैं अभी जाकर अब्बा से कहती हूँ। सब कह दूँगी। अरब होकर तू मेंढ़क खाने लगा है। छि!' ताली बजाकर वह हँसते-हँसते दुहरी हो गयी। लोट-पोट हो गयी। उसी प्रकार हँसते-हँसते भागने का उपक्रम किया उसने।

'अब पिटेगी तू।' जमाल ने मुट्ठी भर घुँघराले बाल पकड़े उसके 'तेरे सिर में तो लीद भरी है और वह भी ऊँट की नहीं गधे की। गाय के गोबर की कल्पना भी नहीं पहुँचती वहाँ।

'छोड़, नहीं तो चिल्लाती हूँ।' दोनों हाथों से नोंच लिया उसने। मुख के सामने मुट्ठी कर दी– 'मैं कहूँगा कि तू रेत के पतंगें पकड़कर कच्चे ही चबा रही थी।' अपनी सूझ पर वह खुद खुलकर हँस पड़ा।

'झूठा कही का!' रोष का स्वाङ्ग किया लड़की ने, 'अरे, छोड़ तो! मेरे बाल उखड़े जा रहे हैं।' उसने स्वाङ्ग एवं आकृति ऐसी बनायी जैसे सचमुच उसे बड़ा कष्ट है।

'आज अहमद को खूब छकाना है।' जमाल ने एक बार खींचकर बाल छोड़ दिये।

'उफ, भाड़ में जा तू और अहमद भी!' लड़की ने मुख बनाया– 'मेरे बाल उखाड़ लिये।' बालों को संभालने लगी वह। क्रीड़ा में शामिल तो उसे होना ही था, चली कैसे जाती?

'सुन भी तो !' जमाल ने इधर-उधर देखा। कोई पास नहीं था। उनके षड्यन्त्र का पता किसी को न चले, इसलिए धीरे-धीरे कान में कुछ फुसफुसा गया उस लड़की के।

'बहुत खूब !' खिलखिला उठी वह कूद पड़ी- 'बुड्ढा भी क्या समझेगा।'

'चुप भी रह !' शायद वह उत्साहातिरेक में अभी भण्डा-फोड़ कर देती। सावधान किया जमाल ने और दोनों नखलिस्तान की ओर चले गये।

बुड्ढे को क्या पता था कि उसके साथ क्या-क्या शरारत की गयी है। वह अपनी पाँचवी नमाज पढ़ने जाये। नमाज पर जा खड़ा हुआ। उसका मुसल्ला दिन भर बिछा रहता है और वही एक है जो सातों नमाज बदस्तूर पढ़ता है।

जमाल थोड़ी दूरी पर बैठा गम्भीर बना था और उसके पास ही गुलनार पीछे को मुख किये, मुख में कपड़ा डाले, इस प्रकार हिल रही थी मानो भूकम्प आ गया है उसके पेट में। बुड्ढ़े का ध्यान इन शैतान लड़को की ओर नहीं था। दूसरे अपने-अपने बिस्तरों पर लेटे थे और कुछ लोग एकत्र होकर गप्पे लड़ा रहे थे।

बुड्ढा घुटनों के बल पर बैठा। गुलनार और जोर से हिलने लगी- 'तुझे जूड़ी तो नहीं आ गयी?' जमाल ने चुटकी ली। वह तनिक हटकर बिना बोले हिलती रही।

बुड्ढ़े ने मत्था टेका और कूद पड़ा वहाँ से इस तरह जैसे किसी साँप पर सिर पड़ गया हो। उसने गौर किया था पहले कि सिर रखने की जगह जाये नमाज कुछ ऊँची उठी है- 'या अल्ला !' वह चीख पड़ा और हाँफ रहा था। कोई जानवर नीचे से जाये नमाज को हिलाने लगा था।

सब चौंककर दौड़ आये। लड़के पेट पकड़कर लोट-पोट हो रहे थे। मुसल्ले का कपड़ा हटाते ही सब-के-सब हँसने लगे। पाँच मेढ़क खूब मोटे, पीले, रेत में गड्ढा करके एक लाइन से विराज रहे थे। उनके पैर आपस में बँधे थे और इसलिए कूदने की कोशिश करके भी वे कूद नहीं पा रहे थे !'

'नमाज के वक्त भी मजाक !' बुड्ढा गुस्से से चीख रहा था और काँप भी रहा था- 'खुदा का भी कसूर करने से नहीं डरते तुम?'

'खुदा का कसूर !' जैसे कलेजे में लगे ये शब्द। हँसी काफूर हो गयी। चेहरा स्याह पड़ गया। धक् से हो गया जमाल। उसने फिर नहीं देखा कि लोग हँस रहे हैं। गुलनार लोट-पोट हो रही है और बुड्ढा अहमद एक स्वर में गालियाँ बके जा रहा है। दोनों हाथों से सिर पकड़ लिया उसने।

× × ×

चहचहाता कैम्प मनहूसी का डेरा हो गया था। नखलिस्तान तो क्या सूखा,

सबको एक आफत से छुटकारा मिला। दूसरी जगह जमाल की तबियत में फर्क आने की उम्मीद ने किसी को रास्ते की दिक्कतें सोचने नहीं दीं। जो दिनभर सबको हँसाता रहता था, उसका अचानक अपने आप में घुलते रहना और उसाँसे लेना सबको तकलीफदेह था। उसकी उदासी ने तो शैतान की खाला गुलनार जैसी लड़की को भी गुमसुम बना दिया था।

किसी का समझाना-मनाना काम नहीं आया। बुड्ढे अहमद ने आँखों में आँसू भरकर उसे पुचकारा। उसका एक उत्तर है- 'खुदा के कसूर को तो खुदा ही माफ कर सकता है।' गुलनार के स्नेहभरे हाथ को उदासी से उसने हटा दिया और उसका आँसू भरा खेलने, घूमने और तनिक से टहलने का आग्रह भी उपेक्षित हो गया।

× × ×

मार्ग की तकलीफें भूल गयीं सबको जब उन्हें एक खूब बड़ा, ऊँचे-ऊँचे खजूर के फलों से लदे पेड़ों से घिरा, दूर तक घास के मैदान से हरा-भरा नखलिस्तान मिला। सबसे बड़ी बात तो यही थी कि वहाँ उन्हें किसी फिरके से लड़ना नहीं पड़ा था। वैसे अपने भालों को उठाये, मरने-मारने को तैयार होकर ही उन्होंने नखलिस्तान की भूमि में प्रवेश किया था। लड़ाई का न होना ही आश्चर्य का विषय था। कुल में एक छोटा तम्बू था नखलिस्तान में। एक पागल बुड्ढा उसमें रहता था। बुड्ढे ने कोई एतराज नहीं किया इनके बसने में और उस बुड्ढ़े को जिसे सारा अरब श्रद्धा से सिर झुकाता है, खदेड़ने की आवश्यकता नहीं जान पड़ी। साहस भी नहीं था किसी में।

तम्बू खड़े हो गये एक गोलाई में। बीच में दोपहरी में आराम करने के लिए एक बड़ा तम्बू लगा। सब दोपहरी में इसी में रहते हैं। ऊँट चरने को छोड़ दिये गये। भरपेट पानी पिया सबने और खूब खजूर खाये। मशकें और घड़े भरकर रख दिये गये।

'जमाल ने अब तक न तो पानी पिया और न कुछ खाया ही है।' सबसे पहिले गुलनार को उसकी याद आयी। अभी तक सभी अपने खाने-पीने और तम्बू लगाने में तथा सामान रखने में लगे थे- 'वह चुपचाप रेत पर पड़ा है।' सरदार की प्यारी लड़की ने अपने अब्बा का ध्यान आकर्षित किया और कुछ खजूर तथा चमड़े के थैले में पानी लेकर दौड़ गयी।

'थोड़े खजूर खा लो और पानी पी लो!' प्रायः सारा काफिला उसे घेरकर खड़ा हो गया था। सभी का एक ही हठ था। अँधेरा बढ़ता जा रहा है। हम लोग तुम्हारा तम्बू खड़ा कर देते हैं और सामान भी ठीक-ठिकाने लगा देते हैं। इस तरह दो दिन भी नहीं जी सकते।'

'मैं मर जाऊँ तो मुझे यहीं दफना देना।' वह तो रो रहा था और न गुस्से में ही जान पड़ता था। बड़ी नम्र वाणी थी उसकी। 'मेरे लिए पाक परवर-दिगार से दुआ करना कि

वह मुझे माफकर दें। किसी के समझ में नहीं आता था कि इस जिद्दी लड़के को कैसे समझाया जाय।

'कोई बुला लाओ हजरत इमाम को।' रोते-रोते गुलनार ने अपनी आँखें सुर्ख कर ली थीं, 'मैं खुद जाती हूँ। ये उनकी बात जरूर मान लेंगे।'

'वह तो पागल है।' सरदार ने अपनी लड़की का हाथ पकड़ा स्नेह से 'तुझे मार न बैठे। वह किसी की बात न तो सुनता और न समझता है।' सबने आते ही उस बुड्ढे को रंग-ढंग से खतरनाक पागल समझ लिया था। उनकी समझ में नहीं आता था कि क्यों सारे अरब में वह 'पहुँचा हुआ फकीर' माना जाता है।

'माफ किया मैंने तुझे !' पता नहीं कहाँ से वह पागल खुद ही दौड़ता हुआ भीड़ में घुस आया। जमाल के सिर पर हाथ रखकर उसने स्नेह से कहा- 'मेरे भोले बच्चे ! मैंने तुझे माफ कर दिया।'

'माफ कर दिया?' जमाल जैसे जी उठा। हृदय से एक भार उतर गया। फकीर के पैर चूमे, इससे पहले ही वह पागल फकीर जैसे आया था, वैसे ही भीड़ हटाता भाग गया।

'तू तो सीधे खुदा से माफी माँग रहा था न?' गुलनार ने जब जमाल को हँसाकर पानी पिला लिया और खजूर खिला चुकी, तब छेड़ा। हँस रही थी वह।

'मुझे खुदा ही ने तो माफ किया है।' जमाल गम्भीर बन गया- 'हजरत इमाम पहुँचे हुए फकीर हैं और हैं और उस (परमात्मा) में और उसके बन्दों (भक्तों) में फरक दूर हो चुका होता है।'

❑❑

हृदय परिवर्तन

'मैडम! यह मेरा उपहार है- एक हिंसक डाकू का उपहार!' मैडम ने आगन्तुक के हाथ से पत्र लेकर पढ़ा। 'मैं कृतज्ञ होऊँगा, यदि इसे आप स्वीकार कर लेंगी।' चर दोनों हाथों में एक अत्यन्त कोमल, भारी बहुमूल्य कम्बल लिये, हाथ आगे फैलाये, मस्तक झुकाये खड़ा था।

'मैं इसे स्वीकार करूँगी।' एक क्षण रुककर मैडम ने स्वतः कहा। उनका प्राइवेट सेक्रेटरी पास ही खड़ा था और मैडम ने उसकी ओर पत्र बढ़ा दिया था। 'तुम अपने स्वामी से कहना, मैंने उनका उपहार स्वीकार कर लिया है केवल एक शर्त पर - 'वे कल प्रातः मुझसे मिलेंगे। उन्हें कल मिलना चाहिये।' मुक्ति फौज की सर्वोच्च सेनानी के स्वर में दृढ़ आज्ञा थी। चर ने मस्तक झुकाया। सेक्रेटरी ने उसके हाथ पर से कम्बल उठा लिया।

एक भारी कम्बल- आप उसका मूल्य समझ नहीं सकेंगे। दाने के एक-एक कण के लिए लोग तरस रहे थे। सवग्रासी अकालने अपनी निष्ठुर दाढ़ों से बालक-वृद्ध, स्त्री-पुरुष, सबल-निर्बल सभी को 'कच-कच' करके चबाना प्रारम्भ कर दिया था। टाट के एक टुकड़े के बिना रात्रि के शीत में अनेकानेक मानव शरीर हिम-शीतल हो जाते थे। भास्कर की रश्मि उनके अकड़े-सिकुड़े चर्म में चेतना लौटाने में असमर्थ होती थी। कोई उनके शव को उठाने वाला भी नहीं था। वहाँ एक रोटी या एक चद्दर का मूल्य ही था जीवन। कम्बल के मूल्य का आप अनुमान कर सकते हैं।

चर ऊपर से नीचे तक काली फौजी वर्दी में यमराज का दूत प्रतीत हो रहा था। दाढ़ी-मूछें बढ़ा रखी थी उसने और उसके लाल-लाल नेत्रों से क्रूरता टपक रही थी। कन्धे से बगल तक कारतूस की पेटी झूल रही थी। बायें कन्धे पर चमड़े की पेटी के सहारे भारी दुनाली राइफल लटक रही थीं और कटि में दोनों ओर दो तलवारें बाँध रखी थी। उसका लौह शरीर पूरा ऊँचा दैत्याकार था।

गौरवर्ण भी इतना भयंकर हो सकता है, कोई सरलता से कल्पना नहीं कर सकता। सीधा खड़ा हो गया वह। पैरों के भारी बूटों ने 'खट्' शब्द किया और उसने फौजी सलामी दी। दाहिनी ओर घूमकर चल पड़ा पीछे। दूर पेड़ की टहनी से उसका

काला घोड़ा बँधा था। कूदकर चढ़ा और सघन वन में अदृश्य हो गया।

'यह स्वयं डिक् तो नहीं है?' सेक्रेटरी उसे एक टक देखता रहा था तब तक जब तक उसका घोड़ा अदृश्य नहीं हो गया।

'डिक् नहीं हो सकता।' मैडम ने उत्तर दिया– तुम्हें समझना चाहिए कि डिक् मेरे नेत्रों को धोखा नहीं दे सकता और वह इतना कायर भी नहीं है कि मेरे सम्मुख आने में भी इतने हथियारों का भार ढोने की आवश्यकता अनुभव करे।'

'आपने उसका उपहार लेकर अच्छा नहीं किया!' सेक्रेटरी पहले ही विरोध करते यदि चरके सम्मुख बोलने का प्रश्न न होता या मैडम ने एकाएक स्वीकृति न दी होती। 'वह इस बहाने अब अपने आदमी भेज सकेगा। आपने स्वयं आमन्त्रित भी कर दिया है। हम लोगों की गतिविधि का पता लगाकर आक्रमण कर देगा।'

'मुक्ति फौज का सैनिक भी भीरू है!' मैडम ने झिड़का 'तुम्हे बार-बार बताया गया है कि परमात्मा के अतिरिक्त किसी से डरो मत। तुम्हें प्रेम करना है– एक ओर से। छोटे-बड़े, पापी-पुण्यात्मा, सबल-दुर्बल सबसे प्रेम। सबकी सेवा करनी है और सेवा का अवसर ढूँढ़ना है।' वाणी में ओज था, गाम्भीर्य था और था स्नेह।

'हम न तो उसे पुलिस में ही देना चाहते हैं और न दण्ड ही।' अभी भी मैडम के कार्य का औचित्य उनकी समझ में आया नहीं था– 'हम केवल उससे सावधान रहना चाहते हैं।'

'तुम्हारा बस चले तो तुम वह भी कर डालोगे।' तनिक रोष भरे स्वर में मैडम बोल रही थीं– वैसे उन्हें रुष्ट होते किसी ने देखा नहीं है– 'तुम सावधान रहना चाहते हो? दूसरे शब्दों में तुम दूर रहना चाहते हो उससे, जिसे तुम्हारी सहायता की सबसे अधिक आवश्यकता है। शरीर स्वस्थ होते हुए भी जिसकी अन्तरात्मा मर रही है। शैतान के अनवरत प्रहार जिसे अन्धकार में अधिक-से-अधिक ठेलते जा रहे हैं।'

सेक्रेटरी मौन हो गये। उन्हें अपने सेनापति में पूर्ण विश्वास था। मैडम की आध्यात्मिक शक्ति से वे भली भाँति परिचित थे। समझ लिया उन्होंने कि कल प्रातः कोई-न-कोई चमत्कार अवश्य देखने को मिलेगा।

'मुझे अभी डिंकन जाना है। मेरा घोड़ा तैयार कर दो।' इस सत्तर वर्ष की अवस्था में उनमें युवावस्था का स्वास्थ्य, स्फूर्ति एवं शक्ति विद्यमान थी। घोड़े पर तीस माइल जाकर लौट आने का प्रोग्राम बनाने में उन्हें एक सैकण्ड भी सोचना नहीं पड़ता था– 'कल प्रातः हम डिक् के साथ सबेरे की प्रार्थना करेंगे।'

'डिक् के साथ प्रार्थना!' सेक्रेटरी चौके 'वह क्या प्रार्थना करना स्वीकार भी करेगा? उसे भला परमात्मा और उसकी दया से क्या मतलब?'

'वह भी मनुष्य है, यह क्यों भूलते हो तुम।' मैडम ने स्नेह-स्निग्ध स्वर में समझाया– 'उसके भी हृदय है और उसके हृदय में सुख-दुःख होता है। सर्वेश में किसी का

कोई भाग नहीं है। वे सबके हैं। सभी उन्हें पुकारते हैं। सभी उन्हीं से शक्ति प्राप्त करते हैं।'

ऐसी बातें सेक्रेटरी उनसे प्रायः सुनते हैं। समझने का प्रयत्न भी करते हैं। किन्तु जिन संस्कारों में उनका पालन एवं अभिवर्धन हुआ है, वे इनके विरुद्ध हैं। निर्मल हृदय की परमात्म-पुकार तो वे समझ सकते हैं, किन्तु एक डाकू की...।

× × ×

अचानक दक्षिणी अमेरिका में अकाल पड़ गया था। दो वर्ष से वर्षा नहीं हुई। ऊपर से घोर हिमपात हुआ। वृक्ष पत्रहीन खड़े थे। पृथ्वी से जैसे किसी ने सब घास छील डाली हो। कहीं न एक तृण दृष्टि पड़ता था और न पत्ता। अब भी प्रायः नित्य रात्रि में हल्का पाला पड़ रहा था। यों ही आवागमन के प्रशस्त मार्ग नहीं थे। जो थे भी उन्हें पहाड़ियों की घाटियों में भयङ्कर हिमपात ने अवरुद्ध कर रखा था। विश्व से वह उजाड़ प्रान्त पृथक-सा हो गया था।

पक्षी हिम के उदर में पहले ही पहुँचे थे। उस श्वेत महादैत्य ने बहुत से पशु भी भक्षण कर लिये थे। तृण-पत्र के अभाव में शेष कब तक जीवित रहेंगे। पेट की प्रकाण्ड ज्वाला ने विश्वामित्र जैसे महर्षि को श्वपच के गृहसे कुत्ते के माँस को चुराने के लिए विवश किया था। क्षुधातुर मानव को जब एक-एक दाने अन्न के लिए तड़पकर मरना होता है- खाद्याखाद्य का भेद उठ जाता है। सभी प्रकार के पशु तीव्रता से क्षीण हो रहे थे।

सहायता की सहृदयता लेकर तो बहुत कम पहुँचे थे। मजदूरी बेहतर सस्ती हो गयी थी और सोने की खानों का पृथ्वी गर्भ में पड़ा सोना सुदूर यूरोप के उद्योगपतियों को भी सुख की नींद नहीं सोने दे रहा था। पूँजीपति अपने आप में बड़ा सुदृढ़ दार्शनिक होता है। विश्व रहे या मिट जाय, लोग चिल्लाये या मरें, वह अडिग रहता है। उसके सामने रहती है पूँजी और पूँजी की अभिवृद्धि। वह खूब जानता है कि विश्व का हाहाकार, युद्ध एवं अकाल ही उसके लिए मंगलमय आशीर्वाद है। वस्तुओं की माँग और अभाव के काल में ही वह मनमाने दाम वसूल कर पाता है।

यूरोप तथा मध्य अमरीका के प्रायः सभी महान उद्योगपतियों ने त्वरा की। उनके प्रतिनिधि क्षुधातुरों पर दया करके हिम एवं शैत्य की चिन्ता छोड़कर मातृभूमि से सहस्रों योजन दूर दौड़ आये। कोड़ी के मूल्य भूमि खरीद ली गयी- और पृथ्वी से चमकीला पीला सोना पत्थरों से पृथक् किया जाने लगा। बिना काम किये मनुष्य को कुछ मिलता है तो वह आलसी और आवारा हो जाता है। उद्योगपतियों ने अपनी सहायता का उद्धार- मार्ग बहुत सोच-समझकर निश्चित किया था। अन्यथा वे आये तो सहायता करने ही थे।

डिक् इस नाम से काँपते थे आगन्तुक एवं सम्पन्न निवासी। बड़ा भयंकर डाकू था वह। प्राय: सौ-सौ मील दूर के स्थानों पर छापे मारता। सुदूर देश से भूख से तड़पते अमरीकनों की सहायता के लिए दया परवश आये धनाधीशों पर उसे तनिक भी दया न आती थी। पता नहीं उस पर सातवें आसमान का मालिक क्यों अपना कहर-बरसा नहीं करता। उसे तो दोजख में भी जगह नहीं मिलेगी।

लूट-पाट और हत्या। उजाड़ पत्रहीन बन चारों ओर छाये थे। पहाड़ों में गुफाओं का अभाव नहीं था। अचानक डिक् साथी मधुमक्खियों की भाँति भनाभन फायर करते भूत की तरह कहीं से निकल पड़ते। लोग स्तब्ध- भयभीत हो उठते। गृहों के द्वार बन्द हो जाते। कहीं अग्नि लगती, कहीं चीख-पुकार होती। घण्टे-आध-घण्टे में कोई महल अपनी साज-सज्जा और सम्पत्ति से रिक्त हो जाता। वे सब डाकू चुटकी बजाते ऐसे गायब हो जाते जैसे खरगोश के सिर से सींग।

सरकार ने एक लाख का पुरस्कार घोषित किया था डिक् को जिन्दा या मृत पकड़नेवाले के लिए। उसके साथियों के लिए भी पृथक्-पृथक् पुरस्कार थे। धनाधीश ने कई पुरस्कार स्वयं भी घोषित किये थे। पुलिसवाले आलसी होते हैं। बातें तो बड़ी-बड़ी बघारते हैं; किन्तु उस दुर्दम डाकू के सम्मुख होते ही बस सिट्टी-पिट्टी गुम हो जाती थी। स्थानीय जासूस मूर्ख सिद्ध हो चुके थे और यूरोप से बुलाये गये जासूस भी कुछ अधिक बुद्धिमान नहीं प्रमाणित कर सके अपने को।

पत्रों को मसाला मिल गया था। भूख, अभाव, मृत्यु एवं सहायता कार्य के विवरण संक्षिप्त हो गये। बड़े-बड़े शीर्षक होते थे डिक् की डकैतियों के। उसके सम्बन्ध में प्रचलित नाना प्रवादों से कालम रंगे जाते थे। क्षुधा से तड़फते, चिल्लाते, बिलबिलाते और दम तोड़ते मानव कीटों के मध्य में जब कोई दिव्य भवन सुन्दररियों के अलाप एवं थिरकन से घरों पर अमरावती का अवतरण करने के दिव्य प्रयत्न में होता, बोतलों के कार्क खटाखट खुलते और प्यालों में बाँके मतवाले नेत्र मछलियों के समान तिरने लगते- पता नहीं कहाँ से दाल-भात में मूसरचन्द डिक् और उसके साथी बीभत्स कर्णकटु भयङ्कर बन्दूकों का फायर करते आ धमकते। हाय, कोई है बेचारे कुसुम कलेवर, मादक हृदय, मृदुल कलापूर्ण मानसों की रक्षा करने वाला इन यमदूतों से।

'न सभ्यता और न शिष्टता! पूरे उजड्ड, खूँखार हैं। रसिकता और कला का तनिक भी सम्मान करना नहीं जानते। दूर देश से दया प्रेरित पधारे इन धर्मावतारों के महान् कार्य को ध्वस्त करने में उन्हें परमात्मा का भय भी नहीं लगता। कितने आलसी हैं पुलिसवाले। मक्कार सब-के-सब डिक् से मिले हुए हैं। संसार के सारे जासूस मूर्ख हैं। उनसे एक जंगली नहीं पकड़ा जाता।' डिक् पर शिष्ट वर्ग का रोष बढ़ता जाता था।

शैतान उसकी खूब मदद करता है। लोगों ने आँखों से देखा है शैतान को डिक् के पीछे खड़े। उसके सहचर कोई आदमी नहीं है। शैतान ने अपने सेवक दे रखे हैं उसे।

वह लूट का माल समुद्र में फेंक आता है। केवल लोगों को कष्ट देना है उसको। अकाल, हिमपात मैदान की सृष्टि है। अब डिक् के रूप में खुद शैतान ही उपद्रव कर रहा है।' अनेक किवन्तियाँ फैली थीं डिक् के सम्बन्ध में। कभी-कभी वे पत्रों तक पहुँच जाती थीं।

मुक्ति फौज का सदर दफ्तर बहुत पहले दक्षिण अमरीका पहुँच गया। आते ही उसने अपना कार्य प्रारम्भ कर दिया। चिकित्सा, औषधि-वितरण, भोजन, दान एवं वस्त्र-वितरण। दूर-दूर गाँवों में उनकी शाखाएँ फैल गयीं थी। पर्वतों पर, उजाड़ वनों में, खुले मैदानों में, सब कहीं उनके कैम्प पड़े थे।

सर्वोच्च सेनाध्यक्ष ने पहुँचते ही निश्चय कर लिया- स्वर्ण क्षेत्र में मुख्य कार्यालय ले जाने का। वही सबसे दुर्दशाग्रस्त क्षेत्र था। अत्यन्त बीहड़ बन, हिमाच्छादित घाटियाँ, पगडण्डियों के लुप्तप्राय पथ, बहुत दुष्कर था वहाँ तक पहुँचना। डाकू डिक् का भयङ्कर उत्पात उस क्षेत्र में व्याप्त था। कोई सहमत नहीं था उधर जाने के प्रस्ताव से। यही क्या कम सहायता कार्य है? निश्चय करके हटना मैडम ने सीखा ही नहीं। फौज में मतगणना नहीं होती। उन्होंने आदेश दे दिया।

'मेरा मस्तक आज तक किसी के सम्मुख नहीं झुका है।' ऊषा की लालिमा पूर्व के झरोखे से झाँकने लगी थी। वृक्ष तेज हवा के झरोखों से काँप रहे थे। पाला पड़ी पृथ्वी उज्ज्वल से गैरिकवर्ण होती जा रही थी। जैसे आज उसे भी विराग हो गया है मानव के आकुल क्रन्दन देखकर। एक लम्बा, पतला, गोरा पुरुष घोड़े से कूदकर शिविर से बाहर निकलते ही मैडम के सम्मुख खड़ा हो गया। न दाढ़ी, न मूँछ। भव्य ललाट, प्रशस्त मुखमण्डल। किसी सम्भ्रान्त कुल का होगा। उसकी पोशाक उसे उच्च सैनिक अधिकारी सिद्ध कर रही थी। अभी तीस-बत्तीस से अधिक का न होगा। सुपुष्ट सुन्दर शरीर दर्शक को आकर्षित कर लेता था।

मुख में दया का नाम नहीं और मैं जानता तक नहीं कि दूसरों का आदर कैसे किया जाता है।' उसका स्वर दृढ़ किन्तु कोमल था- 'मैंने आपका नाम सुना था। पता नहीं क्यों आपके लिए मेरे हृदय में आदर के भाव है। कल मैं बड़ा प्रसन्न हुआ जब मेरे चरने बतलया कि आपने मेरा उपहार स्वीकार कर लिया।

'मैं अभिवादन करता हूँ। आज्ञा पाते ही ठीक समय उपस्थित हुआ हूँ। जीवन में पहला व्यक्ति मुझे मिला जो डिक् को आज्ञा दे सके।'

'मैं तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही थी।' मैडम ने हाथ बढ़ाया। डिक् ने सोचा नहीं था कि इतना शक्तिशाली हाथ होगा एक महिला का। 'आओ हम सर्वेश की प्रार्थना करें।' समय हो गया था। बैण्ड बजने लगे थे। बिगुल का शब्द समाप्त होते-होते छोटे से मैदान में कैम्प के सब सैनिक अपनी वर्दी में पक्तिबद्ध खड़े हो चुके थे। मैडम सबके सम्मुख खड़ी हुई और डिक् उनसे दो कदम पीछे।

प्रार्थना प्रारम्भ हो गयी। मैडम के नेत्र आकाश की ओर लगे और उनसे अश्रुपात हो रहा था। किसी ने नहीं देखा कि कब उद्धत डाकू पीछे से आगे बढ़ा और घुटने टेककर मैडम के पैरों के पास बैठ गया। पता नहीं कब से बैठा था वह। सभी उस दिव्य वातावरण में ईश्वरीय सत्ता में डूब चुके थे। प्रार्थना की समाप्ति पर सबने देखा, मैडम के जूते भीग गये हैं और वह दोनों हाथों से रोते हुए डाकू को उठाने का प्रयत्न कर रही हैं।

'यह पत्थर को पिघला देनेवाली शक्ति कहाँ से आयी आपमें!' डाकू शीघ्र आश्वस्त हो गया।

'मैं प्रेम करती हूँ।' मैडम ने स्निग्ध स्वर में उसे सम्बोधित किया- 'मेरे भाई, मैं सम्पूर्ण प्राणियों से प्रेम करती हूँ!'

'सम्पूर्ण प्राणियों से प्रेम?' डाकू भौंचक्का रह गया। उसका कण्ठ आश्चर्य ने तीव्र कर दिया था- 'यह कैसी बात? अच्छे और बुरे सभी प्राणियों से?'

'मैं महात्मा ईसा से और डाकू जिससे भी।' मैडम का स्वर गम्भीर हो गया-

'तुम क्या नहीं देख रहे हो? मेरा काम प्रेम करना है, दोष देखना नहीं, मैं सेवा करती हूँ- दण्ड नहीं देती। मुझे डॉक्टर बनने में आनन्द आता है- न्यायाधीश बनने में नहीं।'

'आप प्रेम करती है।' कुछ रुक-रुककर डाकू कह रहा था। उसका स्वर मन्द पड़ गया था-'डाकू डिक् से भी आप प्रेम करती है?' जैसे वह किसी गहनतम समस्या को सुलझा रहा हो।

'तुम ईसाई हो न?' मैडम ने उत्तर की अपेक्षा नहीं की- 'प्रभु ईसा ने तुम्हें दण्ड या घृणा करने की आज्ञा भी दी है? 'एक गाल पर थप्पड़ मारनेवाले के सम्मुख दूसरा गाल भी कर दो।' पढ़ा नहीं है तुमने बाइबिल में? अच्छे और बुरे का फैसला करने का अधिकार तुम्हें किसने दिया? क्या सुख पाओगे तुम इस रूखे विचार में लगकर?'

कुछ देर के लिए शान्ति हो गयी। सभी चुपचाप सुन रहे थे इस दिव्य वाणी को। डाकू का मस्तक झुका हुआ था। वह कुछ गम्भीरता से सोच रहा था। सम्भवतः आत्मसात करने के प्रयत्न में लगा था उपदेश को।

'कहाँ पाया आपने यह प्रेम?' मौन भङ्ग किया उसने 'मेरे हृदय में तो वह ढूँढने से भी नहीं मिलता? कैसे मिलेगा वह?

'जब मै नन्हीं बच्ची थी- जबसे मैंने होश सम्भाला है' मैडम ने भाव-विभोर होकर बताया- 'मेरी प्रार्थना में कभी बाधा नहीं पड़ी। रोग, शोक और स्वजनों का पड़ा मृत शव कोई उसे रोक न सका। यह प्रेम प्रभु की भक्ति से ही मिलता है और हर कोई- तुम भी उसे पा सकते हो। यह भक्ति अखण्ड भजन से प्राप्त होती है।

❑❑

ममता

"मैं अरु मोर तोर तैं माया।
जेहि बस कीन्हे जीव निकाया।।"

'यह सुनहली धूप देखते हो न? बिना प्रसंग के बीच से ही कोई भिन्न बात उठा देना उसकी प्रकृति में है। वह केवल लेखन के क्षेत्र में ही नहीं, जीवन-क्षेत्र में भी अटपटा-सा ही है।

'बड़ी सुन्दर धूप है।' मित्र ने बिना विशेष ध्यान दिये बात को समाप्त कर देना चाहा। किसी भी सौन्दर्य पर ध्यान देने योग्य उसकी मानसिक स्थिति इस समय नहीं है। वर्षा हो चुकी है। स्नान किये वृक्षों से मुक्ता बिन्दु झर रहे हैं। लताएँ झूम रही है। तृण हीरक कणों से अलंकृत हो रहे हैं। कौवे पतिंगों का आखेट करने में लगे हैं। नन्हें पक्षी चहक रहे हैं, फुदक रहे हैं और अपने पंख झाड़ रहे हैं। आकाश अब भी आच्छन्न है। कुछ क्षण पहिले सीकर झड़ रहे थे और अब बादलों का एक टुकड़ा सूर्य के सम्मुख से हट गया है। धुली पत्तियाँ चमक उठी है। दिशाएँ जैसे पिघले सोने में डुबकी लगाकर निकल आयी हों। कितनी सुन्दर कितनी आकर्षक है यह धूप, किन्तु उसके मित्र को यह अच्छा नहीं लगा कि जो गम्भीर चर्चा चल रही थी, उसमें यह कविता बाधा दे। वह कविता सुनने का धैर्य लेकर आया नहीं है।

'एक क्षण इसे देख लो। यह सुवर्ण ऐसा नहीं जिससे आभूषण बनवाया जा सके। यह तो अभी बादलों के पद में जा छिपेगा।' दूसरे की रुचि पर बहुत कम ध्यान देता है वह।

'लेकिन तुम्हारी तो आभूषणों में कोई रुचि नहीं!' मित्र को कुछ चिढ़ हुई, कुछ दु:ख हुआ जिसका आभूषण बन सकता है, वही स्वर्ण कहाँ हाथ में रहता है।'

'मनुष्य अपने को जितना आबद्ध करेगा, उतना ही दुखी होगा।' वह फिर गम्भीर हो चला था। जैसे कोई पक्षी पंख फैलाये उड़ता आवे। छाया दौड़ी आ रही थी- दौड़ी आ रही थी और ऐसा लगा, जैसे वह धूप को खदेड़ते बढ़ती चली जा रही हो। आगे भागी जा रही थी वह सुनहली धूप। उसके नेत्र अब भी उस भागती जाती धूप पर लगे

थे। माया की सुनहली चमक के पीछे दौड़ता बेचारा मनुष्य कोई इस धूप को पकड़ने दौड़े, उसे भ्रान्ति तथा निराशा के अतिरिक्त और क्या मिलेगा?

'तुमको किसी चिकित्सक के पास ले चलना पड़ेगा।' मित्र ने अभ्यासवश कहा। वे उससे प्राय: ऐसा परिहास कर लेते हैं।

'तुम कहते हो कि मैं पागल होने जा रहा हूँ।' अब उसने अपने मित्र को भली प्रकार घूमकर देखा। 'सच तो यह है कि हम सभी पागल हैं। कोई कुछ कम, कोई कुछ अधिक। यदि ऐसा न हो, बिना सोचे समझे अन्धाधुन्ध दौड़-धूप, हाय-हत्या संसार में कैसे चले। अन्तर इतना ही है कि मैं तुमसे कुछ अधिक सोचने का प्रयत्न करता हूँ।'

'तुम्हारे इस प्रयत्न ने ही तुम्हारे सिर को अव्यवस्थित कर दिया है।' मित्र ने एक ठहाका लगाया। 'तुम अपने प्रयत्न को बन्द कर दो तो ठीक हो जाओगे नहीं तो प्रत्येक पागल अपने को तुम जैसा ही विचारवान मानता है।'

'मानना एक बात है और होना दूसरी बात।' उसकी यही तो विशेषता है कि परिहास, दु:ख, विपत्ति चाहे जो आवे, वह अपना गाम्भीर्य भंग नहीं होने देता। प्रत्येक स्थिति तथा बात को अपनी विचारधारा में एक गम्भीर रूप दे देना लगभग उस अमावस्या की रात्रि-जैसा उसका स्वभाव है, जो प्रत्येक पदार्थ को अपनी काली यवनिका से ढ़ककर अलक्ष्य एवं दुर्बोध बना देती है।

'यह रूमाल तुम्हारा है- यह तुम मानते हो।' एक क्षण रुककर उसने मित्र के हाथ के सुन्दर रूमाल की ओर देखा।

'मानते हो का अर्थ?' मित्र ने तनिक व्यंग से कहा- 'तुम क्या कहना चाहते हो कि मैं इसे किसी से माँग लाया हूँ या चुरा लाया हूँ?'

'ऐसा नहीं!' अब वह भी मुस्कराया।' यदि कदाचित् इसे मेरा वह लिली तुम्हारे हाथ से झपट ले जाय और अपने कोच पर दौड़ जाय।'

'तुम्हारा यह झबरा कुत्ता बहुत चञ्चल है, सो मैं जानता हूँ।' मित्र ने चौंककर पीछे देखा। कहीं लिली रूमाल झपटने पीछे तो नहीं आ गया है। 'मैं अपना रूमाल उसे फाड़ने नहीं दे सकता। उसके कान मैंने उस दिन उमेठ दिये थे। अब वह मेरे साथ धृष्टता नहीं करेगा।'

'सो तो नहीं करेगा।' वह फिर हंसा 'लेकिन तुम्हारा रूमाल मुझे अच्छा लगता है।'

'भला तुम्हें रेशम अच्छा तो लगा।' मित्र ने रूमाल उसके ऊपर फेंक दिया। 'मेरे पास और कई हैं, तुम इसे रखो। चोरों ने रूमाल छोड़ दिये हैं। तुम्हारे काम यह आ जाय तो मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी।'

'अब कल मेरे हाथ से इसे लिली झपट ले....?' उसने पूछा।

'मेरी बला से।' मित्र ने मुँह बनाया 'तुम अपना रुमाल खो दोगे।'

'जो वस्तु इतनी शीघ्रता से तुम्हारी न रहकर मेरी हो गयी, वह तुम्हारी थी- यह तुम मानते ही तो थे।' वह फिर गम्भीर हो गया। 'मेरा लिली बहुत करेगा तो एक रूमाल या चिथड़ा झपट लेगा। लेकिन मकान, दूकान, पशु, अन्न, स्त्री-पुत्र, बन्धु-बान्धव तथा अपने शरीर को भी जो चाहे जब झपट ले सकता है- महाभैरव के उस लिली का कान तुम उमेठ सकते हो?'

'महाभैरव का लिली?' मित्र की समझ में बात आयी नहीं।

'भगवान् महाभैरव का श्वानवाहन है।' उसने समझाया- 'काल के कराल काले कुत्ते पर वे दण्डधर आसीन होते हैं। जिस पदार्थ को महाकाल चाहे जब अपने पञ्जों में झपट ले सकता है, वह तुम्हारा है या मेरा है- यह ममता क्या अर्थ रखती है। भागती जाती धूप के समान सुनहली माया- उसमें ममता एक भ्रम और पागलपन ही तो है। बन्धन, दुःख, अशान्ति-और क्या मिलेगा मनुष्य को यहाँ।'

गंगाजी का प्रवाह पर्वतराज हिमालय के शिलाखण्डों को तोड़ लेता है। वे शिला-खण्ड आरम्भ में टेढ़े-मेढ़े, कटे-फटे, नुकीले ही होते हैं, किन्तु पानी के प्रवाह में लुढ़कते-पुढ़कते, घिसते-घिसाते गोल हो जाते हैं। प्रवाह उन्हें पत्थर से शिवलिंग की आकृति दे देता है।

जब वह बारह वर्ष का ही था, पिता के लिए परलोक का बुलावा आ गया। माता एक वर्ष पूर्व ही प्रयाण कर चुकी थी। उसी अवस्था में वह एकाकी हो गया। परिस्थिति के प्रचण्ड धक्के ने जीवन के सुनिश्चित क्रम से उसे तोड़ लिया और तब से ही उसे धक्के लगते गये हैं। अपने शैशव से ही वह परिस्थिति के प्रखर प्रवाह में आ पड़ा है और उस प्रवाह ने उसके जीवन तथा मन को घिसघिसाकर एक विचित्र रूप दे दिया है। यह दूसरी बात है कि उस रूप को आप शिवरूप कहेंगे या नहीं।

वह रुक्ष हो गया है स्वभाव से। जैसे किसी का सोच-संकोच उसे छूता ही नहीं। गोल पत्थर जैसे अपने ही ढ़ंग से बैठता है, उसे औरों के साथ मिलाकर नहीं बैठाया जाता, वैसे ही उसका अपना ही ढ़ंग है। उसके विचार भी अपने हैं, आचार भी अपने हैं और जीवन-क्रम भी अपना है। दूसरों से उसका कोई मेल नहीं है और जहाँ मेल है, वहाँ दूसरों को ही वह मेल बैठाना पड़ता है। वह तो गोल पत्थर जैसा है। साहित्य के शब्द में कहना हो तो वह मौलिक है, विचार के क्षेत्र में भी।

'जिसे अपना मानो, वह पराया सिद्ध होता है।' जिससे मोह ममता करो, वह दुःख देता है। हम आप भी ये बातें पढ़ते और सुनते हैं, किन्तु जिसे पद-पद पर इसका तीक्ष्ण

अनुभव हुआ हो, उसका कोई नहीं है, वह किसी का नहीं है। वह वैसे सहृदय है, दयालु हैं, अपने बस भर दूसरों की सेवा-सहायता करता है, लोग उसका सम्मान करते हैं, उसे अपना मित्र कहने में गौरव मानते हैं, पर यह सब होकर भी जैसे कुछ नहीं है। वह मोह-ममता से जैसे निर्लिप्त है।

कोई बीमार हो जाय- वह रात-रात जगकर सेवा करेगा, लेकिन उससे पूछते कि रोगी के कष्ट से उसका कितना सम्बन्ध है? वह कहेगा- 'यह तो प्रारब्ध है, इसे तो भोगना ही ठहरा।' कोई मर जाय, उसके भाल पर रेखा तक नहीं आती। वह कह देता है- 'जीवन का तो यह स्वाभाविक परिणाम है।' जहाँ वह रहता है, उसके स्नेही, सुहृद जैसे सब उसके अभिन्न ही हैं। जहाँ से चल देता है, सन्देह ही है कि उसे किसी की याद भी कमी आती होगी। सब जानते हैं, वह कहीं से कब तक चल देगा, इसका कुछ ठिकाना नहीं।

उसका मित्र- उसके वैसे तो अनेक मित्र हैं, यह कहने- से अधिक अच्छा यह है कि अनेक लोग हैं जो उससे अपनी मित्रता मानते हैं, किन्तु यह रमेश उससे बहुत हिलमिल गया है। यह उसका बहुत सम्मान करता है और इस पर उसका भी स्नेह है।

रमेश के घर चोरी हो गयी है। बेचारा रमेश वह परिवार रखनेवाला व्यक्ति है और आज समाज में मध्यम श्रेणी ही तो सबसे अधिक आर्थिक कष्ट में होती है। गरीब तो फटे हाल या नंगे भी रह लेते हैं। उसका काम मजदूरी करके मजे से चल जाता है और मध्यम श्रेणी पर तो पड़ती है कपड़े-लत्ते, बाहरी टीम-टाम, आगन्तुकों का स्वागत-सत्कार, घर में भले 'भूनी भाँग' न हो, परन्तु यह सब किये बिना गृहस्थ की मर्यादा तो नहीं रहती। ऋण का भार चाहे जितना बढ़ता जाय, अपनी सामाजिक स्थिति का माध्यम तो उसे बनाये ही रखना पड़ता है। ऐसी मध्यम श्रेणी का रमेश, थोड़ी आय, भरा पूरा परिवार और उस पर चोरी हो गयी। घर के कपड़े, बर्तन तथा पेट काट-काटकर बरसों से किसी प्रकार बनवाये गये स्त्री तथा कन्या के आभूषण चोर किसी का सुख-दुःख जानते तो क्या चोरी करते?

रमेश क्या करे। उसके घर चूल्हा नहीं जला है। स्त्री और कन्या के नेत्र सूखते नहीं। रमेश किसे कैसे धैर्य दें। उसके मन में क्या कम व्यथा है? उसका तो जैसे सर्वस्व ही चला गया हे। उसने पुलिस को सूचना दे दी है। लेकिन पुलिस के लोग तो अपने ढ़र्रे से चलते हैं। उन्हें तो केवल अपनी डायरी पूरी कर देनी है। दो-एक दिन इधर-उधर चक्कर लगावेंगे और फिर उनका बंधा क्रम है- पूरा प्रयत्न किया गया, लेकिन कुछ पता नहीं लगता।'

रमेश को आश्वासन चाहिये। उसके ये मित्र -दुःख में, आपत्ति में रमेश को अनेक बार इनसे आश्वासन मिला है। घर में तो अब बैठा ही नहीं जाता। वहाँ तो परिवार के भरे दृग अपने हृदय को और क्षुब्द कर देते हैं।

'यही प्रारब्ध था। यदि मिलना ही होता तो वस्तुएँ जाती क्यों।' ऐसी बातें रमेश न जानता हो सो बात नहीं है। लेकिन मित्र के पास भी आश्वासन देने का और क्या उपाय है। समय ही शोक को दूर करता है। इस समय तो रमेश के लिए समय अपेक्षित है। उनका मन कुछ समय किसी विचार में लगा रहे....।

एक बात और- कुछ सन्धि-क्षण होते हैं। किसी के हृदय पर किसी कारण जब तीव्र आघात लगता है- वह सन्धि-क्षण होता है। उस समय उसकी आसक्ति ममता की भित्ति डगमगाती होती है। कोई उस स्वर्णिम क्षण को सम्हाल सके, सचमुच वह स्वर्णिम क्षण बन जाता है। विशुद्ध विचार की उज्ज्वल किरण अन्तर को आलोकित करती प्रगट हो जाती है। रमेश का दार्शनिक मित्र इस तथ्य को जानता है। वह चाहता है कि इस सन्धि-क्षण को शक्य हो तो सम्हाल लिया जाय।

× × ×

'वस्तुएँ अपनी नहीं है और दूसरे की भी नहीं है। वस्तुएँ तो जगत के स्रष्टा की हैं।' रमेश आज अपने मित्र की बात गम्भीरता से सोचने लगा है। वस्तुओं को अपनी या दूसरे की मान लिया गया है और यह मानना ही दुःख का कारण है। वैसे वस्तुएँ किसी को सुख या दुःख नहीं देती, कदाचित ही दे पाती हैं।'

'कितनी कठिनाई हुई थी मकान बदलने में। आजकल किराये के मकान सरलता से कहाँ मिलते हैं। फिर अपनी सुविधा का, अपने मेल-जोल के स्थान में...।' रमेश भाड़े के मकान में रहता है। अभी पिछले वर्ष वह जिस मकान में रहता था, वर्षा में वह मकान गिर गया। बड़ा मक्खीचूस था उस मकान का स्वामी। किराया लेने पहली तारीख को आ धमकता था और मकान की मरम्मत की बात सुनना ही नहीं चाहता था। पुराना मकान, अन्ततः बिना मरम्मत वह कहाँ तक टिके। वर्षा का पानी छत से दीवालों में भरा और ....। कुशल हुई, रमेश चार दिन पहले ही इस दूसरे मकान में आ गया था।

मकान न मिलने की कठिनाई हुई सही, किन्तु जिस दिन मकान गिरा...।' रमेश को स्मरण है कि उस दिन उसे प्रसन्नता हुई थी। उसने मकान के स्वामी को उदास सबेरे उधर से आते देखा तो व्यङ्ग किया था। मकान में रहता वह था और मकान गिरने का दुःख हुआ था मकान के स्वामी को, जो कभी कदाचित् ही उसमें घण्टे-आध घण्टे बैठ सका हो। यह ममता का- अपना मानने का ही तो दुःख था।

'मेरे यहाँ से जो वस्त्र और आभूषण चोरी हो गये हैं' अब रमेश ठीक विषय पर विचार करने लगा। 'मेरी स्त्री और कन्या कितना उपयोग करती है उसका? वे प्रायः पेटियों की शोभा बढ़ाया करते थे। कभी अवसर-विशेष पर.... लेकिन क्या अवसर-

विशेष पर उसके बिना काम नहीं चल सकता?' उसने अपने आप से पूछा और ऐसा लगा, जैसे हृदय पर छाया हुआ शोक का कुहासा फट गया है। शोक-तमस है, अन्धकार है; और विचार है प्रकाश-सत्त्व प्रकाश और अन्धकार एक साथ रह कैसे सकते हैं।

मेरा क्या गया? मेरी स्त्री या कन्या का ही क्या गया? रमेश ने एक स्वस्थ दृष्टि से इधर-उधर देखा। उसके पास रहने के लिए अब भी वही मकान है। भोजन के लिए अन्न है, नित्य उपयोग के लिए पर्याप्त वस्त्र है। आगे कभी.... पर आगे कभी कोई असुविधा होगी, इसके लिए अभी से रोने बैठना कौन-सी बुद्धिमानी है।

'वस्तुएँ तो उसकी नहीं हैं, किसी की नहीं हैं, फिर मेरी वस्तुएँ गयीं का क्या अर्थ?

'तस्कराणां पतये नमः?' रमेश चौका। उसके मित्र ने पीछे से आकर उसके कन्धे पर हाथ रख दिया। सम्भवतः उसने रमेश के मन की स्वस्थ स्थिति लक्षित कर ली है। मित्र है श्रीकृष्ण का आराधक। रमेश उसे कभी-कभी व्यङ्ग में 'तस्कराणां पतये नमः?' कह-कह खिझाने की चेष्टा करता था। आज मित्र उसी श्रुति को उससे क्यों कह रहा है?

'वस्तुएँ जिसकी हैं, वही देता है और लेता भी है।' उसने रमेश के कन्धे पर हाथ रखते हुए कहा। 'सब उसी सर्वरूप के रूप हैं। वह सर्वेश ही समस्त रूपों में व्याप्त है। चोर भी वही, चोरी की वस्तु भी वहीं। उसकी वस्तु को अपनी मानना ही माया है और जब कोई इस माया में आबद्ध होता है दुःखी तो होगा ही।'

'अपनी ही वस्तुएँ वह चुराता क्यों है?' रमेश ने सहज भाव से पूछा।

'किसी पर कृपा करने के लिए।' वह तनिक मुस्कराया- 'चुराना तो उसका स्वभाव है। तुम उसे अवसर दो तो वह तुम्हारा शोक, सन्ताप और स्वयं तुम्हें भी चुरा लेगा। यह तो श्रीगणेश किया है उसने।'

'मैं अवकाश दूँगा?' रमेश की जिज्ञासा उचित ही है।

'मैं मेरा को दृढ़ता से पकड़े रहोगे, इसी की रात-दिन चौकीदार करोगे तो उसे अवकाश कैसे मिलेगा?' उसने गम्भीरता से कहा- 'तुम तनिक असावधान हुए और उसने चुराया।'

'उसने चुराया!' रमेश के नेत्र भर गये। उसके पदार्थ उस सर्वेश ने चुराये? उस सर्वरूप के अतिरिक्त और विश्व में है क्या। यह दुःख, यह शोक, यह व्याकुलता, वह सब चुरा सकता है.... पर अब कहाँ है शोक, दुःख, व्याकुलता? रमेश के नेत्रों से टप-टप बिन्दु गिर रहे हैं, किन्तु क्या वे शोक के हैं? जब 'मैं और मेरा' की माया कोई उस चिरपल के चरणों में चढ़ा देता है- शोक उसकी छाया का भी स्पर्श कर सकता है?

राधेश्याम का कुआँ

'इस कुएँ में राधेश्याम कहना होता है। राधेश्याम कहो।'

मेरे साथी ने मुझे प्रेरित करते हुए स्वयं कुएँ में मुँह झुकाकर बड़ी लम्बी ध्वनि से कहा 'रा-धे-श्या-म'।

मैं देख रहा था कि जो यात्री स्त्री या पुरुष आगे जाते थे, सभी उस कुएँ में सिर झुकाकर राधेश्याम की यथासम्भव ऊँची ध्वनि लगाते थे।

कुए की जगत कुछ ऊँची थी। मार्ग नीचा होने के कारण कुएँ का मुख कमर से ऊपर ही पड़ता था। ऊपर से देखने पर कुआँ साधारण पुरानी ईंटों का बना था। उसकी जगत जीर्ण हो चुकी थी। घासफूस उग आये थे।

मैंने एक बार झाँककर कुएँ के भीतरी भाग को देखा। जल था तो सही, पर बहुत नीचे। बड़ और पीपल के पौधों ने भी अपना आसन जमा लिया था। ईंटें टूट-फूट गयी थीं। भीतर एक छोटी चिड़िया बैठी थी। दो मैनाओं ने फड़फड़ाकर बतलाया कि इस समय तो यह हमारा राजभवन है।

जितनी देर मैं कुएँ को देख रहा था, उतनी देर में कई यात्री आकर मेरी बगल में उसमें 'राधेश्याम' की ध्वनि लगा गये। उस कूप की दशा देखने का कष्ट कोई क्यों करने लगा? सिर झुकाया, ध्वनि लगायी और अपना मार्ग लिया।

मेरे साथी ने पुनः ध्वनि लगाने की प्रेरणा की। मैंने भी उच्च स्वर से कहा- 'रा-धे-श्या-म'। प्रतिध्वनि ने मेरे कर्ण कुहरों को गुञ्जित कर दिया 'रा-धे-श्या-म'। हम फिर परिक्रमा-पथ पर बढ़ चले।

× × ×

श्रीवृन्दावन की पावन बीथियों में विचरण करनेवाले प्रेमरस-छके पागलों का

कभी अभाव नहीं रहा है। उस प्रेम की भूमि की रज में ही कुछ ऐसी मादकता है। प्रेम के देव उस रज में स्वयं नृत्य करते थे, उसे अंगों में लपेटते और इधर-उधर देखकर, दूसरों की दृष्टि बचाकर उसे चख भी लेते। आज भी भावुक भक्त वहाँ रासेश्वरी और रासविहारी की नित्य रास-लीला का दर्शन पाते हैं।

हम तब की बात कहने वाले हैं, जब वृन्दावन आज-सा बाजार न था। एक-दो विरक्त महापुरुष वृक्षों के नीचे या फूस की झोंपड़ियों में रहते थे। एक भी पक्का तो क्या, कच्चा मकान भी नहीं था। वे साधु या तो पास के ग्रामों से मधुकरी कर लाते या वहीं उन्हें कोई कुछ दे जाता। मयूर, बन्दर तथा जंगली गायों की भरमार थीं। करील की कुञ्जों में जहाँ-तहाँ हिरनों के झुण्ड खेलते रहते थे।

उस समय भी दूर-दूर से पैदल चलकर बहुत-से प्रेमी दर्शनार्थ वहाँ आते थे। यात्री मथुरा से प्रायः वृन्दावन आते। दर्शन, परिक्रमा आदि करके सन्ध्या तक अवश्य ही लौट जाते। उस सुनसान जंगल में उस समय वहीं रहते थे जिन्हें शरीर का कोई मोह न था। बाह्य सुखों की कोई अपेक्षा न थी।

उन्हीं गिने-चुने लोगों में एक राधेश्यामजी बावरे भी थे। दिन-रात उच्च स्वर में राधेश्याम की ध्वनि और पागलों की भाँति यहाँ से वहाँ घूमा करना- यही उनका काम था। इसी से व्रज के लोगों ने उनका नाम 'राधेश्याम बावरा' रख दिया।

गौर वर्ण, पतला पर सुदृढ़ शरीर तथा तेजोमय मुखमण्डल राधेश्यामजी के चरणों में मस्तक झुकाने को विवश कर देता था। केवल एक कौपीन ही उनका सब आच्छादन थी। किसी एक वृक्ष के नीचे किसी ने उन्हें दो रात्रि सोते नहीं देखा।

बच्चों की भाँति दौड़ते, चाहे जहाँ भी धूलि में लेटने लगते। सर्वदा खिलखिलाते रहते। गोप चरवाहे लड़के उन्हें देखते ही तालियाँ बजाकर कहने लगते 'राधेश्याम, राधेश्याम' और आप भी उनके समीप उछल-उछलकर नाचते, कूदते और गाते 'राधेश्याम राधेश्याम'।

इन महापुरुष की मित्रता बस इन चरवाहों, बन्दरों, मयूरों, मृगों, गायों और विशेषतः छोटे बछड़ों से थी। यात्रियों से तो बोलते नहीं थे। बहुत प्रसन्न हुए तो 'राधेश्याम' कह दिया। नहीं तो दूसरी ओर दौड़ छूटे। वैसे मौन नहीं थे। छोटे बछड़ों से, पेड़ों से तथा करीर लताओं से कभी-कभी जाने क्या घण्टों बातें करते रहते थे।

राधेश्याम जी केवल चरवाहों की रोटियाँ ही ग्रहण करते, वह भी यदि बिना माँगे मिल जायँ। चरवाहे गोप इन्हें ढूढ़ते रहते थे कि आज ये किधर वन में दौड़ते फिरते हैं। गोप बड़े प्रेम से अपनी सूखी रोटियाँ, नमक, साग, मक्खन, छाछ जो भी घर से लाते, राधेश्याम जी को ढूँढ़कर देते। जो मौज में आयी ले लेते, नहीं सिर हिला देते।

किसी को कुछ पता न था कि ये विलक्षण अवधूत कहाँ से ब्रज में आये। इनकी जन्मभूमि कहाँ है। किसी को यह जानने की आवश्यकता भी न थी।

कभी-कभी गोप अपनी ब्रजभाषा में पूछते 'बावरे। हम तोय रोटी ना देंय तो कहा खायगो?' अर्थात् पगले। हम तुझे रोटी न दे तो क्या खायेगा? आप तुरन्त कहते 'जाको घर है बाय तो खवावनई परैगी।' जिस (श्रीकृष्ण) का यह घर है, उसे तो खिलाना ही पड़ेगा।

एक दिन किसी ने पूछा- 'महाराज। आप पूजा क्यों नहीं करते?' आप हँस पड़े 'राधेश्याम' की ध्वनि लगाकर। सचमुच यह क्या कम पूजा है। पूजा का सार सर्वस्व तो है ही।

ज्येष्ठ की दोपहरी थी। रमणरेती के पास इधर-उधर मीलों जल का कहीं नामोनिशान न था। दावानल प्रभृति कुण्ड पर्याप्त दूर थे और सूख चुके थे। यमुनाजी उन दिनों वहाँ से दूर हट गयी थीं। आसपास के वृक्ष भी सूखगये थे। पशु-पक्षियों का इस ऋतु में उधर निवास ही नहीं था।

भूमि पर मार्तण्ड की किरणें अग्नि-दृष्टि कर रही थीं। उष्ण पवन धूलि के साथ शरीर को झुलसाये जा रहा था। किरणों की गोद में वेदान्त के विवर्तवाद के अनुसार अनन्त समुद्र हिलोरे ले रहा था।

इस भीषण समय में भी एक अवधूत रमणरेती में अपनी मस्ती से उछल रहा था। वर्षा के सीकरों में नृत्य करते मयूर की भाँति वह कूदते हुए गा रहा था 'राधेश्याम, राधेश्याम, राधेश्याम।' उस पर न तो धूप का प्रभाव था न वायु का। मानो वह प्रकृति का अधीश्वर हो तथा प्रकृति उसके लिए अनुकूल बर्ताव कर रही हो।

इसी समय कोई एक यात्री परिक्रमा मार्ग से निकला। यात्री सुकमार तथा किसी उच्च एवं सम्पन्न कुल का था। वह मथुरा से आज ही वृन्दावन आया था। दूसरे स्थलों के दर्शन तथा महात्माओं के सत्संग में देर हो गयी। उसे क्या पता था कि परिक्रमा में जल नहीं है। सन्ध्या को मथुरा लौटना अनिवार्य था, अतः दोपहरी में तनिक कष्ट उठा कर भी उसने परिक्रमा करने का निश्चय किया था।

प्यास के मारे यात्री का मुख सूख गया था। ऊपर से धूप और उष्ण वायु। एक-एक पद चलना भारी हो गया। आकुलता से वह चारों ओर दृष्टि दौड़ाता, पर कहीं भी जल का चिह्न न था। उसे जीवन से निराशा हो गयी। इसी समय यात्री ने अवधूतजी को देखा। सम्पूर्ण शक्ति एकत्र कर उनकी ओर जल माँगने बढ़ा। वह उन तक पहुँच भी न पाया था कि मूर्छित होकर गिर पड़ा।

अवधूतजी ने उस यात्री को उठाया। उनके अमृत-स्पर्श ने चेतना लौटा दी। फिर भी प्यास के मारे वह बोल न सका। बगल में ही एक पुराना सूखा कुआँ था। यह प्रसिद्ध

था कि गोपाल ने सखाओं के प्यासे होने पर उसे वंशी से बनाया था। इस समय तो वह एक सूखा गड्ढा मात्र था।

अवधूत की दृष्टि एक बार ऊपर उठी। कुछ सोचकर उन्होंने कुएँ में सिर झुकाकर उच्च स्वर से पुकारा 'राधेश्याम।' कुआँ मुख तक जल से भर गया। यात्री ने जलपान किया। उसे जीवन दान मिला।

× × ×

दूसरे दिन वही यात्री मथुरा से फिर वृन्दावन लौटा। बहुत अन्वेषण करने पर भी अवधूत उसे नहीं मिले। फिर कभी गोप चरवाहों ने भी उन्हें नहीं देखा। लोगों का अनुमान है कि इस चमत्कार से जो प्रसिद्धि हुई, उसके फलस्वरूप जनमुदाय के पीछे पड़ने के भय से वे कहीं गुप्त रूप से रहने लगे। उस यात्री ने उस कुएँ को ईंटों से बँधवा दिया।

कुएँ में अब तक जल है। भक्तों का विश्वास है कि कुएँ में राधेश्याम की ध्वनि लगाने से भगवान् उस अपने परमप्रेमी की स्मृति से प्रसन्न होते हैं।

❑❑